UNIVERSAL LIBRARY
OU_186584
UNIVERSAL LIBRARY

OUP—390—29-4-72—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H170 S53P   Accession No. H3116

Author शर्मा, ईश्वरचन्द्र (प्रोफेसर)

Title पाश्चात्य और भारतीय आलोचना

This book should be returned on or before the date last marked below

पश्चिमीय आचार-विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन

पश्चिमीय आचार-विज्ञान

का

आलोचनात्मक अध्ययन

लेखक

डॉ० ईश्वरचन्द्र शर्मा जेतली (एम० ए०, पी० एच० डी०)

अध्यक्ष दर्शनशास्त्र तथा मनोविज्ञान विभाग,

महाराजा कालेज (राजकीय)

जयपुर

VIDYA PRAKASHAN V.P. HYDERABAD

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

प्रथम संस्करण
नवम्बर, १९६१

मूल्य
दस रुपये

प्रकाशक :
राजपाल एण्ड सन्ज़
पोस्ट बाक्स १०६४, दिल्ली

●

कार्यालय व प्रेस :
जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली-३२

●

बिक्री-केन्द्र :
कश्मीरी गेट, दिल्ली-६

हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्वींस रोड, दिल्ली

भारतीय नैतिकता के प्रतीक, पंचशील दर्शन के प्रवतक

विश्वप्रिय आदर्श नेता

पंडित जवाहरलाल नेहरू

को

सादर व सप्रेम समर्पित

प्रस्तावना

साहित्यिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से आचार-विज्ञान एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। भारत इस समय एक ऐसे परिवर्तनशील युग से गुज़र रहा है, जिसमें कि सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक विकास घटित हो रहे हैं। हमने योजनाओं के द्वारा पिछले कुछ वर्षों में विशेषकर आर्थिक क्षेत्र में प्रगति की है। हमारी तीसरी योजना मानवीय द्रव्य की प्रगति पर बल देती है, इसलिए मानवीय जीवन के नैतिक अंग से सम्बन्धित साहित्य को प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

क्योंकि हिन्दी अब हमारी राष्ट्रभाषा है और हमें इसके साहित्य को प्रवृद्ध करना है, इसलिए डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा की यह पुस्तक, जोकि पश्चिमीय आचार-विज्ञान का आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है निस्सन्देह सामान्य रूप से हिन्दी साहित्य को और विशेषकर दार्शनिक साहित्य को एक अमूल्य देन है। डा० शर्मा ने पश्चिमीय नैतिक सिद्धान्तों की न ही केवल आलोचनात्मक व्याख्या की है, अपितु उन्होंने अपनी पुस्तक में अनेक स्थानों पर इनकी भारतीय नैतिक सिद्धान्तों से तुलना भी की है। दर्शनशास्त्र के एक अनुभवी प्राध्यापक होने के नाते डा० शर्मा ने एक स्पष्ट और व्यवस्थित शैली में इस विषय को प्रस्तुत किया है। जनसाधारण, बिना किसी दार्शनिक पृष्ठभूमि के भी इस पुस्तक से लाभ उठा सकता है। विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त तथा आलोचनात्मक विश्लेषण पर आधारित निष्कर्ष सराहनीय हैं और विचार को प्रेरणा देनेवाले हैं।

सक्रिय राजनीति तथा समाज-सेवा में प्रवृत्त होने के कारण मेरी व्यक्तिगत धारणा यह है कि भगवद्गीता का निष्काम कर्म, और कर्तव्य पर आधारित नैतिक सिद्धान्त, जो हमें स्वार्थ को त्याग देने की प्रेरणा देता है, हमारी वर्तमान आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुकूल इसलिए है कि आज प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिए निष्काम सेवा करना अनिवार्य है। इस पुस्तक में भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग का उल्लेख उचित स्थान पर किया गया है। ऐसा दृष्टिकोण ही पश्चिमीय तथा भारतीय विचार और संस्कृति का समन्वय कर सकता है।

मुझे पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक सामान्य पाठकों तथा साहित्यिकों द्वारा समान रूप से पसन्द की जाएगी। लेखक की भाषा की सरलता तथा शैली के विषय में मैं इसलिए कुछ कहना नहीं चाहता कि इसी लेखक की प्रथम पुस्तक 'आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान' को राजस्थान सरकार द्वारा एक पुस्तकों की प्रतियोगिता में पुरस्कार प्रदान किया गया है।

मथुरादास माथुर
भूतपूर्व शिक्षामन्त्री, राजस्थान
जयपुर

१८-५-६१

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक 'पश्चिमीय आचार-विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन' सम्भवतया हिन्दी साहित्य में अपने प्रकार की प्रथम कृति है। यों तो पश्चिमीय आचार-शास्त्र पर हिन्दी भाषा में कतिपय पुस्तकें उपलब्ध हैं, किन्तु वे सब प्रायः कुछ अंग्रेज़ी में लिखी हुई इस विषय-सम्बन्धी पुस्तकों का रूपान्तरमात्र प्रमाणित होती हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से भी वे पुस्तकें, पाठक के मन में विषय के प्रति रुचि तथा उत्सुकता उत्पन्न करने में सफल नहीं होतीं। मैं इस विषय का पिछले बीस वर्षों से अध्ययन करता रहा हूं और हिन्दी जगत् में एक ऐसी पुस्तक के अभाव का अनुभव करता रहा हूं जो आचार-विज्ञान के विषय को जन-साधारण में सर्वप्रिय बना सके और विशेषकर पश्चिमीय आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या कर सके। इसी दृष्टि को लेकर मैंने यह पुस्तक लिखना आरम्भ किया था। ज्यों-ज्यों मैं आचार-विज्ञान के विभिन्न विषयों का विश्लेषण करते हुए और पश्चिमीय विचारकों के दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए इसके अन्तस् में प्रविष्ट हुआ, मुझे ऐसी प्रेरणा प्राप्त हुई कि मैं पाठकों के समक्ष केवल आलोचनात्मक अध्ययन ही न रखूं, अपितु नैतिक समस्याओं को सुलझाने की दृष्टि से भारतीय नैतिक धारणाओं से तुलना भी करूं। इसलिए इस पुस्तक में आरम्भ से लेकर अन्त तक, भारतीय तथा पश्चिमीय नैतिक विचारधारा का तुलनात्मक और समन्वयात्मक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है, जो पाठक को न ही केवल पश्चिमीय आचार-विज्ञान की अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, अपितु उसे एक स्वतन्त्र धारणा बनाने के लिए भी प्रेरित करता है।

इस कृति में मैंने प्रायः सभी आचारशास्त्र-सम्बन्धी विषयों को प्रस्तुत किया है और उनकी रोचक तथा आकर्षक भाषा में व्याख्या करने की चेष्टा की है। मैं ऐसा अनुभव करता हूं कि इस पुस्तक के अध्ययन से पाठक को न ही केवल आचार-विज्ञान का अधिकारात्मक ज्ञान प्राप्त होगा, अपितु जन-साधारण में भारतीय तथा पश्चिमीय आचार-विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन की रुचि भी बढ़ेगी। आचारशास्त्र का विषय एक ऐसा विषय है, जो एक ओर तो हमारे ठोस जीवन से सम्बन्ध रखता है और दूसरी ओर उन आधारभूत दार्शनिक धाराओं से सम्बन्ध रखता है, जोकि हमारे देश तथा पश्चिमीय जगत् के सहस्रों वर्षों के गम्भीर चिन्तन एवं बौद्धिक मन्थन का सारांश हैं। इसलिए ऐसा तुलनात्मक अध्ययन पूर्व और पश्चिम के सांस्कृतिक आदान-प्रदान में और

अन्तर्राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन देने में भी सहायक सिद्ध हो सकता है।

इस पुस्तक की एक विशेषता यह भी है कि इसमें आचार-विज्ञान-सम्बन्धी विषयों का क्रम इस प्रकार सूत्रबद्ध है कि पाठक सरलतम विषयों से आरम्भ करके धीरे-धीरे नैतिक सिद्धान्तों की जटिलताओं में प्रवेश करता है और अन्त में आचार-शास्त्र के व्यावहारिक पक्ष का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मेरे लिए यह एक आश्चर्य की बात है कि मैंने पुस्तक लिखते समय जान-बूझकर विषयों का कोई क्रम अपने सामने नहीं रखा था, किन्तु ज्योंही मैं एक अध्याय को समाप्त करता था, तत्काल अगले अध्याय का विषय स्वतः ही निर्दिष्ट हो जाता था। इस अन्तःप्रेरणा के कारण अनायास ही एक ऐसा क्रम बन गया है, जो इस पुस्तक को विशेष रूप प्रदान करता है। पाठक इस पुस्तक को पढ़ते समय यह अनुभव करेगा कि सम्पूर्ण पुस्तक एक उद्देश्यात्मक धाराप्रवाह है।

मेरा यह विश्वास है कि यह पुस्तक, न ही केवल आचार-विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपयोगी सिद्ध होगी, अपितु इस विषय-सम्बन्धी अन्वेषण की दृष्टि से भी पाठकों द्वारा पसन्द की जाएगी। आचार-विज्ञान निस्सन्देह एक गम्भीर आर व्यापक विषय है। मैंने इस छोटी-सी पुस्तक में इस विषय को सरल शैली में उपर्युक्त क्रम में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। मुझे पूर्ण आशा है कि दर्शन के विषय में, विशेषकर साहित्य-प्रेमी पाठक मेरे इस प्रयास को मेरी पहली पुस्तकों की भांति प्रोत्साहन देंगे और इस आलोचनात्मक कृति को सहर्ष स्वीकार करेंगे। यदि इस पुस्तक के अध्ययन से पाठक आचार-विज्ञान के गम्भीर विषय का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लें, तो मैं यह समझूंगा कि मैं अपने उद्देश्य में सफल रहा हूं।

इस पुस्तक के लिखने में जिन-जिन महानुभावों से उत्साह, प्रेरणा तथा सहायता प्राप्त हुई है, उनके प्रति आभार प्रकट करना मेरा कर्तव्य है। सर्वप्रथम मैं स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल शास्त्री के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं, क्योंकि उनके पवित्र सम्पर्क ही से मुझे इस पुस्तक को लिखने की प्रथम प्रेरणा प्राप्त हुई थी। इस प्रकाण्ड महापण्डित और अद्वितीय मौलिक विचारक का भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी साहित्य, जोकि लगभग एक लाख पृष्ठों से अधिक है, हमारे राष्ट्र की एक अनुपम निधि है। इस साहित्य का अध्ययन ही भारतीय संस्कृति का यथार्थ रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। मैं यहां पर पाठकों की सूचना के लिए यह बता देना चाहता हूं कि यदि वे पश्चिमीय आचार-विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन में रुचि रखते हैं, तो वे कम से कम स्वर्गीय पण्डित-जी की उस पुस्तक 'व्याख्यान-पंचक' का अध्ययन करें, जो वास्तव में उनके द्वारा राष्ट्रपति-भवन में दिसम्बर, १९५६ में दिए गए पांच व्याख्यानों की प्रतिलिपि है। मैं यहां पर राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया के प्रति भी आभार प्रकट करता हूं कि उन्होंने मुझे पुस्तक लिखने में, शिक्षामन्त्री होने के नाते पर्याप्त सुविधाएं देने का कष्ट किया है। यह सौभाग्य की बात है कि राजस्थान के वर्तमान मुख्यमन्त्री साहित्यिक अन्वेषण और शिक्षा-प्रसार का संरक्षण करनेवाले व्यक्ति हैं। इस पुस्तक के

लिखने में मुझे राजस्थान विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति श्री जी० सी० चैटरजी एम० ए० आई० ई० एस० (अवकाश-प्राप्त), अध्यक्ष 'बुक ट्रस्ट आफ इण्डिया' के प्रति भी आभार प्रकट करना है, क्योंकि उन्होंने इस विषय के अध्ययन में मेरा मार्ग दर्शन किया है। इसी प्रकार डाक्टर पी० टी० राजू (पद्मभूषण) अध्यक्ष, दर्शन तथा मनोविज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय ने इस पुस्तक के लिखने में अमूल्य परामर्श दिया है। अतः मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूं। इसी प्रकार आदरणीय डा० एन० वी० बैनर्जी अध्यक्ष, दर्शन विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय की अपार कृपा से मैं इस पुस्तक को लिखने में सफल हो सका हूं और उनको सहृदय धन्यवाद देता हूं। मैं श्री आर० एस० कपूर, आचार्य महाराजा कालेज, को धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि उन्होंने महाविद्यालय के पुस्तकालय की विशेष सुविधाएं देकर, मुझे अपने ध्येय में सफल होने के योग्य बनाया है। व्यक्तिगत रूप में भी मैं श्री कपूर के प्रति आभार प्रकट करता हूं, क्योंकि उन्होंने मुझे सदैव साहित्यिक खोज करने की प्रेरणा दी है।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे मेरी पत्नी श्रीमती भाग्य शर्मा एम० ए० ने जो सहायता दी है उसके बिना इसका एक अध्याय भी प्रकाशित होना सम्भव नहीं था। उनकी लेखनी के द्वारा ही इसकी पाण्डुलिपि मुद्रणालय में भेजी जा सकी है। अतः मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं। इस पुस्तक के पुनरवलोकन में सहायता देनेवाली श्रीमती कृष्णा छाबड़ा बी० ए० बी० टी० तथा सुश्री कैलाश मनूजा बी० ए० के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करता हूं।

ईश्वरचन्द्र शर्मा (जेतली)

१२७ सी, मोती मार्ग
बापू नगर, जयपुर
११ मार्च, १९६१

विषय-सूची

क्रम संख्या **पृष्ठ**

पहला अध्याय— ६—३४

विषय-प्रवेश

आचार-विज्ञान की परिभाषा, आचार-विज्ञान का दर्शन से सम्बन्ध, आचार-विज्ञान और कला, मूल्य की धारणा, आचार-विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध।

दूसरा अध्याय— ३५—५६

आचार-विज्ञान का मनोवैज्ञानिक आधार

वनस्पति आवश्यकता, भूख तथा मूलप्रवृत्त्यात्मक प्रेरणा, इच्छा का स्वरूप, इच्छाओं का संघर्ष, आकांक्षा और कल्पना, संकल्प तथा कर्म, प्रेरक तथा उद्देश्य, उद्देश्य के प्रकार, नैतिक निर्णय का विषय, मनोवैज्ञानिक सुखवाद तथा उसकी आलोचना।

तीसरा अध्याय— ६०—७६

आचार-विज्ञान की आधारभूत मान्यताएं

संकल्प का स्वातन्त्र्य, आत्मा का अमरत्व, ईश्वर का अस्तित्व, नियतिवाद, स्वतन्त्रतावाद तथा आत्म-नियतिवाद की व्याख्या तथा आलोचना।

चौथा अध्याय— ७७—६८

आचार-विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीनतम भारतीय आचार-विज्ञान तथा उसकी संक्षिप्त व्याख्या, यूनानी नैतिक विचारधारा, सुकरात का आचार-विज्ञान, प्लेटो का आचार-विज्ञान, अरस्तू का दृष्टिकोण, मध्यकालीन नैतिक विचारधारा : सेण्ट टामस एक्वीनास तथा दांते का दृष्टिकोण, मेकीएवली, आधुनिक नैतिक विचारधारा, अन्तर्दृष्टि-वादी सिद्धान्त, तर्कात्मक सिद्धान्त, उपयोगितावादी सिद्धान्त।

पांचवां अध्याय— ९९—१२४

सुखवादी नैतिक सिद्धान्त

सुखवाद की व्याख्या, नैतिक सुखवाद, सिजविक का दृष्टिकोण, बैन्थम का दृष्टि-कोण, मिल का उपयोगितावाद तथा उसकी आलोचना।

छठा अध्याय १२५—१५०

आचार के अन्तर्दृष्ट्यात्मक सिद्धान्त

नैतिक सूझ का सिद्धान्त तथा उसकी आलोचना, बटलर का अन्तःकरण का सिद्धान्त तथा आलोचना, कान्ट का नैतिक सिद्धान्त, नैतिकता की व्यापकता, शुभ संकल्प, निरपेक्ष आदेश का विश्वव्यापी नियम, निरपेक्ष आदेशवाद की आलोचना।

सातवां अध्याय— १५१—१६८

विकासवादी नैतिक सिद्धान्त

डारविन का विकासवाद, स्पैन्सर का नैतिक सिद्धान्त तथा उसकी आलोचना, अन्य विकासवादी नैतिक सिद्धान्त, अस्तित्व का संघर्ष, एलेज़ाण्डर का दृष्टि-कोण तथा उसकी आलोचना। चान्सी डी लीक् का सिद्धान्त तथा स्वभाववादी नैतिकता।

आठवां अध्याय— १६९—१८२

पूर्णवादी नैतिक सिद्धान्त

पूर्णवादी नैतिक सिद्धान्त की पृष्ठभूमि, हीगल का बाह्यात्मक प्रत्ययवाद तथा उसकी व्याख्या, ग्रीन का दृष्टिकोण, विश्वव्यापी आत्मचेतना तथा आत्मानु-भूति का सिद्धान्त, निरपेक्षवाद तथा सुखवाद की अपूर्णता का समन्वय। ब्रैडले का आत्मानुभूति का सिद्धान्त, ब्रैडले के सिद्धान्त की भगवद्गीता के सिद्धान्त से तुलना तथा आलोचना।

नवां अध्याय— १८३—२०३

मूल्यात्मक नैतिक सिद्धान्त

मूल्य की परिभाषा, निमित्त मूल्य तथा स्वलक्ष्य मूल्य, शुभ का स्वरूप तथा परम शुभ की धारणा, मोर का दृष्टिकोण, मूल्यों का वर्गीकरण तथा उनका नैतिक महत्त्व।

दसवां अध्याय— २०४—२१६

मानवीय अधिकारों का स्वरूप

अधिकार की परिभाषा, स्वाभाविक अधिकार, नागरिक अधिकार तथा राजनीतिक अधिकार तथा उनकी व्याख्या, जीवित रहने का अधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, भागीदारी का अधिकार, शिक्षा का अधिकार तथा उनकी व्याख्या।

ग्यारहवां अध्याय— २१७—२३९

मानवीय कर्तव्यों का स्वरूप

कर्तव्य की परिभाषा तथा उसका विधान से सम्बन्ध, कर्तव्यों की सापेक्षता, जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य, स्वतन्त्रता का सम्मान, सम्पत्ति का सम्मान, सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान, सत्य के प्रति सम्मान, प्रगति के प्रति सम्मान, कर्तव्यों का नैतिक महत्त्व, सुरक्षा तथा आत्मानुभूति, सम्पत्ति-सम्बन्धी विशेष कर्तव्य।

बारहवां अध्याय— २४०—२५५

नैतिक सद्‌गुण

धार्मिक जीवन की पूर्णता, सद्‌गुण के दो प्रकार के अर्थ, सद्‌गुण की सापेक्षता, चार मुख्य सद्‌गुण : विवेक साहस संयम न्याय, इनका परस्पर-सम्बन्ध, सद्‌गुणों का नैतिक महत्त्व, व्यावहारिक सद्‌गुण, नैतिक सद्‌गुण, सद्‌गुण तथा व्यक्तित्व का विकास एवं चरित्र का निर्माण, मोक्ष की धारणा।

तेरहवां अध्याय— २५६—२७५

दण्ड के सिद्धान्त तथा उनका नैतिक महत्त्व

दण्ड की आवश्यकता, विधान का महत्त्व, विधानात्मक न्याय, दण्ड की धारणा, दण्ड के सिद्धान्त, निरोधात्मक सिद्धान्त, सुधारात्मक सिद्धान्त, प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त, उनकी व्याख्या तथा उनका महत्त्व, युद्ध और नैतिकता।

चौदहवां अध्याय— २७६—२९४

व्यक्ति तथा समाज

व्यक्ति तथा समाज का सम्बन्ध, सामूहिक नैतिकता तथा वैयक्तिक नैतिकता, वैयक्तिक नैतिकता के विकास की उपाधियां, आर्थिक परिस्थितियां, राजनीतिक परिस्थितियां, युद्ध, वैज्ञानिक उन्नति, कला और साहित्य, व्यक्ति तथा समाज

का परस्पर सम्बन्ध, सामाजिक संस्थाएं, कुटुम्ब एवं परिवार, व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय, नागरिक सम्प्रदाय, धार्मिक संस्था, राज्य-संस्था, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं।

पन्द्रहवां अध्याय— २९५—३०७

व्यक्ति का समाज में स्थान तथा तदनुकूल कर्तव्य

ब्रैडले का दृष्टिकोण, व्यक्ति का सामाजिक स्थान, पूर्ण तथा अंश का सम्बन्ध, व्यक्ति की आत्मानुभूति तथा सम्पूर्ण समाज का विकास, आत्मानुभूति का वास्तविक स्वरूप।

सोलहवां अध्याय— ३०८—३२४

परिवार तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यों का महत्त्व

परिवार तथा समाज का सम्बन्ध, काम-वृत्ति का नैतिक महत्त्व, विवाह की प्रथा का इतिहास तथा उसका नैतिक आधार, स्थायी एकपत्नी-विवाह की आवश्यकता, दाम्पत्य अधिकार तथा उनकी व्याख्या, विवाह-विच्छेद की समस्या, रूढ़िवादी दृष्टिकोण, क्रान्तिकारी दृष्टिकोण, उदार दृष्टिकोण दाम्पत्य रति की व्याख्या।

सत्रहवां अध्याय— ३२५—३४०

नैतिक प्रगति

नैतिक प्रगति में विश्वास, नैतिक प्रगति के विशेष लक्षण, नैतिक प्रगति की त्रिविध प्रेरणा, आदर्शात्मक तत्त्व, सामाजिक व्यवस्थात्मक तत्त्व, व्यक्तिगत व्यवहार एवं अभ्यास का तत्त्व, नैतिक प्रगति एक तथ्य तथा सम्भावना, विशेषकी की आवश्यकता, उसकी आलोचना तथा नैतिक महत्त्व।

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

आचार-विज्ञान की परिभाषा तथा उसका क्षेत्र

आचार-विज्ञान अथवा आचारशास्त्र, पश्चिमीय दर्शन में प्राचीन काल से ही एक पृथक् अस्तित्व रखता है। इससे पूर्व कि हम आचार और विज्ञान की परिभाषा दें, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस विषय का दर्शन से सम्बन्ध स्पष्ट करें। ऐसा करना इसलिए आवश्यक समझा गया है, क्योंकि आचार-विज्ञान, अन्य विज्ञानों की भांति, एक सीमित एवं विशिष्ट क्षेत्र तक परिमित अध्ययन नहीं है। इसके अध्ययन का विषय, मानवीय व्यवहार तथा उसका औचित्य है। दूसरे शब्दों में, यह मनुष्य के समस्त सामाजिक अनुभव के प्रति अनेक प्रश्न उठाता है और उनका उत्तर देता है। आचार-विज्ञान हमें यह बतलाता है कि किस प्रकार का व्यवहार सदाचार कहा जा सकता है तथा किस प्रकार का दुराचार; किस कर्म को सत् तथा किसको असत् स्वीकार किया जाता है; शुभ क्या है, अशुभ क्या है और यह शुभ-अशुभ किस चरम लक्ष्य की ओर संकेत करते हैं। संक्षेप में, हम आचार-विज्ञान को मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य एवं आदर्श का अध्ययन मान सकते हैं। इस दृष्टिकोण से, आचार-विज्ञान अथवा आचारशास्त्र निस्संदेह जीवन-सम्बन्धी दर्शन है।

दर्शन शब्द का अर्थ, पश्चिमीय दृष्टिकोण से, बुद्धिमत्ता के प्रति प्रेम (Love of wisdom) माना गया है। अंग्रेज़ी भाषा में दर्शन को फिलासफी (Philosophy) कहा गया है। यह शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों, फिल (Phil) तथा सोफिया (Sophia) का समास है। फिल का अर्थ प्रणय अथवा प्रेम है और सोफिया का अर्थ ज्ञान की देवी एवं ज्ञान है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार भी हम दर्शन को यथार्थता का ज्ञान कह सकते हैं। यह शब्द दृश् धातु पर आधारित है, जिसका अर्थ देखना एवं जानना होता है। दार्शनिक (Philosopher) वही है, जो यथार्थता को जानता है एवं जो वास्तविकता को देखनेवाला है। दर्शन वास्तव में विश्व के रहस्य की दृष्टि है, उसका उद्देश्य विश्व की आधारभूत सत्ता का स्वरूप बतलाना और ब्रह्मांड में मानवीय जीवन के उद्देश्य की व्याख्या करना है। दूसरे शब्दों में, दर्शन का विषय, विश्व एवं ब्रह्मांड का ज्ञान तथा जीवन के

उद्देश्य एवं चरम लक्ष्य का जानना है। दर्शन के विश्व एवं ब्रह्मांड-सम्बन्धी अंग को तत्त्व-दर्शन (Metaphysics) कहा जाता है और उसके जीवन-सम्बन्धी अंग को व्यावहारिक दर्शन (Practical Philosophy) कहा जाता है। व्यावहारिक दर्शन में ज्ञान, भाव तथा क्रिया-सम्बन्धी तीन मुख्य विज्ञानों को क्रमशः तर्कशास्त्र एवं तर्क-विज्ञान (Logic), सौंदर्यशास्त्र एवं सौंदर्य-विज्ञान (Aesthetics) तथा आचारशास्त्र एवं आचार-विज्ञान (Ethics) कहा जाता है। तर्कशास्त्र एवं तर्क-विज्ञान का उद्देश्य हमें यह बतलाना है कि विचार का आदर्श क्या है। सौंदर्यशास्त्र एवं सौंदर्य-विज्ञान हमें यह बतलाता है कि भाव (Feeling) का आदर्श क्या है। और आचार-विज्ञान हमें यह बतलाता है कि क्रिया एवं कर्म का उद्देश्य क्या है। अतः हम कह सकते हैं कि तर्कशास्त्र सत्य को, सौंदर्य-शास्त्र सुन्दरता को तथा आचारशास्त्र एवं विज्ञान शुभ एवं शिव को आदर्श मानता है। इस भांति ये तीनों सत्यं, सुन्दरं, शिवम् (Truth, Beauty and Goodness) का अध्ययन करते हैं।

ऊपर दिए गए संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार-विज्ञान मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित है और वह एक आदर्शवादी दृष्टिकोण से मानवीय व्यव-हार की परख करता है। अतः आचार-विज्ञान की अनेक परिभाषाएं दी गई हैं। मैकन्ज़ी के अनुसार, "आचार-विज्ञान मानवीय जीवन में उपस्थित आदर्श का विज्ञान एवं सामान्य अध्ययन है।" रेशडाल के अनुसार, "आचार-विज्ञान शुभ तथा अशुभ का वह सिद्धांत है, जिसका लक्ष्य मानव-मात्र का कल्याण है।" ड्यूई के अनुसार, "आचार-विज्ञान का विषय व्यवहार का सत् और शुभ खोज निकालना है।" इसी प्रकार डाक्टर मोर ने आचार-विज्ञान को परम शुभ (Supreme Good) का विज्ञान कहा है।

आचार-विज्ञान की ऊपर दी गई सभी परिभाषाएं वास्तव में एक ही आशय को अभिव्यक्त करती हैं। इन सबका अभिप्राय यह है कि आचार-विज्ञान के अध्ययन का विषय मनुष्य का वह सामाजिक व्यवहार है, जिसके प्रति हम सत् या असत्, शुभ या अशुभ होने का निर्णय दे सकते हैं। जब मैकन्ज़ी आचारशास्त्र एवं आचार-विज्ञान को मानवीय जीवन के आदर्श का अध्ययन कहता है, तो उसका अभिप्राय यही है कि इसमें (आचार-विज्ञान में) हम मनुष्य के व्यवहार के प्रति सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ का निर्णय देते हैं। इसी प्रकार महाशय रेशडाल के द्वारा आचारशास्त्र एवं आचार-विज्ञान को मानवीय कल्याण के लिए शुभ-अशुभ का सिद्धांत स्वीकार किया जाना, आचार-विज्ञान को मान-वीय व्यवहार का आदर्शवादी विज्ञान ही प्रमाणित करता है। ड्यूई तथा मोर तो स्पष्टतः सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ को आचार-विज्ञान का विषय मानते हैं। उनकी इस स्वीकृति में यह तथ्य निहित है कि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध मानवीय व्यवहार के आदर्श से है।

वास्तव में, किसी भी विषय की परिभाषा देना अत्यन्त कठिन होता है। उसका कारण यह है कि परिभाषा में किसी विषय की सीमाओं को निर्धारित करने की चेष्टा की जाती है और संसार का कोई भी विषय अथवा विज्ञान ऐसा नहीं है जिसकी सीमा

किसी अन्य विषय में प्रविष्ट न होती हो, विशेषकर आचार-विज्ञान तो व्यवहार के औचित्य से सम्बन्ध रखता है और व्यवहार इतना व्यापक विषय है कि उसका अध्ययन अनेक विज्ञानों द्वारा और अनेक दृष्टिकोणों से किया जाता है। फिर भी हम इस विषय के अध्ययन से पूर्व, उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर, यह कह सकते हैं कि आचार-विज्ञान मनुष्य का व्यवहार-सम्बन्धी वह अध्ययन है जोकि मानवीय जीवन के चरम लक्ष्य का प्रतिपादन करता है और सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ-सम्बन्धी निर्णय निर्धारित करता है। इस परिभाषा की अधिक व्याख्या करने से पूर्व, आचार-विज्ञान तथा सत् और शुभ शब्दों की व्याख्या करना भी, इस विषय के अध्ययन के लिए उपयोगी रहेगा।

यदि हम शब्दार्थ के आधार पर आचार-विज्ञान के अंग्रेज़ी पर्यायवाची शब्द 'एथिक्स' का विश्लेषण करें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि इसका सम्बन्ध चरित्र से है। एथिक्स शब्द यूनानी भाषा के इथॉस (Ethos) से सम्बन्ध रखता है, जिसका अर्थ चरित्र है। इसी प्रकार एक अन्य शब्द 'मॉरल फिलासफी' (Moral Philosophy) भी आचार-विज्ञान का पर्यायवाची है, जिसका आधार लातीनी भाषा का शब्द मोर्स (Mores) है। इस शब्द का अर्थ आदत एवं रीति है। अतः शब्द-विज्ञान के दृष्टिकोण से भी आचार-विज्ञान वह विज्ञान है, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के नैतिक व्यवहार से एवं व्यवहार के सत्-असत् और शुभ-अशुभ से रहता है। आचार-विज्ञान उन नियमों का प्रतिपादन करता है, जो हमारे कर्म एवं व्यवहार को नैतिक बनाते हैं। इससे पूर्व कि हम आचार-विज्ञान के उन सिद्धांतों की व्याख्या करें, जोकि कर्म की नैतिक परीक्षा करते हैं, हम सत् और शुभ शब्दों के विश्लेषण के द्वारा भी आचार-विज्ञान की उपर्युक्त परिभाषा की पुष्टि कर सकते हैं।

हमने यह बताया है कि आचार-विज्ञान हमारे व्यवहार के सत्-असत्-सम्बन्धी निर्णयों का प्रतिपादन करता है। दूसरे शब्दों में, वह ऐसे नियमों की व्याख्या करता है, जोकि हमारे व्यवहार को उचित एवं ग्राह्य बनाते हैं। वास्तव में सत् शब्द का अंग्रेज़ी पर्यायवाची शब्द राइट (Right) है। यह शब्द लातीनी भाषा के अन्य शब्द रेक्टस (Rectus) से निकला है। रेक्टस का शब्दार्थ सीधा अथवा नियमानुकूल है। अतः जब हम यह कहते हैं कि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध व्यवहार के सत् से है, तो हमारा कहने का अभिप्राय यह होता है कि आचार-विज्ञान उन सिद्धान्तों का पतिपादन करता है जो हमारे व्यवहार को नियमानुकूल एवं सीधा बनाते हैं। सत् शब्द का विश्लेषण, आचार-विज्ञान के एक अंग की व्याख्या करता है। नियम वास्तव में साधन होते हैं और जहां साधन है, वहां साध्य एवं लक्ष्य का होना भी आवश्यक है। यदि व्यवहार का साधन सत् है, तो उसका लक्ष्य क्या होना चाहिए ?—इस प्रश्न का उत्तर हमें शुभ शब्द के विश्लेषण में मिलता है। इस शब्द का अंग्रेज़ी पर्यायवाची गुड (Good) अथवा उत्तम है, जोकि जर्मन भाषा के गट (Gut) शब्द से निकला है। इस शब्द का अर्थ, किसी उद्देश्य के लिए उपयोगी होना है। हम किसी वस्तु को शुभ एवं गुड इसलिए कहते हैं कि वह हमारे किसी

उद्देश्य की पूर्ति में उपयोगी होती है। जब हम कहते हैं कि अमुक पाठशाला उत्तम है, तो हमारा यह अभिप्राय होता है कि वह शिक्षा-प्राप्ति के उद्देश्य के लिए उपयोगी है। हमारे नित्यप्रति के जीवन में, उत्तम का अर्थ न ही केवल उद्देश्य के लिए उपयोगी होता है, अपितु वह उद्देश्य शब्द का पर्यायवाची भी माना जाता है। जो व्यक्ति एक पुस्तक लिख रहा हो, तो उसके लिए वह पुस्तक लिखना उत्तम होता है, क्योंकि वह उसका एक उद्देश्य है। हमारे जीवन में अनेक वस्तुएं और अनेक कर्म उत्तम माने जाते हैं, अर्थात् हमारे व्यवहार के अनेक उद्देश्य होते हैं। यदि हम शुभ एवं उत्तम शब्द के इस अर्थ को स्वीकार करें, तो हम यह कह सकते हैं कि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध व्यवहार के उद्देश्य से है। किन्तु हम यह जानते हैं कि हमारे जीवन में और अन्य व्यक्तियों के जीवन में अनेक कर्म उत्तम माने जाते हैं, अर्थात् अनेक उद्देश्य वांछनीय माने जाते हैं। आचार-विज्ञान इन अनेक विशेष उद्देश्यों से सम्बन्ध नहीं रखता। इसके विपरीत, उसका सम्बन्ध जीवन के उस परम उद्देश्य एवं चरम लक्ष्य से है जिसको दृष्टि में रखते हुए हम अपने समान जीवन का संचार करते हैं। यह परम उद्देश्य एवं चरम लक्ष्य ही परम शुभ कहा गया है। पश्चिमीय आचार-विज्ञान के अनुसार यह परम शुभ एवं चरम लक्ष्य, तर्क (Reason) एवं तार्किक नियम अथवा सुख (Happiness) अथवा आत्मानुभूति (Self-realization) हो सकता है। इन विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों का प्रातिपादन एवं उनकी व्याख्या यथास्थान की जाएगी, यहां पर इतना कह देना पर्याप्त होगा कि आचार-विज्ञान के अध्ययन का मुख्य विषय, मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य, परम उद्देश्य एवं परम शुभ है। यही आचार-विज्ञान का आदर्श है और इसी आधार पर उसे व्यवहार का आदर्शवादी विज्ञान माना गया है।

आचार-विज्ञान की यह परिभाषा उस समय तक अधूरी रह जाती है जब तक कि 'आदर्शवादी विज्ञान' की व्याख्या न की जाए। 'विज्ञान' शब्द का अर्थ सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध तथा पूर्ण ज्ञान होता है। विज्ञानों को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है जो निम्नलिखित हैं :

(i) स्वभाववादी एवं वर्णनात्मक विज्ञान (Naturalistic or Positive Sciences)

(ii) आदर्शवादी एवं नियामक विज्ञान (Normative Sciences)

स्वभाववादी एवं वर्णनात्मक विज्ञान वह विज्ञान होता है जोकि एक विषय की वास्तविक व्याख्या करता है। वह किसी आदर्श के आधार पर, विषय के औचित्य के प्रति निर्णय नहीं देता, वह तो तटस्थ दृष्टिकोण से तथ्यों की व्याख्या करता है, उनका वर्गीकरण करता है और उनके स्वभाव के प्राकृतिक नियमों का प्रतिपादन करता है। उदाहरणस्वरूप, वनस्पति-विज्ञान एक स्वभाववादी अथवा वर्णनात्मक विज्ञान है। उसका उद्देश्य विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों का वर्गीकरण करना तथा उनके उद्भव, उनके विकास एवं उनके मुरझाने आदि के प्राकृतिक आधार की व्याख्या करना होता है।

स्वभाववादी विज्ञान में किसी विषय के प्रति जो निर्णय दिए जाते हैं, वे निर्णय व्याख्यात्मक मात्र होते हैं। इसके विपरीत नियामक अथवा आदर्शवादी विज्ञान वह विज्ञान होता है जोकि किसी विशेष मापदण्ड को लेकर, उसीके आधार पर अपने विषय के प्रति औचित्य-सम्बन्धी निर्णय प्रतिपादित करता है। जहां वर्णनात्मक विज्ञान हमें यह बताता है कि अमुक विषय अमुक प्रकार है, वहां आदर्शवादी विज्ञान यह बताता है कि अमुक विषय को अमुक प्रकार होना चाहिए। इस विज्ञान में सदैव औचित्य-सम्बन्धी (Appreciative) निर्णय प्रतिपादित किए जाते हैं, जबकि वर्णनात्मक विज्ञान में केवल व्याख्यात्मक (Descriptive) निर्णय ही निर्धारित किए जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, तर्कशास्त्र विचार का एक आदर्शवादी विज्ञान है, जो हमें यह बतलाता है कि विचार को यथार्थ एवं सत्य होना चाहिए। अतः जब हम यह कहते हैं कि आचार-विज्ञान व्यवहार का आदर्शवादी विज्ञान है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि आचार-विज्ञान व्यवहार के औचित्य-सम्बन्धी निर्णयों का प्रतिपादन करता है। व्यवहार को सत् अथवा असत्, शुभ अथवा अशुभ बताना, उसके प्रति औचित्य-सम्बन्धी निर्णय देना है। स्वभाववादी तथा आदर्शवादी विज्ञानों का यह अन्तर, एक अन्य रीति से भी स्पष्ट किया जा सकता है।

वर्णनात्मक विज्ञान वह विज्ञान है, जिसकी विशेषता तथ्यों की क्रमबद्ध व्याख्या में है। अतः इस विज्ञान को तथ्यात्मक विज्ञान कहा जाता है और इसके निर्णय भी तथ्यात्मक निर्णय ही होते हैं। इसके विपरीत नियामक विज्ञान का सम्बन्ध तथ्यों से न होकर मूल्यों (Values) से होता है। अतः इसमें मूल्यात्मक निर्णय निर्धारित होते हैं। अतः इस विज्ञान को मूल्यों का विज्ञान और वर्णनात्मक विज्ञान को तथ्यों का विज्ञान कहा जा सकता है। उपर्युक्त विज्ञानों के वर्गीकरण के आधार पर, हम यह कह सकते हैं कि आचार-विज्ञान मूल्यों का विज्ञान है और उसके निर्णय औचित्य-सम्बन्धी एवं मूल्यात्मक निर्णय होते हैं। आचार-विज्ञान मनुष्य के व्यवहार का मूल्यांकन करता है और इस परिणाम पर पहुंचता है कि सदाचार एक स्वलक्ष्य मूल्य है। हम मूल्यों के विषय में यथास्थान चर्चा करेंगे। यहां पर केवल इतना कह देना उचित है कि आचार-विज्ञान सर्वात्मना मूल्यात्मक विज्ञान है।

आचार-विज्ञान और कला

आचार-विज्ञान की परिभाषा को अधिक स्पष्ट बनाने के लिए तथा उसके विषय की परिधि एवं उसके दृष्टिकोण को यथार्थ रूप से प्रस्तुत करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम विज्ञान तथा कला के परस्पर भेद को बतलाकर इस बात का निर्णय कर लें कि आचार-विज्ञान, विज्ञान है अथवा कला। यह प्रश्न विशेषकर इसलिए खड़ा हो जाता है कि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध व्यवहार से है और व्यवहार केवल सैद्धान्तिक सीमाओं में परिमित नहीं किया जा सकता। तर्कशास्त्र भले ही एक अमूर्त सैद्धान्तिक और औपचारिक विज्ञान रह सकता है, किन्तु आचार-विज्ञान का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन से होने के कारण कदापि औपचारिक-मात्र नहीं हो सकता। शिष्टाचार में

औपचारिकता का स्थान तो अवश्य होता है, किन्तु शुभ कर्म सदैव वही होता है, जिसको व्यावहारिक जीवन में सद्भावना से उतारा जाता है। अतः यह प्रश्न उठता है कि क्या सदाचार एक ऐसी कला है, जोकि किसी व्यक्ति में कम और किसीमें अधिक पाई जाती है अथवा वह केवल एक ज्ञान है जिसके अध्ययन से व्यक्ति स्वतः ही उदात्त, सच्चरित्र और सदाचारी बन जाता है। यदि किसी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अधिक सदाचारी इसलिए मान लिया जाए कि उसमें सदाचारी होने की अधिक दक्षता है, तो इसका अभिप्राय यह होगा कि आचार-विज्ञान एक कला है। इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए हमें विज्ञान तथा कला की तुलना करनी चाहिए।

हमने विज्ञान की संक्षिप्त व्याख्या पहले ही की है और यह बताया है कि विज्ञान किसी विषय का सुव्यवस्थित ज्ञान होता है। विज्ञान का उद्देश्य किसी विषय के प्रति स्पष्ट, संगत और नियमित ज्ञान प्रतिपादित करना है। दूसरे शब्दों में, वह हमें किसी विषय की पूरी-पूरी जानकारी देता है। विज्ञान की विशेषता केवल जानने-मात्र एवं ज्ञान तक ही सीमित है। इसके विपरीत कला एक सुव्यवस्थित, दक्षता एवं अभ्यास है, जिसका सम्बन्ध व्यावहारिक क्रिया से रहता है। यदि विज्ञान की विशेषता जानने-मात्र में है, तो कला की विशेषता किसी क्रिया के करने में है। विज्ञान तथा कला का यह भेद, इस बात को स्पष्ट करता है कि किसी भी विषय का विज्ञान तथा उसकी कला सदैव एक-दूसरे के साथ नहीं रह सकते। ऐसा भी हो सकता है कि एक व्यक्ति किसी विषय के विज्ञान को भली भांति जानता हो, किन्तु वह उसी विषय की कला से सर्वथा अनभिज्ञ हो। उदाहरणस्वरूप एक भौतिक-शास्त्र का विद्वान, जल में तैरने के भौतिक नियमों को भले ही जानता हो, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह तैरने की कला को भी जानता हो। सम्भवतया वह यदि जलाशय में गिर जाए, तो तैरने के भौतिक नियमों को कण्ठस्थ करने के उपरान्त भी अपने-आपको डूबने से न बचा सके। इसके विपरीत एक अशिक्षित और मूर्ख गंवार, जिसने कि भौतिक-विज्ञान का नाम भी न सुना हो, जल में तैरने की कला में निपुण हो सकता है। न ही केवल सैद्धान्तिक विज्ञानों में, अपितु व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञानों में भी, ज्ञान और कला का, सिद्धान्त और व्यावहारिकता का, तथा जानने और कार्यान्वित करने का यही अन्तर रहता है। उदाहरणस्वरूप चिकित्सा-विज्ञान में जो छात्र सर्वप्रथम रहा हो, वह सदैव सफल चिकित्सक नहीं बन सकता। इसके विपरीत चिकित्सा-विज्ञान की कक्षा में सबसे कम अंक प्राप्त करनेवाला व्यक्ति, सबसे अधिक सफल और दक्ष चिकित्सक प्रमाणित हो सकता है। यही बात अध्यापकों के प्रशिक्षण के सम्बन्ध में भी सत्य प्रमाणित होती है। जो व्यक्ति अध्यापकों के प्रशिक्षण में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर ले, सम्भवतया वह पढ़ाने में असफल हो सकता है। इस दृष्टि से कोई भी विज्ञान ऐसा नहीं है, जिसके अध्ययन से व्यक्ति उसी विज्ञान के विषय में व्यावहारिक दक्षता भी प्राप्त कर ले। दूसरे शब्दों में व्यावहारिक दक्षता का विशुद्ध विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। विज्ञान तथा कला के इस भेद के आधार पर हम आचार-विज्ञान को कदापि कला नहीं मान सकते।

उसका कारण यह है कि आचार-विज्ञान का अध्ययन करनेवाला व्यक्ति निश्चित रूप से सदाचारी, संत अथवा महात्मा नहीं बन सकता। इसके विपरीत सदाचारी, संत अथवा महात्मा आचार-विज्ञान के अध्ययन किए बिना भी नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है और आचार-विज्ञान के पण्डित को आचार-सम्बन्धी शिक्षा दे सकता है।

आचार-विज्ञान कदापि कला नहीं माना जा सकता, क्योंकि आचार का सम्बन्ध मनुष्य की सद्भावना से होता है, न कि किसी प्रकार की दक्षता से। तर्कशास्त्र भले ही कुछ सीमा तक वाद-विवाद करने की दक्षता पर निर्भर हो सकता है। इसी प्रकार सौंदर्य-शास्त्र भी ललित कलाओं से सम्बन्धित रहता है, किन्तु आचार-विज्ञान संकल्प पर आधारित होने के कारण कला से सर्वथा भिन्न है। सदाचारी व्यक्ति वह नहीं होता, जोकि सदाचार का आचरण कर सकता है, अपितु सदाचारी व्यक्ति वह है जोकि सद्भावना से प्रेरित होकर वास्तव में सदाचार का आचरण करता है। इसके विपरीत एक अच्छा विचारक वही है, जोकि यथार्थ विचार कर सकता है, चाहे वह वास्तव में ऐसा न भी कर रहा हो। इसी प्रकार अच्छा कलाकार वही है, जिसमें विशेष कला को प्रदर्शित करने की दक्षता है, चाहे वह वास्तव में उस कला का प्रदर्शन न भी कर रहा हो। मैकन्ज़ी ने इसी समस्या का समाधान करते हुए यह बताया है कि आचार-विज्ञान इसलिए कला नहीं माना जा सकता कि सदाचार एवं धर्म (Virtue) के दो ऐसे विशेष गुण हैं जो दक्षता एवं कला में कोई महत्त्व नहीं रखते।

सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि सद्गुण क्रियाशीलता में निहित होता है। हम किसी भी व्यक्ति को उस समय तक नैतिक नहीं कह सकते, जब तक कि वह वास्तव में नैतिकता के धर्म का अपने जीवन में उपयोग न कर रहा हो, अर्थात् जब तक कि वह नैतिकता में क्रियाशील न हो। किन्तु कला में क्रियाशीलता की अपेक्षा केवल किसी दक्षता की उपस्थिति ही पर्याप्त होती है। मैकन्ज़ी के शब्दों में "एक अच्छा चित्रकार वही है, जोकि सुचारु रूप से चित्र बना सकता है; पर एक सदाचारी व्यक्ति वह नहीं है जो सदाचार का आचरण कर सकता है, अपितु वह ऐसा व्यक्ति है, जो सदाचार का कर्म करता है। एक अच्छा चित्रकार उस समय भी अच्छा रहता है जबकि वह सो रहा हो अथवा यात्रा कर रहा हो अथवा जब वह किसी कारण अपनी कला में प्रवृत्त न हो। सदाचारी मनुष्य जब सो रहा हो अथवा यात्रा पर हो, तब तक सदाचारी नहीं माना जा सकता, जब तक कि सोना अथवा यात्रा पर जाना सदाचार में सम्मिलित न हों।"[१]

धर्म को यूनान के विख्यात दार्शनिक सुकरात ने एक प्रकार का ज्ञान माना है। उसके इस दृष्टिकोण का अभिप्राय यह था कि कोई भी व्यक्ति तब तक धार्मिक एवं नैतिक नहीं हो सकता, जब तक कि वह यह न जानता हो कि धर्म क्या है। किन्तु हम धर्म को केवल ज्ञान तक ही सीमित नहीं रख सकते। अतः अरस्तू ने यह कहा है, "धर्म एक प्रकार

---

१. A Manual of Ethics : By J.S. Mackenzie, VI Edition, page 8-9.

का अभ्यास है, वह संकल्प द्वारा किया गया अभ्यास है।" दूसरे शब्दों में धर्म, ज्ञान और प्रवृत्ति, चेतना और क्रियाशीलता एवं विचार तथा संकल्प दोनों का समन्वय है। इसी कारण संस्कृत के किसी विद्वान ने अपूर्ण नैतिकता को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति।"

अर्थात् "मैं धर्म को जानता तो हूं, किन्तु उसमें संलग्न नहीं हूं; मैं अधर्म को भी जानता हूं, किन्तु उससे निवृत्त नहीं हूं।" इस कथन का अभिप्राय यह है कि धर्म एवं नैतिकता का सम्बन्ध केवल ज्ञान से नहीं है, अपितु क्रिया एवं व्यवहार से है। कला में भी दक्षता का सम्बन्ध व्यवहार से तो होता है, किन्तु वह सर्वथा व्यवहार पर निर्भर नहीं होती। अतः आचार-विज्ञान कला से विपरीत है।

धर्म का दूसरा गुण यह है कि उसका विशेष लक्षण संकल्प में है। धार्मिक एवं नैतिक कर्म वही होता है जोकि संकल्प द्वारा एवं निर्वाचन द्वारा किया जाता है। यदि किसी कर्म का संकल्प शुभ संकल्प न हो, तो उसे नैतिक नहीं माना जा सकता। सद्भावना और शुभ संकल्प नैतिकता के केन्द्र हैं। नैतिक कर्म का मूल्यांकन पूर्णतया सद्भावना पर ही निर्भर रहता है। पश्चिम के विख्यात दार्शनिक एमेनुअल कांट ने शुभ संकल्प के महत्त्व को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

"इस विश्व में तथा इसके बाहर शुभ संकल्प के अतिरिक्त कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसको कि हम निरपेक्ष रूप से शुभ एवं श्रेयस्कर मान सकते हैं। शुभ संकल्प इसलिए शुभ नहीं माना जाता कि उसका परिणाम एवं उसकी कृति क्या होती है। न ही उसका मूल्यांकन किसी उद्देश्य की पूर्ति की योग्यता से किया जाता है, अपितु उसके मूल्यांकन का आधार संकल्प ही होता है।"[१] शुभ संकल्प का जितना महत्त्व धर्म एवं नैतिकता में है, उतना किसी कला में नहीं होता। दुराचारी और दुष्ट व्यक्ति भी कलाकार हो सकता है, किन्तु उत्तम से उत्तम सद्भावना के द्वारा एवं दृढ़ संकल्प के होते हुए भी कोई व्यक्ति अच्छा कलाकार नहीं बन सकता। कला में अन्तिम निर्णय क्रिया की सफलता के आधार पर दिया जाता है, जबकि नैतिकता के क्षेत्र में कर्म का मूल्यांकन अन्तःप्रेरणा एवं संकल्प पर किया जाता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सदाचार की कोई कला नहीं हो सकती। अतः आचार-विज्ञान कला न होकर एक विज्ञान ही माना

---

१. "There is nothing good in the world, and even out of it, that can be regarded good without qualification, but goodwill......a goodwill is good not because of what it performs or effects, not by its aptness for the attainment of some proposed end, but simply by virtue of the volition."

—Immanual Kant : Metaphysics Of Morals, I.

जाएगा।

मूल्य की धारणा

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार-विज्ञान मूल्यात्मक विज्ञान होने के कारण पूर्णतया मूल्य की धारणा पर आश्रित है। अतः इस विषय के विस्तार-पूर्वक अध्ययन से पूर्व मूल्य शब्द की व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है। वैसे तो आचार-विज्ञान की सभी समस्याएं मूल्य की समस्याएं हैं और उसके सभी सिद्धान्त व्यवहार के परम मूल्य के सिद्धान्त हैं। इन सभी सिद्धान्तों की व्याख्या तो यथास्थान की जाएगी, किन्तु यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि सभी मूल्यात्मक विज्ञानों में, मूल्य शब्द का क्या आशय होता है। यदि हम किसी सामान्य व्यक्ति से मूल्य शब्द का अर्थ पूछें, तो वह हमें उत्तर देगा कि मूल्य वही है, जो हमारी किसी इच्छा को तृप्त करता है। रोटी एक मूल्य है क्योंकि वह हमारी भूख को तृप्त करती है, इसी प्रकार जो भी वस्तुएं मानवीय इच्छाओं को तृप्त करती हैं वे मूल्य हैं।

मूल्य की यह सरल परिभाषा सामान्य व्यक्ति के लिए तो ग्राह्य अवश्य है और प्राचीन काल में नैतिकता के क्षेत्र में भी इसी परिभाषा के आधार पर विभिन्न कर्मों एवं संस्कारों का मूल्यांकन किया जाता था। अतः उन रीति-रिवाजों को शुभ माना जाता था जोकि किसी मानवीय इच्छा की पूर्ति करते थे। किन्तु मनुष्य के विचार के विकास के साथ-साथ मूल्य की परिभाषा भी विकसित होती गई है। मूल्य की पहली परिभाषा पर विचार करते हुए हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि जो वस्तु मनुष्य की इच्छा की पूर्ति करती है, वास्तव में वह वही होती है जोकि उसके जीवन के लिए उपयोगी होती है। मूल्य की यह दूसरी परिभाषा भी विस्तृत परिभाषा नहीं है। आचार-विज्ञान के चिन्तकों ने मूल्य की उच्चतम परिभाषा इस प्रकार दी है :

"वही वस्तु अन्तिम रूप से तथा स्वलक्ष्य दृष्टि से मूल्यवान है, जोकि व्यक्तियों को विकास अथवा आत्मविकास की ओर ले जाती है।"[१] मूल्य की यह परिभाषा आचार-विज्ञान में विशेष महत्त्व रखती है, क्योंकि सदाचार का सम्बन्ध उन सामान्य मूल्यों से नहीं है जोकि मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। इसके विपरीत नैतिक व्यक्ति तो विषय-भोग आदि और संवेदनात्मक तृप्ति से ऊपर उठ जाता है। हम उस व्यक्ति को नैतिक नहीं कहते, जोकि अपनी पाशवीय इच्छाओं, खाने-पीने तथा विषय-भोग आदि की तृप्ति में संलग्न हो। ऐसा व्यक्ति तो अनैतिक ही कहा जाएगा। इसलिए भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जीवन के चरम लक्ष्य की ओर संकेत करते हुए,

---

१. "That alone is ultimately and intrinsically valuable that leads to the development of selves or to self-realization."

—Fundamentals of Ethics by Urban, 1956 Edition, page 18.

विषय-भोग आदि की तृप्ति को आदर्श जीवन के विरुद्ध बताया है और कहा है कि इन पाशवीय प्रवृत्तियों में संलग्न व्यक्ति नष्ट होता है और आत्मविकास एवं आत्मानुभूति (Self-realization) को प्राप्त नहीं कर सकता। श्रीकृष्ण के शब्दों में :

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥"

अर्थात् "विषयों का चिन्तन करने से उनमें संगति हो जाती है संगति से काम-वासना पैदा होती है, काम से क्रोध पैदा होता है, क्रोध से सम्मोह पैदा होता है, मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है, स्मृति के नाश होने से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश होने से (मनुष्य) सब कुछ खो देता है।"

इस दृष्टिकोण से परम मूल्य और चरम लक्ष्य वही है जोकि मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक होता है। प्रस्तुत पुस्तक में हम पश्चिमीय आचार-विज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों का मूल्यांकन इसी परम मूल्य की दृष्टि से करेंगे। हमारी आलोचना निष्पक्ष रूप से इसी परम मूल्य की ओर लक्षित होगी। अन्त में हमें भारतीय आचार-विज्ञान की तुलना भी करनी होगी। उसके पश्चात् ही हम परम मूल्य के स्वरूप-लक्षण को जान सकेंगे। इससे पूर्व कि हम पश्चिमीय आचार-विज्ञान के विभिन्न अंगों का विवेचन करें, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम आचार-विज्ञान की अन्य विज्ञानों से तुलना करके और उनसे उसका सम्बन्ध बतलाकर आचार-विज्ञान के क्षेत्र को स्पष्ट रूप से निर्धारित करें।

आचार-विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

हमने ऊपर बताया है कि आचार-विज्ञान एक विशेष प्रकार का विज्ञान है और उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। क्योंकि इस विज्ञान का सम्बन्ध मानवीय व्यवहार से है और व्यवहार ही मनुष्य के अनुभव का अधिकांश होता है, इसलिए आचार-विज्ञान का विषय इतना विस्तृत विषय है कि उसका सम्बन्ध ज्ञान की अनेक शाखाओं से होता है। अन्य विज्ञान तो मानवीय अनुभव के किसी विशेष अंग से सम्बन्धित रहते हैं; किन्तु व्यवहार एवं क्रिया मानवीय अनुभव का सर्वेसर्वा होने के कारण वास्तव में एक सम्पूर्ण अनुभव हैं। अतः आचार-विज्ञान को संकुचित दृष्टि से विज्ञान भी नहीं कहा जा सकता। वह तो व्यवहार-संबंधी दर्शन है और ऐसा दर्शन है कि जिसका सम्बन्ध ज्ञान की सभी अन्य शाखाओं से एवं विज्ञानों से रहता है। कुछ विज्ञान ऐसे हैं, जिनपर कि आचार-विज्ञान कुछ सीमा तक आश्रित रहता है, कुछ के साथ उसका समानता का सम्बन्ध है और कुछ विज्ञान आचार-विज्ञान पर निर्भर रहते हैं। हम आचार-विज्ञान और अन्य विज्ञानों का सम्बन्ध अपने ही क्रम से लेंगे। सर्वप्रथम हम भौतिक-विज्ञान तथा आचार-विज्ञान के सम्बन्ध

की व्याख्या करेंगे।

आचार-विज्ञान तथा भौतिक-विज्ञान

हम यह जानते हैं कि भौतिक-विज्ञान का सम्बन्ध, द्रव्य की स्वरूप-व्याख्या करना तथा उसकी गतिविधि के नियमों को निर्धारित करना है। प्रथम दृष्टि से सम्भवतया सामान्य व्यक्ति यह कह सकता है कि भौतिक-विज्ञान का आचार-विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और यदि कोई ऐसा सम्बन्ध हो भी तो वह केवल दूरवर्ती सम्बन्ध ही हो सकता है। मैकन्ज़ी ने भी भौतिक-विज्ञान का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है, "निस्सन्देह आचार-विज्ञान का भौतिक-विज्ञान से उस सीमा तक परोक्ष सम्बन्ध है, जहां तक कि भौतिक नियमों का ज्ञान यह भविष्यवाणी करने में समर्थ होता है कि उनका प्रभाव विभिन्न प्रकार के व्यवहार पर कैसा होगा। किन्तु इस प्रकार का ज्ञान केवल व्यवहार की विस्तृत व्याख्या पर ही प्रभाव डालता है और उन सामान्य नियमों पर नहीं, जोकि हमारे व्यवहार का निर्देश करते हैं। आधुनिक काल में एक विद्वान व्यक्ति समुद्र तथा नक्षत्रों से कम भयभीत होगा और दूषित वायु तथा अशुद्ध जल से अधिक भयभीत होगा।"[१] किन्तु भौतिक-विज्ञानों में और विशेषकर आकाश-सम्बन्धी भौतिक-विज्ञान में जो नवीनतम प्रगति हुई है, उसका प्रभाव मनुष्य के व्यवहार तथा सदाचार पर अवश्य होता है। आज भौतिक-विज्ञान की खोज के कारण मनुष्य के पास इतनी असीम शक्ति संचित हो चुकी है कि वह यदि उस शक्ति का प्रयोग करे, तो मनुष्य-मात्र ही नहीं, अपितु इस पृथ्वी पर जीवन सदा के लिए समाप्त हो जाए। अणुबम, उदजनबम आदि के आविष्कार आचार-सम्बन्धी प्रश्न उत्पन्न कर देते हैं। यदि सदाचार की अवहेलना की जाए और भौतिक-विज्ञान के आविष्कारों को आचार के नियमों से पूर्णतया मुक्त कर दिया जाए, तो थोड़े ही समय में मनुष्य की वैज्ञानिक प्रगति, उसकी संस्कृति एवं उसकी युगों की पूंजी नष्ट-भ्रष्ट हो जाए। अतः भौतिक-विज्ञान तटस्थ रूप से अपने मार्ग पर नहीं चल सकता, क्योंकि यह तटस्थता अमानवीय सिद्ध हो सकती है और पृथ्वी पर प्रलय का कारण बन सकती है। इस दृष्टि से भौतिक-विज्ञान को आचार-विज्ञान से प्रेरणा प्राप्त करनी होगी। आचार-विज्ञान का सम्बन्ध हमारी दृष्टि से भौतिक-विज्ञान से इतना घनिष्ठ है कि इस सम्बन्ध की अवहेलना करना मानव-मात्र को आणविक हत्या के मार्ग पर चलाना है।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि भौतिक-विज्ञान का कारणता का नियम आचार-विज्ञान से सम्बन्ध रखता है। कारणता का भौतिक नियम यह बताता है कि कारण और कार्य सदैव समान होते हैं, किन्तु आचार-विज्ञान में हम संकल्प की स्वतन्त्रता की मान्यता को लेकर चलते हैं। यदि मनुष्य संकल्प करने में स्वतन्त्र है तो उसका संकल्प भौतिक वातावरण में परिवर्तन उत्पन्न करने का कारण बन सकता है। किन्तु संकल्प

---

१. Manual of Ethics by Mackenzie, VI Edition, page 16.

स्वयं भौतिक नहीं है। अतः एक असमान कारण भौतिक परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। संकल्प की स्वतन्त्रता की यह सम्भावना भौतिक कारणता के नियम का विरोध करती है। इस प्रकार भौतिक-विज्ञान तथा आचार-विज्ञान इस संघर्ष के समाधान के लिए भी एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। अन्त में यह कह देना भी उपयुक्त है कि भौतिक-विज्ञान हमें उस वातावरण को समझने में सहायता देता है जिसमें नैतिक जीवन व्यतीत किया जाता है।

आचार-विज्ञान तथा जीव-विज्ञान

जीव-विज्ञान एक प्राकृतिक एवं स्वभाववादी विज्ञान है और उसका उद्देश्य जीवन-प्रक्रिया के स्वरूप का अध्ययन करना है। क्योंकि आचार जीवित प्राणियों की प्रक्रिया होता है, इसलिए आचार-विज्ञान का सम्बन्ध, भौतिक-विज्ञान तथा रसायनशास्त्र की अपेक्षा जीव-विज्ञान से अधिक घनिष्ठ होता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि ये दोनों विज्ञान अत्यन्त निकटवर्ती हैं। मनुष्य की शरीर-सम्बन्धी एवं जीवन-सम्बन्धी अनेक ऐसी आवश्यकताएं हैं, जिनका मनुष्य की नैतिक भावनाओं से सम्बन्ध रहता है; उदाहरणस्वरूप मनुष्य की काम-वृत्ति अनेक नैतिक समस्याओं को जन्म देती है और इन्हीं समस्याओं को सुलझाने के लिए मानवीय समाज में विवाह आदि की प्रथाएं प्रचलित हुई हैं। किन्तु जीव-विज्ञान और आचार-विज्ञान का यह सम्बन्ध एक परोक्ष-सम्बन्ध ही माना जाएगा।

जीव-विज्ञान में पिछले सौ वर्षों से अनेक परिवर्तन हुए हैं और इन परिवर्तनों में डारविन का विकासवाद विशेष महत्त्व रखता है। विकासवाद के अनुसार जीव-मात्र का कीटाणु से लेकर मनुष्य तक धीरे-धीरे विकास हुआ है और उस विकास में जीव की अनेक प्रवृत्तियों तथा उसके विशेष व्यवहार का उसकी जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन हुआ है। कुछ विद्वानों का कहना है कि शुभ-अशुभ का आदर्श भी जीवन के विकास से सम्बन्ध रखता है। शुभ वही है जो जीवन को प्रोत्साहन देता है और अशुभ वही है जो जीवन के लिए हानिकारक है। ऐसे आचार-विज्ञान के पण्डितों के अनुसार न्यून स्तर के जीवों में भी नैतिक स्तर की उपस्थिति स्वीकार की जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जीव-विज्ञान-सम्बन्धी विकासवाद के सिद्धान्त का आचार-विज्ञान पर काफी प्रभाव पड़ा है।

जीव-विज्ञान का आचार-विज्ञान से सम्बन्ध होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि इन दोनों विज्ञानों की समस्याएं एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। हम नीचे के स्तरवाले जीवों के व्यवहार को नैतिक व्यवहार नहीं कह सकते। यदि जीवन को प्रोत्साहन देनेवाली क्रिया-मात्र को नैतिक मान लिया जाए, तो आचार-विज्ञान केवल एक प्राकृतिक विज्ञान ही बन जाएगा। इस बात का विस्तारपूर्वक विवेचन तो हम यथास्थान करेंगे; किन्तु यहां पर इतना कह देना पर्याप्त है कि आचार-विज्ञान को जीव-विज्ञान पर

आधारित करना सर्वथा असंगत है। जीव-विज्ञान एक स्वभाववादी विज्ञान है और आचार-विज्ञान का दृष्टिकोण आदर्शवादी है। जीव-विज्ञान का सम्बन्ध वनस्पति से लेकर मनुष्य तक सभी प्रकार की जीवन-क्रिया के अध्ययन से है, जबकि आचार-विज्ञान केवल मानवीय शुभ-अशुभ-सम्बन्धी और सत्-असत्-सम्बन्धी व्यवहार का अध्ययन करता है।

आचार-विज्ञान तथा मनोविज्ञान

स्वभाववादी विज्ञानों में से आचार-विज्ञान का सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। मनोविज्ञान एक प्राचीन तथा नवीन विज्ञान है। वह प्राचीन इसलिए है कि उसका जन्म सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के समय से माना जाता है। वह नवीन इसलिए है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही इस विज्ञान ने दर्शन से सम्बन्ध-विच्छेद करके प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में प्रवेश किया है। मनोविज्ञान की अनेक परिभाषाएं हैं, जिनमें से एक के अनुसार यह माना जाता है कि मनोविज्ञान व्यवहार का विज्ञान है। अन्य परिभाषाएं भी इस बात से सहमत हैं कि मनोविज्ञान का विषय मनुष्य की क्रियाएं एवं उसका व्यवहार है। हम यह जानते हैं कि आचार-विज्ञान का विषय भी मानवीय व्यवहार है। अतः मनोविज्ञान की परिभाषा और उसका अध्ययन का विषय आदि स्पष्ट करते हैं कि मनोविज्ञान का सम्बन्ध आचार-विज्ञान से एक निकटवर्ती सम्बन्ध है।

हम यह कह सकते हैं कि आचार-विज्ञान का मनोविज्ञान से कम से कम उतना घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है, जितना कि तर्कशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र का मनोविज्ञान से। मनोविज्ञान के विषय को अध्ययन की सरलता के लिए तीन भागों में विभक्त किया जाता है, जो निम्नलिखित हैं :

(१) ज्ञानात्मक व्यवहार (Knowing)
(२) भावात्मक व्यवहार (Feeling)
(३) क्रियात्मक व्यवहार (Willing or acting)

जब मनोविज्ञान हमें यह बतलाता है कि ज्ञान एवं विचार का क्या स्वरूप है, तो हम जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि ज्ञान अथवा विचार को कैसे होना चाहिए। अतः मनोविज्ञान का ज्ञानात्मक अंग हमें एक ऐसे आदर्शवादी विज्ञान की स्थापना करने के लिए प्रेरित करता है, जिसका उद्देश्य विचार की यथार्थता को ढूंढ़ना और उसका आदर्श बताना है। यही आदर्शवादी विज्ञान, तर्कशास्त्र (Logic) कहलाता है। इसी प्रकार मनोविज्ञान का भावात्मक अंग हमें यह बतलाता है कि भावात्मक व्यवहार का क्या स्वरूप है। इससे प्रेरित होकर हम यह जानने की चेष्टा करते हैं कि हमारे भावों को कैसा होना चाहिए। अतः मनोविज्ञान का यह अंग भावों के आदर्शवादी विज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) की स्थापना को सम्भव बनाता है। जब मनोविज्ञान में हम स्वच्छन्द तथा सविकल्पक क्रिया एवं कर्म के स्वरूप को जानने की चेष्टा करते हैं, तो हमें स्वाभाविक रूप से यह जानने की उत्सुकता होती है कि हमारे कर्म को कैसे होना चाहिए। इस

प्रकार मनोविज्ञान का क्रियात्मक अंग आचार-विज्ञान को जन्म देता है, जिसका उद्देश्य मानवीय कर्म के आदर्श का प्रतिपादन करना है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र तथा आचार-विज्ञान तीनों मूल्यांकन विज्ञान हैं और इन सबका उद्भव मनोविज्ञान से होता है। एक दृष्टि से ये तीनों आदर्शवादी विज्ञान अपने-अपने अध्ययन के विषय को मनोविज्ञान के अध्ययन के विषय से प्राप्त करते हैं। अतः इन तीनों का मनोविज्ञान से सम्बन्ध एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि ये तीनों आदर्शवादी विज्ञान मनोविज्ञान की शाखाएं-मात्र हैं। इन तीनों विज्ञानों का मनोविज्ञान से सम्बन्ध बतलाते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि मनोविज्ञान एक स्वाभाववादी विज्ञान है, जबकि तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र तथा आचारशास्त्र अथवा आचार-विज्ञान आदर्शवादी विज्ञान हैं। अतः आचार-विज्ञान तथा मनोविज्ञान परस्पर सम्बन्धित होते हुए भी एक-दूसरे से विभिन्न हैं। सर्वप्रथम इन दोनों का दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् है। दूसरे स्थान पर इनके विषय का क्षेत्र भी विभिन्न है। मनोविज्ञान सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार से सम्बन्ध रखता है, जबकि आचार-विज्ञान मनुष्य के क्रियात्मक व्यवहार के अध्ययन तक ही सीमित रहता है।

इन विभिन्नताओं के होते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि तर्कशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र भले ही मनोविज्ञान की अवहेलना करें, किन्तु आचार-विज्ञान, मनोविज्ञान से कदापि सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता। एक तर्कशास्त्री, विचार के वास्तविक स्वरूप को जाने बिना ही, तर्क में प्रवीण हो सकता है। इसी प्रकार एक चित्रकार के लिए भी यह अनिवार्य नहीं है कि वह भावात्मक व्यवहार की मनोवैज्ञानिक व्याख्या जानता हो; किन्तु आचार-विज्ञान मनुष्य के क्रियात्मक व्यवहार की व्याख्या किए बिना व्यवहार का आदर्श प्रतिपादित नहीं कर सकता। मनोविज्ञान हमें यह बतलाता है कि मनुष्य के व्यवहार का क्या स्वरूप है, एवं मनुष्य के क्रिया करने की क्षमताएं कौन-कौन-सी हैं। आचार-विज्ञान हमें यह बताता है कि मनुष्य को क्रियात्मक व्यवहार किस प्रकार करना चाहिए। जब तक कि हम किसी व्यक्ति की क्रियात्मक क्षमता को न जान लें, हम उसके क्रियात्मक व्यवहार के लिए कोई आदर्श स्थापित नहीं कर सकते। यदि हम ऐसा करें तो यह न्याय-संगत नहीं होगा।

मनोविज्ञान के ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि अनेक ऐसी मनोवैज्ञानिक व्याख्याएं हैं, जोकि नैतिक समस्याओं से सम्बन्ध रखती हैं। मनुष्य के व्यवहार के लिए आदर्श स्थापित करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि मानवीय क्रिया का क्या स्वरूप है। उदाहरणस्वरूप आचार-विज्ञान में नैतिक सुखवाद की यह धारणा है कि मनुष्य की इच्छाओं का आदर्श सुख ही होना चाहिए। कुछ नैतिक सुखवादी ऐसे हैं जो इस दृष्टिकोण की पुष्टि मनोवैज्ञानिक सुखवाद से करते हैं। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार हमारी इच्छा स्वभाव से सुख को ही लक्ष्य बनाती है। यदि इच्छा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मनोवैज्ञानिक सुखवाद को अप्रमाणित कर दे, तो उसपर आधारित नैतिक सुखवाद

भी अप्रमाणित हो जाता है। इच्छा, संकल्प, प्रेरणा तथा क्रिया आदि का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, आचार-विज्ञान के लिए इतना आवश्यक है कि कुछ आचार-विज्ञान के विद्वानों ने इस अध्ययन को आचार-विज्ञान का अनिवार्य अंग माना है। अतः हम कह सकते हैं कि आचार-विज्ञान काफी सीमा तक अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए मनोविज्ञान पर निर्भर रहता है।

आचार-विज्ञान तथा समाज-विज्ञान

मनोविज्ञान के पश्चात् आचार-विज्ञान यदि किसी अन्य विज्ञान की सहायता प्राप्त करता है, तो वह समाज-विज्ञान है। समाज-विज्ञान का मुख्य उद्देश्य, मनुष्यों के समूह एक समाज का अध्ययन करना है। यह विज्ञान कुछ समय पहले ही पनपा है। इसका क्षेत्र इतना विस्तृत है और इसकी समस्याएं इतनी अनिश्चित हैं कि इसको सीमाबद्ध करना बहुत कठिन हो जाता है। प्रायः अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र की समस्याएं भी समाज-विज्ञान की परिधि में आ जाती हैं। किन्तु समाज-विज्ञान विशेषकर सामाजिक संस्थाओं, रीति-रिवाजों, विवाह, जाति तथा अन्य सामाजिक संस्कारों के विकास का अध्ययन करता है। अतः इसका दृष्टिकोण मुख्यतया ऐतिहासिक रहता है और यह विज्ञान स्वभाववादी विज्ञानों की श्रेणी में रखा जाता है। आचार-विज्ञान, निस्संदेह आदर्शवादी विज्ञान होने के नाते, समाज-विज्ञान से विभिन्न अवश्य है, किन्तु दृष्टिकोण की विभिन्नता के होते हुए भी इन दोनों विज्ञानों में, अध्ययन के विषय की समानताएं सदृश अवश्य हैं। यदि नैतिकता के इतिहास पर दृष्टि डाली जाए, तो आचार का सर्वप्रथम आदर्श हमें सामाजिक रीति-रिवाजों और जाति आदि के बन्धनों और रूढ़िवादी संस्कारों में मिलेगा। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य में तर्कात्मक नैतिकता का विकास धीरे-धीरे हुआ है। अतः मानव-मात्र के नैतिक व्यवहार के लिए उचित आदर्श स्थापित करने से पूर्व, यह जानना भी आवश्यक हो जाता है कि अतीत में सामाजिक नैतिकता के रूप में मनुष्य किन आदर्शों के आधार पर व्यवहार करता चला आया है। दूसरे शब्दों में, आचार-विज्ञान का कोई भी सिद्धान्त तब तक प्रतिपादित नहीं किया जा सकता, जब तक कि समाज-विज्ञान की सहायता से अतीत तथा वर्तमान की सामाजिक संस्थाओं तथा संस्कारों का विस्तारपूर्वक अध्ययन न कर लिया जाए। इस दृष्टि से, आचार विज्ञान, समाज-विज्ञान पर काफी सीमा तक निर्भर रहता है।

आचार-विज्ञान का समाज-विज्ञान से इस प्रकार का निकटतम सम्बन्ध है कि आचार-विज्ञान पर लिखी गई प्रत्येक पुस्तक में नैतिकता का सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत रहता है। यह कहा जा सकता है कि समाज-विज्ञान का दृष्टिकोण सामूहिक रहता है, जबकि आचार-विज्ञान का दृष्टिकोण सामान्य होते हुए भी इस दृष्टि से व्यक्तिगत होता है कि उसके द्वारा प्रतिपादित आदर्श, जनसाधारण पर व्यक्तिगत रूप से लागू होता है। समाज-विज्ञान में सामूहिक रीति-रिवाजों का अध्ययन तो किया

जाता है, किन्तु उसमें इनके शुभ-अशुभ और सत्-असत् होने के प्रति आलोचना नहीं की जाती, क्योंकि समाज-विज्ञान मूल्यात्मक न होकर तथ्यात्मक होता है। आचार-विज्ञान में जो आदर्श प्रतिपादित किए जाते हैं और जिनकी आलोचना की जाती है, वे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को उदात्त बनाने का साधन होते हैं। यदि आचार-विज्ञान के इस उद्देश्य का विश्लेषण किया जाए, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक होना, वास्तव में समूह एवं समाज की उन्नति के लिए उपयोगी होता है। आचार-विज्ञान में जो आदेश व्यक्ति के लिए प्रस्तुत किया जाता है, वह वास्तव में सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित होता है।

नैतिकता की मुख्य समस्या सामाजिक समस्या कही जा सकती है। आचार-विज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्तव्य निर्धारित करता है और उन कर्तव्यों से सम्बन्धित, उनके अधिकारों को भी प्रतिपादित करता है। यह कर्तव्य और अधिकार वास्तव में व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध और उत्तरदायित्व को अभिव्यक्त करते हैं। इसी प्रकार जब किसी नैतिक सिद्धान्त को वांछनीय प्रमाणित करने की चेष्टा की जाती है तो उसे समाज के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध किया जाता है। उदाहरणस्वरूप नैतिक सुखवाद के समर्थक जे० एस० मिल का कहना है कि मानवीय जीवन का उद्देश्य, अधिक से अधिक व्यक्तियों के लिए अधिक से अधिक सुख जुटाना है। सुखवादी नैतिक सिद्धान्त में, व्यक्ति और समाज के विरुद्ध, सुख के विरोध की समस्या खड़ी हो जाती है। इसी प्रकार ग्रीन के आत्मानुभूति एवं आत्मविकास के नैतिक सिद्धांत में भी व्यक्ति और समाज-सम्बन्धी समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। नैतिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने के पश्चात्, आचार-विज्ञान का छात्र जब इन सिद्धान्तों को जीवन में लागू करने की चेष्टा करता है, तो उसके सामने पारितोषिक और दण्ड, आत्महत्या, मृत्यु-दण्ड, विवाह आदि की सामाजिक समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए समाज-विज्ञान का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

आचार-विज्ञान तथा तर्कशास्त्र

अभी तक हमने आचार-विज्ञान का सम्बन्ध केवल स्वभाववादी विज्ञानों से ही बतलाया है। इन सभी विज्ञानों का आचार-विज्ञान के लिए महत्त्व इसलिए है कि उनके अध्ययन से आचार-विज्ञान की समस्याओं को सुलझाने में सुगमता रहती है। आदर्शवादी विज्ञानों में से तर्कशास्त्र ही एक ऐसा विज्ञान है, जिसका सम्बन्ध आचार-विज्ञान से निकटतम माना जा सकता है। यों तो तर्कशास्त्र सभी विज्ञानों का आधार माना जाता है। उसका कारण यह है कि तर्कशास्त्र ही ऐसा विज्ञान है, जो हमें बतलाता है कि यथार्थ विचार के आधारभूत नियम क्या हैं। प्रत्येक विज्ञान चाहे, वह स्वभाववादी हो चाहे आदर्शवादी, यथार्थ विचार का प्रयोग करता है और इसलिए उसे तर्कशास्त्र की सहायता लेनी पड़ती है। इस दृष्टि से तो आचार-विज्ञान, अन्य विज्ञानों की भांति तर्कशास्त्र से संबंधित

है ही। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल से ही तर्कशास्त्र और आचार-विज्ञान का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि कुछ विद्वानों ने सदाचार को सदैव तर्क पर आधारित ही माना है।

सुकरात ने सर्वप्रथम विचारकों का ध्यान नैतिकता एवं धर्म की ओर आकर्षित किया। जैसाकि हमने पहले कहा है, सुकरात के अनुसार धर्म को ज्ञान ही माना गया है और यह ज्ञान तर्क पर आधारित बौद्धिक ज्ञान है। इसी प्रकार यूनानी काल के विख्यात नैतिक दार्शनिकों 'स्टायक्स' ने तर्क (Reason) को ही जीवन का आदर्श स्वीकार किया। आधुनिक युग में, यूरोप के उच्चतम दार्शनिक कांट ने अपना सम्पूर्ण दर्शन तर्कात्मक आलोचना के आधार पर प्रतिपादित किया, विशेषकर मानव-मात्र के लिए नैतिक आदर्श प्रस्तुत करते समय कांट ने केवल-मात्र तर्क को ही धर्म माना है। उसके अनुसार तर्क-संगत कर्म ही नैतिक कर्म है। जो कर्म तर्क-संगत नहीं है, वही अवांछनीय और अनैतिक है। हम आगे चलकर कांट के इस महान सिद्धांत का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि तर्क को अनेक विद्वानों ने सदाचार का आदर्श माना है।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार-विज्ञान और तर्कशास्त्र का परस्पर सम्बन्ध अभिन्न और अद्वितीय है। किन्तु इनके इस निकटतम सम्बन्ध से हमें इस भ्रांत धारणा में नहीं पड़ जाना चाहिए कि आचार-विज्ञान और तर्कशास्त्र एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि आचार-विज्ञान एक स्वतन्त्र विज्ञान है। इसी प्रकार तर्कशास्त्र भी आचार-विज्ञान से पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाला विज्ञान है। दोनों विज्ञान आदर्शवादी अवश्य हैं किन्तु तर्क का सम्बन्ध विचारों के अमूर्त नियमों से है, जबकि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध ठोस जीवन के मार्गदर्शन से है। तर्कशास्त्र सर्वथा सैद्धांतिक है, जबकि आचार-विज्ञान व्यावहारिक दृष्टिवाला है। तर्कशास्त्र औपचारिक (Formal) है, जबकि आचार-विज्ञान मनुष्य के अन्तःकरण और सद्भावना से सम्बन्ध रखता है।

आचार-विज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र

सौन्दर्यशास्त्र भी आदर्शवादी विज्ञान है और आचार-विज्ञान की भांति मूल्यात्मक दृष्टिकोण रखता है। इन दोनों में अन्तर केवल इतना है कि जहां आचार-विज्ञान शुभ एवं शिव को चरम लक्ष्य मानकर चलता है, वहां सौन्दर्यशास्त्र सुन्दरम् एवं सौन्दर्य को अन्तिम लक्ष्य मानता है। जैसाकि हमने आरम्भ से कहा है, तर्कशास्त्र, आचार-विज्ञान तथा सौन्दर्यशास्त्र तीनों क्रमशः सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को प्रतिपादित करते हैं। शिवं एवं परम शुभ का अध्ययन, सौन्दर्य के अध्ययन से सम्बन्ध अवश्य रखता है, सद्भावना को सुन्दर भावना, और सच्चरित्र को सुन्दर चरित्र कहा जाता है। यूनानी दार्शनिक तो शुभ और सुन्दर को एक ही धारणा के दो नाम मानते थे। आधुनिक काल में भी जब

यह कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति का जीवन सुन्दर है, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि वह व्यक्ति नैतिक दृष्टिकोण से ऊंचा है। किन्तु जब हम इस प्रकार सौन्दर्य और शुभ को समान मानते हैं तो सौन्दर्य का अर्थ भौतिक सौन्दर्य नहीं होता, अतः आचार-विज्ञान तथा सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध इस प्रकार का नहीं कि हम सुन्दर तथा शुभ को अभिन्न मान लें। हम प्रायः देखते हैं कि संसार में जो कुछ बाहर से सुन्दर दीखता है, वह नैतिक विकास तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रायः हानिकारक होता है। यदि हम सौन्दर्य का अर्थ आन्तरिक सौन्दर्य मानकर चलें, तो आचार-विज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध वांछनीय माना जा सकता है। वास्तव में सौन्दर्य का सम्बन्ध मनुष्य के भावात्मक अंग से होता है, जबकि शुभ का सम्बन्ध उसके क्रियात्मक अंग से होता है।

एक सामान्य व्यक्ति में भाव तथा कर्तव्य दोनों का समन्वय होना चाहिए। किन्तु यदि भाव और कर्तव्य में संघर्ष हो जाए तो नैतिक दृष्टि से कर्तव्य को भाव से ऊंचा माना जाएगा। यही कारण है कि कर्तव्यपरायण व्यक्ति को सौन्दर्य की अवहेलना भी करनी पड़ती है। निष्काम कर्मयोग में वासनाओं का नियन्त्रण करके, संयम के आधार पर, फल की इच्छा को त्यागकर, कर्म करना ही सर्वोत्तम माना गया है। अतः आचार-विज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र एक-दूसरे के संघर्ष में भी आ सकते हैं। उनके संघर्ष का अन्त तभी हो सकता है जब सौन्दर्य को भी भौतिक न मानकर अन्तरात्मक एवं आध्यात्मिक मान लिया जाए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य का जीवन ज्ञान, भाव तथा क्रिया तीनों का समन्वय है और उसके सर्वाङ्गीण विकास के लिए सत्यं, शिवं, सुन्दरम् तीनों का समान महत्त्व है। हम आगे चलकर देखेंगे कि आचार-विज्ञान में प्रतिपादित आत्मानुभूति का सिद्धान्त इसी प्रकार के समन्वयात्मक जीवन को ही सर्वोत्तम मानता है। भगवद्गीता में ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग तीनों का प्रतिपादन किया गया है। ज्ञान-मार्ग सत्यं को, भक्ति-मार्ग सुन्दरं को और कर्म-मार्ग शिवं को आधार मानकर चलता है। किन्तु भगवद्गीता में भी इन तीनों मार्गों को एक-दूसरे का विरोधी नहीं माना गया। उसका कारण यही है कि मनुष्य में ज्ञान, भाव और कर्म तीनों उपस्थित होते हैं और इनमें से किसीको भी पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः तर्कशास्त्र, आचार-विज्ञान तथा सौंदर्यशास्त्र तीनों एकसाथ चलते हैं।

आचार-विज्ञान तथा अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र, सामाजिक विज्ञानों में से एक महत्त्वशाली विज्ञान है। अर्थशास्त्र को राजनीतिक दर्शन का अभिन्न अंग माना जाता है। अर्थशास्त्र की एक सर्वप्रिय परिभाषा के अनुसार "अर्थशास्त्र सम्पत्ति से सम्बन्धित व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन है।" दूसरे शब्दों में, इस विज्ञान में सम्पत्ति को जीवन का लक्ष्य माना जाता है। अतः इसका क्षेत्र सम्पत्ति के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग की समस्याओं को सुलझाना है। सम्पत्ति के उत्पादन का अर्थ उन वस्तुओं का उत्पादन करना है, जिनका कि मनुष्य के उद्देश्यों से

सम्बन्धित मूल्य हो, अर्थात् जो मनुष्य के विशेष उद्देश्यों की पूर्ति करते हों जैसाकि अन्न, कपड़ा, लोहा आदि। ऐसी वस्तुओं को अर्थशास्त्र में गुड्ज़ (Goods) एवं उद्देश्यात्मक सामग्री कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध, मनुष्य के सामान्य उद्देश्यों एवं लक्ष्यों से होता है। इसके विपरीत आचार-विज्ञान, जीवन के चरम लक्ष्य को प्रतिपादित करता है। अतः अर्थशास्त्र के मूल्य साधन-मात्र होते हैं, जबकि आचारशास्त्र का मूल्य स्वलक्ष्य और ध्येय होता है। अर्थशास्त्र को इसलिए आचार-विज्ञान की अपेक्षा गौण माना जाता है। अर्थशास्त्र के मूल्य, भोजन, कपड़ा आदि इसलिए गौण हैं कि ये सभी जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन बन सकते हैं। आचार-विज्ञान और अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र ही आचार-विज्ञान पर निर्भर रहता है। अर्थशास्त्री के लिए यह जानना आवश्यक है कि जिस देश एवं समाज के लिए वह आर्थिक सिद्धान्त निर्धारित करना चाहता है, उस समाज का आचार कैसा है और उसके नैतिक उद्देश्य कैसे हैं।

अर्थशास्त्र के आचार-विज्ञान से सम्बन्ध की अवहेलना की गई है और इस भ्रान्ति को प्रश्रय दिया गया है कि सम्पत्ति एक स्वलक्ष्य उद्देश्य है। किन्तु यह भ्रामक धारणा आधुनिक वाणिज्य-सभ्यता (Commercial Civilization) का कारण बन गई है और सभ्य से सभ्य देश भी सम्पत्ति के मोह में मानवता की हत्या कर रहे हैं। एक अमेरिकन दार्शनिक ने पश्चिमीय सभ्यता की निर्दयता को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा अभिव्यक्त किया है :

एक बार अमेरिका की सभी मोटर-कम्पनियों के सदस्यों के सम्मेलन में यह प्रश्न उठा कि अमेरिका के बड़े-बड़े नगरों की सड़कों में दुर्घटनाओं को रोकने के लिए कुछ परिवर्तन कर दिए जाएं, ताकि दुर्घटनाओं के द्वारा आहत लोगों तथा मृत व्यक्तियों के परिवारों को क्षति-पूर्ति के रूप में धन न देना पड़े। जब इस रोकथाम के लिए योजना बनाई गई, तो यह अनुमान लगाया गया कि जितना धन प्रत्येक वर्ष क्षति-पूर्ति के लिए दिया जाता था, उसकी अपेक्षा रोकथाम का प्रबन्ध करने के लिए कुछ सहस्र डालर का अधिक व्यय होगा। अतः सम्मेलन ने दुर्घटनाओं की रोकथाम के प्रबन्ध करने के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। इसके अतिरिक्त हम प्रतिदिन समाचारपत्रों में पढ़ते हैं कि कुछ पश्चिमीय देशों में बाज़ार के भावों को ऊंचा रखने के लिए लाखों मन धान तथा अन्य खाद्य-पदार्थों को नष्ट कर दिया जाता है। ऐसा करना अर्थशास्त्र की दृष्टि से भले ही उपयोगी हो, किन्तु जब विश्व के अनेक देशों में दीनता और भूख हो, ऐसे प्रयासों को हम कदापि नैतिक नहीं कह सकते।

हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि सम्पत्ति मनुष्य के लिए है न कि मनुष्य सम्पत्ति के लिए। मनुष्य खाने के लिए नहीं जीता, अपितु जीवित रहने के लिए खाता है। न ही केवल इतना अपितु इच्छाओं और वासनाओं की तृप्ति-मात्र ही मनुष्य को सुखी नहीं बनाती। इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए ही कहा गया है, "एक तृप्त सूअर होने की

अपेक्षा एक अतृप्त सुकरात बनना श्रेष्ठतर है।"[1] इस धारणा का प्रसार तभी हो सकता है जबकि अर्थशास्त्र को नैतिकता पर आधारित किया जाए और सम्पत्ति को लक्ष्य न मानकर साधन ही माना जाए। सौभाग्यवश अर्थशास्त्र की आर्थिक धारणाएं परिवर्तित हो रही हैं। एक भारतीय अर्थशास्त्री डाक्टर मेहता ने यह नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं को बढ़ाना नहीं,अपितु उनको कम करना होना चाहिए। वास्तव में यह आदर्श भारत की प्राचीन त्याग और अपरिग्रह की धारणा पर आधारित है। महात्मा गांधी ने भी आवश्यकताओं को कम करने के आदर्श को सर्वोत्तम आर्थिक आदर्श माना है। महात्मा गांधी का आर्थिक दृष्टिकोण निस्सन्देह आचार-विज्ञान पर आधारित है और केवल यही दृष्टिकोण विश्व को भविष्य में युद्धों से मुक्त कर सकता है। आचार्य विनोबा भावे इसी आदर्श को लेकर ही भूदान यज्ञ के द्वारा जन-कल्याण में प्रवृत्त हैं। पश्चिम ने यदि भारत से कुछ सीखना है, वह अपरिग्रह है। अपरिग्रह की भावना ही संसार को हिंसात्मक साम्यवाद से सुरक्षित कर सकती है। साम्यवाद केवल अन्न तथा वस्त्र को मनुष्य की अन्तिम आवश्यकताएं मानकर हिंसा का प्रयोग करके भी आर्थिक समानता का दम भरता है। इसके विपरीत, पूंजीवाद निर्धनों तथा अतृप्त व्यक्तियों की अवहेलना करके आर्थिक होड़ को मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार मानता है और इस प्रकार मानवीय मूल्यों की ओर से आंखें मूंद लेता है। किन्तु अपरिग्रह का सिद्धान्त मनुष्य को उदार होने की प्रेरणा देता है और बिना हिंसात्मक रीतियों को अपनाए, आर्थिक साम्य तथा सामाजिक समता के उद्देश्यों की पूर्ति करने की चेष्टा करता है। इसी कारण यह नैतिकता पर आधारित आर्थिक दर्शन, साम्यवाद तथा पूंजीवाद को समन्वित करने की चेष्टा करता है।

आचार-विज्ञान तथा राजनीतिशास्त्र

राजनीतिशास्त्र भी आचार-विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। यूनानी दार्शनिकों के समय से ही राजनीतिशास्त्र को विशेष महत्त्व प्राप्त है। सुकरात के समय से पूर्व ही, एथेन्स नगर के निवासियों को अच्छे नागरिक बनने की शिक्षा दी जाती थी। धर्म के आचरण का उद्देश्य, व्यक्ति को समाज का आदर्श सदस्य बनाना माना जाता था। वास्तव में अरस्तू का यह कहना सत्य है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः हम व्यक्ति के कर्तव्यों को निर्धारित करते समय उस समाज की अवहेलना नहीं कर सकते जिससे कि वह सम्बन्धित है। जो आदर्श व्यक्ति के लिए निर्धारित किया जाता है वह समाज के अनुकूल होना चाहिए, जिसका कि यह व्यक्ति एक अभिन्न अंग है। प्राचीन काल में राजनीति को ही समाज तथा राज्य का विज्ञान माना जाता था। अरस्तू ने तो मनुष्य

---

१. "It is better to be a Socrates dissatisfied than to be a pig satisfied."

के सामाजिक अंग पर इतना बल दिया है कि उसने आचार-विज्ञान को राजनीतिशास्त्र का अंग माना है।

आधुनिक समय में हम यह तो नहीं कह सकते कि आचार-विज्ञान राजनीतिशास्त्र का अंग है, क्योंकि राजनीतिशास्त्र की आधुनिक परिभाषा उसे इतना व्यापक रूप नहीं देती, जितना कि अरस्तू के समय दिया जाता था। किन्तु राजनीतिशास्त्र का आधार निस्सन्देह दर्शन माना जाता है। राजनीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले दार्शनिक प्लेटो, हाब्स, रूसो तथा कार्लमार्क्स जैसे विद्वान माने जाते हैं। इन विद्वानों ने समाज की व्यवस्था बनाए रखने के लिए नैतिक प्रेरणा के आधार पर ही मनुष्य की समानता, स्वतन्त्रता तथा उसके भ्रातृभाव (Equality, Liberty, Fraternity) पर बल दिया। ये भावनाएं ही राजनीतिक विचारधारा का आधार हैं। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से राजनीतिशास्त्र आचार-विज्ञान पर आधारित सिद्ध होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी राजनीतिशास्त्र के लिए आचार-विज्ञान पर निर्भर रहना ही मानव-समाज के लिए कल्याणकारी है। आधुनिक समय में राजनीति को इसलिए दूषित माना जाता है कि उसमें अनैतिकता तथा अन्याय प्रविष्ट हो गया है। इसलिए एक पश्चिमीय विद्वान ने कहा है, "एक दुष्ट व्यक्ति का अन्तिम आश्रय राजनीति ही होता है।"[१] इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीति में अनैतिकता की काफी मात्रा उपस्थित है और इसकी कड़ी आलोचना भी की जा रही है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि राजनीति को धर्म एवं नैतिकता पर आधारित नहीं किया जा सकता। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि सत्य पर आधारित राजनीति अन्त में विजयी होती है। भारत के सम्राट अशोक महान ने अहिंसा पर आधारित राजनीति का आचरण किया और उसने बिना युद्ध के एशिया-भर में भारतीय साम्राज्य स्थापित किया। आधुनिक समय में भी महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतवासियों ने सत्य और अहिंसा पर आधारित राजनीति के द्वारा विदेशी साम्राज्य का अन्त किया। ये उदाहरण इस बात को प्रमाणित करते हैं कि नैतिकता पर आधारित राजनीति, सफल और सराहनीय राजनीति होती है। भारतीय संस्कृति के अनुसार राजनीति का अर्थ दृढ़तापूर्वक सन्मार्ग पर चलना है। श्री भर्तृहरि ने धैर्यवान राजनीतिज्ञ के लक्षणों को निम्नलिखित श्लोक में अभिव्यक्त किया है:

"निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु, गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥"

अर्थात् "राजनीति में निपुण लोग चाहे निंदा करें अथवा स्तुति; लक्ष्मी अपनी इच्छा के

---

१. "Politics is the last resort of a scoundrel."

अनुसार घर में आए अथवा चली जाए; चाहे मृत्यु हो जाए चाहे युगों के बाद हो, धैर्यवान नीतिज्ञ (इन परिस्थितियों में) न्याय के मार्ग से एक पग भी पीछे नहीं हटते।"

वर्तमान शताब्दी में, पिछले दो महायुद्धों ने राजनीतिज्ञों को विश्व-शान्ति स्थापित करने के लिए, सफल संस्थाओं का निर्माण करने पर बाध्य कर दिया है। कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था उस समय तक विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय भावना उत्पन्न नहीं कर सकती, जब तक कि वह मनुष्य की नैतिक प्रवृत्तियों को प्रेरित न करे। कुछ विद्वान विश्व-राज्य को विश्व-शान्ति का एकमात्र साधन मानते हैं, किन्तु विश्व-राज्य की स्थापना स्वयं तभी हो सकती है जब मानव-मात्र की नैतिकता जागरित हो जाए। राजनीति और आचार-विज्ञान का सम्बन्ध ऐसा है कि हम राजनीति के द्वारा नैतिकता नहीं पनपा सकते। जैसाकि हमने पहले भी कहा है, "संसद् का विधान मनुष्य को नैतिक नहीं बना सकता। सच्ची नैतिकता अन्तःकरण से प्रवाहित होती है।"[१] दूसरे शब्दों में नैतिकता राजनीति पर आधारित नहीं हो सकती, अपितु राजनीति नैतिकता पर आधारित हो सकती है और होनी चाहिए।

आचार-विज्ञान का तत्त्व-दर्शन से सम्बन्ध

अभी तक हमने आचार-विज्ञान का विभिन्न विज्ञानों से सम्बन्ध बतलाया है। आरम्भ में आचार-विज्ञान का परिचय देते हुए, हमने आचार-विज्ञान की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला था। उस पृष्ठभूमि और ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार-विज्ञान, विज्ञान होने की अपेक्षा एक दार्शनिक अध्ययन है। अतः विषय-प्रवेश के अध्याय को तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक कि आचार-विज्ञान का तत्त्व-दर्शन और धर्म (Metaphysics and Religion) से सम्बन्ध नहीं बतला दिया जाए। धर्म की अपेक्षा तत्त्व-दर्शन का आचार-विज्ञान से सम्बन्ध बतलाना इसलिए अधिक आवश्यक है कि आचार-विज्ञान, तत्त्व-दर्शन पर आधारित है, जबकि वह धर्म पर पूर्णतया आश्रित नहीं है। आचार-विज्ञान की अनेक ऐसी समस्याएं हैं जो तत्त्वात्मक हैं, इसलिए आचार-विज्ञान तथा तत्त्व-दर्शन के सम्बन्ध को स्पष्ट करना नितान्त आवश्यक है। ऐसा करने के लिए हमें पहले संक्षिप्त में तत्त्व-दर्शन के विषय पर प्रकाश डालना चाहिए।

तत्त्व-दर्शन का मुख्य विषय, विश्व की आधारभूत सत्ता के स्वरूप को प्रतिपादित करना है। दर्शन के इतिहास में अनेक तत्त्वात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। इन सभी सिद्धान्तों ने विश्व की आधारभूत सत्ता के प्रति व्यापक से व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। किन्तु आज तक कोई भी दार्शनिक ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं कर सका जो सर्वमान्य हो। तत्त्व-दर्शन की मुख्य समस्याएं एवं प्रश्न ये हैं—क्या द्रव्य विश्व की आधार-

१. "Acts of parliament cannot make men moral. True morality rises from within."

भूत सत्ता है ? क्या आत्मा विश्व की आधारभूत सत्ता है ? क्या भौतिक मृत्यु के पश्चात् आत्मा बनी रहती है ? क्या मनुष्य का संकल्प स्वतन्त्र है ? क्या ईश्वर का अस्तित्व है ? इन समस्याओं में से ईश्वर के अस्तित्व की समस्या, संकल्प की स्वतन्त्रता की आवश्यकता तथा आत्मा के अमरत्व की समस्या, तीन ऐसी समस्याएं हैं जिनका सम्बन्ध आचार-विज्ञान से रहता है। कांट ने अपना नैतिक सिद्धान्त प्रतिपादित करते समय संकल्प की स्वतन्त्रता, ईश्वर के अस्तित्व तथा आत्मा के अमरत्व को सदाचार की तीन आधारभूत मान्यताएं माना है। उसका कहना है कि नैतिकता एक आदर्श है, जिसमें व्यक्ति से औचित्य की आशा रहती है। ऐसी आशा तभी हो सकती है जबकि व्यक्ति में संकल्प की स्वतन्त्रता हो। कांट के अनुसार, जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति को अमुक व्यवहार करना चाहिए, तो इसमें यह तथ्य निहित रहता है कि वह व्यक्ति अमुक व्यवहार करने की क्षमता रखता है, अर्थात् संकल्प की स्वतन्त्रता रखता है। इसी प्रकार कांट का कहना है कि नैतिक कर्म के बदले में, हमें अपने कर्मानुसार सुख या दुःख का फल मिलता है। अतः हमारे कर्मों का फल देने के लिए एक ऐसी उच्च बौद्धिक सत्ता होनी चाहिए, जो हमें हमारे कर्मों का फल प्रदान करती है। यह सत्ता निस्सन्देह ईश्वर है।

हमारे कर्मों का फल इतना अधिक होता है कि वह हमें एक ही जीवन में नहीं मिल सकता। इससे यह स्पष्ट होता है कि शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी हमारी आत्मा उपस्थित रहती है। अतः आत्मा की अमरता भी नैतिक जीवन की आधारभूत मान्यता है। ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि तत्त्व-दर्शन का आचार-विज्ञान से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः आचार-विज्ञान, तात्त्विक पृष्ठभूमि पर आश्रित रहता है। तत्त्व-दर्शन जब हमें विश्व के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान करता है तो वही दृष्टिकोण हमारे आचार का भी मार्ग-दर्शन करता है। एक भौतिकवादी दर्शन 'खाने, पीने और मौज उड़ाने' की शिक्षा देता है, जबकि एक अध्यात्मवादी तत्त्व-दर्शन संयम के जीवन को आदर्श मानता है।

किन्तु आचार-विज्ञान तथा तत्त्व-दर्शन में परस्पर विभिन्नताएं भी हैं। तत्त्व-दर्शन मुख्यतया सैद्धान्तिक है, जबकि आचार-विज्ञान व्यावहारिक है। तत्त्व-दर्शन बाह्यात्मक जगत् की वास्तविकता जानने की चेष्टा करता है और आचार-विज्ञान मनुष्य के जीवन के मूल्य निर्धारित करता है। तत्त्व-दर्शन चिन्तनात्मक सिद्धान्त है, जबकि आचार-विज्ञान व्यवहार में लागू किए जानेवाले आदर्शों तथा मूल्यों का अध्ययन है। प्रत्येक महान चिन्तनधारा तत्त्व-दर्शन से आरम्भ होती है और आचार-विज्ञान में उसका अन्त होता है।

आचार-विज्ञान का धर्म से सम्बन्ध

धर्म, शब्द का अर्थ इस प्रकरण में धार्मिक सिद्धान्त है। विश्व में अनेक धर्म हैं। ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, हिन्दू धर्म, बुद्ध धर्म, जैन धर्म आदि इन सभी धर्मों में समानता

इस बात की है कि ये किसी न किसी रूप में, दिव्य शक्ति को, विश्व का आधारभूत नियम मानते हैं। पश्चिम में तो धर्म का अर्थ, ईश्वर को विश्व का नियन्ता मानकर, उसके अस्तित्व में विश्वास रखना है। अतः जब हम आचार-विज्ञान और धर्म के सम्बन्ध की चर्चा करते हैं, तो हमें यह निश्चय करना होता है कि नैतिकता ईश्वर के अस्तित्व से कहां तक सम्बन्धित है और यह कि क्या नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखना आवश्यक है। धर्म और आचार-विज्ञान के सम्बन्ध की व्याख्या करने से पूर्व उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देना नितान्त आवश्यक है।

कुछ विचारकों का मत है कि नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए न ही केवल ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखना अनावश्यक है, अपितु यह विश्वास सदाचार के मार्ग में बाधक भी हो सकता है। ईश्वर की धारणा में यह विश्वास किया जाता है कि वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ है, जोकि सम्पूर्ण विश्व का संचालन कर रहा है और जिसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। यदि विश्व की सभी घटनाएं और सभी व्यक्तियों के संकल्प एवं उनकी क्रियाएं ईश्वर के अधीन हैं और ईश्वर के द्वारा प्रेरित होती हैं, तो मनुष्य को सत्-असत् और शुभ-अशुभ कर्म के लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यदि ईश्वर ही विश्व का एकमात्र कर्ता है, तो कोई भी व्यक्ति दुराचारी नहीं कहा जा सकता और न ही किसी कर्म को दुष्कर्म माना जा सकता है। ईश्वर की इच्छा ही मनुष्य का संकल्प हो जाती है। अतः संकल्प की स्वतन्त्रता का निषेध हो जाता है और संकल्प की स्वतन्त्रता की अनुपस्थिति में औचित्य (Ought) का कोई अर्थ नहीं रह जाता। यदि मनुष्य को संकल्प की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाए, तो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी ईश्वर की धारणा एक अपूर्ण ईश्वर की धारणा रह जाती है। अतः नैतिकता और धर्म इस दृष्टि से एकसाथ नहीं रह सकते।

ऊपर दिए गए दृष्टिकोण को सत्य मान लेना तर्क की सीमाओं का उल्लंघन करना है। ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखना, नैतिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है। इसके विपरीत, नास्तिक व्यक्ति सदाचारी जीवन व्यतीत करने में कठिनाई का अनुभव करता है। जो व्यक्ति ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी स्वीकार करता है और इस स्वीकृति में दृढ़ विश्वास रखता है, वह कदापि किसी व्यक्ति से अन्याय नहीं करेगा और न ही एकान्त में अनैतिक कर्म करेगा। यदि कुछ समय के लिए यह मान लिया जाए कि इस विश्व का कोई नियन्ता नहीं है और न ही विश्व स्थिर है, और यदि आज विश्व के सभी नागरिकों को यह कह दिया जाए कि ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है और विश्व एक सप्ताह में नष्ट हो जाएगा, और विश्व के सभी लोग इस बात को सत्य मान लें, तो सम्भव है कि कुछ समय के लिए अत्याचार और अनैतिकता विश्वव्यापी हो जाए। अंग्रेज़ी की एक उक्ति है, "ईश्वर के भय से ही ज्ञान का आरम्भ होता है।"[1]

---

१. "Fear of the Lord is the beginning of wisdom."

मानवता से प्रेम तभी हो सकता है, जब ईश्वर को सभी मनुष्यों का पिता स्वीकार कर लिया जाए और उस पिता के भय को ही भ्रातृभाव का प्रेरक मान लिया जाए। हिन्दी के विद्वान और संत कवि तुलसीदास ने भी यही कहा है कि "भय बिनु होइ न प्रीति।" हम ईश्वर को विश्व का नियन्ता मानते हुए भी मनुष्य के संकल्प की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रख सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईश्वर विश्व के आदि, अन्त और मध्य को जानता है और उसीकी माया जीवों को जन्म देती है और उनके कर्मानुसार विशेष परि-स्थितियों में उन्हें उत्पन्न करती है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि जीवन के संचा-लन में मनुष्य को स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य की बुद्धि, चैतन्य अव्यय पुरुष ईश्वर का प्रतिबिम्ब अवश्य है, किन्तु जीवधारी मनुष्य उस बुद्धि के द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार सत् अथवा असत्, शुभ अथवा अशुभ में विवेक कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विवेक का सफलतापूर्वक उपयोग करने के लिए मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना भी करता है। उपनिषदों में ऋषि-प्रज्ञा ने यही नैतिकता की प्रेरणा प्राप्त करने के लिए इस प्रकार प्रार्थना की है :

"असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।"

अर्थात् "हे ईश्वर हमें असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर अग्रसर करो।" इसका अभिप्राय यह नहीं कि ईश्वर में अन्ध-विश्वास रखकर और अपनी विवेकशक्ति की अवहेलना करके, मनुष्य अकर्मण्य हो जाए अथवा अनैतिकता का ईश्वर के नाम पर आचरण करे। यह दृष्टिकोण तो उन व्यक्तियों का होता है, जो अपना दोष किसी अन्य व्यक्ति पर थोपना चाहते हैं। आसुरी वृत्ति में पड़कर दिव्य शक्ति को ही उसका दोषी ठहराना, अपनी अनैतिकता को छिपाने का प्रयत्न करना है। एक उर्दू के कवि ने यथार्थ कहा है :

"हंसी आती है मुझे इस हज़रते-इन्सान पर।
फ़ेलेबद तो खुद करे, लानत करे शैतान पर॥"

इसके विपरीत वास्तविक धर्म और ईश्वर का सच्चा प्रेम मनुष्य को अनायास सन्मार्ग पर ले जाते हैं। संसार के जितने भी मुख्य धर्म हैं, वे सत्य, अहिंसा, जनसाधारण की सेवा, भ्रातृभाव आदि जैसे सद्गुणों को जीवन के आधारभूत नियम और ईश्वर-प्राप्ति के साधन मानते हैं। सत्य तो यह है कि सामान्य व्यक्ति, अपने धर्म के नियमों को जानता तक नहीं। धर्म के ठेकेदार, उसे केवल एक आवरण मानते हैं और धर्म के नाम पर हर प्रकार की अनैतिकता और अत्याचार का आचरण करते हैं। हमारे देश में ही १९४७ में धर्म के नाम पर राष्ट्र का बंटवारा हुआ तथा स्त्रियों, शिशुओं और युवकों पर घोर अत्याचार हुआ। धर्म के नाम से घृणा जागरित की गई और साम्प्रदायिकता के कारण लाखों निर्दोष व्यक्ति मारे गए। किन्तु ऐसी गलत प्रेरणा केवल अज्ञान के कारण ही मिली।

न तो हिन्दू धर्म और न ही इस्लाम घृणा का उपदेश देता है। धर्म के इसी वास्तविक अर्थ को उर्दू के कवि डाक्टर मोहम्मद इकबाल ने निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है :

"मज़हब नहीं सिखाता, आपस में बैर रखना,
हिन्दी हैं हमवतन है हिन्दोस्तां हमारा।"

धर्म का मुख्य उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति है और ईश्वर को न्याय का स्वरूप माना गया है, उसकी प्राप्ति के लिए शुद्ध आचार, उदारता और मैत्री-भाव रखना नितान्त आवश्यक है। एक नैतिक व्यक्ति भले ही नास्तिक हो, किन्तु एक धार्मिक व्यक्ति तब तक धर्मात्मा नहीं माना जा सकता, जब तक कि वह सदाचारी न हो। भगवद्गीता में ईश्वर-प्राप्ति का साधन स्थितप्रज्ञता है। स्थितप्रज्ञ वही होता है जो संयमी है, जो न किसीकी निन्दा करता है, न किसीसे द्वेष रखता है और न किसीसे ईर्ष्या करता है। इसी प्रकार ईसाई धर्म में भी चोरी न करना, झूठ न बोलना आदि नैतिक नियम, ईश्वर-प्राप्ति के साधन माने गए हैं। अतः धर्म में हमें नैतिकता का आदर्श मिलता है। पश्चिम में तो मध्यकाल में धर्म का, न ही केवल आचार-विज्ञान पर, अपितु समस्त दर्शनशास्त्र पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उस समय में यह मान्यता प्रचलित थी, "दर्शन धर्म की दासी है।"[१] आधुनिक युग में भी पश्चिमीय दर्शन पर और विशेषकर आचार-विज्ञान पर धर्म का काफी प्रभाव पड़ा। स्पाइनोज़ा का दर्शन, जोकि तत्त्वशास्त्र से आरम्भ होकर, आचार-विज्ञान में पराकाष्ठा पर पहुंचता है, वास्तव में एक धर्मवादी दर्शन है। इसी प्रकार कांट का दर्शन, जोकि मूलतया नैतिक दर्शन है, वस्तुतः ईसाई धर्म से पूर्णतया प्रभावित है। पश्चिमीय दर्शन के इतिहास से यह प्रमाणित होता है कि धर्म और आचार-विज्ञान का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

धर्म और आचार-विज्ञान का सम्बन्ध वास्तव में एक प्रकार का समानता का सम्बन्ध है। हम यह नहीं कह सकते कि धर्म आचार-विज्ञान पर आश्रित है अथवा आचार-विज्ञान, धर्म पर आश्रित है। उसका कारण यह है कि आचार-विज्ञान का दृष्टिकोण एक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण है, जबकि धर्म एक व्यावहारिक वस्तु है। जैसाकि हमने पहले कहा है, आचार-विज्ञान का अध्ययन करनेवाला व्यक्ति, नैतिक सिद्धान्तों का ज्ञान भले ही रखता हो, किन्तु उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उन सिद्धान्तों को व्यावहारिक जीवन में भी लागू करने की सामर्थ्य रखता हो। इसके विपरीत एक सच्चा धर्मात्मा एवं ईश्वरभक्त भले ही आचार-विज्ञान का विद्वान न हो, किन्तु उसका व्यावहारिक जीवन सफल और उदात्त होता है, वह स्वयं नैतिकता का प्रतीक होता है। इस प्रकार आचार-विज्ञान में प्रतिपादित सिद्धान्तों का जानना, धार्मिक व्यक्ति को लाभदायक हो सकता है और यदि आचार-विज्ञान का छात्र धर्म का आचरण करता हो तो उसकी यह व्यावहारिक नैतिकता उसके सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने में लाभदायक हो सकती है। अतः धर्म और आचार-विज्ञान विभिन्न होते हुए भी अन्योन्याश्रित एवं एक-दूसरे के पूरक हैं।

१. "Philosophy is the hand-made of religion."

दूसरा अध्याय

आचार-विज्ञान का मनोवैज्ञानिक आधार

(Psychological Basis of Ethics)

हमने आचार-विज्ञान का मनोविज्ञान से सम्बन्ध बतलाते हुए यह कहा था कि अनेक ऐसी नैतिक समस्याएं हैं, जिनका सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक समस्याओं से है। न ही केवल इतना अपितु कुछ मनोवैज्ञानिक व्याख्याएं ऐसी हैं जिनका अध्ययन किए बिना आचार-विज्ञान का अध्ययन असम्भव एवं असंगत है। आचार-विज्ञान, व्यवहार का आदर्श प्रस्तुत करता है, किन्तु वह आदर्श तब तक उपयोगी नहीं हो सकता, जब तक कि व्यवहार की मनोवैज्ञानिक स्वरूप-व्याख्या न कर दी जाए। आचार-विज्ञान से यह जानना आवश्यक है कि संकल्प (Will) तथा व्यवहार (Conduct) का क्या अर्थ है और यह कि उद्देश्य (Intention) तथा प्रेरक (Motive) क्या हैं और उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है। हम सर्वप्रथम संकल्प का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करेंगे। संकल्प मनुष्य में धीरे-धीरे विकसित होता है। शैशव काल में व्यक्ति की संकल्प-शक्ति तो होती है, किन्तु वह विकसित रूप में नहीं होती। संकल्प निस्सन्देह हमारी इच्छाओं तथा आकांक्षाओं का परिणाम होता है और हमारे सविकल्पक कर्म का कारण होता है। अतः संकल्प, कर्म करने की प्रवृत्ति एवं उसका चैतन्य कारण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सविकल्पक प्रवृत्ति, केवल मनुष्य में ही, विकसित आत्मचेतन रूप में उपस्थित होती है जबकि अन्य जन्मजात प्रवृत्तियां पशुओं तथा मनुष्यों में समान होती हैं। संकल्प का ज्ञान प्राप्त करने के लिए, उससे नीचे के स्तर की प्रवृत्तियों की व्याख्या आवश्यक है। इसलिए हम इस अध्याय में वनस्पतियों की आवश्यकता रूपी जीवन-सम्बन्धी प्रवृत्ति से आरम्भ करके मनुष्यों तथा पशुओं की भूख आदि मूल प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए, इच्छा तथा आकांक्षा का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। इसके पश्चात् ही हम संकल्प तथा सविकल्पक कर्म का अध्ययन कर सकेंगे। इस क्रम की आवश्यकता इसलिए है कि पश्चिमीय दर्शन तथा विज्ञान के दृष्टि-कोण से, जीव-मात्र का धीरे-धीरे विकास हुआ है और इस विकास के क्रम में वनस्पति जीव का प्रथम स्थान है।

वनस्पति-आवश्यकता का स्वरूप

आधुनिक विज्ञान के अनुसार वनस्पति-जीवन, जीव का प्रथम स्तर और नमूना

है। जीव द्रव्य की विशेषता यह होती है कि उसका उद्भव होता है, विकास होता है और उसमें अपने जैसे अन्य जीव उत्पन्न करने की क्षमता रहती है। इस व्यापक दृष्टिकोण से वनस्पति निस्सन्देह प्रारम्भिक जीव है। भारत में यह धारणा प्राचीन दर्शन में भी उपलब्ध है। जैन दर्शन के अनुसार वनस्पतिकाय जीव का अस्तित्व यथार्थ माना गया है। भारत के विख्यात वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बोस ने तो वनस्पतियों में मानसिक जीवन की उपस्थिति को भी प्रमाणित कर दिया है। वनस्पति-जीवन में यद्यपि चेतनक्रिया उपस्थित नहीं है, अपितु उसमें अचेतन अथवा अर्धचेतन प्रवृत्तियां अवश्य हैं। जब एक वनस्पति का मुख सूर्य के प्रकाश की ओर होता है तो इस प्रकाश की किरणों के द्वारा वनस्पति की जीवन-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति हो रही होती है। अतः वनस्पति की यह प्रवृत्ति आवश्यकता-मात्र (Want) कहलाती है। यहां आवश्यकता का अर्थ, वह अचेतन प्रेरणा एवं प्रवृत्ति है, जोकि किसी जीवन की आवश्यकता की पूर्ति करती है, किन्तु भोजन ढूंढ़ना, उत्सुकता, लड़ना आदि मूल प्रवृत्तियों की भांति चेतन नहीं होती। इस प्रकार की अचेतन आवश्यकताएं, पशुओं तथा मनुष्यों में भी होती हैं। उदाहरणस्वरूप श्वास-प्रश्वास की क्रियाएं तथा रुधिर-संचार आदि पशुओं तथा मनुष्यों में ऐसी ही अचेतन आवश्यकताएं हैं। आचार-विज्ञान का सम्बन्ध, ऐसी प्रवृत्तियों से नहीं होता, क्योंकि ये प्रवृत्तियां यन्त्रवत् चलती रहती हैं। कोई व्यक्ति या चैतन्य प्राणी, जान-बूझकर इन क्रियाओं को नहीं करता, किन्तु ये क्रियाएं स्वतः ही मानो प्रकृति की इच्छा के द्वारा ही संचालित रहती हैं। ऐसी क्रियाओं को शुभ-अशुभ व सत्-असत् नहीं कहा जा सकता, यद्यपि इनके द्वारा जीवन का विकास होता रहता है। ये क्रियाएं जीवन के उद्देश्य की पूर्ति अवश्य करती हैं, किन्तु यह पूर्ति, प्राणी व वनस्पति के द्वारा संकल्प से निर्वाचित नहीं होती। ये एक प्रकार की जीवन के उद्देश्य की पूर्ति करनेवाली अन्धप्रवृत्तियां होती हैं। अतः इनको मूल प्रवृत्तियों, इच्छाओं तथा सविकल्पक क्रियाओं की भांति उद्देश्यात्मक नहीं कहा जा सकता।

भूख अथवा मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया का स्वरूप

वनस्पति-आवश्यकता क्रियाशीलता का न्यूनतम स्तर है। इसके पश्चात् हम भूख अथवा मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया के स्तर को ले सकते हैं। क्षुधा एवं भूख एक मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया है। भूख में पशु किसी उद्देश्य की ओर केवल अचेतन से प्रवृत्त नहीं होता, अपितु उसमें कुछ सीमा तक चेतना स्पष्ट रूप से उपस्थित होती है। यह चेतना ज्ञानात्मक तथा भावात्मक होती है। भूख की ज्ञानात्मक चेतना का अर्थ, उस वस्तु का धुंधला ज्ञान होता है, जोकि प्राणी की भूख को तृप्त करता है। जब एक पशु भूखा होता है, तो उसके मन में उस खाद्य-पदार्थ की धुंधली-सी चेतना अवश्य होती है, जोकि उसकी भूख को तृप्त करती है। मनुष्य में तो स्पष्ट रूप से उस खाद्य-पदार्थ की चेतना रहती है, जोकि भूख को तृप्त करती है। भूख की तृप्ति में, मुंह में जो लार बहता है, वह पूर्णतया चेतन क्रिया न होते हुए भी सीखने के द्वारा परिवर्तित की जाने योग्य है। रूस के विख्यात शरीर-

विज्ञान के पण्डित पैवलाव ने कुत्तों पर प्रयोग करके यह प्रमाणित किया है कि भूख से सम्बन्धित, लार बहने की सहज क्रिया भी, कृत्रिम प्रेरक से सम्बद्ध की जा सकती है। साधारणतया भोजन के मुंह में आते ही लार बहने लगता है। पैवलाव ने यह अनुभव किया कि कुत्ते के मुंह से लार बहना, भोजन के देखते ही आरम्भ हो जाता था। अतः उसने अनेक प्रयोगों द्वारा, बार-बार भूखे कुत्ते को भोजन देने से पूर्व, एक घण्टी बजाना आरम्भ किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि भोजन की प्राप्ति से कई मिनट पूर्व, ज्योंही घण्टी बजती, कुत्ते के मुंह से लार बहना आरम्भ हो जाता। यह प्रयोग इस बात को प्रमाणित करता है कि सहज क्रिया जैसी अचेतन प्रवृत्ति में भी, ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से परिवर्तन किया जा सकता है। अतः भूख की प्रवृत्ति तो इस सहज क्रिया से भी श्रेष्ठ है। उसमें न ही केवल ज्ञानात्मक अंग उपस्थित होता है, अपितु सुख-दुःख का भाव भी जुड़ा रहता है। जब भूख की तृप्ति होती है, तो प्राणी अथवा मनुष्य सुख का अनुभव करता है और जब उसकी तृप्ति नहीं होती, तो वह दुःखद भावना का अनुभव करता है। यही भावना अन्य मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओं में भी स्पष्ट रूप से उपस्थित रहती है। इन प्रवृत्तियों की तृप्ति से जो भावना उत्पन्न होती है उसीको ही वास्तव में सुख कहा जा सकता है। कुछ लोग केवल तृप्ति को ही सुख कह देते हैं। हम तृप्ति तथा उसके द्वारा उत्पन्न सुखद अवस्था के भेद के विषय में अन्य स्थान पर चर्चा करेंगे। यहां हमें केवल यह स्मरण रखना चाहिए कि भूख तथा अन्य मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाएं, वनस्पति-आवश्यकता की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ हैं कि उनमें चेतना तथा सुख-दुःख की भावना स्पष्ट रूप से उपस्थित होती है।

इच्छा

व्यक्ति के मानसिक जीवन में, इच्छा का स्थान, मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रिया से ऊंचा माना जाता है। इच्छा इसलिए श्रेष्ठ है कि उसमें लक्षित विषय की चेतना तथा सुख और दुःख की भावना के साथ-साथ उस विषय के प्रति, शुभ तथा अशुभ-सम्बन्धी विवेक की भी उपस्थिति होती है, जिसकी प्राप्ति से इच्छा की पूर्ति होती है। दूसरे शब्दों में, इच्छा न ही केवल चैतन्य प्रवृत्ति है, अपितु तर्कात्मक तथा मूल्यात्मक प्रक्रिया है। अतः इच्छा में, प्रज्ञा एवं बुद्धि का तत्त्व सदैव उपस्थित रहता है। उदाहरणस्वरूप, एक ज्वर में ग्रस्त व्यक्ति को जब भूख लगती है, तो वह भोजन को ज्वर के लिए हानिकारक मानकर, खाने की इच्छा नहीं करता। सामान्य व्यक्ति अनेक बार भूख, प्यास, उत्सुकता, लड़ना आदि अनेक मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओं की तृप्ति इसलिए नहीं करता कि वह उन्हें विशेष परिस्थितियों के कारण वांछनीय नहीं समझता, उनकी भूख के होते हुए भी, वह उनकी इच्छा नहीं करता। यह स्पष्ट है कि इच्छा में किसी उद्देश्य की पूर्ति का तत्त्व एवं औचित्य का ज्ञान स्पष्ट रूप से उपस्थित रहता है। आचार-विज्ञान का सम्बन्ध केवल भूख और मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाओं से इसलिए नहीं रहता कि उनमें मूल्यात्मक तत्त्व की उपस्थिति नहीं होती। किन्तु आचार-विज्ञान इच्छा की अवहेलना इसलिए नहीं कर सकता कि उसमें

इच्छा करनेवाले व्यक्ति का दृष्टिकोण निहित रहता है, और इसलिए किसी व्यक्ति की इच्छाओं को जानकर, हम उसके नैतिक जीवन के प्रति ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत भूख आदि प्रवृतियां हमें ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं दे सकतीं, वे तो पशुओं में, मनुष्यों में, मूर्खों में, विद्वानों में, पापाचारियों में तथा धर्मात्माओं में समान रूप से विद्यमान होती हैं। उनके निरीक्षण से हम यह अनुमान नहीं लगा सकते कि अमुक व्यक्ति नैतिक है या अनैतिक। किन्तु किसी व्यक्ति की इच्छाओं को जानकर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उसका नैतिक स्तर कौन-सा है। किसी व्यक्ति के भोजन ढूंढ़ने की प्रवृत्ति हमें यह नहीं बता सकती कि वह नैतिक है अथवा अनैतिक, किन्तु उसकी लोभ की प्रवृत्ति एवं आवश्यकता से अधिक भोजन करने की प्रवृत्ति, इच्छा होने के कारण उसके चरित्र के विषय में अवश्य ज्ञान देती है। इसी प्रकार मनुष्य की अन्य इच्छाएं उसके चरित्र की द्योतक होती हैं। यही कारण है कि व्यक्ति-व्यक्ति की इच्छाएं, उसके चरित्र के अनुसार विभिन्न होती हैं। एक धर्मात्मा की इच्छाएं दुराचारी व्यक्ति से भिन्न होती हैं। इसी प्रकार एक कृपण व्यक्ति की इच्छाएं उदार व्यक्ति की तुलना में विभिन्न होती हैं। यह विभिन्नता इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि इच्छाएं उस दृष्टिकोण पर आधारित होती हैं जोकि एक व्यक्ति अपने जीवन में अपनाता है। दूसरे शब्दों में, इच्छाएं व्यक्ति के चरित्र की अभिव्यक्ति होती हैं। अतः नैतिक दृष्टिकोण से इच्छाओं का भारी महत्त्व है। इच्छाओं के व्यापक अध्ययन से हमें यह ज्ञान होता है कि व्यक्ति में इच्छाएं अनेक समूह बनाकर उपस्थित रहती हैं। इच्छाओं के इस समूह को, जोकि किसी न किसी विशेष दृष्टिकोण में केन्द्रित होता है, इच्छाओं का व्यूह (Universe of desire) कहा जा सकता है। इच्छाओं के व्यूह का विस्तृत अध्ययन नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इस अध्ययन से इच्छाओं के संघर्ष का विषय समझना सरल हो जाता है।

इच्छाओं के व्यूह का दृष्टिकोण, आचार-विज्ञान के क्षेत्र में, मैकन्ज़ी ने सुचारु रूप से प्रस्तुत किया है। उसने इसे अंग्रेज़ी भाषा में Universe of desire कहा है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'इच्छा का विश्व' है। हमने इसके अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए 'विश्व' के स्थान पर 'व्यूह' शब्द का प्रयोग किया है। यहां पर व्यूह शब्द का अर्थ एक विशेष क्षेत्र है। मैकन्ज़ी का कहना है कि प्रत्येक इच्छा अपने-अपने विशेष क्षेत्र में महत्त्व रखती है। यदि उसको उस क्षेत्र से पृथक् कर दिया जाए तो उसका कोई महत्त्व नहीं रहता। उसका यही विशेष क्षेत्र एवं विश्व ही उसके महत्त्व का आधार है। उदाहरण-स्वरूप हम अपने परिवार के क्षेत्र में कुछ इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, किन्तु वे ही इच्छाएं परिवार के बाहर अवांछनीय प्रमाणित होती हैं। हम अपने घर में पुस्तक पढ़ते हुए लेटने की इच्छा भी कर सकते हैं, किन्तु कोई भी वकील न्यायालय में, न्यायाधीश के समक्ष पुस्तक पढ़ते हुए, लेटने की इच्छा नहीं कर सकता। उसकी यह इच्छा घर के क्षेत्र से सम्बन्ध रखती है न कि न्यायालय के क्षेत्र से। प्रत्येक व्यक्ति विशेष क्षेत्र में ही विशेष इच्छाओं का स्वागत करता है और उस क्षेत्र से बाहर न ही उन इच्छाओं का अनादर

करता है, अपितु उनसे विपरीत इच्छाओं को उचित समझता है। उसका कारण यह है कि इच्छाओं का क्षेत्र एवं व्यूह मनुष्य के चरित्र-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित होता है। यों तो प्रत्येक व्यक्ति में एक से अधिक इच्छाओं के व्यूह होते हैं; उदाहरणस्वरूप कुटुम्ब-सम्बन्धी इच्छाओं का व्यूह एक है, समाज-सम्बन्धी इच्छाओं का व्यूह दूसरा है, नैतिक कर्तव्य-सम्बन्धी इच्छाओं का व्यूह तीसरा है और धर्म-सम्बन्धी इच्छाओं का व्यूह चौथा है आदि-आदि। किन्तु ये अनेक इच्छाओं के व्यूह, समय और परिस्थितियों के अनुसार, व्यक्ति के चरित्र पर छा जाते हैं। सामान्यतया व्यक्ति समय के परिवर्तन से एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे प्रकार की इच्छाओं के व्यूह में प्रवेश करता है। उसकी इच्छाओं के व्यूह का यह परिवर्तन वर्षों में, मासों में, सप्ताहों में, दिनों में और घण्टों में भी हो सकता है। यही कारण है कि व्यक्ति की इच्छाएं घड़ी में कुछ और घड़ी में कुछ और हो जाती हैं। जर्मन भाषा में एक कथन है, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि व्यक्ति जो इच्छा युवावस्था में वांछनीय समझता है, वह वृद्धावस्था में उसी इच्छा का तिरस्कार करता है। शैशवावस्था में व्यक्ति सुन्दर खिलौनों से खेलने की प्रबल इच्छा करता है और उसी इच्छा को ही जीवन का लक्ष्य मान लेता है, किन्तु प्रौढ़ावस्था में खिलौनों की इच्छा करना, उसी व्यक्ति के लिए एक अपमानजनक बात हो जाती है। प्रायः इच्छाओं की यह परिवर्तनशीलता काफी समय लेती है। इच्छाओं के अनेक क्षेत्रों की शृंखला तो मनुष्य में होती ही है, किन्तु इन अनेक क्षेत्रों के होते हुए भी एक न एक ऐसा इच्छाओं का क्षेत्र होता है जो आयु-पर्यन्त व्यक्ति पर प्रभुत्व रखता है। ऐसा ही विजयी इच्छाओं का व्यूह वास्तव में मनुष्य के चरित्र को अभिव्यक्त करता है। जो व्यक्ति कर्तव्य-सम्बन्धी इच्छाओं के क्षेत्र से इतना प्रभावित होता है कि उसकी उपस्थिति में वह अन्य सभी इच्छाओं का त्याग कर देता है, उस व्यक्ति के चरित्र को हम कर्तव्यपरायण चरित्र कह सकते हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में संचय-सम्बन्धी इच्छाओं का क्षेत्र सबसे अधिक प्रभुत्त्व रखता है, ऐसे व्यक्ति को कृपण चरित्रवाला व्यक्ति कहा जाता है। इस दृष्टिकोण से चरित्र का अर्थ, किसी विशेष इच्छाओं के व्यूह की आयु-पर्यन्त प्रधानता है।

चरित्र की यह परिभाषा, वास्तव में व्यक्ति के दृष्टिकोण की स्थिरता की ओर संकेत करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हमारे समाज के प्रति दृष्टिकोण, वेशभूषा के प्रति दृष्टिकोण एवं धन एकत्र करने के प्रति दृष्टिकोण, विशेष परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। कुछ लोग तो परिवर्तनशीलता को ही व्यक्तित्व मानते हैं। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि चरित्रवान व्यक्ति, अपने दृष्टिकोणों को नित्य-प्रति परिवर्तित ही करता चला जाए। आवश्यकता से अधिक परिवर्तनशीलता वास्तव में चरित्र का निषेध है। हम चरित्रवान व्यक्ति उसे कहते हैं जो दृढ़संकल्प होता है और जो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने दृष्टिकोण एवं आदर्श का कदापि त्याग नहीं करता। चरित्र के इस लक्षण की व्याख्या करते हुए भर्तृहरि ने कहा है :

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैर्मुहुर्मुहुरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ।।"

अर्थात् "जो लोग विघ्नों के भय के कारण, किसी कार्य को आरम्भ ही नहीं करते, वे नीच श्रेणी के होते हैं; जो आरम्भ करके विघ्नों के आने पर किसी कार्य को छोड़ देते हैं, वे मध्यम श्रेणी के हैं; किन्तु उत्तम श्रेणी के लोग वे हैं, जो बार-बार विघ्नों के आने पर भी, आरम्भ किए गए कार्य का त्याग नहीं करते।" दूसरे शब्दों में विशेष दृष्टिकोण की दृढ़ता एवं विशेष इच्छाओं के व्यूह की व्यापकता का दूसरा नाम चरित्र है। चरित्रहीन व्यक्ति वही है, जिसके संकल्प और जिसकी इच्छाएं क्षण-क्षण में परिवर्तित होती रहती हैं। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि इच्छाओं के संघर्ष में मनुष्य की क्या परिस्थिति होती है और उसके चरित्र का इस संघर्ष में क्या महत्त्व होता है ?

इच्छाओं का संघर्ष

इच्छाओं का व्यूह विशेष प्रकार की रुचियों पर आधारित होता है और वे रुचियां केवल विशेष परिस्थितियों में ही महत्त्व रखती हैं। दूसरे शब्दों में, इच्छाओं का व्यूह विशेष परिस्थितियों में एक प्रकार का दृष्टिकोण है जो विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न हो जाता है। एक मनुष्य में इस प्रकार भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होते हैं और मनुष्य का आधार उन सबसे प्रभावित होता रहता है। उदाहरणस्वरूप एक व्यक्ति का एक दृष्टिकोण कुटुम्ब के हित से सम्बन्ध रखता है; उसका दूसरा दृष्टिकोण उसके सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है; उसका तीसरा दृष्टिकोण उसके देश के हित से सम्बन्ध रखता है और उसका चौथा दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय हित से सम्बन्ध रखता है। इन सभी दृष्टिकोणों पर आधारित इच्छाएं भी विभिन्न ही होती हैं। कई बार इन विभिन्न इच्छाओं का परस्पर संघर्ष हो जाता है। ऐसा संघर्ष ही नैतिक समस्या उत्पन्न करता है। उस संघर्ष का सर्वोत्तम उदाहरण हमें भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में मिलता है। अर्जुन अपने देश के हित के लिए कुरुक्षेत्र में अत्याचारियों के विरुद्ध युद्ध करने की इच्छा से उपस्थित होता है, किन्तु ज्योंही वह कौरवों और पाण्डवों की सेनाओं के बीच में खड़ा होकर यह देखता है कि दोनों ओर उसके सम्बन्धी और कुटुम्बवाले ही एक-दूसरे का संहार करने पर तुले हुए हैं, तो उसकी यह इच्छा उत्पन्न होती है कि वह अपने कुटुम्ब को नष्ट होने से बचा ले। इसी प्रकार उसके राष्ट्र-सम्बन्धी हित और कुटुम्ब-सम्बन्धी हित पर आधारित इच्छाओं का संघर्ष हो जाता है। हम अनेक बार ऐसे संघर्षों का अनुभव करते हैं।

जब दो इच्छाओं का परस्पर संघर्ष होता है तो मनुष्य की अवस्था अनिश्चित-सी होती है। उसके मन में एक प्रकार का युद्ध उत्पन्न हो जाता है और वह उस संघर्ष के कारण किसी भी निर्णय पर नहीं पहुंच सकता। इस संघर्ष में व्यक्ति का अपने-आपसे

ही युद्ध होता है। वह स्वयं ही युद्ध का क्षेत्र होता है, स्वयं ही विरोधी दल होता है और स्वयं ही युद्ध होता है। संघर्ष की इस अवस्था का वर्णन करते हुए प्रोफेसर ड्यूई ने अपनी मनोविज्ञान की पुस्तक में लिखा है :

"यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह युद्ध अथवा संघर्ष वह है जो मनुष्य के अन्दर घटित होता है। यह आत्मा का आत्मा से संघर्ष है। यह आत्मा का किसी ऐसी वस्तु से संघर्ष नहीं है जोकि उससे बाहर हो, न ही वह एक प्रेरणा का दूसरी प्रेरणा से ऐसा संघर्ष है जिसमें वह स्वयं एक ऐसा तटस्थ दर्शक हो, जोकि युद्ध के परिणाम की प्रतीक्षा कर रहा हो। इच्छाओं के संघर्ष की यथार्थता इसमें है कि मनुष्य अपने-आपसे संघर्ष करता हुआ अभिव्यक्त होता है, वह स्वयं ही विरोधी दल होता है और स्वयं ही युद्ध-क्षेत्र होता है।"[१]

इच्छाओं के संघर्ष में उस समय तक अनिश्चितता और तनाव की स्थिति बनी रहती है, जब तक कि उन दो इच्छाओं में से किसी एक की विजय नहीं हो जाती। तनाव की अवस्था एक चिन्ता की अवस्था होती है, जिसमें व्यक्ति समस्या के दोनों पक्षों पर चिन्तन करता है और दोनों पक्षों के गुण-दोषों के प्रति तर्क-वितर्क करता है। इस अवस्था के पश्चात् जब दो इच्छाओं में से एक विजयी होती है और दूसरी पराजित, तो विजयी इच्छा को आकांक्षा कहा जाता है। आकांक्षा को भी संकल्प नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह केवल दो संघर्षग्रस्त इच्छाओं में से एक विजयी इच्छा होती है। आकांक्षा और संकल्प का भेद हम आगे चलकर बतलाएंगे। यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि दो संघर्षग्रस्त इच्छाओं में से कौन-सी इच्छा विजयी होती है और क्यों होती है। जनसाधारण इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहेगा कि अधिक प्रबल इच्छा विजयी होती है, जबकि दुर्बल इच्छा पराजित होती है। किन्तु वास्तव में यह बात नहीं होती। इच्छाओं के संघर्ष में वही इच्छा विजयी होती है जोकि शक्तिशाली इच्छाओं के व्यूह से सम्बद्ध होती है। एक इच्छा स्वयं प्रबल होते हुए भी इसलिए विजयी नहीं हो सकती कि वह उस इच्छाओं के व्यूह का अंग है, जोकि व्यक्ति-विशेष के लिए प्रभावशाली नहीं है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि एक महाविद्यालय का आचार्य, जोकि अनुशासनप्रिय है, इस दुविधा में पड़ जाता है कि वह अपने पुत्र को, जिसने कि महाविद्यालय का अनुशासन भंग किया है, दण्ड दे या न दे।

---

१. "It is important to notice that it is a strife or conflict which goes on in the man himself; it is a conflict of himself with himself...It is not a conflict of himself with something external to him, nor of one impulse with another impulse, he meanwhile remaining a passive spectator awaiting the conclusion of the struggle. What gives the conflict of desires its whole meaning is that it represents the man at strife with himself. He is the opposing contestants as well as the battlefield." —John Dewey, Psychology, Pages 364-65.

इस उदाहरण में, आचार्य के मन में दो इच्छाओं का संघर्ष उत्पन्न होता है। एक इच्छा उसके वात्सल्य से सम्बन्ध रखती है और दूसरी इच्छा उसके कर्तव्य से। अपने पुत्र के प्रति प्रेम से सम्बद्ध इच्छा, निस्सन्देह एक शक्तिशाली इच्छा है। किन्तु उसका सम्बन्ध जिस इच्छाओं के व्यूह से है, यदि वह व्यूह उस आचार्य-विशेष के लिए शक्तिशाली होगा, तभी वह अपने पुत्र को दण्ड देने की इच्छा को विजयी नहीं होने देगा। यदि इसके विपरीत, आचार्य का कर्तव्य-सम्बन्धी इच्छाओं का व्यूह अधिक शक्तिशाली होगा, तो वात्सल्य से सम्बन्धित पुत्र पर दया करने की इच्छा स्वयं प्रबल होते हुए भी विजयी नहीं हो सकेगी। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य, आचार-विज्ञान के लिए, इसलिए महत्त्व रखता है कि यह प्रत्येक कर्तव्य-सम्बन्धी प्रवृत्ति को मनुष्य के चरित्र पर आधारित होना सिद्ध करता है। हम आगे चलकर, संकल्प की स्वतन्त्रता की व्याख्या करते हुए इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेंगे।

आकांक्षा और संकल्प के भेद की व्याख्या करने से पूर्व, उन इच्छाओं के प्रति दो शब्द कह देना आवश्यक है, जोकि मानसिक संघर्ष में पराजित हो जाती हैं। सामान्य व्यक्ति का यह दृष्टिकोण है कि जो इच्छा पराजित हो जाती है, वह सदा के लिए हमारे जीवन से विच्छिन्न हो जाती है, अर्थात् उसका हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान ने यह प्रमाणित किया है कि पराजित इच्छाएं हमारे अचेतन मन में अव्यक्त रूप में उपस्थित रहती हैं और वे सदैव चेतन मन में आने का प्रयास करती रहती हैं। वे सदा के लिए लुप्त नहीं हो जातीं। इसके विपरीत वे छिपे हुए शत्रुओं की भांति इस ताक में रहती हैं कि अवसर प्राप्त हो और वे पुनः चेतना में प्रवेश करें। मनोविश्लेषण के क्षेत्र में जो अनुसन्धान हुए हैं, उनके अनुसार हमारा असामान्य व्यवहार, हमारे स्वप्न, हमारी लिखने व बोलने में भूलें, सभी उन अचेतन इच्छाओं के कारण होती हैं, जिनका दमन किया गया होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार हमारा मानसिक जीवन स्वतन्त्र नहीं है, अपितु अचेतन इच्छाओं के द्वारा नियत है। दमित इच्छाओं का आचार-विज्ञान में विशेष महत्त्व तो नहीं है, किन्तु इसका कुछ संबंध संकल्प की स्वतन्त्रता से अवश्य है। यहां पर इतना कह देना पर्याप्त होगा कि पराजित इच्छाएं, सम्भवतया काफी समय तक अचेतन मन में उपस्थित रहती हैं।

आकांक्षा और संकल्प

जैसाकि हमने ऊपर कहा है कि इच्छाओं के संघर्ष में जो इच्छा विजयी होती है वही आकांक्षा कहलाती है। किन्तु आकांक्षा, संकल्प के स्तर से न्यून होती है। संकल्प का अर्थ, न ही केवल एक इच्छा को पराजित करना और दूसरी को वांछनीय स्वीकार करना है, किन्तु उसका अर्थ, विजयी इच्छा के सभी परिणामों को भी स्वीकार करना है, जोकि उस इच्छा के पूर्ण होने पर घटित होंगे। दूसरे शब्दों में, संकल्प में भविष्य का पूरा विचार कर लिया जाता है और यह स्वीकार कर लिया जाता है कि विजयी

इच्छा की पूर्ति, न ही केवल आकांक्षित है, अपितु सम्भव भी है। यह सम्भावना केवल कल्पित नहीं होती, अपितु निश्चित होती है। अतः हमारी अनेक आकांक्षाएं इसलिए पूर्ण नहीं हो पातीं कि उनको स्वीकार करते समय हमने सभी परिणामों का अनुमान नहीं लगाया होता। इसके अतिरिक्त विजयी इच्छा, कई बार ऐसी भी होती है कि जिसको हम अपनी विवशता के कारण संकल्प में परिवर्तित ही नहीं कर सकते। उदाहरणस्वरूप, विश्वविद्यालय का एक नवयुवक छात्र भारत का राष्ट्रपति बनने की आकांक्षा कर सकता है, किन्तु वह उसका संकल्प उस समय तक नहीं कर सकता, जब तक कि वह इस बात को स्वीकार न कर ले कि भारतीय विधान के अनुसार उसमें वे सभी गुण उपस्थित हैं, जोकि राष्ट्रपति बनने के लिए आवश्यक हैं। जब हमारा कोई मित्र अथवा सम्बन्धी किसी रोग में ग्रस्त होता है, हम उसके शीघ्र स्वस्थ होने की आकांक्षा कर सकते हैं, किंतु संकल्प नहीं कर सकते। हमारे जीवन में अनेक ऐसे उदाहरण देखने में आते हैं, जिनमें कि हमारी विजयी इच्छाएं आकांक्षा की सीमा से आगे नहीं बढ़ पातीं। संकल्प का अर्थ सभी गुण-दोषों का पूर्ण निरीक्षण करके, इच्छा को कार्यरूप में परिणत करने का अंतिम निश्चय कर लेना है। संकल्प का आचार-विज्ञान में विशेष महत्त्व है।

हमने पहले अध्याय में धर्म (Virtue) की व्याख्या करते हुए यह बताया था कि आचार-विज्ञान कला इसलिए नहीं हो सकता, क्योंकि सदाचार एवं धर्म का विशेष लक्षण संकल्प है, जबकि कला की निपुणता में केवल संकल्प का कोई महत्त्व नहीं है। हम किसी भी व्यक्ति के आचार को तब तक सदाचार नहीं मान सकते, जब तक कि उसने उस कार्य को संकल्प के द्वारा न किया हो। सुकरात के अनुसार, धर्म एक प्रकार का ज्ञान है, उसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि अनजाने में धर्म का आचरण नहीं किया जा सकता। यहां पर जानने का अर्थ, तर्क के द्वारा निश्चय कर लेना एवं संकल्प कर लेना होना चाहिए। यही कारण है कि अरस्तू ने धर्म की व्याख्या करते हुए यह बतलाया, "धर्म एक सविकल्पक आदत है, अर्थात् धर्म का आधार सविकल्पक निर्वाचन एवं संकल्प है। जो व्यक्ति किसी शुभ कार्य को करने का दृढ़ संकल्प कर लेता है और कुछ आकस्मिक परिस्थितियों के कारण वह उस संकल्प को कार्य में परिणत नहीं कर सकता, तब भी हम उस व्यक्ति को दुराचारी नहीं कहेंगे। इस विषय पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। यहां पर इतना कह देना उचित है कि आकांक्षा संकल्प की अपेक्षा न्यून स्तर पर है, किन्तु इच्छा की अपेक्षा ऊंचे स्तर पर है।

संकल्प तथा कर्म

संकल्प का अर्थ, जैसाकि हमने ऊपर देखा है, किसी कार्य को करने का मानसिक निश्चय एवं निर्णय है। इससे यह स्पष्ट है कि संकल्प किसी कर्म को करने से पहले की अवस्था है। संकल्प किसी भविष्य के उद्देश्य से सम्बन्धित निश्चय है। कभी-कभी यह उद्देश्य निकटवर्ती होता है और कभी दूरवर्ती। दोनों अवस्थाओं में किया गया संकल्प

कर्म में परिवर्तित हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संकल्प का आचार-विज्ञान में विशेष महत्त्व है। जो व्यक्ति सत्कर्म का दृढ़ संकल्प करता है वह सराहनीय अवश्य है, किन्तु केवल संकल्प करने-मात्र को सदाचार नहीं कहा जा सकता। सदाचार का अर्थ, शुभ संकल्प को केवल मानसिक स्तर तक ही सीमित करना नहीं है, किन्तु उसको कार्यरूप में परिवर्तित करने का सतत प्रयत्न करना है। अनेक बार हमारा किया गया संकल्प, समय तथा परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण, कार्यान्वित नहीं हो सकता। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि एक व्यक्ति प्रातःकाल उठने का दृढ़ संकल्प कर लेता है। जब उठने का समय आता है, वह आंखें खोलता है, किन्तु प्रातःकाल की शीतल वायु तथा निद्रा का आनन्द उसे अपने संकल्प को कार्यान्वित नहीं करने देता। संकल्प करते समय व्यक्ति उन कठिनाइयों का केवल मानसिक अनुमान लगाता है, जोकि संकल्प को कार्यरूप में परिणत करते समय बाधक होती हैं। कर्म करते समय सम्भावित परिस्थितियां जब वास्तव में सामने आती हैं, तो वे विभिन्न हो सकती हैं। अतः कर्म करने की अवस्था संकल्प की अवस्था से भिन्न है। दृढ़ संकल्प व्यक्ति को निस्सन्देह इच्छित कर्म को करने में सहायता अवश्य देता है। दृढ़ संकल्पवाला व्यक्ति भविष्य में घटित होनेवाली परिस्थितियों का सामान्य रूप से अनुमान लगा लेता है और संकल्प को कर्म में परिवर्तित करते समय परिस्थितियों के साधारण परिवर्तन की परवाह नहीं करता।

प्रेरक तथा उद्देश्य

आचार-विज्ञान के दृष्टिकोण से संकल्प तथा कर्म की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि विशेष महत्त्व इसलिए रखती है कि हम नैतिक निर्णय केवल सामान्य व्यक्ति के सविकल्पक कर्म पर ही देते हैं, न कि उसके निर्विकल्पक व्यवहार पर अथवा उसकी अचेतन जीवन-सम्बन्धी सहज क्रियाओं पर। हम उस कर्म को शुभ अथवा अशुभ कह सकते हैं, जोकि एक सामान्य व्यक्ति के द्वारा उसकी सामान्य चेतना में संकल्प की प्रक्रिया से निर्वाचित किया गया हो। जब एक व्यक्ति ऐसा कर्म करता है, तो उस कर्म में उद्देश्य होता है। अतः उद्देश्य (Intention) तथा उससे सम्बन्धित प्रेरणा, जोकि कर्म को उत्तेजित करती है, दो ऐसे मनोवैज्ञानिक अंग हैं, जिनका विश्लेषण आचार-विज्ञान में विशेष महत्त्व रखता है।

साधारणतया उद्देश्य हमारे संकल्प का वह अंग है, जो उस घटना की ओर निर्देश करता है, जिसको कि हम अपने कर्म के द्वारा घटित करना चाहते हैं, किन्तु जो कुछ भी हम कर्म द्वारा घटित करना चाहते हैं, वह प्रायः एक जटिल परिणाम ही होता है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि मैं दिल्ली जाना चाहता हूं। दिल्ली जाना मेरा उद्देश्य है। यदि मैं इस उद्देश्य का गम्भीर विश्लेषण करूं, तो मैं इस परिणाम पर पहुंचूंगा कि यह उद्देश्य भी एक जटिल वस्तु है। यदि मैं यह प्रश्न करूं कि मैं दिल्ली क्यों जाना चाहता हूं, अर्थात् मेरे दिल्ली जाने के उद्देश्य को प्रेरित करनेवाली एवं उसको उत्तेजित करनेवाली वस्तुएं कौन-कौन-सी हैं, तो मुझे इस प्रश्न के अनेक उत्तर मिलेंगे। सम्भवतया, मैं

लालकिला देखने के लिए दिल्ली जा रहा हूं, उसके साथ-साथ किसी मित्र को मिलना भी मेरे उद्देश्य में सम्मिलित है। सम्भवतया, अपने प्रकाशक से मिलकर उससे कुछ धन प्राप्त करना भी दिल्ली जाने का एक कारण है। दिल्ली जाने के ये सभी कारण वास्तव में मेरे उद्देश्य के प्रेरक हैं। यदि उद्देश्य का अर्थ वह घटना है जोकि हम करना चाहते हैं, तो प्रेरक का अर्थ वह वस्तु है जोकि हमें उस कर्म को करने के लिए उत्तेजित करती है अथवा प्रेरित करती है। वास्तव में उद्देश्य और प्रेरक एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य के दो अंग हैं, जो एक-दूसरे से पृथक् तो नहीं, किन्तु जिनका भेद अवश्य जाना जा सकता है। प्रेरक उद्देश्य का केन्द्र होता है, जबकि उद्देश्य प्रेरक के कारण ही उत्पन्न होता है। प्रेरक और उद्देश्य के भेद को समझने के लिए उद्देश्य के भिन्न प्रकारों की व्याख्या करना नितान्त आवश्यक है।

उद्देश्यों के विभिन्न प्रकारों के विषय में मैकन्ज़ी ने सर्वोत्तम व्याख्या प्रस्तुत की है। उसके अनुसार उद्देश्यों को पांच विभिन्न जोड़ों में विभाजित किया जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं[1] :

(१) वर्तमान तथा दूरवर्ती उद्देश्य (Immediate and remote intentions)
(२) बाह्यात्मक तथा अन्तरात्मक उद्देश्य (Outer and inner intentions)
(३) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उद्देश्य (Direct and indirect intentions)
(४) चेतन तथा अचेतन उद्देश्य (Conscious and unconscious intentions)
(५) सैद्धान्तिक तथा भौतिक उद्देश्य (Formal and material intentions)

अब हम उद्देश्य के इन प्रकारों की संक्षिप्त व्याख्या करेंगे।

वर्तमान तथा दूरवर्ती उद्देश्य

जैसाकि उद्देश्य के इन प्रकारों के नाम से विदित हो रहा है, वर्तमान उद्देश्य वह उद्देश्य है जोकि किसी कर्म के तुरन्त घटित होनेवाले परिणाम से सम्बन्धित है, जबकि दूरवर्ती उद्देश्य का सम्बन्ध किसी भविष्य में घटित होनेवाले परिणाम से सम्बन्ध रखता है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि चलती हुई गाड़ी में से एक आदमी गिरता है और उसे दो विभिन्न व्यक्ति देख रहे हैं। दोनों तुरन्त ज़ंजीर खींचकर गाड़ी रुकवा देते हैं। उन दोनों व्यक्तियों में से एक का उद्देश्य तो उस बेचारे को वापस गाड़ी पर बिठाना है, जबकि दूसरे का उद्देश्य उसको पुलिस को सौंपने का है, क्योंकि वह व्यक्ति उसके साथी का बटुआ लेकर गाड़ी से कूद रहा था। इस उदाहरण में रेलगाड़ी के जंजीर खींचने के

१. Mackenzie : A Manual of Ethics, Pages 48, 49, 50.

कर्म का वर्तमान उद्देश्य तो एक है, किन्तु उन दोनों व्यक्तियों के दूरवर्ती उद्देश्य विभिन्न हैं। दोनों गाड़ी तो अवश्य रोकना चाहते हैं, यह उनका वर्तमान उद्देश्य है, किन्तु एक व्यक्ति गिरते हुए व्यक्ति को बचाने के लिए और दूसरा उसे पुलिस को सौंपने के लिए गाड़ी रुकवाता है। अतः उनके दूरवर्ती उद्देश्य विभिन्न हैं। हम उद्देश्यों के इस प्रकार के भेद के सम्बन्ध में, यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि केवल दूरवर्ती उद्देश्य ही प्रेरक होता है। सम्भवतया अधिकांश उदाहरणों में दूरवर्ती उद्देश्य को ही प्रेरक माना जाएगा। इसके सम्बन्ध में हम आगे चलकर व्याख्या करेंगे।

बाह्यात्मक तथा अन्तरात्मक उद्देश्य

बाह्यात्मक उद्देश्य प्रायः वह उद्देश्य होता है, जोकि किसी कर्म के वास्तविक करने से सम्बन्ध रखता है, जबकि अन्तरात्मक उद्देश्य, उस कर्म के अव्यक्त कारण से सम्बन्ध रखता है। इन दो प्रकार के उद्देश्यों को स्पष्ट करने के लिए, प्रायः अमेरिका के विख्यात प्रधान अब्राहम लिंकन के उस कार्य का उदाहरण दिया जाता है, जिसमें कि उसने अपने बाल्यकाल में एक सूअर को कूड़े-कर्कट से भरे हुए गड्ढे से बाहर निकलने में सहायता दी थी। जब लोगों ने उसके इस कार्य की सराहना की तो अब्राहम लिंकन ने कहा, "मैंने इस पशु को केवल गड्ढे से बचाने के लिए ही सहायता नहीं की, बल्कि मैंने यह कार्य अपने मन से उस तनाव की अवस्था को हटाने के लिए किया है, जोकि उस पशु के दुःख को देखकर मेरे मन में उत्पन्न हो गई थी।" इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि अब्राहम लिंकन का बाह्यात्मक उद्देश्य सूअर को बचाना था, किन्तु उसका अन्तरात्मक उद्देश्य अपने मानसिक तनाव को हटाना था। हमारे जीवन में अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिनमें हमारे कर्म का बाह्यात्मक उद्देश्य एक होता है और अन्तरात्मक उद्देश्य दूसरा। जब हम किसी दुर्घटना में ग्रस्त बुरी तरह से आहत व्यक्ति को उठाकर तुरन्त डाक्टर के पास पहुंचाने का कर्म करते हैं, तो उसमें हमारा बाहरी उद्देश्य तो उस व्यक्ति को दुःख से बचाना होता है, किन्तु हमारा आन्तरिक उद्देश्य हमारे मन में स्थित उस दुःख की भावना से निवृत्त होने का भी होता है, जोकि उसकी दयनीय अवस्था को देखकर हमारे मन में उत्पन्न हो जाती है।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उद्देश्य

प्रत्यक्ष उद्देश्य तो हमारे कर्म का वास्तविक लक्ष्य होता है, किन्तु उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ ऐसी अवांछनीय परिस्थितियां भी होती हैं, जोकि उसकी प्राप्ति के लिए अनिवार्य होती हैं। हमारे लक्ष्य से सम्बन्धित यह वांछनीय परिस्थितियां एवं परिणाम, हमारी अनिच्छा होते हुए भी, हमारे उद्देश्य में सम्मिलित होते हैं और यह ही अप्रत्यक्ष उद्देश्य कहलाते हैं। उदाहरणस्वरूप, जब भारत के नेताओं ने स्वतन्त्रता प्राप्त करते समय भारत के विभाजन को स्वीकार किया, तो उनका ऐसा करना दो प्रकार के उद्देश्यों

को अभिव्यक्त करता था। उनका प्रत्यक्ष उद्देश्य तो राष्ट्र को स्वतन्त्र करना था, किन्तु ऐसा करने के लिए देश के बंटवारे को स्वीकार करना, अवांछनीय होते हुए भी, उनके उद्देश्य में सम्मिलित था, क्योंकि उसके बिना अंग्रेज़ी साम्राज्य का भारत में अन्त नहीं हो सकता था। इसी प्रकार भारत की स्वतन्त्रता के संग्राम में, चन्द्रशेखर आज़ाद ने एक बार वाइसराय की गाड़ी को बम के द्वारा उड़ा देने का निश्चय किया। ऐसा करने में यह स्पष्ट था कि वाइसराय के साथ-साथ उसके भारतीय सेवक भी मारे जाएंगे। चन्द्रशेखर आज़ाद के इस संकल्प में भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उद्देश्य उपस्थित थे। उसका प्रत्यक्ष उद्देश्य तो विदेशी साम्राज्यवादी वाइसराय को मारना था, किन्तु उसके साथ-साथ उसके सेवकों का मरना भी अनिवार्य होने के कारण उसका अप्रत्यक्ष उद्देश्य था।

चेतन तथा अचेतन उद्देश्य

चेतन उद्देश्य का अर्थ वह लक्ष्य है जोकि कर्म करनेवाला व्यक्ति अपने सामने रखता है और उसे जान-बूझकर स्वीकार करता है। इसके विपरीत अचेतन उद्देश्य एक अव्यक्त लक्ष्य होता है, जिसको कि व्यक्ति चेतनावस्था में स्वीकार नहीं करता। वह उद्देश्य अचेतन तथा अस्पष्ट रहता है। समाज-सेवा में प्रवृत्त व्यक्ति, परोपकार का कार्य करते समय, समाज के कल्याण का उद्देश्य तो स्पष्ट रूप से सामने रखता ही है, अतः समाज का कल्याण उसके कर्म का चेतन उद्देश्य है। किन्तु समाज-कल्याण के उद्देश्य के साथ-साथ सम्भवतया उसके अचेतन मन में यह इच्छा भी छिपी रहती है कि समाज-सेवा से उसको ख्याति प्राप्त हो जाए। उसका यह अव्यक्त उद्देश्य अचेतन उद्देश्य कहलाता है। इसी प्रकार प्रत्येक परोपकारी व्यक्ति, निःस्वार्थ सेवा करते हुए भी अचेतन रूप से किसी न किसी आत्मविकास-सम्बन्धी अचेतन उद्देश्य से प्रेरित होकर ही अपने कर्तव्य का पालन करता रहता है। निष्काम कर्मयोग का अर्थ निरुद्देश्य कर्म नहीं है, उसका उद्देश्य निस्सन्देह कोई न कोई आत्मविकास-सम्बन्धी अचेतन प्रेरणा होता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि भगवद्गीता का निःस्वार्थ एवं निष्काम कर्मयोग अचेतन रूप से मोक्ष अथवा ईश्वर-प्राप्ति के अचेतन उद्देश्य पर आधारित रहता है।

सैद्धान्तिक तथा भौतिक उद्देश्य

सैद्धान्तिक उद्देश्य, जैसाकि उसके नाम से स्पष्ट है, हमारे कर्म के उस आधारभूत सिद्धान्त एवं नियम की ओर संकेत करता है जिसको कि कर्म करनेवाला व्यक्ति एक वांछनीय आदर्श मानता है। अतः सैद्धान्तिक उद्देश्य का अर्थ व्यक्ति का वह दृष्टिकोण है जोकि उसे विशेष प्रकार का कर्म करने पर प्रेरित करता है। इसके विपरीत भौतिक उद्देश्य का अर्थ, किए जानेवाले कर्म का ठोस परिणाम है। अतः सिद्धान्त का अर्थ अन्तरात्मक आदर्श से है, जबकि भौतिक उद्देश्य का सम्बन्ध घटना के ठोस परिणाम से है। दो व्यक्ति एक ही कर्म को करते समय भौतिक उद्देश्य में भले ही समान हों, किन्तु

सैद्धान्तिक उद्देश्य की दृष्टि से उनकी विभिन्नता हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, मान लीजिए कि हमारी संसद् के चुनाव में, दो व्यक्ति साम्यवादी दल के एक ही प्रतिनिधि को निर्वाचन में परास्त करना चाहते हैं। उनमें से एक तो उनका विरोध इसलिए करता है कि साम्यवादी दल किसी विदेशी नीति से प्रेरित होता है और दूसरा इसलिए विरोध करता है कि साम्यवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन करता है। इस उदाहरण में दोनों व्यक्तियों का भौतिक उद्देश्य तो एक ही है और वह है साम्यवादी दल को परास्त करना, किन्तु उनके सैद्धान्तिक उद्देश्य भिन्न हैं। एक व्यक्ति का सैद्धान्तिक उद्देश्य, राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण पर आधारित है और दूसरे का दृष्टिकोण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के दृष्टिकोण से सम्बन्धित है। अतः उन दोनों का भौतिक उद्देश्य एक होते हुए भी सैद्धान्तिक उद्देश्य विभिन्न हैं।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि उद्देश्य का सम्बन्ध प्रेरक से रहता है। वास्तव में प्रेरक किसी कर्म के उद्देश्य का अंग होता है। इस दृष्टि से प्रेरक और उद्देश्य में भेद करना बहुत कठिन हो जाता है। प्रेरक हमारे कर्म का कारण अवश्य होता है; किंतु कारण केवल निमित्त ही नहीं होता, अपितु लक्ष्य की ओर भी संकेत करता है। अतः प्रेरक उसीको कह सकते हैं, जो हमें विशेष रूप से कर्म करने के लिए प्रेरित (Impels) करता है अथवा बाध्य (Induces) करता है। उदाहरणस्वरूप, जब हम घृणा, भय, दया आदि के कारण कर्म करते हैं, तो हम उनसे, इन भावों से प्रेरित होते हैं। किन्तु सदैव भावना से प्रेरित होना एक चरित्रवान व्यक्ति के लिए नैतिक दृष्टि से उचित नहीं है। यही कारण है कि आचार-विज्ञान में हम प्रेरक उसीको मान सकते हैं, जोकि हमें कर्म को विशेष प्रकार से करने के लिए बाध्य करता है। इस दृष्टि से, जब हम किसी व्यक्ति को दयनीय अवस्था में देखते हैं, तो हम केवल दया के लिए ही उसकी दशा सुधारने की चेष्टा नहीं करते, अपितु उसके साथ-साथ उसके उत्थान के उद्देश्य को भी ध्यान में रखते हैं। यदि हम केवल दया से ही प्रेरित होकर रह जाएं, तो अधिक से अधिक हम उसके लिए आंसू बहा सकते हैं, किन्तु जब हम उसकी दशा सुधारने की चेष्टा करते हैं, तो हम केवल भावना से ही प्रेरित नहीं होते, अपितु कर्म करने पर बाध्य होते हैं। अतः प्रेरक, जोकि हमें कर्म करने पर बाध्य करता है, वास्तव में वांछनीय उद्देश्य का विचार है। यही कारण है कि हमने प्रेरक को उद्देश्य में अंग माना है। प्रायः प्रेरक में दूरवर्ती उद्देश्य का अधिकांश होता है और निकटवर्ती उद्देश्य का अधिक भाग उसमें नहीं होता। इसी प्रकार उसमें प्रत्यक्ष उद्देश्य होता है जबकि अप्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं होता। प्रायः उसमें अधिकांश सैद्धान्तिक उद्देश्य का होता है और भौतिक उद्देश्य का अधिक अंश नहीं होता। उसमें कभी बाह्यात्मक, कभी अन्तरात्मक, कभी चेतन, कभी अचेतन उद्देश्य उपस्थित रहते हैं। उद्देश्य तथा प्रेरक का यह सम्बन्ध और स्वरूप, आचार-विज्ञान के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व रखता है। इस महत्त्व की व्याख्या करने के लिए इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है कि क्या नैतिक निर्णय उद्देश्य पर दिया जाता है अथवा प्रेरक पर।

नैतिक निर्णय का विषय

जब हम किसी व्यक्ति के कर्म का नैतिक मूल्यांकन करते हैं, अर्थात् जब हम उसको शुभ अथवा अशुभ, सत् अथवा असत् घोषित करते हैं, तो ऐसा करते समय या तो कर्म के प्रेरक के आधार पर या उसके उद्देश्य के आधार पर निर्णय देते हैं। दूसरे शब्दों में, नैतिक निर्णय का विषय उद्देश्य भी हो सकता है और प्रेरक भी। आचार-विज्ञान के चिन्तकों में नैतिक निर्णय के विषय के आधार पर दो सिद्धान्त प्रचलित हैं, जो निम्न-लिखित हैं :

(१) उद्देश्यात्मक अथवा उपयोगवादी सिद्धान्त (Utilitarian view-point)

(२) अन्तरात्मक सिद्धान्त (Intuitive view-point)

प्रयोगवादियों के अनुसार, नैतिक निर्णय का विषय उद्देश्य (Intention) माना गया है और अन्तरात्मवादियों के अनुसार नैतिक निर्णय प्रेरक से ही सम्बन्ध रखता है। हम पहले उपयोगितावादी दृष्टिकोण की व्याख्या करेंगे और तत्पश्चात् अन्तरात्म-वादी दृष्टिकोण का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। उपयोगितावादियों का मुख्य दृष्टि-कोण जे० एस० मिल के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, जब हम किसी कर्म पर नैतिक निर्णय देते हैं, तो हम उस कर्म के प्रेरक की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। इसके विपरीत हम उस परिणाम की ओर ध्यान देते हैं, जोकि उस कर्म का उद्देश्य होता है। प्रेरक तो केवल कर्म करने के लिए प्रेरित करता है और वह प्रेरणा अच्छे उद्देश्य के लिए भी हो सकती है, बुरे उद्देश्य के लिए भी हो सकती है एवं तटस्थ भी हो सकती है। इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए हम उत्सुकता-रूपी प्रेरक का उदा-हरण दे सकते हैं। एक बालक उत्सुकता से प्रेरित होकर शुभ कर्म भी कर सकता है, अशुभ कर्म भी कर सकता है तथा तटस्थ कर्म भी कर सकता है। यदि उत्सुकता से प्रेरित होकर वह एक उपयोगी पुस्तक पढ़ता है, तो उसका यह कर्म शुभ माना जाएगा; यदि वह उत्सुकता के कारण एक पागल कुत्ते को लोगों के समूह की ओर धकेल देता है, तो वह बुरा कर्म करता है और यदि वह उसी प्रेरणा के कारण अपने लट्टू को घुमाता है, तो उसका यह कर्म तटस्थ हो जाता है। इस प्रकार के उदाहरणों के आधार पर मिल यह घोषणा करता है, "किसी कर्म की नैतिकता, पूर्णतया उद्देश्य पर अर्थात् उस परिणाम पर निर्भर है जिसको फलित करने का संकल्प किया जाता है। किन्तु प्रेरक अर्थात् वह भावना, जोकि कर्ता को इस प्रकार का संकल्प कराती है, न तो उस कर्म में परिवर्तन करती है और न उसकी नैतिकता का निर्णय देती है, यद्यपि वह कर्ता के प्रति नैतिक अनुमान लगाने में अवश्य महत्त्व रखती है।"[1]

इस दृष्टिकोण को हम शत-प्रतिशत तो संगत नहीं मान सकते। कुछ सीमा तक यह कहना ठीक है कि केवल प्रेरक ही किसी कर्म को नैतिक अथवा अनैतिक नहीं बना सकता। यदि ऐसा होता तो हम विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न प्रेरकों के आधार पर

१. J. S. Mill : Utilitarianism, Chapter II, Page 27, note.

ही किसी कर्म को अच्छा या बुरा मानते। मान लीजिए कि एक व्यक्ति ईश्वर के भय के कारण पांच हज़ार रुपया निर्धनों को दान देता है और दूसरा केवल दया से प्रेरित होकर ऐसा करता है। यदि हमारे नैतिक निर्णय में प्रेरक ही प्रधान होता, तो हम ईश्वर के भय से प्रेरित होनेवाले कर्म को तथा दया से प्रेरित होनेवाले कर्म को नैतिकता की दृष्टि से विभिन्न मानते, किन्तु वास्तव में हम ऐसा नहीं करते। इन दो प्रकार के प्रेरकों से प्रेरित होनेवाले व्यक्ति के चरित्र के प्रति हम अवश्य भिन्न निर्णय दे सकते हैं। हम पहले व्यक्ति को दयालु और दूसरे को धार्मिक वृत्तिवाला कह सकते हैं, किन्तु नैतिक दृष्टि से हम उन दोनों के कर्म को समान रूप में शुभ ही मानेंगे।

ऊपर दिए गए उदाहरणों में प्रेरक को केवल मूल प्रवृत्ति एवं भावना-मात्र ही माना गया है, किन्तु हम यह जानते हैं कि प्रेरक का अर्थ केवल उत्तेजना देनेवाली प्रवृत्ति ही नहीं है, अपितु उसका अर्थ वह प्रेरणा है, जोकि हमें विशेष रीति से कर्म करने पर बाध्य करती है। उदाहरणस्वरूप, जब एक धनवान व्यक्ति आयकर से बचने के लिए लाखों रुपये व्यय करके चिकित्सालय बना देता है, तो उसका यह कर्म उसके प्रेरक के कारण नैतिक नहीं माना जाएगा। इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि नैतिक निर्णय का सम्बन्ध अंशतः प्रेरक से अवश्य होता है। उसका कारण यह है कि नैतिक निर्णय केवल घटना पर अथवा कर्म के परिणाम पर ही नहीं दिया जाता, अपितु कर्ता के संकल्प को ध्यान में रखते हुए, उसके प्रेरक तथा उद्देश्य दोनों पर दिया जाता है। यदि नैतिक निर्णय का सम्बन्ध केवल घटना अथवा परिणाम से होता, तो हम भूकम्प तथा वृष्टि आदि पर भी नैतिक निर्णय देते। किन्तु हम वास्तव में ऐसा नहीं करते। नैतिक निर्णय में हम सामान्य व्यक्ति के व्यवहार एवं चरित्र (Conduct) का मूल्यांकन करते हैं। इसलिए अनेक बार हम नैतिक निर्णय में परिणाम की उपेक्षा कर देते हैं। जब एक शल्य-चिकित्सक, रोगी की शल्य-चिकित्सा करते हुए उसकी मृत्यु का कारण बन जाता है, तो हम चिकित्सक के इस कर्म को अनैतिक नहीं कहते, यद्यपि उसका परिणाम एक व्यक्ति की मृत्यु होता है। इसी प्रकार जब एक दुष्ट बालक भीख मांगनेवाले को कष्ट पहुंचाने की दृष्टि से उसका सिर फोड़ने के लिए एक रुपया फेंकता है, किन्तु वह मुद्रा याचक को न छूकर पृथ्वी को लग जाती है और वह उसे उठाकर अपने भूखे बच्चों के लिए अन्न खरीदता है, तो हम उस बालक के इस कर्म को दुष्प्रेरणा के कारण अशुभ ही कहेंगे, यद्यपि उसका परिणाम शुभ ही होता है।

चरित्र के मूल्यांकन में व्यक्ति का प्रेरक उसके संकल्प को अभिव्यक्त करता है। जो संकल्प सद्भावना पर आधारित होता है उसीको शुभ संकल्प कहा जाता है और शुभ संकल्प पर आधारित क्रिया सदैव शुभ मानी जाती है। इसी दृष्टि से ही कांट ने शुभ संकल्प को स्वलक्ष्य मूल्य (Intrinsic value) माना है। हमने पहले अध्याय में ही कांट के इस दृष्टिकोण की चर्चा की है। इसके विपरीत उपयोगितावादियों का कहना है कि यदि शुभ संकल्प शुभ परिणाम में फलित नहीं होता, तो उसे नैतिक नहीं मानना चाहिए।

उनका ऐसा कहना भी शत-प्रतिशत संगत नहीं है। कभी-कभी शुभ संकल्प, शुभ परिणाम में परिणत नहीं होता, किन्तु सामान्यतया दृढ़ संकल्पवाला व्यक्ति सद्भावना को सत्कार्य में परिणत करने में अवश्य सफल रहता है। अंग्रेज़ी भाषा में कहा गया है कि "जहां चाह तहां राह।"[१] यदि प्रेरक भी शुभ हो और परिणाम भी शुभ हो, तो कर्म को निस्सन्देह नैतिक ही माना जाएगा। नैतिक निर्णय देते समय हम न केवल प्रेरक को और न ही केवल उद्देश्य को महत्त्व देते हैं, अपितु इन दोनों का इसलिए मूल्यांकन करते हैं, क्योंकि नैतिक निर्णय का सम्बन्ध केवल परिणाम से नहीं होता अर्थात् की गई घटना-मात्र से नहीं होता, अपितु उस व्यक्ति के चरित्र से होता है, जिसपर कि कर्म करने का उत्तरदायित्व है।

अन्तरात्मवादी विचारक व्यक्ति के संकल्प पर एवं कर्म के आन्तरिक अंग पर अधिक बल देते हैं, जबकि उपयोगितावादी कर्म के भौतिक परिणाम पर अधिक बल देते हैं। अन्तरात्मवादियों का दृष्टिकोण नैतिक नियम को मनुष्य के अन्तस् में निहित मानता है, जबकि उपयोगितावादियों का दृष्टिकोण बाहरी परिस्थितियों को मनुष्य के कल्याण एवं सुख के लिए जुटाने-मात्र को नैतिक आदर्श मानता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि ये दोनों दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक हैं। अन्तरात्मवादी दृष्टिकोण अंशतः सत्य है, इसी प्रकार उपयोगितावादी दृष्टिकोण अंशतः यथार्थ है। इन दोनों का सुन्दर समन्वय ही यथार्थ नैतिक आदर्श प्रस्तुत कर सकता है। हम इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण की चर्चा यथास्थान करेंगे। यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि नैतिक निर्णय का सम्बन्ध व्यक्ति के सम्पूर्ण चरित्र से होता है और उसका चरित्र, प्रेरक तथा उद्देश्य, साधन तथा लक्ष्य, आन्तरिक संकल्प तथा परिणाम, सद्भावना तथा सुख की अनुभूति दोनों में समान रूप से अभिव्यक्त होता है। यही कारण है कि हम नैतिक निर्णय देते समय, न केवल प्रेरक को और न केवल उद्देश्य को मूल्यांकन का आधार मानते हैं, अपितु इन दोनों को समान महत्त्व देते हैं।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद

हमने ऊपर बताया है कि नैतिक निर्णय का विषय व्यक्ति का सम्पूर्ण चरित्र होता है। जब हम किसी व्यक्ति के कर्म को नैतिक अथवा अनैतिक, शुभ अथवा अशुभ घोषित करते हैं, तो हम एक तटस्थ दृष्टिकोण से यह आंकने की चेष्टा करते हैं कि उस व्यक्ति का प्रेरक तथा उसका उद्देश्य दोनों नैतिक दृष्टि से क्या मूल्य रखते हैं। कुछ विचारकों ने ऐसी धारणा प्रस्तुत की है कि हर व्यक्ति के कर्म का एकमात्र प्रेरक सुख ही है। यदि यह सिद्धान्त यथार्थ मान लिया जाए, तो किसी प्रकार के अन्य नैतिक आदर्श की आवश्यकता नहीं रहती। यदि सुख ही मनुष्य के सब प्रकार के कर्मों का प्रेरक है और यह तथ्य एक अनिवार्य स्वाभाविक सत्य है, तो मनुष्य को किसी अन्य आदर्श की प्राप्ति

१. "Where there is a will, there is always a way."

के लिए कठिन और दुःखद मार्ग पर चलाना न ही केवल अनुचित होगा, अपितु असम्भव भी होगा। अतः आचार-विज्ञान के मुख्य विषय में प्रवेश करने से पूर्व, इस समस्या का निर्णय करना आवश्यक हो जाता है कि क्या वास्तव में हमारी इच्छा का एकमात्र उद्देश्य सुख की प्राप्ति होता है? जो लोग सुख को ही इच्छा का आधार मानते हैं, वे मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism) के समर्थक माने जाते हैं।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की व्याख्या देने से पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि यह सुखवाद नैतिक सुखवाद से किस प्रकार भिन्न है। सुखवाद का अर्थ सुख को लक्ष्य एवं उद्देश्य मानना है। पश्चिमीय दर्शन में, सुखवाद की उत्पत्ति यूनानी विचारकों के समय से मानी गई है। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध विशेषकर एपिक्योरियनवाद (Epicureanism) से माना गया है। एपिक्योरस एक विख्यात यूनानी दार्शनिक था, जिसके अनुयायी 'खाओ, पियो और मौज उड़ाओ'[1] को ही जीवन का उद्देश्य मानते थे। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में सुखवाद के दो भेद माने गए हैं—(i) मनोवैज्ञानिक सुखवाद, (ii) नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism)। दोनों सुखवाद, सुख की प्राप्ति को ही इच्छा अथवा कर्म का लक्ष्य मानते हैं, किन्तु उनमें अन्तर केवल इतना है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार सुख को इच्छा का लक्ष्य मानना एक स्वाभाविक तथ्य है, जबकि नैतिक सुखवाद के अनुसार सभी इच्छाओं तथा कर्मों को केवल सुख की प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करना ही नैतिक दृष्टि से उचित है एवं नैतिक आदर्श है। जहां तक नैतिक सुखवाद का सम्बन्ध है, हम इसकी व्याख्या उचित स्थान पर करेंगे। क्योंकि इस अध्याय का सम्बन्ध आचार की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि से है, इसलिए यहां पर मनोवैज्ञानिक सुखवाद की व्याख्या करना नितान्त आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद के दो मुख्य समर्थक बैन्थम तथा जे० एस० मिल हैं। बैन्थम के अनुसार, "प्रकृति ने मनुष्य को सुख तथा दुःख के साम्राज्य के अधीन रखा है। हमारे सभी विचार इन्हीं (सुख और दुःख) पर आधारित हैं। हम अपने सभी निर्णय तथा जीवन के सभी संकल्प इन्हींसे सम्बन्धित करते हैं। जो व्यक्ति अपने-आपको इसी आधिपत्य से पृथक् करने का बहाना करता है, वह यह नहीं जानता कि वह क्या कह रहा है। उसका एकमात्र ध्येय सुख का अनुसरण करना और दुःख से निवृत्ति प्राप्त करना है। जब वह अधिक से अधिक सुखों का तिरस्कार करके कठिन दुःखों को भी अपनाता है, तब भी वह सुख को ही ध्येय बना रहा होता है। नैतिक व्यक्ति के लिएतथा विधान बनानेवाले के लिए, यह शाश्वत अनिवार्य स्थायी भाव अध्ययन का मुख्य विषय होना चाहिए। उपयोगिता का सिद्धान्त सब कुछ इन दो प्रेरकों के अधीन कर देता है।"[2] इसी प्रकार जे० एस० मिल भी सुख को ही इच्छा का एकमात्र उद्देश्य मानता है। वह

---

१. 'Eat, drink and be merry.'

२. Bentham : Principles of Legislation, Chapter I.

तो इच्छा तथा सुख दोनों को एक मानता है और इन दोनों के पार्थक्य को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार इच्छा तथा सुख, अनिच्छा तथा दुःख एक ही तथ्य के दो नाम हैं। मिल के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए उसकी पुस्तक उपयोगितावाद में से निम्न-लिखित पंक्तियों को उद्धृत करना आवश्यक है :

"अब यह निश्चय करना है कि क्या यह वास्तव में सत्य है; क्या मनुष्य-मात्र इसके अतिरिक्त किसी चीज़ की इच्छा नहीं करते, जोकि उनके लिए सुख हो अथवा जिसमें दुःख की अनुपस्थिति हो। हम निस्सन्देह ऐसे तथ्य और अनुभव के प्रश्न पर पहुंच गए हैं, जोकि अन्य ऐसे प्रश्नों की भांति साक्षी पर निर्भर है। इसका निर्णय केवल अनुभवी आत्मचेतना तथा ऐसे आत्मनिरीक्षण के द्वारा दिया जा सकता है, जिसको कि दूसरे लोगों के निरीक्षण से भी सहायता प्राप्त हो। मेरा यह विश्वास है कि यदि साक्षी के इन स्रोतों का तटस्थ रूप से अध्ययन किया जाए, तो वे प्रमाणित करेंगे कि किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखद अनुभव करना, उसकी अनिच्छा करना तथा उसे दुःखद समझना, ऐसे तथ्य हैं जो पूर्णतया अभिन्न हैं अथवा एक ही तथ्य के दो अंग हैं; संकीर्ण भाषा में वे एक ही तथ्य को अभिव्यक्त करने के दो विभिन्न रूप हैं।"[१]

मिल के उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट है कि उसने इच्छा तथा सुख को अभिन्न एक ही तथ्य मानकर न ही केवल एक मनोवैज्ञानिक भूल की है, अपितु इस तथ्य को अनुभव के द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा करके उसने यथार्थता का उल्लंघन किया है और इस प्रकार वह स्वयं तर्काभास का शिकार हुआ है। एक ओर तो मिल किसी वस्तु की इच्छा करने तथा उसको सुखद मानने को एक ही तथ्य की दो विभिन्न भाषा-सम्बन्धी अभिव्यक्तियां मानता है और दूसरी तरफ वह यह स्वीकार करता है कि इस समस्या का समाधान अनुभवी आत्मचेतना तथा आत्मनिरीक्षण के द्वारा किया जा सकता है। एक सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति भी मिल के इस विरोधाभास की ओर संकेत कर सकता है। यदि सुख और इच्छा एक ही हैं, तो हम अनुभव के द्वारा उनको पृथक् कैसे कर सकते हैं? और यदि वे पृथक् नहीं हैं, तो उनकी विभिन्न अभिव्यक्तियों और विभिन्न नामकरण की क्या आवश्यकता है? इससे यह सिद्ध होता है कि मिल का यह दृष्टिकोण भ्रान्त धारणा पर आधारित है।

इससे पूर्व कि हम मिल के मनोवैज्ञानिक सुखवाद की विस्तृत आलोचना करें, बेन्थम के उपर्युक्त कथनों के प्रति भी दो शब्द कह देना आवश्यक है। जब बेन्थम अपनी उत्कृष्ट भाषा में यह घोषित करता है कि प्रकृति ने मनुष्य को सुख तथा दुःख के साम्राज्य के अधीन रखा है, तो वह एक क्षण के लिए यह भूल जाता है कि उसकी यह घोषणा और उसकी यह अलंकृत भाषा में अभिव्यक्ति इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि मनुष्य में सुख और दुःख की भावना के अतिरिक्त तर्क एवं बुद्धि का तत्त्व भी उपस्थित है और यह

---

१. J. S. Mill : Utilitarianism, Book II, Chapter IV.

तत्त्व ही उसको अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ बनाता है। यदि केवल सुख की भावना-मात्र ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य होती, यदि विषय-भोग आदि ही मनुष्य के जीवन का सार होते, तो आज मनुष्य बौद्धिक विकास के द्वारा सभ्य और सुसंस्कृत न होता, न ही वह विज्ञान के चमत्कारी आविष्कार कर सकता और वह केवल पाशवी स्तर पर अन्य प्राणियों की भांति बुद्धिहीन मूलप्रवृत्त्यात्मक जीवन ही व्यतीत करता। संस्कृत में किसी विद्वान ने कहा है :

"आहारनिद्राभयमैथुनं च,
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानो हि तेषामधिको विशेषो,
ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः ।।"

अर्थात् "पशुओं तथा मनुष्यों में आहार, निद्रा, भय तथा काम आदि की प्रवृत्तियां समान रूप से उपस्थित रहती हैं। मनुष्यों में ज्ञान ही एकमात्र विशेष तत्त्व है (जोकि मनुष्य को श्रेष्ठ बनाता है)। जो मनुष्य ज्ञान से वंचित है, वह पशुओं के समान है।" बैन्थम इस बात को भूल जाता है कि मनुष्य का जीवन केवल रोटी पर ही निर्भर नहीं है (Man does not live by bread alone) और वह अन्य पशुओं की भांति केवल मूल प्रवृत्तियों की तृप्ति के आधार पर ही जीवन व्यतीत नहीं करता। इसके विपरीत, अपने आदर्श की पूर्ति के लिए मनुष्य दुःख और कठिनाइयों से संघर्ष करने में अपने को धन्य समझता है। नैतिक वीर वही माना जाता है जो विषय-भोग आदि का त्याग करके, वासनाओं का तिरस्कार करके और क्षणिक सुख तथा दुःख की अवहेलना करके परम शुभ एवं श्रेयस् की ओर अग्रसर होता है। प्रत्येक उच्च कोटि के धर्म में तथा सुसंस्कृत समाजों में संयम को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वास्तव में मानव-समाज का विकास संयम का विकास है। मानव-मात्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक और वैज्ञानिक, संक्षिप्त में उसकी समस्त सांस्कृतिक उन्नति उसके विवेक और संयम की देन है। यह विवेक और संयम उसे स्वार्थ से ऊपर उठाते हैं और उसकी सद्भावनाओं को प्रेरित करके सहानुभूति और समाज-सेवा में प्रवृत्त करते हैं। मनुष्य की यह परोपकार की प्रवृत्ति निस्सन्देह एक ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जिसके बिना मानव को मानव नहीं कहा जा सकता। एक उर्दू के कवि ने ठीक ही कहा है :

"हमदर्दी के लिए पैदा किया इन्सान को,
वर्ना इताअत के लिए कम न थे फरिश्ते।"

अर्थात् "ईश्वर ने मनुष्य को सहानुभूति दर्शाने के ही लिए उत्पन्न किया है, वरन उसकी (ईश्वर की) आज्ञा का पालन करने के लिए देवता पर्याप्त थे।" मनुष्य परोपकार और सहानुभूति के लिए दुःखों को सहन करता है और सुखों का त्याग करता है। बैन्थम मनुष्य के इस वास्तविक स्वरूप और उसके आन्तरिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक स्वभाव को भूल जाता है। अतः वह मनुष्य के स्वभाव का केवल एकपक्षीय दृष्टिकोण

प्रस्तुत करता है। मानव की सभी इच्छाओं, प्रवृत्तियों तथा क्रियाओं को सुख-दुःख की भावनाओं के अन्तर्गत करना मनुष्य के दैवी स्वरूप को दानवी स्वरूप में परिवर्तित करना है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद न ही केवल मनुष्य के बौद्धिक अंग की अवहेलना करता है, अपितु वह सुख (Pleasure) शब्द के अर्थ करने में भी भूल करता है। अंग्रेज़ी भाषा में प्लैज़ेंट (सुखद) शब्द का अर्थ है, वह वस्तु या कार्य जिसके करने में हमें प्रसन्नता प्राप्त होती है। अतः जब हम यह कहते हैं कि कोई व्यक्ति अमुक क्रिया करने में सुख का अनुभव करता है, तो हमारा कहने का अभिप्राय यह होता है कि वह उस क्रिया के निर्वाचन में अपने संकल्प का प्रयोग करता है और यही संकल्प का प्रयोग करना ही उसकी प्रसन्नता है अर्थात् उसके सुख का कारण है। दूसरे शब्दों में, सुखद शब्द का अर्थ वह तत्त्व है, जोकि हमारे संकल्प पर विशेष आकर्षक शक्ति का प्रभाव डालता है। इस दृष्टिकोण से, सुखद वस्तु को ही इच्छा का नाम दे देना एवं उनको एक मान लेना, इच्छा की व्याख्या नहीं करता। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद की इच्छा तथा सुख को एक ही तथ्य स्वीकार करने की धारणा, भ्रान्त और असंगत धारणा है। इस दोष के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक सुखवाद में निम्नलिखित भ्रान्तियां हैं :

(१) सुखवाद का विरोधाभास,
(२) आवश्यकताओं का तृप्ति से पूर्व होना,
(३) सुखद वस्तुओं तथा सुख की भावना में अन्तर न करना।

सुखवाद का विरोधाभास

पश्चिम के विख्यात आचार-विज्ञान के विद्वान सिजविक (Sidgwick) ने मनोवैज्ञानिक सुखवाद की बहुत सुन्दर आलोचना की है। उसने मनोवैज्ञानिक सुखवादियों की भ्रान्त धारणा में निहित विरोधाभास को अभिव्यक्त करते हुए यह बताया है कि हम क्रिया करते समय किसी लक्ष्य की इच्छा करते हैं, न कि उस लक्ष्य से सम्बद्ध सुखद भावना की। यदि हम अपनी सविकल्पक क्रिया का विश्लेषण करें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि यदि हम सुखद वस्तु की भी इच्छा करते हैं तो उस इच्छा की पूर्ति के लिए सर्वोत्तम साधन यही है कि हम उसकी प्राप्ति की चेष्टा करते समय उसके सुखद तत्त्व को भूल जाएं। दूसरे शब्दों में, सुख की प्राप्ति उस समय तक नहीं हो सकती, जब तक कि मनुष्य सुख की भावना को पूर्णतया विस्मृत करके अपने लक्ष्य की प्राप्ति में निष्काम और निःस्वार्थ रूप से जुट नहीं जाए। सुख की प्राप्ति के लिए सुख को विस्मृत करना नितान्त आवश्यक है, उदाहरणस्वरूप, विद्या की प्राप्ति को सर्वोत्तम इसलिए माना गया है कि वह हर प्रकार के सुखों का स्रोत है। भर्तृहरि ने यथार्थ कहा है, "विद्या भोगकरी यशःसुखकरी।" अर्थात् "विद्या हर प्रकार के भोग और सुख को देनेवाली है।" जब एक विद्या में संलग्न छात्र उच्चतम उपाधि को प्राप्त करता है, तो उसकी वह प्राप्ति निस्सन्देह परम

सुखदायिनी होती है, किन्तु यह प्राप्ति तभी हो सकती है जब विद्यार्थी इससे पूर्व इस इच्छा की पूर्ति के लिए सुख को त्याग दे। विश्राम और सुख की प्रवृत्तिवाला छात्र कदापि सफल विद्यार्थी नहीं बन सकता। इसी दृष्टिकोण को संस्कृत के निम्नलिखित कथन में सुचारु रूप से अभिव्यक्त किया गया है :

"सुखार्थिनः कुतो विद्या,
विद्यार्थिनः कुतः सुखम्।"

अर्थात् "सुख की इच्छा में संलग्न रहनेवाले व्यक्तियों को विद्या प्राप्त नहीं हो सकती और सच्चे विद्यार्थी को सुख एवं विश्राम प्राप्त नहीं हो सकता।"

सिजविक ने सुख की प्राप्ति के इस विरोधाभास को अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। मान लीजिए कि हम किसी ऐसे खेल का उदाहरण देते हैं, जिसमें कि विजय की आकांक्षा रहती है। ऐसे खेल में आरम्भ में कोई भी खिलाड़ी विजय की इच्छा पर अपने ध्यान को केन्द्रित नहीं करता, कम से कम खेल के संघर्ष में प्रवृत्त होने से पूर्व उसके लिए आकांक्षित विजय प्राप्त करने के पश्चात् सुख की कल्पना-मात्र भी करना उस समय सहज नहीं होता। यदि वह खेल में रुचि लेने की अपेक्षा कल्पित विजय के सुख में ध्यान लगाए, तो वह कदापि खेल में विजयी नहीं हो सकता। अतः उस समय उसकी इच्छा संघर्ष के जोश की इच्छा अवश्य होती है। इस इच्छा में वह इतना मग्न होता है कि उसे उस सुख को विस्मृत करना पड़ता है, जोकि उसे अन्त में प्राप्त होनेवाला होता है। इसी प्रकार प्रत्येक कला की कृति में, कलाकार के लिए तटस्थ रूप से अपने कार्य में प्रवृत्त होना नितान्त आवश्यक है। मिल यह भूल जाता है कि वास्तविक आनन्द कर्म में इतना विलीन हो जाने में है कि व्यक्ति अपने-आपमें खो जाए। अंग्रेज़ी के विख्यात लेखक इरविंग ने यथार्थ कहा है, "आनन्द का मूल तत्त्व आत्मविस्मृति है।"[1] यहां पर इन उदाहरणों का आशय यह है कि यह कहना कि इच्छा का लक्ष्य सदैव सुख ही होता है, एक भ्रान्ति है। सुखवाद का विरोधाभास यह प्रमाणित करता है कि इच्छा सुख की अपेक्षा अन्य विषयों की ओर लगाई जा सकती है।

आवश्यकताओं का तृप्ति से पूर्व होना

यदि हम इच्छाओं तथा उनकी तृप्ति का निष्पक्ष विश्लेषण करें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि अनेक सुखद इच्छाएं ऐसी होती हैं, जिनमें हमें उस समय तक सुख की अनुभूति नहीं हो सकती, जब तक कि उन इच्छाओं को पहले अनुभूत नहीं कर लिया गया हो। ऐसी अवस्था में कुछ इच्छाओं की अनुभूति की आवश्यकता पहले होती है और उसके पश्चात् ही उनमें निहित सुख का अनुभव होता है। ऐसी सुखद इच्छाओं में हमारा लक्ष्य सर्वप्रथम कोई वास्तविक कर्म होता है, जिसके बिना उस इच्छा का कोई महत्त्व

---

१. "Self-forgetfulness is the essence of enjoyment."

नहीं होता। उदाहरणस्वरूप, उदारता और परोपकार के सुख को ले लीजिए। जिस व्यक्ति ने दूसरों के कल्याण की इच्छा कभी नहीं की, वह कदापि उदारता और परोपकार में निहित सुख को प्राप्त नहीं कर सकेगा और न ही कभी उस सुख की इच्छा कर सकेगा। हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि सुख का उपभोग तभी होता है जब कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। दूसरे शब्दों में, इच्छा की पूर्ति में जो तृप्ति मिलती है, वह आवश्यकता से पूर्व नहीं होती। यदि आवश्यकता तृप्ति से पूर्व है, तो यह कहना एक भ्रान्ति है कि हमारी सभी इच्छाओं का लक्ष्य सुख ही होता है। हम इसी तथ्य को अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। जिस व्यक्ति ने कभी कॉफी नहीं पी हो, उसे कदापि स्वाद की प्राप्ति के लिए कॉफी पीने की इच्छा नहीं होगी। इसके विपरीत, आरम्भ में यदि कॉफी न पीनेवाले व्यक्ति को एक प्याला कॉफी भेंट किया जाए, तो वह उसे लेने के लिए कदापि तत्पर नहीं होगा। यदि उसके जाने बिना उसके दूध के गिलास में थोड़ी-सी कॉफी मिला दी जाए, तो सम्भवतया दूसरे दिन वह उसी प्रकार के स्वादवाले दूध की इच्छा करेगा। यदि कई दिनों तक, उस व्यक्ति को दूध में इस प्रकार कॉफी मिलाकर दी जाए कि धीरे-धीरे उसकी (कॉफी की) मात्रा अधिक कर दी जाए, तो वह कॉफी न पीनेवाला व्यक्ति कॉफी पीने की इच्छा प्रकट करने लगेगा। अब उसकी यह इच्छा कॉफी पीने से तृप्ति प्राप्त करने के कारण होगी। इसी प्रकार खाने-पीने की सभी आदतें यह प्रमाणित करती हैं कि इच्छा के सम्बन्ध में आवश्यकताएं तृप्ति से पूर्व होती हैं।

सुखद वस्तुओं तथा सुख की भावना में अन्तर न करना

मनोवैज्ञानिक सुखवादियों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे सुख की भावना अर्थात् किसी इच्छा की पूर्ति के पश्चात्, तृप्ति की भावना तथा सुखद विषय अथवा वस्तु में जो भेद होता है, उसकी अवहेलना करते हैं। सुख शब्द के दो अर्थ हैं, एक दृष्टि से सुख का अर्थ वह सुख की भावना एवं अनुभूति है, जोकि प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के पश्चात् हमें अनुभूत होती है। सुख का दूसरा अर्थ, कोई भी ऐसा विषय अथवा वस्तु है, जोकि हमें सुख की भावना प्रदान करती है। पहली दृष्टि से सुख को केवल एकवचन में ही लिया जाता है, अतः इसे अंग्रेजी भाषा में Pleasure अर्थात् सुख कहा जाता है। यहां पर सुख एक प्रकार की अमूर्त तृप्ति की भावना है जोकि वास्तव में किसी न किसी विषय से सम्बद्ध रहती है। सुख का दूसरा अर्थ बहुवचन में लिया जाता है, जिसका आशय वे सभी विषय अथवा वस्तुएं हैं, जिनकी प्राप्ति तृप्ति की सुखद भावना प्रदान करती है। इस दृष्टि से ही हम यह कहते हैं :

"पहला सुख निरोगी काया, दूसरा सुख पास में माया" इत्यादि। धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि इसी दृष्टि से सुख कहे जाते हैं। यदि सुख का अर्थ सुखद विषय मान लिया जाए, तो यह कहना कि हम सदैव सुख की इच्छा करते हैं, इस तथ्य का द्योतक है कि हम

सुखों की इच्छा करते हैं अर्थात् उन विषयों की इच्छा करते हैं, जिनकी प्राप्ति से हमें सुख मिलता है। इस प्रकार का कथन यह प्रमाणित नहीं करता कि हमारी इच्छा का लक्ष्य अमूर्त दृष्टि से सुख ही होता है। यह कथन तो केवल इतना प्रमाणित करता है कि हम उस वस्तु की ही इच्छा करते हैं, जिसकी कि हम इच्छा करते हैं, क्योंकि इच्छित वस्तु, जिसकी प्राप्ति सुखद होती है, वही सुख कहलाती है। यह आवश्यक नहीं कि जिस वस्तु की इच्छा की जाती है वह अपने-आपमें सुखद हो। वह तो केवल इच्छा करनेवाले व्यक्ति के लिए ही सुखद होती है। अपने-आपमें वह सम्भवतया दुःखद भी हो सकती है। एक बिल्ली के लिए चूहे को मारना सुखद है, किन्तु किसी जीव की हिंसा करना अपने-आपमें सुखद नहीं है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की हत्या करना सुखद नहीं कहा जा सकता, किन्तु हत्या करनेवाले के लिए वह इसलिए सुखद है कि उस हत्या से उसे तृप्ति प्राप्त होती है। वास्तव में हम सुख की इच्छा नहीं करते, अपितु विशिष्ट सुख की इच्छा करते हैं। विशिष्ट सुख (Qua-pleasure) का अर्थ कोई भी वस्तु अथवा घटना है, जिसकी पूर्ति से कर्म करनेवाले व्यक्ति को तृप्ति मिलती है और वह तृप्ति उसका व्यक्तिगत सुख होता है।

रेशडाल ने भी इस दृष्टिकोण को पुष्ट किया है कि हम जिस वस्तु की इच्छा करते हैं और जिसे अन्य वस्तु से अधिक सुखद मानते हैं, वह अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं रखती। इसके विपरीत उसका मूल्यांकन एवं उससे प्राप्त होनेवाली सुख की मात्रा उस व्यक्ति पर निर्भर रहती है, जो उस वस्तु की इच्छा करनेवाला होता है। एक शराबी, जोकि शराब के नशे में अपनी पत्नी को पीटने में सुख प्राप्त करता है, नशे के उतर जाने पर अनुभव करता है कि पत्नी को पीटना वास्तव में सुखद नहीं है। शराब पीते समय भी, यदि वह निष्पक्ष रूप से विचार करे, तो वह स्वयं इस बात को स्वीकार करेगा कि पत्नी को पीटने की अपेक्षा उसके लिए शराब का एक प्याला पीना अधिक सुखकारी है, किन्तु जब वह शराबी अपनी आदत के अनुसार पत्नी को पीटना आरम्भ करता है, उस समय उसे एक प्याला शराब प्रस्तुत कीजिए, वह उसे स्वीकार नहीं करेगा और पत्नी को पीटना ही अधिक सुखकारी समझेगा। इस उदाहरण का अभिप्राय यह है कि हमारी इच्छा का लक्ष्य अपने-आपमें दुःखद भी हो सकता है, किन्तु वह इच्छा करनेवाले के लिए इसलिए सुखकारी प्रतीत होता है कि इच्छा करनेवाले व्यक्ति का दृष्टिकोण उसे वांछनीय प्रमाणित करता है।

मनोवैज्ञानिक सुखवादी इस बात को भूल जाते हैं कि इच्छा करने की प्रक्रिया एक जटिल मानसिक परिस्थिति होती है और इच्छा का लक्ष्य भी एक जटिल घटना एवं परिस्थिति होती है, जिसमें ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक तत्त्व सम्मिलित रहते हैं। सुख की भावना तो उस जटिल इच्छित घटना का एक अंश-मात्र है। अतः वह स्वयं पृथक् रूप से सम्पूर्ण लक्ष्य नहीं बन सकती। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वह अमूर्त सुख का अनुभव कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति कहे कि उसे सुख एवं प्रसन्नता हो रही है, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि उसे किसी विषय की प्राप्ति के कारण अथवा

किसी विचार के कारण ही ऐसा सुखद अनुभव हो रहा है। यदि ऐसे व्यक्ति से पूछा जाए कि वह क्यों प्रसन्न है एवं क्यों सुख का अनुभव कर रहा है, तो उसका उत्तर यह नहीं होगा कि वह प्रसन्नता के कारण ही प्रसन्न है अथवा सुख के कारण ही सुख का अनुभव कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति कहे कि वह अकारण ही प्रसन्न होता है और अकारण ही सुख का अनुभव करता रहता है, तो ऐसे व्यक्ति को पागल ही माना जाएगा। सुख, जैसाकि हमने पहले भी कहा है, कोई पृथक् अमूर्त तत्त्व नहीं है जिसका कि एकान्त अनुभव किया जा सके, वह तो स्वयं किसी घटना एवं परिस्थिति से सम्बद्ध तत्त्व है। यदि सुख का पृथक् अस्तित्व नहीं है, तो यह कहना कि हम केवल सुख की ही इच्छा करते हैं, सर्वथा असंगत और असम्भव बात है। जब हम धन, शक्ति, ख्याति, संगीत, स्वास्थ्य आदि की भी इच्छा करते हैं, तो हम इन सबकों पृथक् सुख की भावना मानकर नहीं चलते। इनकी प्राप्ति में सुख निहित अवश्य रहता है और वह सुख, इनकी प्राप्ति से जो जटिल चेतन अनुभव होता है, उसका एक अंश-मात्र होता है। जब हम इन सभी विषयों की इच्छा करते हैं, तो हम यह कह सकते हैं कि हम सुखों की एवं उन वस्तुओं की इच्छा करते हैं, जिनकी उपलब्धि से हमें तृप्ति के कारण सुख अनुभूत होता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि हम कभी भी अपने सामान्य अनुभव में सुख नाम की अमूर्त भावना को इच्छा का उद्देश्य एवं लक्ष्य स्वीकार करते हैं।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद सर्वथा भ्रान्त और असंगत धारणा है, जिसका आधार तर्कात्मक और मनोवैज्ञानिक विरोधाभास है। हमने ऊपर बताया है कि बैन्थम का दृष्टिकोण मनुष्य के स्वभाव की यथार्थ अभिव्यक्ति नहीं है। इसी प्रकार मिल का दृष्टिकोण भी इच्छा के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के विपरीत है। सामान्य व्यक्ति भी इस दृष्टिकोण को अपने अनुभव के विपरीत ही पाता है। अतः आचार-विज्ञान में मनोवैज्ञानिक सुखवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु मनोवैज्ञानिक सुखवाद को असंगत प्रमाणित करने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि नैतिक सुखवाद भी इन्हीं कारणों से अप्रमाणित किया जा सकता है। नैतिक सुखवादी यह कह सकते हैं कि सुख को ही कर्म का लक्ष्य बनाना भले ही मनुष्य के स्वभाव में न हो, किन्तु हमें चाहिए कि हम अधिक से अधिक सुख को ही आचार का चरम लक्ष्य मानें। नैतिक सुखवाद की इस धारणा की व्याख्या तथा आलोचना हमें आगे चलकर करनी होगी।

तीसरा अध्याय

आचार-विज्ञान की आधारभूत मान्यताएं

(The Pre-suppositions of Ethics)

आचार-विज्ञान की परिभाषा देते हुए हमने यह स्वीकार किया था कि पश्चिमीय दृष्टिकोण के अनुसार, आचार-विज्ञान वह आदर्शवादी विज्ञान है, जोकि मानवीय जीवन के चरम लक्ष्य एवं परम श्रेयस् का अध्ययन करता है। प्रत्येक विज्ञान एक सुव्यवस्थित अध्ययन होने के कारण कुछ आधारभूत मान्यताएं लेकर चलता है। इन्हीं मान्यताओं के आधार पर ज्ञान का व्यवस्थित, क्रमबद्ध तथा विधियुक्त रूप बनता है। ये मान्यताएं ऐसी होती हैं कि जिनके बिना विज्ञान-विशेष का विषय पूर्ण रूप से जाना नहीं जा सकता और न ही उस विज्ञान में तर्कसंगत सिद्धान्तों को निर्धारित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, किसी भी विषय का अध्ययन तब तक वैज्ञानिक नहीं हो सकता, जब तक कि उस अध्ययन को आरम्भ करने के लिए कुछ मान्यताओं को स्वीकार न किया जाए। आचार-विज्ञान में तो आधारभूत मान्यताओं का महत्त्व अन्य विज्ञानों की अपेक्षा और भी अधिक है। इसका कारण यह है कि अन्य विज्ञानों में, विशेषकर भौतिक-विज्ञानों में, किसी भी विषय का अध्ययन तटस्थ एवं उदासीन दृष्टिकोण से किया जा सकता है, किन्तु आचार-विज्ञान का सम्बन्ध हमारे जीवन से है और यदि जीवन के संचालन के लिए मनुष्य के सामने कोई मान्यता न हो, तो उसका जीवन नीरस और निष्क्रिय ही हो जाएगा। बिना विश्वास और निष्ठा के किसी भी आदर्श को व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। इसी दृष्टिकोण को लेकर, यूरोप के आधुनिक युग के विख्यात नैतिक दार्शनिक कांट ने आचार-विज्ञान की निम्नलिखित तीन आधारभूत मान्यताओं को स्वीकार किया है :

(१) संकल्प का स्वातन्त्र्य (Freedom of will)

(२) आत्मा का अमरत्व (Immortality of soul)

(३) ईश्वर का अस्तित्व (Existence of God)

इस अध्याय में हम इन तीन मान्यताओं का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे। इससे पूर्व कि इन तीनों तत्त्व-विज्ञान-सम्बन्धी, आचार-विज्ञान की मान्यताओं की व्याख्या की जाए, यह बता देना भी नितान्त आवश्यक है कि एमेनुअल कांट ने किस आधार पर इन तीन मान्यताओं को नैतिकता की आधारशिलाएं एवं अनिवार्य मान्यताएं स्वीकार किया

है। ऐसी पृष्ठभूमि देने के पश्चात् ही हम तीनों मान्यताओं का पृथक्-पृथक् आलोचनात्मक अध्ययन कर सकेंगे। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कांट ही केवल ऐसा दार्शनिक है, जो अपने विचार में तथा आचार में उच्चतम नैतिक (Moral par excellence) माना जा सकता है। यदि हम उसे पश्चिमीय आचार-विज्ञान का जन्मदाता भी कह दें, तो हमारा यह कथन पश्चिमीय दर्शन के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति नहीं होगा।

कांट का दृष्टिकोण

कांट न ही केवल एक नैतिक विचारक था, अपितु वह एक महान दार्शनिक भी था। उसने समस्त ज्ञान तथा विज्ञान को अपने विचार की परिधि में लिया, इसके साथ ही साथ उसका चिन्तन इतना सम्पूर्ण था कि उसने विश्व-सम्बन्धी तथा व्यक्ति-सम्बन्धी सभी समस्याओं को एक अद्वितीय आलोचनात्मक चिन्तन के अधीन किया। नैतिकता की उपर्युक्त तीन मान्यताओं का प्रतिपादन कांट ने अपनी विख्यात कृति 'व्यावहारिक तर्क की आलोचना' (The Critique of the Practical Reason) में किया है। उसका यह मत है कि संकल्प का स्वातन्त्र्य, आत्मा का अमरत्व तथा ईश्वर का अस्तित्व ऐसी वास्तविक मान्यताएं हैं, जो नैतिकता के लिए वैसी ही आवश्यक और अनिवार्य हैं, जिस प्रकार कि भौतिक-विज्ञान के लिए कुछ सैद्धान्तिक तर्क के नियम। भौतिक-विज्ञानों में आधारभूत मान्यताएं कुछ ऐसे सत्य होते हैं, जिनको स्वयंसिद्ध माना जाता है। इन स्वयंसिद्ध (Axiom) नियमों के आधार पर ही स्वभाववादी विज्ञानों का ढांचा खड़ा होता है। हम यह भी कह सकते हैं कि भौतिक तथा व्याख्यात्मक विज्ञान, प्रकृति के सारूप्य तथा विश्वव्यापी कारणता की दो मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र में इन दो मान्यताओं को स्वयंसिद्ध ही माना जाता है और कहा जाता है कि इनकी अभिव्यक्ति अनुभव द्वारा नहीं की जा सकती, किन्तु अनुभव द्वारा इनकी मान्यता को स्वीकार किया जाता है। विज्ञान की इन दो मान्यताओं को पहले तो स्वयंसिद्ध तर्कात्मक सत्य एवं स्वयंसिद्ध नियम माना जाता था, किन्तु अब इन्हें केवल मान्यताएं ही स्वीकार किया जाता है। नैतिकता की आधारभूत मान्यताएं भी स्वयंसिद्ध नियम नहीं मानी जा सकतीं, अपितु वे आधारभूत मान्यताएं स्वीकार की जा सकती हैं। अन्य विज्ञानों में उपस्थित स्वयंसिद्ध नियमों तथा मान्यताओं का नैतिक मान्यताओं से महान अन्तर है।

अन्य विज्ञानों की आधारभूत मान्यताएं, विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक तर्क होती हैं और उनका उद्देश्य केवल तथ्यों की व्याख्या करना ही होता है। उदाहरणस्वरूप, रेखागणित में कुछ सत्यों को मान्यता दी जाती है और उन्हें स्वयंसिद्ध नियम कहा जाता है। इन्हीं स्वयंसिद्ध नियमों एवं सत्यों के आधार पर रेखागणित का ढांचा खड़ा किया जाता है। प्रकृति का सारूप्य (Uniformity of Nature) तथा विश्वव्यापी कारणता का नियम भी भौतिक-विज्ञानों की मान्यताएं हैं। किन्तु ये स्वयंसिद्ध सत्य और स्वयंसिद्ध

मान्यताएं हमारे जीवन तथा व्यवहार की दृष्टि से विशेष सम्बन्ध नहीं रखते अर्थात् इनका प्रभाव हमारे व्यावहारिक जीवन पर नहीं पड़ता। किन्तु नैतिकता के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित आधारभूत मान्यताएं विशेष प्रकार की मान्यताएं होती हैं। उनका सीधा सम्बन्ध जीवन से होता है। कांट के शब्दों में, "मान्यता हमारे व्यावहारिक तर्क की आवश्यकता है, वह कर्तव्य पर किसी संकल्प के विषय को इस प्रकार परम श्रेयस् बनाने की चेष्टा पर आधारित होती है कि उस श्रेयस् को हर प्रकार की शक्तियों के प्रयोग से प्रवृद्ध किया जाए।"[1]

कांट ने ईश्वर, स्वतन्त्रता तथा आत्मा के अमरत्व में विश्वास को व्यावहारिक जीवन के लिए ही अनिवार्य माना है और कहा है कि विज्ञान के क्षेत्र में इस विश्वास की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत विज्ञान में ऐसा विश्वास कई बार अवांछनीय एवं असंगत माना जा सकता है, किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में यह विश्वास नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है। कांट इस दृष्टिकोण पर एक विशेष क्रमबद्ध तर्क के द्वारा पहुंचता है। कांट का यह कहना है कि नैतिक आदेश, एक ऐसा अनिवार्य आदेश है जोकि सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होता है। किसी भी व्यक्ति को नैतिकता की परिधि से एवं कर्तव्य से मुक्त नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, नैतिकता के नियम का आचरण सर्वमान्य और शाश्वत है। जब हम कर्तव्य एवं नैतिक औचित्य (Ought) को मानव-मात्र के लिए अनिवार्य मानते हैं, तो हमारी इस मान्यता से यह स्पष्ट है कि सभी मनुष्यों में संकल्प की स्वतन्त्रता है। यदि संकल्प की स्वतन्त्रता एवं कर्म करने या न करने की क्षमता न हो, तो औचित्य एवं कर्तव्य निरर्थक शब्द ही माने जाएंगे। इसलिए कांट ने कहा है कि "औचित्य में क्षमता निहित है।"[2] अतः संकल्प का स्वातन्त्र्य नैतिक आचरण का आधार है। यदि मनुष्य में नैतिक कर्म को निर्वाचित करने की, अर्थात् उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करने की क्षमता न हो, यदि उसके सभी कर्म भौतिक घटनाओं की भांति यन्त्रवत् घटित होते हों, तो उसको हम नैतिक दृष्टिकोण से उत्तरदायी नहीं मान सकते। संकल्प के स्वातन्त्र्य के बिना नैतिक उत्तरदायित्व सर्वथा निरर्थक है। हम इसी अध्याय में संकल्प के स्वातन्त्र्य का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। यहां पर केवल इतना कह देना आवश्यक है कि ऊपर दिए गए तर्क के आधार पर कांट ने संकल्प के स्वातन्त्र्य को नैतिकता की प्रथम मान्यता स्वीकार किया है।

कांट के अनुसार नैतिक कर्तव्य को किसी अन्य उद्देश्य के लिए नहीं अपनाना चाहिए, क्योंकि नैतिकता एक स्वलक्ष्य गुण है। "धर्म स्वयं अपना पारितोषिक है।"[3] दूसरे शब्दों में, कर्तव्य केवल कर्तव्य के लिए ही है न कि किसी फल की प्राप्ति अथवा इच्छा की पूर्ति के लिए। कांट का यह दृष्टिकोण भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग से मिलता-

१. Kant : The Critique of the Practical Reason, Section VIII.
२. "Ought implies can."
३. "Virtue is its own reward."

जुलता है। आगे चलकर हम उसके इस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। यहां पर कांट के नैतिकता-सम्बन्धी दृष्टिकोण की एक अन्य विशेषता बताना आवश्यक है। कांट कर्तव्य को स्वलक्ष्य मानते हुए भी अपनी कृति 'व्यावहारिक तर्क की आलोचना' में यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके शुभ-अशुभ एवं सत्-असत् कर्म का फल अवश्य मिलता है। वह इस दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए कहता है कि एक ही जीवन में कर्म के शुभ एवं अशुभ फल को सम्भवतया नहीं भोग सकते। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति को अपने नैतिक कर्मों का फल भोगने के लिए शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, नैतिकता हमें आत्मा के अमरत्व को स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है। अतः आत्मा का अमरत्व नैतिकता की दूसरी आधारभूत मान्यता है। कांट व्यावहारिक दृष्टि से ही आत्मा के अमरत्व को स्वीकार करता है। अतः वह न तो आत्मा के अमरत्व का कोई सिद्धान्त प्रतिपादन करता है और न ही अमरत्व की कोई अन्य व्याख्या करता है। हम यह कह सकते हैं कि कांट का सिद्धान्त भगवद्गीता के निष्काम कर्मयोग के सिद्धान्त से मिलता-जुलता भले ही हो, किन्तु तत्त्वात्मक दृष्टिकोण से निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त अधिक संगत और तर्कात्मक है। भगवद्गीता की तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि सुदृढ़ है। उसमें आरम्भ में ही आत्मा को विश्व की अविनाशी, शाश्वत तथा आधारभूत सत्ता माना गया है। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में स्पष्ट रूप से लिखा है :

"अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥"

अर्थात् "तू उस सत् (आत्मा) को अविनाशी ही जान, जिसके आधार पर यह विश्व खड़ा है; उस अव्यय आत्मा का विनाश कोई व्यक्ति नहीं कर सकता।" इसी प्रकार भगवद्गीता में, सर्वप्रथम अर्जुन को यह शिक्षा दी गई है कि आत्मा अविनाशी है, शाश्वत है और शारीरिक मृत्यु से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अनेक बार जन्म लेने पर भी वह परिवर्तित नहीं होती। अतः कर्तव्य करने का उद्देश्य आत्मानुभूति एवं भगवत्प्राप्ति है। इसके अतिरिक्त कर्म का कोई लक्ष्य नहीं है अर्थात् सत् कर्म निष्काम कर्म ही है। कांट की तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि नैतिकता का आधार होने की अपेक्षा उसका तर्कात्मक परिणाम मानी गई है। भगवद्गीता में आत्मा के अमरत्व के लिए ही नैतिकता का आचरण करना आवश्यक माना गया है। इसके विपरीत कांट के अनुसार नैतिक आचरण के लिए ही आत्मा के अमरत्व को स्वीकार किया गया है। अतः कांट आत्मा के अमरत्व की तर्कात्मक चिन्तन द्वारा पुष्टि नहीं कर सका। वह आत्मा के अमरत्व को केवल व्यावहारिक आवश्यकता कहकर रह जाता है। उसका यह सिद्धांत न तो स्वयंसिद्ध है और न ही विशुद्ध तर्क के द्वारा उसको पुष्ट किया जा सकता है। इसी कारण कांट का 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' एक अमूर्त सिद्धांत ही बनकर रह जाता है। हम कांट के नैतिक सिद्धान्त की आलोचना आगे चलकर करेंगे।

कांट नैतिकता की तीसरी आधारभूत मान्यता को भी आत्मा के अमरत्व की भांति एक व्यावहारिक सत्ता (Pragmatic Reality) स्वीकार करता है। उसके अनुसार धर्मपरायण व्यक्ति को, उसके शुभ कर्म के अनुसार सुख की प्राप्ति होती है और अनैतिक व्यक्ति को, उसके अशुभ कर्मों के अनुसार अधर्म का दण्ड मिलता है। नैतिकता के क्षेत्र में, संसार के सभी व्यक्तियों के कर्म के अनुसार सुख-दुःख, पारितोषिक अथवा दण्ड देने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम एक ऐसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयालु और न्यायकारी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करें, जिसकी आज्ञा के अनुसार सबको कर्मों का फल प्राप्त होता है। अतः ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करना इसलिए आवश्यक और अनिवार्य है कि इसके बिना हम सत् कर्म तथा उसके फल की प्राप्ति, असत् कर्म तथा उससे सम्बन्धित दण्ड की समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। कांट ईश्वर के अस्तित्व के प्रति तत्त्वात्मक प्रमाणों तथा विश्व के मूल कारण-सम्बन्धी प्रमाणों को विशुद्ध तर्क के आधार पर अस्वीकार करता है। वह उद्देश्यात्मक प्रमाण (Teleological proof) को भी तर्कसंगत नहीं समझता। किन्तु वह नैतिक आवश्यकता को ईश्वर के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण मानता है। इस दृष्टि से भी कांट की नैतिकता की तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि भगवद्गीता के आचार-दर्शन की तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि की अपेक्षा फीकी दिखाई देती है। यही कारण है कि कांट का नैतिक सिद्धान्त, निष्काम कर्म का आदेश देते हुए भी अमूर्त और अव्यावहारिक सिद्ध होता है। जहां भगवद्गीता में नैतिकता को साधन और ईश्वर-प्राप्ति को लक्ष्य माना गया है, वहां कांट के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता का एक साधन-मात्र है।

कांट का ईश्वर-सम्बन्धी दृष्टिकोण, उसके समय के ईसाई धर्म के दृष्टिकोण से प्रभावित है, इसलिए वह तर्क पर आधारित ईश्वर-सम्बन्धी दृष्टिकोण का विरोध करता है और ईश्वर के विश्वव्यापी एवं विश्व में निहित होने (Immanence) के तथ्य की अवहेलना करता है। केवल व्यावहारिक आवश्यकता के लिए ही वह ईश्वर के व्यक्तिगत स्वरूप को मान्यता देता है और इस प्रकार तत्त्व की अपेक्षा उपयोगिता, वास्तविकता की अपेक्षा व्यवहार और ईश्वर के अन्तर्यामी होने की अपेक्षा उसके व्यक्तिगत स्वरूप पर एवं उसकी कार्य-कुशलता पर अधिक बल देता है। इसके विपरीत, भगवद्गीता में ईश्वर को विश्व का मूल कारण, अव्यक्त, अचिन्त्य, नित्य, शाश्वत, स्थाणु, आधारभूत सत्ता माना गया है और उसकी अनेक विभूतियों को उसकी बाह्यात्मक अभिव्यक्ति स्वीकार किया गया है। मनुष्य में ईश्वर की सत्ता उपस्थित होने के कारण ईश्वर-प्राप्ति सहज मानी गई है, किन्तु इस ईश्वर-प्राप्ति का साधन निष्काम कर्मयोग पर आधारित नैतिक जीवन है। इस दृष्टिकोण में मनुष्य की श्रेष्ठता को आघात नहीं पहुंचाया गया और न ही ईश्वर को मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने का साधन माना गया है।

कांट उपयोगितावाद के प्रभाव में और तर्क पर आवश्यकता से अधिक विश्वास रखने के कारण एक ऐसा दर्शन प्रस्तुत करता है, जिसमें विरोधाभास स्पष्ट रूप से

दिखाई देता है। एक ओर तो हम कांट के दर्शन को मूल्यात्मक और उद्देश्यात्मक कह सकते हैं और दूसरी ओर हम उसपर, ईश्वर को साधन-मात्र बना देने और इस प्रकार उसे स्वलक्ष्य न मानकर उद्देश्यहीन बना देने का आरोप लगा सकते हैं। नैतिकता का संरक्षक और मूल्यों का समर्थक कांट, मनुष्य को तो अपना लक्ष्य स्वयं ही मानता है और कहता है, "मनुष्य को, चाहे वह स्वयं हो चाहे कोई अन्य व्यक्ति हो, कभी भी साधन मत समझो, अपितु उसे स्वयं ही अपना लक्ष्य स्वीकार करो"[1] किन्तु अत्यन्त दुर्भाग्य की बात यह है कि विश्व-मात्र को उद्देश्यों का एक साम्राज्य (Kingdom of ends) माननेवाला और मनुष्य के शुभ संकल्प को उच्चतम मूल्य एवं स्वलक्ष्य धर्म माननेवाला, पश्चिमीय आचारशास्त्र का प्रवर्तक कांट ईश्वर को मनुष्य के सुख की प्राप्ति का साधन-मात्र मानकर उच्चतम सत्ता को गौण स्थान देने की चेष्टा करता है।

कांट की यह भूल, पश्चिमीय दर्शन के इतिहास में तत्त्वात्मक द्वैतवाद (Metaphysical Dualism) को जन्म देती है और इस प्रकार तथ्य तथा मूल्य, भौतिक जगत् तथा वस्तुओं का अपने-आपमें अस्तित्व, विज्ञान तथा धर्म को सदा के लिए पृथक् करने की चेष्टा करती है। पश्चिमीय दर्शन आज तक भी वैज्ञानिक जगत् तथा धार्मिक जगत् को पृथक् मानता है। किन्तु भारतीय दर्शन के अनुसार, ईश्वर को भौतिक जगत् का अव्यक्त कारण मानकर और विश्व को उसकी भौतिक अभिव्यक्ति मानकर, हम तत्त्वात्मक द्वैतवाद का अन्त कर सकते हैं। जहां तक शुभ-अशुभ कर्मों के फल का सम्बन्ध है, भारतीय दर्शन का कर्म-सिद्धान्त इस समस्या को सुलझाने के लिए पर्याप्त है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान, भारतीय दर्शन के अद्वैतवादी दृष्टिकोण का समर्थन करता है। यदि ईश्वर विश्व की आधारभूत सत्ता है और यदि विश्व उसकी भौतिक अभिव्यक्ति है, तो वह ईश्वर एक सीमित व्यक्ति न होकर निस्संदेह अव्यक्त, शक्तिमान, सर्वव्यापी, सत्, चित् और आनन्दस्वरूप परमात्मा एवं ब्रह्म ही हो सकता है। ऐसा ईश्वर ही तथ्य और मूल्य, विज्ञान और धर्म, भौतिक जगत् और आध्यात्मिक सत्ता—दोनों के समन्वय का स्रोत बन सकता है। ईश्वर की ऐसी धारणा ही वैज्ञानिक विश्लेषण और तर्कात्मक आलोचना की कसौटी पर यथार्थ प्रमाणित हो सकती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि नैतिक जीवन के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है। वह ईश्वर कांट के दृष्टिकोण से न्यायकारी, सगुण, व्यक्तिगत, सर्वज्ञ ईश्वर माना गया है। सम्भवतया कांट ने ईश्वर को अन्तर्यामी इसलिए नहीं माना कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर का रूप मान लिया जाए और व्यक्ति के कर्म को ईश्वर से प्रेरित स्वीकार किया जाए, तो संकल्प की स्वतन्त्रता की मान्यता निरर्थक सिद्ध हो जाती है। किन्तु वास्तव में ईश्वर के अस्तित्व की धारणा और संकल्प की स्वतन्त्रता में परस्पर विरोध नहीं है। यह कथन तभी सिद्ध हो सकता है, जब ईश्वर के विश्वातीत एवं निर्गुण

१. "Never treat man either in thine own person or in that of others as a means, but always as an end in himself."

तथा उसके विश्वव्यापी एवं सगुण स्वरूप को स्वीकार किया जाए। ईश्वर की ऐसी धारणा हमें शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में उपलब्ध होती है। कांट ईश्वर को केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से स्वीकार करता है और इसलिए उसे सगुण और व्यक्तिगत मानता है। शंकराचार्य के अनुसार निर्गुण ब्रह्म, विश्व की वह आधारभूत सत्ता है, जिसको हम सत्यं, ज्ञानं, अनन्तम् कहते हैं। इस रूप में, ईश्वर विश्व के सभी द्वंद्वों से, सत्-असत्, शुभ-अशुभ, दिक् और काल से परे एवं विश्वातीत है। उसके इसी रूप का अंश प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में उपस्थित है। उस सत्ता का सगुण स्वरूप वह ईश्वर है, जो विश्व का स्रष्टा, नियन्ता और संहारकर्ता माना गया है। यही सगुण ईश्वर कांट ने स्वीकार किया है। यदि वह ईश्वर के निर्गुणस्वरूप ब्रह्म को भी स्वीकार कर लेता, तो मनुष्य के संकल्प की स्वतन्त्रता, जोकि आत्मा को कर्म-बन्धन में डालकर जीव के आवागमन का कारण बनती है, ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध प्रमाणित न होती। किन्तु कांट ईसाई धर्म की ईश्वर-सम्बन्धी वैयक्तिक धारणा से प्रभावित होने के कारण, अन्तर्यामी ब्रह्म की धारणा नहीं बना सका। अतः उसने उद्देश्यात्मक विश्व में ईश्वर को एक व्यावहारिक सत्ता ही स्वीकार किया है।

ईश्वर की वैयक्तिक धारणा का मनुष्य के संकल्प की स्वतंत्रता से जो संघर्ष हुआ, मध्ययुग के ईसाई पादरियों ने उसका निवारण करने की चेष्टा की। उन्होंने ऐसा करने के लिए अपनी धार्मिक पुस्तक बाइबल की तर्कात्मक व्याख्या की। यदि ईश्वर पूर्णतया शुभ और नैतिक विश्व-नियन्ता है और यदि 'मनुष्य ईश्वर की प्रतिमा है'[१] तो शुभ तथा अशुभ कर्म से उत्पन्न दुःख की उत्पत्ति कैसे हुई ? इस समस्या के समाधान के लिए मध्यकालीन धर्मशास्त्रियों ने दो सुझाव प्रस्तुत किए। पहले सुझाव के अनुसार, यह स्वीकार किया गया कि जब ईश्वर ने मनुष्य की रचना की है, तो वह निस्संदेह आदि में मूलतया शुभ ही है अर्थात् उसमें अशुभ की प्रवृत्ति नहीं है। दूसरे सुझाव के अनुसार, उसमें वर्तमान अवस्था में उसी प्रकार अशुभ की प्रवृत्ति है, जिस प्रकार कि अग्नि की लपटों में ऊपर की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। इस अवस्था में यह प्रश्न होता है कि मनुष्य में अशुभ भावना उत्पन्न कैसे हुई ? इसका उत्तर देने के लिए धार्मिक चिन्तकों के पास केवल एक ही उपाय था और वह यह था कि मनुष्य को ही अशुभ का उत्तरदायी माना जाए। जब ईश्वर ने मनुष्य में प्राण फूंके और मनुष्य एक जीवित आत्मा बना, उस समय वह शुद्ध और पवित्र था, पाप से अछूता था और अशुभ प्रवृत्तियों से अनभिज्ञ था। पहला मानव आदम अपने संकल्प की स्वतन्त्रता के कारण, ईश्वर के आदेश की अवहेलना करके, नरक में गिरा और उसके साथ समस्त मानव-जाति का पतन हुआ। इस दृष्टिकोण के अनुसार, अशुभ का अर्थ अशुभ पाप है और पाप का अर्थ ईश्वर की इच्छा का उल्लंघन करना एवं ईश्वर के आदेशों का पालन न करना है। क्योंकि मनुष्य के संकल्प ने ईश्वर की इच्छा का उल्लंघन किया, इसलिए विश्व में अशुभ का आरम्भ हुआ। मनुष्य के संकल्प की स्वतन्त्रता ही अशुभ का प्रवेश-द्वार है।

---

१. 'Man is the image of God.'

सम्भवतया कांट ईसाई धर्म के इस सिद्धांत से प्रभावित था। उसने स्पष्ट रूप से तो इस धार्मिक अशुभ-सम्बन्धी व्याख्या को स्वीकार नहीं किया, किन्तु पूर्णतया तर्कवादी होने के कारण और तर्क को ही परम सत्य की खोज का एकमात्र साधन मानने के कारण कांट ने ईश्वर को मनुष्य से अधिक शक्तिशाली, नैतिक तथा न्यायकारी तो माना है, किंतु अशुभ का उत्तरदायित्व पूर्णतया मनुष्य को देते हुए उसने संकल्प की स्वतन्त्रता को प्रथम स्थान दिया है और शुभ संकल्प को परम सत्य माना है। शुभ संकल्प को निरपेक्ष सत्ता एवं स्वलक्ष्य मूल्य घोषित करने के पश्चात् उससे उत्पन्न शुभ कर्म तथा उसकी अवहेलना से उत्पन्न अशुभ कर्म का फल प्रदान करने के लिए उसने ईश्वर को साधन एवं व्यावहारिक सत्ता के रूप में स्वीकार किया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कांट की आवश्यकता से अधिक व्यावहारिकवादिता, उस तत्त्वात्मक तथा ज्ञानात्मक द्वैतवाद (Metaphysical and Epistemological Dualism) का कारण बनी है, जो आज तक पश्चिमीय दर्शन पर छाई हुई है और जिससे कारण धर्म तथा तत्त्वशास्त्र, विज्ञान तथा दर्शन, तर्क तथा धार्मिक निष्ठा का पार्थक्य किया जाता है। अब हम नैतिक दृष्टिकोण से, नैतिकता की प्रथम एवं सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मान्यता संकल्प से स्वातन्त्र्य का व्याख्यापूर्वक अध्ययन करेंगे। ऐसा अध्ययन आचारशास्त्र के समझने के लिए नितान्त आवश्यक है।

संकल्प के स्वातन्त्र्य की समस्या यूनानी विचारकों के समय में नहीं थी, क्योंकि यूनानी दार्शनिक यह स्वीकार करके चलते थे कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। मध्य-काल में, अपितु इससे भी पूर्व, ईसाई धर्म की मान्यताओं के कारण यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या मनुष्य संकल्प करने में स्वतन्त्र है या नहीं ? जैसाकि हमने उपर्युक्त विवेचन में व्याख्या की है, इस समस्या का मूल कारण ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानना था। यदि मनुष्य के संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार न किया जाए, तो धार्मिक चेतना का कोई अर्थ नहीं रहता। ईसाई धर्म के अनुसार भक्तों को इस प्रकार कहना पड़ता है, "हमारे संकल्प हमारे हैं, हम उन्हें तुम्हारा संकल्प बनाना चाहते हैं।" ईसाई धर्म के अनुसार प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह ईश्वर की इच्छा को विश्व में प्रसारित करने की चेष्टा करे। प्रथम दृष्टि में सम्भवतया हम यह कह सकते हैं कि संकल्प की स्वतन्त्रता तथा ईश्वर की इच्छा को परम सत्य मानना दो विरोधी बातें हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा विचार करना एक भूल है। भक्त अपने संकल्प को ईश्वर के संकल्प के अधीन इसलिए करना चाहता है कि उसके संकल्प की स्वतन्त्रता उससे कई बार अवांछनीय कर्म कराती है। इससे यह तो स्पष्ट होता है कि मनुष्य शुभ-अशुभ को निर्वाचित करने में स्वतन्त्र है। किन्तु उसकी यह स्वतन्त्रता उसके मोक्ष-मार्ग में बाधक सिद्ध होती है। इसलिए भक्त ईश्वर की इच्छा के सामने आत्मसमर्पण करता है। आत्मसमर्पण का अर्थ संकल्प के स्वा-तन्त्र्य को अस्वीकार करना तो नहीं, अपितु उसे बाधक समझना अवश्य है।

आचारशास्त्र के क्षेत्र में संकल्प के स्वातन्त्र्य की समस्या प्रधान समस्या है, क्योंकि इसका सम्बन्ध नैतिक उत्तरदायित्व से है। धार्मिक क्षेत्र में तो आत्मसमर्पण के

द्वारा व्यक्ति नैतिक उत्तरदायित्व से भी निवृत्त हो सकता है और जीवन-मुक्त व्यक्ति सम्भवतया सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ से ऊपर भी उठ सकता है। किन्तु आचार के क्षेत्र में ऐसा सम्भव नहीं है। जब तक कि मनुष्य को कर्म के निर्वाचित करने की स्वतन्त्रता न हो, तब तक वह सत्-असत् और शुभ-अशुभ के प्रति उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में हमने कांट के दृष्टिकोण का प्रकरण ऊपर दिया है। उसके अनुसार कर्म के औचित्य में संकल्प की स्वतन्त्रता निहित है। जब तक मनुष्य में संकल्प की स्वतन्त्रता है, तब तक ही हम उसे कर्तव्यपरायण होने पर बाध्य कर सकते हैं। इसलिए कांट ने संकल्प के स्वातन्त्र्य को आचारशास्त्र की आधारभूत मान्यता स्वीकार किया है। किन्तु संकल्प के स्वातन्त्र्य को केवल स्वयंसिद्ध मान्यता स्वीकार करना और इस समस्या की तर्कात्मक आलोचना न करना उचित नहीं है। कांट ने तो व्यावहारिक तर्क का आश्रय लेते हुए इस समस्या पर तर्क-वितर्क नहीं किया है। उसने सम्भवतया इस मान्यता को वैज्ञानिक तथ्यों और समस्याओं से पृथक् माना है। किन्तु इसके गम्भीर अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यह समस्या एक मुख्य तत्त्वात्मक (Metaphysical) तथा वैज्ञानिक समस्या है, क्योंकि संकल्प की स्वतन्त्रता के विषय में तत्त्व-दर्शन के विद्वानों तथा वैज्ञानिकों में मतभेद है। इस समस्या के बारे में हम दार्शनिकों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) नियतिवादी (Determinists)
(२) स्वातन्त्र्यवादी (Indeterminists or Libertarians)
(३) आत्मनियतिवादी ((Self-determinists)

नियतिवाद के अनुसार संकल्प की स्वतन्त्रता नाम की कोई वस्तु नहीं है। मनुष्य के सभी कर्म यन्त्रवत् नियत होते हैं। यह दृष्टिकोण विशेषकर प्रकृतिवादी दार्शनिकों (Naturalistic philosophers) के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। प्रकृतिवाद के अनुसार, मनुष्य एक आत्मचेतन प्राणी अवश्य है, किन्तु उसके सभी कर्म, उसकी सभी इच्छाएं, उसके सभी संकल्प भौतिक परिस्थितियों तथा शारीरिक और मानसिक उपाधियों द्वारा ठीक उसी प्रकार यन्त्रवत् नियत होते हैं, जिस प्रकार एक पत्थर को पर्वत से नीचे फेंके जाने से उसकी गति नियत होती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य का संकल्प द्वारा निर्वाचित कर्म भी पत्थर की गति की भांति नियत है। इन दोनों में अन्तर केवल इतना है कि पत्थर पर्वत से गिरते समय आत्मचेतन नहीं होता, जबकि मनुष्य संकल्प करते समय आत्मचेतन होता है। यदि पत्थर भी आत्मचेतन होता, वह भी अपने-आपको पर्वत से गिरने में स्वतन्त्र ही मानता। इस प्रकार का नियतिवाद भाग्यवाद (Fatalism) तो नहीं है, किन्तु वैज्ञानिक यंत्रवाद है। सम्भवतया यह धारणा भौतिकशास्त्र के यंत्रवाद पर आधारित है। भौतिकशास्त्र में प्रत्येक द्रव्य के परम गुणों (Ultimate property) का समूह एक नियत क्रम में होता है और उसके यह परम गुण अपरिवर्तनशील होते हैं, अतः भौतिक द्रव्य का व्यवहार यंत्रवत् नियत होता है। भौतिक परमाणु अपने व्यवहार में इसलिए समरूप होते

हैं कि वे यंत्रवत् नियत हैं, अतः भौतिक जगत् की सभी घटनाएं निश्चित होती हैं। यदि हम भौतिक परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान रखते हों, तो हम इन घटनाओं के बारे में यथार्थ भविष्यवाणी कर सकते हैं। भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में इसी धारणा के आधार पर अद्वितीय प्रगति हुई है और परिस्थितियों का यथार्थ अनुमान लगाकर, नक्षत्रों की गति तथा उनके व्यवहार के प्रति भी यथार्थ भविष्यवाणी की जाती है। यदि हम भौतिकशास्त्र के क्षेत्र में नियतिवाद के द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम नियतिवाद का आश्रय लेकर मनोविज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य के व्यवहार के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान प्राप्त न कर सकें।

इसी नियतिवाद का आश्रय लेकर मनोवैज्ञानिक व्यवहारवाद के प्रवर्तक डा० जे० बी० वाटसन ने मनोविज्ञान को केवल शारीरिक व्यवहार का विज्ञान घोषित करके व्यक्तित्व के निर्माण के लिए केवल बाहरी परिस्थितियों को ही एकमात्र आधार माना है। उसके परिस्थितिवाद के अनुसार, यदि हम व्यक्ति की सभी परिस्थितियों का नियंत्रण करें, यदि हम उसे उचित रासायनिक भोजन दें और उचित सामाजिक वातावरण उत्पन्न करके उसका विशेष रूप से पालन-पोषण करें, तो हम उसके व्यक्तित्व का विकास अपनी रुचि के अनुसार कर सकेंगे। वाटसन ने घोषणा की थी, "मुझे कोई शिशु दीजिए और मैं उसकी परिस्थितियों का नियंत्रण करके, चाहूं तो उसे एक सन्त बना दूं अथवा चोर, उचक्का व डाकू बना दूं।" जब व्यवहारवादी मनोविज्ञान की यह धारणा मनोवैज्ञानिक जगत् में प्रस्तुत हुई, तो यह आशा की जाती थी कि निकट भविष्य में रासायनिक भोजन के द्वारा व्यक्तित्व के विकास में अद्वितीय प्रगति हो सकेगी और हम न्यूटन जैसे विलक्षण प्रतिभावाले व्यक्ति से लेकर उच्चतम विलक्षण प्रतिभावाले व्यक्ति निर्मित कर सकेंगे। किन्तु दुर्भाग्यवश व्यवहारवाद अपनी इस घोषणा में आज तक सफल नहीं हो सका। परिस्थिति और परम्परा के अध्ययन में इतनी उन्नति अवश्य हुई है कि परिस्थितियों का नियन्त्रण करके व्यक्ति की कुछ प्रवृत्तियों में परिवर्तन लाया जा सकता है। बनमानुस जैसे उच्चश्रेणी के पशु को मानवीय वातावरण में रखकर, उसे चमच द्वारा खाना, दो टांगों पर चलना आदि सिखाया जा सकता है। परिस्थितिवाद की इन सफलताओं के होते हुए भी किसी ऐसी ओषधि का आविष्कार नहीं किया गया कि जिसके सेवन करने से मनुष्य के मन में प्रेम, घृणा जैसे स्थायी भाव उत्पन्न हो सकें अथवा उसकी संकल्प-शक्ति को विशेष मार्ग पर चलाया जा सके। मनुष्य की सविकल्पक क्रियाओं, उसके स्थायी भावों तथा उसके जटिल विचारों के निर्माण में जो तत्त्व महत्त्व रखते हैं, वे मन की गहराइयों में स्थित हैं और उनका नियन्त्रण केवल बाहरी स्थितियों पर निर्भर नहीं है।

संकल्प आदि में महत्त्व रखनेवाले आन्तरिक, मानसिक तत्त्वों का भी विश्लेषण किया गया है और अचेतन मन तथा उसके प्रभाव का वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के आधार पर, मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) के सिद्धांत के अनुयायियों ने मानसिक नियतिवाद (Psychic-determinism) का प्रतिपादन किया है। इस

सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य की सभी इच्छाएं, उसके सभी सविकल्पक तथा निर्विकल्पक कर्म, उसकी स्वच्छन्द क्रियाएं, उसकी अनायास भूलें, उसका असामान्य व्यवहार तथा उसके स्वप्न, उसके अचेतन मन में स्थित अतृप्त इच्छाओं द्वारा नियत होते हैं। जब हम किसी भूल अथवा किसी क्रिया का कारण चेतना में नहीं ढूंढ़ सकते, निस्सन्देह उसका कारण हमें अचेतन मन में मिल सकता है। फ्रायड तथा उसके अनुयायियों ने विशेषकर इस मानसिक नियतिवाद पर बल दिया है। जब एक नवविवाहित वधू अपनी विवाह की अंगूठी खो बैठती है, तो उसकी यह भूल इस तथ्य को प्रकट करती है कि उसके अचेतन मन में विवाह-बन्धन से मुक्त होने की इच्छा है। जब हम अपने निकटवर्ती मित्र अथवा सम्बन्धी के नाम को असामान्य रूप से भूल जाते हैं, तो हमारी यह भूल किसी न किसी अचेतन प्रेरक के कारण होती है।

मनोविश्लेषण के क्षेत्र में अनेक अनुसन्धानों के पश्चात् यह निश्चित किया गया है कि चेतन मन में इच्छाओं के संघर्ष में जब एक इच्छा विजयी होती है और दूसरी पराजित होती है, तो पराजित इच्छा अचेतन मन में सदा के लिए उपस्थित रहती है और निरन्तर किसी न किसी रूप में, चेतना में प्रविष्ट होने की चेष्टा करती रहती है। ऐसी असंख्य दमित इच्छाएं अचेतन मन का निर्माण करती रहती हैं। यह अचेतन मन अतिगहन होता है। चेतन मन तो केवल समुद्र के ऊपरी भाग की भांति, समुद्र की गहराई का अंश-मात्र है, जबकि अचेतन मन समुद्र की गहराई की भांति व्यक्तित्व का मुख्य भाग है। इसी अचेतन मन में वह निहित शक्ति रहती है, जोकि हमारे व्यवहार पर निरन्तर प्रभाव डालती रहती है। सविकल्पक क्रिया में, संकल्प करते समय हम जब सहसा एक कर्म को दूसरे के समान होते हुए भी निर्वाचित करते हैं, उसका कारण चेतन मन में तो उपस्थित नहीं होता, किन्तु अचेतन मन में अवश्य मिल सकता है। उस कारण को ढूंढ़ने के लिए मनोविश्लेषण की विधि को अपनाना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति की भूलें, उसके संकल्प तथा उसका असामान्य व्यवहार तभी समझा जा सकता है, जब उसके अचेतन मन का विश्लेषण किया जाए, और जब उसके अतीत की सभी घटनाओं का अध्ययन करके उसकी सभी दमित इच्छाओं को निश्चित कर लिया जाए। यदि अचेतन मन का इस प्रकार वैज्ञानिक अध्ययन किया जाए, तो कोई भी ऐसी मानसिक क्रिया नहीं होगी, जिसकी व्याख्या कार्य-कारण द्वारा न की जा सके। अतः संकल्प में जो हमें स्वतन्त्रता दिखाई देती है, वह वास्तव में स्वतन्त्रता नहीं है; क्योंकि वह अचेतन कारणों एवं प्रेरकों द्वारा ठीक उसी प्रकार नियत है, जिस प्रकार की भौतिक घटनाएं भौतिक कारणों से नियत होती हैं। यह मानसिक नियतिवाद, संकल्प की स्वतन्त्रता को अप्रमाणित करने की चेष्टा करता है, किन्तु मनोविश्लेषण के क्षेत्र में अभी तक इतनी प्रगति नहीं हुई कि मनुष्य के समस्त व्यवहार के प्रति भविष्यवाणी की जा सके और उसकी सभी मानसिक क्रियाओं को यंत्रवत् स्वीकार किया जा सके। प्रथम तो प्रत्येक व्यक्ति के अचेतन मन का सम्पूर्ण विश्लेषण नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा संभव भी हो, तब भी यह नहीं बताया जा

सकता कि अमुक व्यक्ति नवीन परिस्थिति में किस प्रकार व्यवहार करेगा। मनोविश्लेषण के विद्वान स्वयं इस बात में सहमत नहीं हैं कि असामान्य व्यवहार का कारण कौन-सी विशेष मूल प्रवृत्ति के दमन से उत्पन्न होता है। इस अवस्था में मनोविश्लेषण को एक विश्वसनीय सिद्धान्त मानना और संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार न करना उचित नहीं है।

नियतिवाद मनुष्य के व्यवहार को जड़-जगत् की घटनाओं के समकक्ष स्वीकार करता है। किन्तु यह धारणा निस्सन्देह एक भ्रांत धारणा है। मनुष्य के व्यक्तित्व को यंत्रवत् निर्मित मानना तथ्यों की अवहेलना करना है। एक पत्थर की अपेक्षा वनस्पति अधिक स्वतन्त्र है, वनस्पति की अपेक्षा जीव-जन्तु का व्यवहार अधिक स्वतन्त्र है और जीव-जन्तुओं की अपेक्षा मनुष्य का व्यवहार सविकल्पक होने के कारण अधिक स्वतन्त्र होता है। इस अवस्था में मनुष्य के संकल्प को पूर्णतया नियत मानना असंगत है। इसके अतिरिक्त हमारा सामान्य अनुभव हमें यह बताता है कि विशेषकर सविकल्पक कर्म के निर्वाचन में मनुष्य यंत्रवत् क्रिया नहीं करता। संवेग अथवा मूल प्रवृत्ति के प्रभाव में मनुष्य परिस्थितियों के वश में माना जा सकता है। जब कोई व्यक्ति क्रोध के वश में अथवा लड़ने की मूल प्रवृति से प्रेरित होकर कर्म करता है, उसका यह कर्म नियत माना जा सकता है। किन्तु जब हम चिन्तन और संकल्प के पश्चात्, इतिहास तथा दर्शनशास्त्र के विषयों की तुलना करके, उनमें से एक को निर्वाचित करते हैं, तो हमारा यह कर्म यंत्रवत् नियत नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जब हम दो रंगों के बीच निर्वाचन करते हुए, तुलना के पश्चात् एक को चुन लेते हैं, तो भी हमारा यह निर्वाचन स्वतन्त्र ही होता है। प्रकृतिवाद भले ही ऐसा माने कि ऐसे कर्मों में संकल्प करने से पहले हमारे परमाणु हमारे कर्म को पहले ही निश्चित कर लेते हैं, किन्तु हमारा अनुभव इस बात को स्वीकार नहीं करता। जब हम सविकल्पक क्रिया के पश्चात्, दो विकल्पों में से एक को निर्वाचित कर लेते हैं, तो हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हम उस विकल्प (Alternative) को भी चुन सकते थे, जिसको हमने अस्वीकार किया है। हमारी यह भावना संकल्प की स्वतन्त्रता को प्रमाणित करती है। जब प्रकृतिवादी यह कहते हैं कि मनुष्य के संकल्प में तथा पत्थर के पर्वत से गिरने में केवल इतना ही अन्तर है कि मनुष्य की क्रिया आत्मचेतन है और पत्थर की गति अचेतन है, तब भी वे मनुष्य की स्वतन्त्रता की अवहेलना करते हैं। आत्म-चेतना एक ऐसा महत्त्वपूर्ण गुण है, जिसकी अवहेलना कदापि नहीं की जा सकती। न ही केवल आत्मचेतना, अपितु चेतना भी जीव-जगत् में विशेष महत्त्व रखती है। जो लोग मानवीय चेतना को जड़-जगत् की घटनाओं के समान मानते हैं, वे भी वास्तव में चेतन और अचेतन अवस्था के अन्तर को स्वीकार करते हैं। यदि चेतन और अचेतन अवस्था में अन्तर न हो तो किसी व्यक्ति के पेट की शल्य-चिकित्सा (Surgical operation) करते समय, उसको औषधियों द्वारा मूर्छित क्यों किया जाए! क्या प्रकृतिवादी नियतिवाद को प्रमाणित करने के लिए चेतनावस्था में ही शल्य-चिकित्सा कराकर, चेतन और

अचेतन अवस्था को समकक्ष प्रमाणित कर सकते हैं ?

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि नियतिवाद नैतिक दृष्टिकोण से और तथ्यात्मक दृष्टिकोण से शत-प्रतिशत स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि इस नियतिवाद को प्राकृतिक कारणवाद पर भी आधारित किया जाए, तब भी, जहां तक मानवीय व्यवहार का सम्बन्ध है, इस सिद्धान्त को पूर्णतया संगत नहीं माना जा सकता। कुछ सीमा तक यह स्वीकार किया जा सकता है कि सविकल्पक कर्म में व्यक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होता, क्योंकि कर्म का निर्वाचन बिना कारण नहीं हो सकता, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह कर्म यन्त्रवत् नियत होता है। इसके विपरीत, भौतिकशास्त्र में जो नवीनतम अनुसन्धान किया गया है, उसके अनुसार परमाणुओं के व्यवहार में भी नियतिवाद पूर्णतया लागू नहीं किया जा सकता। अतः नियतिवाद को आचार-विज्ञान में प्रथम स्थान नहीं दिया जा सकता।

स्वतन्त्रतावाद के अनुसार, मनुष्य का संकल्प पूर्णतया स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रतावाद एक प्रकार से मनुष्य के संकल्प को सभी कारणों से मुक्त मानता है। उसका कहना है कि कर्म करते समय संकल्प के सामने वास्तविक विकल्प होते हैं। उन विकल्पों में से कोई भी ऐसी स्वतन्त्रता से चुना जा सकता है कि उसके निर्वाचन से व्यक्ति की मानसिक दशा पर कोई भी विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तव में, हम यह जानते हैं कि संकल्प करनेवाले व्यक्ति का चरित्र, उसका अतीत का इतिहास और वर्तमान उद्देश्य तथा प्रेरणाएं संकल्प पर प्रभाव डालती हैं और कर्म के निर्वाचन के समय उसके विकल्प की सम्भावनाओं को सीमित करती हैं। स्वतन्त्रतावादी इस प्रभाव को स्वीकार तो करता है, किन्तु वह इस बात पर बल देता है कि वास्तविक सम्भावनाएं हर समय उपलब्ध होती हैं और दो विकल्पों में जिस विकल्प को अस्वीकार किया जाता है, उसके निर्वाचित होने की सम्भावना भी उतनी ही प्रबल होती है, जितनी कि स्वीकार किए गए विकल्प की। नियतिवाद के अनुसार तो सविकल्पक निर्वाचन निश्चित रूप से नियत होता है और दोनों विकल्प समान रूप से शक्तिशाली नहीं होते; अतः हमारा निर्वाचन कदापि भिन्न नहीं हो सकता। स्वतन्त्रतावाद के अनुसार, निर्वाचन पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो सकता है। दूसरे शब्दों में, स्वतन्त्रतावाद संकल्प की वास्तविक स्वच्छन्दता को स्वतन्त्रता मानता है और सम्भावनाओं के सीमित क्षेत्र में भी संकल्प के निर्वाचन को हर प्रकार की नियति से मुक्त मानता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सविकल्पक निर्वाचन के समय संकल्प करनेवाला व्यक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होता। संकल्प की स्वतंत्रता को मूलप्रवृत्त्यात्मक व्यवहार (Instinctive behaviour) की भांति पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। इस प्रकार की स्वतन्त्रता सर्वथा अनियमित और कारण से मुक्त स्वच्छन्दता ही होगी। ऐसी स्वच्छन्दता अथवा अनियमितता केवल पशुओं में अथवा पागल व्यक्तियों में ही हो सकती है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति अपने तर्क से निर्दिष्ट होता है और संकल्प करते समय स्वच्छन्द नहीं होता। संकल्प की विशेषता भी यही है कि कर्म का निर्वाचन

करते समय व्यक्ति अपनी प्रेरणाओं तथा मूल प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करता है और तर्क द्वारा विकल्पों की तुलना करता है। अतः संकल्प को सब प्रकार के प्रभावों से सर्वथा मुक्त मानना मनुष्य को पाशवीय स्वच्छन्दता के स्तर पर ले जाना है। इस दृष्टि से स्वतन्त्रतावाद भी तथ्यों के विपरीत है और नैतिकता के लिए वांछनीय नहीं है। नैतिकता प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी का कर्म न तो सविकल्पक होता है और न उसका किसी आदर्श के प्रकरण से मूल्यांकन किया जा सकता है। मनुष्य के कर्म को सत्-असत् और शुभ-अशुभ इसलिए कहा जाता है कि उसका व्यवहार संकल्प द्वारा निर्वाचित होता है और उसका नैतिक आदर्श के आधार पर मूल्यांकन किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में उसके व्यवहार में एक विशेष क्रम होता है जोकि पशुओं के व्यवहार में नहीं होता। अतः मनुष्य का सविकल्पक व्यवहार उसके चरित्र द्वारा व्यवस्थित होता है। क्योंकि स्वतन्त्रतावाद मानवीय व्यवहार को पूर्णतया स्वच्छन्द मानता है, इसलिए इस सिद्धान्त को हम आचार-विज्ञान में स्वीकार नहीं कर सकते।

जहां तक विज्ञान का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते हैं कि स्वतन्त्रतावाद कारणवाद के विरुद्ध होने के कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता। विज्ञान यह स्वीकार करके चलता है कि विश्व की सभी घटनाएं कारणात्मक स्थिति में ऐसे तत्त्व हैं जोकि कार्य-कारण की शृंखला में बंधे हुए हैं। प्रत्येक घटना की व्याख्या उसके कारण द्वारा दी जा सकती है। यदि सविकल्पक कर्म को पूर्णतया स्वतन्त्र मान लिया जाए, तो उसकी व्याख्या किसी भी कारण के आधार पर नहीं की जा सकती। स्वतन्त्रतावाद के अनुसार, मनुष्य कारणता के नियम से परे है। स्वतन्त्रतावाद की यह धारणा सर्वथा अवैज्ञानिक है। किन्तु स्वतन्त्रतावाद का महत्त्व केवल इस बात में है कि मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ है कि वह कुछ सीमा तक अपने भाग्य का निर्माता है और अपनी परिस्थितियों का पूर्ण दास नहीं है।

हमने नियतिवाद और स्वतन्त्रतावाद के सिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या की है और दोनों को सापेक्ष सत्य पाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य का सविकल्पक कर्म न तो पूर्णतया बाहरी स्थितियों पर निर्भर है और न ही वह पशुओं के व्यवहार की भांति पूर्णतया स्वतन्त्र अथवा स्वच्छन्द है। मनुष्य के संकल्प की विशेषता इसीमें है कि वह उसे बाहरी स्थितियों पर विजय प्राप्त कराता है और उसे पशुओं की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ प्रमाणित करता है कि वह अपनी पाशवी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करके अपने व्यवहार को व्यवस्थित करता है एवं चरित्र को समरूप बनाता है। मनुष्य की बाहरी परिस्थितियों पर विजय, एक ओर तो उसे स्वतन्त्र प्रमाणित करती है और उसे परिस्थितियों का स्वामी तथा अपने भाग्य का निर्माता घोषित करती है और दूसरी ओर उसे व्यवस्थित जीवन व्यतीत करनेवाला, स्वच्छन्द प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करनेवाला, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर्तव्य के मार्ग पर चलनेवाला एवं चरित्र से नियत होनेवाला प्राणी प्रमाणित करती है। यदि मनुष्य का व्यवहार समरूप न हो, तब भी मनुष्य

को श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। मनुष्य के व्यवहार की समरूपता यह प्रमाणित करती है कि मनुष्य का कर्म एवं व्यवहार न तो पूर्णतया स्वतन्त्र है और न पूर्णतया बाहरी परिस्थितियों से नियत है, अपितु वह आत्मनियत है। यही दृष्टिकोण आत्मनियतिवाद का है।

आत्मनियतिवाद एक ओर नियतिवाद और दूसरी ओर स्वतन्त्रतावाद के दोषों का निवारण करता है। यह मनुष्य को पशु की भांति पूर्णतया बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं मानता और न ही उसकी भांति चरित्रहीन और स्वच्छन्द मानता है। यह उसे यथार्थ रूप में स्वतन्त्र मानता है और उस स्वतन्त्रता का अर्थ यही है कि मनुष्य का संकल्प उसके अपने चरित्र एवं व्यक्तित्व द्वारा नियत होता है।

हमने ऊपर कहा है कि आत्मनियतिवाद के अनुसार एक ओर तो मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है एवं स्वतन्त्र है और दूसरी ओर उसका व्यवहार समरूप होने के कारण एवं चरित्र से नियत होने के कारण सीमित है। प्रथम दृष्टिपात से मनुष्य के व्यवहार के ये विपरीत तत्त्व विरोधी प्रतीत होते हैं, किन्तु यदि हम इस समस्या पर गम्भीर विचार करें और यदि हम स्वतन्त्रता तथा व्यवहार की निश्चितता एवं समरूपता के वास्तविक स्वरूप को जानने की चेष्टा करें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि मनुष्य के व्यवहार में विरोधाभास नहीं है। व्यवहार की निश्चितता का अर्थ एक विशेष रूप से व्यवस्थित क्रियाशीलता है। स्वतन्त्रता का अर्थ चरित्र से अतिरिक्त किसी भी बाह्य उपाधि से नियत न होना है। आत्मनियतिवाद के अनुसार एक दुराचारी मनुष्य एक दृष्टि से तो शुभ कर्म कर सकता है और एक दृष्टि से नहीं कर सकता। चरित्र की समरूपता के आधार पर वह शुभ कर्म इसलिए नहीं कर सकता कि ऐसा कर्म दुश्चरित्र से प्रेरित नहीं हो सकता। एक दूषित वृक्ष अच्छा फल नहीं दे सकता, किन्तु दुराचारी व्यक्ति का चरित्र ही एकमात्र ऐसा तत्त्व है जोकि उसके कर्म का निर्वाचन करता है। इस दृष्टि से दुराचारी व्यक्ति भी शुभ कर्म कर सकता है, यदि वह स्वयं ऐसा करने की इच्छा करे। मनुष्य के चरित्र में जो दोष होता है वह उसके व्यक्तित्व से बाहर नहीं होता। अतः वह यदि चाहे तो अपने दोष पर विजय प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में, दुराचारी व्यक्ति में शुभ कर्म करने की क्षमता अवश्य है। यदि दुराचारी व्यक्ति उच्च आदर्श को अपना ले, तो वह एक उद्देश्य पर चलने के कारण शुभ चरित्रवाला व्यक्ति बन सकता है। भगवद्गीता में इसी दृष्टिकोण को भक्तिमार्ग के आदर्श के सम्बन्ध में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है:

"अपि चेत् सुदुराचारो, भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥"

अर्थात् "यदि एक दुराचारी व्यक्ति भी ईश्वर को निरन्तर अनन्य भाव से भजता है एवं लक्षित करता है, उस व्यक्ति को अच्छे चरित्रवाला ही मानना चाहिए, क्योंकि उसका व्यवहार नियन्त्रित एवं व्यवस्थित हो जाता है।"

आत्मनियतिवाद मनुष्य के चरित्र एवं व्यक्तित्व को केन्द्र मानकर चलता है और मानवीय स्वतन्त्रता को इसी केन्द्र पर आधारित करता है। एक पशु का व्यक्तित्व नहीं

होता अर्थात् चरित्र की दृष्टि से उसका केन्द्र नहीं होता। वह केवल वर्तमान भाव से प्रभावित होता है। उसके व्यक्तित्व का निश्चित ग्राकार नहीं होता, जोकि उसके प्रत्येक कर्म को निश्चित कर सके। मनुष्य के व्यक्तित्व ग्रौर उसके चरित्र में समरूपता होती है ग्रौर उसी समरूपता के ग्राधार पर वह सत्-ग्रसत् ग्रौर शुभ-ग्रशुभ कर्म का निर्वाचन करता है। इसी निर्वाचन में उसकी श्रेष्ठता एवं स्वतन्त्रता है ग्रौर यही ग्रात्मनियत स्वतन्त्रता उसको पशु की ग्रपेक्षा ऊंचे स्तरवाला प्राणी बनाती है। यदि पशु विचार कर सकता तथा बोल सकता, तो वह ग्रपने कर्म को केवल वर्तमान प्रेरणा से ही सम्बन्धित बतलाता। प्रेरणात्मक कर्म में भी एक विशेष प्रकार की निरन्तरता तो होती है ग्रौर प्रेरणाग्रों पर ग्राधारित कर्म के प्रति ग्रनुमान भी लगाया जा सकता है; किन्तु ऐसे प्रेरणात्मक कर्म, केवल क्षणिक परिस्थिति पर निर्भर रहते हैं ग्रौर इस प्रकार स्वच्छन्द रहते हैं कि उनको किसी समान केन्द्र से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पशु विचार की क्षमता न रखने के कारण ही ग्रपने कर्मों को व्यवस्थित नहीं कर सकता एवं चेतना के क्षणों को एकता प्रदान नहीं कर सकता, किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि पशु का चरित्र-सम्बन्धी केन्द्र नहीं होता। ग्रतः मनुष्य ग्रपने कर्मों को केवल उसी समय निजी मानता है, जब वे उसके चरित्र-रूपी केन्द्र से प्रवाहित होते हैं। नियतिवादी, चरित्र की इस एकाग्रता एवं समरूपता को स्वीकार नहीं करते। ग्राचार-विज्ञान की दृष्टि से ग्रात्मनियतिवाद ही मान्य सिद्धान्त है।

संकल्प की स्वतन्त्रता के उपर्युक्त विवेचन की ग्रावश्यकता ग्राचार-विज्ञान में नैतिक उत्तरदायित्व के कारण ही उत्पन्न होती है। जैसाकि हमने पहले कहा है, मध्यकाल में यह समस्या धार्मिक एवं ईश्वर-सम्बन्धी थी, किन्तु ग्राधुनिक समय में यह मुख्यतया नैतिक एवं सामाजिक है। हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि व्यक्ति कहां तक समाज के प्रति नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी है। ग्राधुनिक समय में भी एक प्रकार का नियतिवाद स्वीकार किया जाता है। उसके ग्रनुसार मनुष्य के चरित्र को विशेष परम्परागत प्रवृत्तियों पर ग्राधारित माना जाता है ग्रौर उसके सम्पूर्ण जीवन को उस नैतिक वातावरण द्वारा नियत माना जाता है, जिसमें कि वह जन्म लेता है ग्रौर जिसमें उसका पालन-पोषण होता है। इस प्रकार के नियतिवाद को स्वीकार करते हुए यह प्रश्न किया जाता है कि मनुष्य कहां तक ग्रपने चरित्र के निर्माण में भी स्वतन्त्र है। यह तो ठीक है कि हम स्वयं ग्रपने दृष्टिकोण का निर्वाचन करते हैं, किन्तु हम ग्रथवा हमारा व्यक्तित्व, जोकि ऐसा निर्वाचन करता है, एक पूर्णतया स्वतन्त्र एवं नियति से मुक्त ग्रस्तित्व नहीं है। विशेषकर ग्रस्तित्ववादी दार्शनिक, मनुष्य को सामाजिक, ग्रार्थिक ग्रथवा नैतिक परिस्थितियों का दास मानते हैं। यदि ग्राधुनिक मनुष्य यह स्वीकार नहीं करता कि उसमें मौलिक पाप (Original sin) ग्रथवा मौलिक धर्म (Original virtue) है, वह इस बात को मानता है कि हम जब विश्व में प्रवेश करते हैं, तो एक विशेष रूप से शुभ ग्रथवा ग्रशुभ के प्रति झुकाव लेकर ही कर्म करते हैं। वह झुकाव हमारे उस विशेष स्वभाव पर निर्भर होता है, जो हममें जन्मजात

होता है। यदि यह सत्य है, तो प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य के अपराध के लिए समाज द्वारा व्यक्ति को दण्ड दिया जाना कहां तक उचित है।

हमारे आत्मनियतिवाद के दृष्टिकोण से निस्सन्देह मनुष्य को ही सत्-असत् और शुभ-अशुभ कर्मों का उत्तरदायी माना जाएगा। यह सत्य है कि मनुष्य का व्यक्तित्व एवं उसका चरित्र जन्मजात प्रवृत्तियों तथा अर्जित प्रवृत्तियों पर आधारित होता है, किन्तु उसके चरित्र का बल इसीमें है कि वह अपने-आपको परिस्थितियों का दास न मानकर सदैव अपने कर्तव्य के प्रति सजग रहे। जो व्यक्ति अपने-आपको पशु की भांति विवश मानकर अपने अशुभ व्यवहार को अनिवार्य मानता है, उसे हम वास्तव में मनुष्य नहीं कह सकते। मनुष्य को सदैव आदर्श के संघर्ष में अपने-आपको एक सैनिक मानना चाहिए और उस संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के लिए कर्तव्य-रूपी उत्तरदायित्व को स्वीकार करना चाहिए। मनुष्य संकल्प की स्वतन्त्रता के कारण निरन्तर नैतिक प्रगति कर सकता है और यह प्रगति तभी हो सकती है, जब वह अपने-आपको बाहरी परिस्थितियों से स्वतन्त्र और आन्तरिक चरित्र से नियत माने।

चौथा अध्याय

आचार-विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

(Historical Background of Ethics)

आचार-विज्ञान का सम्बन्ध नैतिक जीवन की समस्याओं से है और नैतिक जीवन का इतिहास मानव की संस्कृति से आरम्भ होता है। अतः नैतिक समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा, मनुष्य आदिकाल से करता चला आया है। जिस प्रकार मानवीय सभ्यता का इतिहास प्राचीनतम होने के कारण अस्पष्ट और विस्मृत है, उसी प्रकार आचार-सम्बन्धी इतिहास भी अस्पष्ट और विस्मृत हो चुका है। विश्व के इतिहास की प्राचीनतम लिखित निधि आचार के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाल सकती, फिर भी ऐतिहासिक खण्डहरों तथा प्राचीनतम पृथ्वी में दबे हुए नगरों की खुदाई का अध्ययन करने के पश्चात् ऐतिहासिक इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि पश्चिम में मिस्र तथा यूनान और पूर्व में भारतीय तथा चीनी संस्कृतियां प्राचीनतम हैं। अतः हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यूनानी आचार-विज्ञान के उद्भव से पहले भी भारत में तथा मिस्र आदि में आचार की समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की गई थी। पश्चिमीय दार्शनिक, विशेषकर भारतीय संस्कृति के अध्ययन से वंचित होने के कारण, प्रत्येक विज्ञान का अध्ययन यूनान की संस्कृति के अध्ययन से आरम्भ करते हैं। इसलिए आचार-विज्ञान का व्यवस्थित अध्ययन करने के लिए भी, पश्चिमीय आचारशास्त्री यूनानी आचार-विज्ञान के इतिहास को ही आचार-विज्ञान का एकमात्र इतिहास मानते हैं। उनके अनुसार, सम्भवतया आचार-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों का प्राचीनतम प्रतिपादन यूनान में ही हुआ। किन्तु यह धारणा एकपक्षीय धारणा है। इस धारणा का विरोध करते हुए और भारतीय आचार-विज्ञान को प्राचीनतम मानते हुए अमरीकी लेखक ई० वाशबर्न हॉपकिन्ज़ ने लिखा है :

"यद्यपि पश्चिम ने मानसिक भारत को वर्षों पहले खोज निकाला था और यद्यपि वह आज भी कल्पित करोड़ों बौद्ध जनसंख्यावाले कथाओं के देश के प्रति अलंकृत शब्दों में बातचीत करता है, तथापि भारतीय धर्मों से भ्रान्त परिचय के अतिरिक्त इस देश में किसीको भी यह ज्ञात नहीं है कि हिन्दुओं ने क्या चिन्तन किया और क्या कहा है। जहां तक हिन्दू आचार-विज्ञान का सम्बन्ध है, वह यूरोप और अमेरिका के लिए एक अज्ञात क्षेत्र है। यह जानना अनेक व्यक्तियों के लिए सुखद होगा, और किसीके लिए

भी दुःखद नहीं होगा कि भारत में ईसाई युग से बहुत पूर्व सत्य, उदारता, हृदय की कोमलता, आत्मा की पवित्रता, क्षमा तथा दया सामान्य जीवन के आदर्शों के रूप में सिखाए जाते थे।"[१] अतः हम आचार-विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देते समय भारतीय नैतिकता की अवहेलना नहीं कर सकते।

भारतीय नैतिकता कम से कम इतनी प्राचीन है जितनी कि वैदिक संस्कृति। वेदों में देवताओं को ऋत एवं नैतिक नियम का रक्षक माना गया है। जब देवताओं को शुभ माना गया तो उसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे मनुष्यों के लिए शुभ हैं, अपितु वे नैतिक दृष्टि से शुभ हैं। वैदिक देवता, न ही वे केवल उदार और दयालु हैं, अपितु वे मनुष्यों से प्रेम भी करते हैं। दूसरे शब्दों में देवताओं में दया, क्षमा, सहिष्णुता, पवित्रता आदि सभी नैतिक गुण उपलब्ध हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे नैतिकता के रक्षक माने गए हैं। उपनिषदों में तो स्पष्ट रूप से सत्-असत् का भेद किया गया है और यह प्रार्थना की गई है कि ईश्वर मनुष्य को असत् से सत् की ओर प्रेरित करे। इस संबंध में उपनिषदों का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है :

"असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय।"

अर्थात् "ईश्वर हमें असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत्यु की ओर प्रेरित करे।" कठोपनिषद् में स्पष्ट रूप से लिखा है, "जिस व्यक्ति ने अनैतिक कर्म का त्याग नहीं किया, वह ज्ञान के द्वारा ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता।" उपनिषदों का ईश्वर, नैतिक दृष्टि से शुभ है, वह असत् को दूर करता है और सत् का प्रसार करता है। शुभ और सुखदायक वस्तु में भी उपनिषदों में भेद किया गया है और कहा गया है, "मनुष्य के पास श्रेयस् और प्रेयस् दोनों उपस्थित होते हैं, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति विवेक के द्वारा उन दोनों में भेद करता है और प्रेयस् को त्याग करके श्रेयस् का निर्वाचन करता है। मूर्ख व्यक्ति श्रेयस् का त्याग करके प्रेयस् का निर्वाचन करता है। जो व्यक्ति

---

१. "Although the West discovered mental India years ago and now talks quite glibly with its imagined 'Millions of Buddhists', yet apart from some erroneous familiarity with Indian religions, there is little known in this country of what the Hindus have thought and said ; as for the field of Hindu ethics, it is *terra incognita* to Europe and America...It will be a pleasure to many and a grief to none to know that truthfulness, generosity, kindness of heart, purity of soul, forgiveness and compassion were taught in India as everyday precepts long before the Christian era."

—E. W. Hopkins : Ethics of India, P. IX.

श्रेयस् का निर्वाचन करता है, वह श्रेष्ठ है और जो श्रेयस् को छोड़कर प्रेयस् की ओर जाता है, वह अपने लक्ष्य से च्युत होता है।"[1]

वैदिक साहित्य से लेकर दार्शनिक साहित्य तक नैतिक आदर्शों का प्रतिपादन है। धर्मशास्त्र में तो विशेषकर नैतिक सिद्धान्तों की ही व्याख्या की गई है। सभी भारतीय दर्शन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चार पुरुषार्थों को स्वीकार करते हैं। ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए नितान्त आवश्यक हैं। वास्तव में ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य के व्यक्तित्व के चार अंगों से सम्बन्धित हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य को शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा—चार तत्त्वों का समन्वय माना गया है। इसलिए शरीर के विकास के लिए अर्थ एवं सम्पत्ति को, मन के विकास के लिए काम एवं प्रेम को, बुद्धि के विकास के लिए धर्म को और आत्मा के विकास के लिए मोक्ष को पुरुषार्थ एवं लक्ष्य माना गया है। ये चारों पुरुषार्थ सभी दर्शनों के द्वारा स्वीकार किए गए हैं और ये भारतीय संस्कृति की आचार-मीमांसा के आधार-स्तम्भ माने गए हैं।

चार्वाक-दर्शन को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन, चाहे वे वेदों को प्रमाण मानते हों चाहे न मानते हों, आचार के सम्बन्ध में इन चारों पुरुषार्थों को ही मानवीय जीवन की सफलता का साधन स्वीकार करते हैं। अतः इन पुरुषार्थों की संक्षिप्त व्याख्या प्राचीनतम नैतिक आदर्शों के अध्ययन में उपयोगी सिद्ध होगी। पश्चिमीय दार्शनिक क्षेत्रों में भारतीय दर्शन के प्रति अनेक भ्रांत धारणाएं हैं। कुछ पश्चिमीय दार्शनिक यह समझते हैं कि भारतीय दर्शन में आचार-मीमांसा का कोई स्थान नहीं। कुछ का विचार है कि भारतीय दर्शन केवल पारलौकिक है और उसमें सामाजिक तथा आर्थिक मूल्यों का स्थान नहीं है। चार पुरुषार्थों के अध्ययन से इन भ्रांत धारणाओं का भी निराकरण हो जाता है।

अर्थ एवं सम्पत्ति की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य के लिए इसलिए आवश्यक मानी गई है कि जब तक मनुष्य की आर्थिक स्थिति संतोषजनक न हो, तब तक वह पर्याप्त पोषक भोजन प्राप्त न कर सकने से अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकता और जब तक शरीर स्वस्थ न हो, मनुष्य किसी भी नियम का पालन नहीं कर सकता। शरीर को ही आत्मा का मन्दिर माना गया है और कहा गया है :

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।"

अर्थात् "सब धर्मों की सिद्धि के लिए शरीर आधारभूत तत्त्व है।" भारतीय ऋषियों ने, अपने नित्य-नियम में भी प्रार्थना करते समय, ईश्वर से यही इच्छा प्रकट की है कि वे सौ वर्ष की आयु तक जीवित रहें और स्वस्थ रहें। इसके अतिरिक्त प्रत्येक साधक, चाहे वह गृहस्थ-जीवन में रहकर ईश्वर-आराधना करता हो, चाहे संन्यास का पालन करते हुए मोक्ष की आकांक्षा करता हो, विशेष शारीरिक व्यायाम एवं यौगिक आसनों द्वारा शरीर को स्वस्थ रखना अपना कर्तव्य समझता है। अर्थ का उपयोग, न ही केवल व्यक्ति के अपने शरीर की रक्षा के लिए है, अपितु उसकी प्राप्ति सामाजिक तथा धार्मिक कर्मों को पूरा

१. कठोपनिषद्, १-२-२; श्वेत० ६-६

करने के लिए भी आवश्यक है। भारतीय ऋषियों ने, कार्ल मार्क्स से पूर्व सामाजिक उन्नति के लिए तथा नैतिक जीवन के लिए अर्थ को सर्वोपरि माना था। आर्थिक संकट में व्यक्ति अनेक अनैतिक कर्म कर बैठता है। अतः अर्थ को धार्मिक कर्मों का साधन माना गया है और अर्थ की प्राप्ति के लिए विद्या का ग्रहण करना आवश्यक स्वीकार किया गया है। इसी दृष्टिकोण को संस्कृत में इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है :

"विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥"

अर्थात् "विद्या मनुष्य को विनयशील बनाती है, विनयशील व्यक्ति सुपात्र कहलाता है, सुपात्र व्यक्ति को धन की प्राप्ति होती है, धन की प्राप्ति से मनुष्य धर्म का आचरण करता है और धर्म पर चलनेवाला व्यक्ति वास्तविक सुख प्राप्त करता है।" किन्तु अर्थ एवं सम्पत्ति को स्वलक्ष्य स्वीकार नहीं किया गया, क्योंकि इसे शारीरिक विकास और धर्मपरायणता का साधन-मात्र ही माना गया है। अर्थ के संचय करने का उद्देश्य स्वार्थसिद्धि नहीं, अपितु परमार्थ के लिए ही स्वीकार किया गया है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार, भले पुरुष वे ही हैं जो धन की उत्पत्ति करके उसका वितरण करते हैं। विश्व की विजय के पश्चात् जब सम्राट अश्वमेध यज्ञ करता था, तो वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को अपनी प्रजा में बांट देता था। सम्राट रघु की विश्वविजय का कथन करते हुए महाकवि कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंश में लिखा है :

"स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव॥"

अर्थात् "उस (रघु) ने वह विश्वजित् यज्ञ रचाया, जिसमें सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर दी जाती है। महान व्यक्तियों का संचय करना, मेघों के जल-संचय की भांति (दूसरों में) वितरण करने के लिए ही होता है।" परमार्थ की भावना सत्पुरुष का विशेष लक्षण है। इसी दृष्टिकोण को भारत के विख्यात संत कवि कबीर ने भी इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :

"वृक्ष कवहुं नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर॥"

अतः पश्चिमीय जगत् में भारतीय नैतिक दृष्टिकोण के प्रति जो यह भ्रांत धारणा प्रचलित है कि भारतीय संस्कृति केवल पारलौकिक पृष्ठभूमि पर आधारित है, निस्सन्देह भ्रांत धारणा है, क्योंकि भारतीय आदर्श पारमार्थिक है न कि पारलौकिक। परमार्थ वह प्रवृत्ति है, जो मनुष्य को निःस्वार्थ बनाती है और उसे अन्य लोगों की सेवा के लिए प्रेरित करती है। साधु अथवा त्यागी के लिए भी यह आवश्यक है कि वह अपने सर्वस्व को परमार्थ में लगा दे। इसी प्रकार निष्काम कर्मयोग का अर्थ अकर्मण्यता नहीं है, अपितु स्वार्थ की भावना को त्यागकर निरन्तर अपने कर्तव्य का पालन करना है। भारतीय नैतिक दृष्टिकोण, न तो पूर्णतया विरक्त बनने का आदेश देता है और न ही वह आसक्त जीवन

को पुष्ट करता है। इसके विपरीत वह अनासक्त एवं परमार्थ की भावना के आधार पर, निरन्तर प्रयत्नशील जीवन व्यतीत करने का उपदेश देता है। इस दृष्टिकोण में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का सुन्दर समन्वय है। अतः अर्थ एवं सम्पत्ति का नैतिक महत्त्व इसीमें है कि उसे उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति का आवश्यक साधन ही स्वीकार किया जाए।

जैसाकि हमने पहले कहा, दूसरे पुरुषार्थ काम का प्रतिपादन मनुष्य के मानसिक जीवन को सन्तुलित रखने के लिए ही किया गया है। यहां पर काम का अर्थ, न ही केवल कामवृत्ति की शारीरिक तृप्ति है, अपितु मनुष्य का सम्पूर्ण वह मूलप्रवृत्त्यात्मक और संवेगात्मक अंग है, जिसके विकास के लिए विशेष परिस्थितियों का उपस्थित होना और विशेष साधनों का जुटाना आवश्यक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काम की तृप्ति उस उत्कृष्ट स्थायी भाव पर आधारित है, जिसको प्रेम कहा जाता है। प्रेम का अर्थ राग अथवा आसक्ति नहीं है, अपितु परमार्थ की भावना पर आधारित अन्य व्यक्ति तथा व्यक्तियों के प्रति स्नेह, वात्सल्य, श्रद्धा आदि की भावनाओं का स्थायी रूप में उपस्थित रहना है। इस प्रकार के अनुभव को प्राप्त करने के लिए विवाह के द्वारा गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य माना गया है। मनोविश्लेषण के क्षेत्र में किया गया अनुसन्धान आज भी इस बात का साक्षी है कि मनुष्य की काम-रूपी प्रेम की प्रवृत्ति एक ऐसी प्रबल प्रवृत्ति है कि जिसका दमन अनेक मानसिक विकारों को जन्म देता है। फ्रायड तथा उसके अनुयायी हर प्रकार के असामान्य व्यवहार का मुख्य कारण कामवृत्ति के दमन को एवं उसकी अतृप्ति को ही मानते हैं। भारतीय ऋषि-मुनियों ने इसी मनावैज्ञानिक तथ्य को सहस्रों वर्ष पूर्व स्वीकार करते हुए लिखा है:

"यावन्न विन्दते जायां, तावदर्धो भवेत् पुमान्।
यन्न बालैः परिवृतं, श्मशानमिव तद्गृहम्॥"

अर्थात् "जब तक मनुष्य विवाह नहीं कर लेता, तब तक वह अपूर्ण एवं अर्ध रहता है और जिस घर में बालक खेलते दिखाई नहीं देते, वह घर मरघट के समान होता है।" गृहस्थ-आश्रम में, एक ओर तो मनुष्य की कामवृत्ति की धर्मानुकूल तृप्ति होती है और दूसरी ओर उसे पिता के रूप में, पति के रूप में तथा पुत्र के रूप में वात्सल्य, स्नेह, श्रद्धा आदि का प्रेममय अनुभव प्राप्त होता है। इन्हीं अनुभवों के आधार पर उसका व्यक्तित्व सन्तुलित होता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि गृहस्थ-जीवन और कामकी तृप्ति मनुष्य का चरम लक्ष्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय नैतिकता का चरम लक्ष्य आत्मानुभूति एवं ईश्वर-प्राप्ति है, किन्तु ईश्वर के प्रति अनन्य श्रद्धा और प्रेम की अनुभूति शून्य से प्राप्त नहीं होती। कोई भी मनुष्य उस समय तक ईश्वर से प्रेम नहीं कर सकता, जब तक कि उसने काम के पुरुषार्थ का अनुसरण करते हुए कौटुम्बिक प्रेम का अनुभव न किया हो। अतः काम एक महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है, किन्तु वह भी स्वलक्ष्य नहीं है। इसके विपरीत वह व्यक्तित्व के विकास का एक अनिवार्य साधन है।

भारतीय नैतिकता का यह दृष्टिकोण भी विशेष महत्त्व रखता है और प्रमाणित

करता है कि केवल निवृत्ति-मार्ग सामान्य मनुष्य के लिए एकमात्र आदर्श नहीं है। इसके विपरीत मोक्ष की प्राप्ति एक व्यवस्थित मार्ग पर चलकर ही हो सकती है और वह मार्ग सांसारिक तथा पारलौकिक जीवन का समन्वित मार्ग है और उसमें स्वार्थ तथा परमार्थ एवं व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित दोनों उपस्थित रहते हैं।

धर्म, जोकि भारतीय नैतिकशास्त्र में इहलौकिक तथा पारलौकिक पुरुषार्थ माना गया है, वास्तव में अर्थ तथा मोक्ष का भी आधार है। धर्म शब्द का अर्थ एक से अधिक किया जाता है। साधारणतया धर्म को कर्तव्य एवं नैतिक कर्म ही माना जाता है। व्यापक दृष्टि से धर्म का अर्थ आधारभूत नियम है। इस दृष्टि से ईश्वर को विश्व के आधारभूत नियम का नियन्ता कहा जाता है। वास्तव में धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'धारण करना'। अतः धर्म की व्याख्या करते हुए टीकाकार लिखता है, "धार्यते इति धर्मः।" अर्थात् "जो धारण किया जाता है, वही धर्म है।" धर्म की यह व्याख्या उसे आधारभूत नियम तथा कर्तव्य की सीमा, दोनों अर्थ देती है। इस प्रकार वर्णाश्रमधर्म वे नियम अथवा कर्तव्य हैं, जो व्यक्ति तथा समाज द्वारा धारण किए जाते हैं। इन धर्मों की संक्षिप्त व्याख्या हम आगे चलकर करेंगे, किन्तु यहां पर इतना बता देना पर्याप्त है कि पुरुषार्थों के सम्बन्ध में धर्म का अर्थ वह नैतिक नियम अथवा कर्तव्य है, जिसका पालन करना व्यक्ति के लिए तथा समाज के लिए आवश्यक है। जैसाकि हमने पहले कहा है, धर्म का सम्बन्ध मनुष्य की बुद्धि से है, धर्म पर चलना प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति के लिए आवश्यक है। मनु के धर्मशास्त्र में विभिन्न धर्मों को प्रतिपादित किया गया है। वे केवल रूढ़िवादी नियम नहीं हैं, अपितु बौद्धिक नियम हैं। यही कारण है कि अर्थ और काम को भी धर्म पर आधारित करके ही स्वीकार करने योग्य बनाया गया है। जो व्यक्ति धर्मपरायण है, वह निस्सन्देह बुद्धिमान ही होगा और बुद्धिमान व्यक्ति ही धन का सदुपयोग तथा विद्या-प्राप्ति द्वारा योग्य प्रमाणित होकर काम की धर्मानुकूल तृप्ति प्राप्त कर सकता है। महर्षि व्यास ने धर्म के इस उत्कृष्ट लक्षण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :

"ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न हि कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते॥"

अर्थात् "मैं अपनी भुजा को ऊपर उठाकर घोषित कर रहा हूं, किन्तु कोई भी मेरे शब्दों को नहीं सुनता। धर्म के द्वारा ही अर्थ तक काम की प्राप्ति होती है, उस धर्म के पुरुषार्थ का अनुसरण क्यों नहीं किया जा रहा ?" अतः जितने भी सत् कर्म हैं, वे सब धार्मिक कर्म माने जाते हैं। दूसरे शब्दों में, धर्म और सत् अथवा शुभ को एक ही स्वीकार किया जाता है। वास्तव में शुभ की भांति, धर्म की परिभाषा तो नहीं दी जा सकती, किन्तु उसके लक्षणों के द्वारा उसकी व्याख्या की जाती है। इसलिए धर्मशास्त्र में धर्म के निम्नलिखित दस लक्षण माने गए हैं : (१) उदारता, (२) सत्यपरायणता, (३) अक्रोध, (४) विनय, (५) पवित्रता, (६) भक्ति, (७) सन्तोष, (८) आत्मसंयम, (९) अपरिग्रह

(इन्द्रियों का संयम) तथा (१०) ज्ञान।

ये सभी प्रवृत्तियां धर्म कहलाती हैं और इनका अनुसरण करनेवाला व्यक्ति ही धर्मपरायण व्यक्ति है। वर्णधर्म और आश्रमधर्म भी इन्हीं लक्षणों पर ही आधारित हैं। धर्म की यह व्याख्या प्रमाणित करती है कि भारतीय आचारशास्त्र में, नैतिक मूल्यों का प्रतिपादन प्राचीनकाल से ही किया गया था। जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, यूनानी दार्शनिक प्लेटो के चार मुख्य गुणों एवं धर्मों (Four cardinal virtues) की धारणा इन दस लक्षणों से मिलती-जुलती है।

धर्म, अर्थ और काम तीनों ऐसे पुरुषार्थ हैं, जिनका सम्बन्ध मुख्यतया सांसारिक जीवन से है। मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य एवं परम ध्येय है और तीनों लौकिक पुरुषार्थ इसकी प्राप्ति के साधन हैं। क्योंकि मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा के विकास से है और आत्मा अमर है, इसलिए मोक्ष की प्राप्ति अमरत्व की प्राप्ति है। मोक्ष का साधारण अर्थ हर प्रकार के दुःख से निवृत्ति एवं अपवर्ग है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार दुःखों से निवृत्ति की यह अवस्था न ही केवल मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होती है, अपितु वह लौकिक जीवन में भी उपलब्ध है, इसलिए मोक्ष की अवस्था के दो स्तर माने गए हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(१) जीवन्मुक्ति

(२) विदेह-मुक्ति

कोई भी व्यक्ति जीवन्मुक्ति प्राप्त किए विना, विदेह-मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः जीवन्मुक्ति की धारणा, न ही केवल एक सैद्धान्तिक धारणा एवं अमूर्त आदर्श है, अपितु वह एक वास्तविक अनुभवात्मक अवस्था है, जिससे गुज़रकर व्यक्ति अमरत्व की अवस्था को प्राप्त होता है। किन्तु जीवन्मुक्ति को प्राप्त करने के लिए धर्म का अनुसरण करना तथा अर्थ और काम को धर्म से समन्वित करना नितान्त आवश्यक है। जीवन्मुक्त व्यक्ति वही है, जो संयमी है, जो सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि सभी द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है और जो न किसीकी निन्दा करता है, न किसीकी स्तुति। जीवन्मुक्त व्यक्ति भय, क्रोध, राग, द्वेष आदि से भी ऊपर उठ जाता है। किन्तु इस अवस्था की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक अनुशासन की आवश्यकता है। सभी भारतीय दर्शन वास्तव में विभिन्न दृष्टिकोणों से विशेष प्रकार के आध्यात्मिक अनुशासन प्रस्तुत करते हैं, जिनपर चलकर जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है। जीवन्मुक्त व्यक्ति संसार में रहता हुआ भी, विषय-भोग आदि का अनुभव करता हुआ भी, आसक्त एवं लिप्त नहीं होता, वह निरन्तर आत्मोत्थान के लिए और जन-कल्याण के लिए प्रयत्न करता रहता है। उसका जीवन आनन्दमय होता है और वह अन्य लोगों को भी आनन्द के मार्ग पर लाने की सतत चेष्टा करता रहता है।

विदेह-मुक्ति का अर्थ शारीरिक मृत्यु के पश्चात् निरपेक्ष आनन्द की अवस्था को प्राप्त होना है। यह अवस्था भले ही हमारे सामान्य अनुभव से परे की वस्तु हो, किन्तु इसको हम केवल कल्पनात्मक धारणा-मात्र ही नहीं मान सकते, क्योंकि इस अवस्था की

प्राप्ति जीवन्मुक्ति के पश्चात् ही होती है और जीवन्मुक्ति एक अनुभवात्मक अवस्था है। आध्यात्मिक अनुशासन के पालन करने से जीवन्मुक्त व्यक्ति को जो अनुभव प्राप्त होते हैं, वे अद्वितीय और परम आनन्द को देनेवाले हैं। अतः मोक्ष की धारणा एक सैद्धान्तिक धारणा ही नहीं है, अपितु वास्तविक अवस्था की अभिव्यक्ति है।

अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष जोकि भारतीय जीवन के प्राचीनतम मूल्य हैं, निःसन्देह एक उच्चतम नैतिक जीवन और नैतिक ज्ञान को अभिव्यक्त करते हैं। हम पश्चिमीय नैतिक सिद्धांतों की व्याख्या करते समय मोक्ष के महत्त्व पर प्रकाश डालेंगे। यहां केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि मोक्ष की धारणा आचारशास्त्र को एक ऐसी नैतिक तथा तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि प्रदान करती है कि जिसके आधार पर नैतिक सिद्धांतों के परस्पर-विरोध का समाधान किया जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय नैतिक आदर्श समन्वयात्मक हैं और उनका उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज का सर्वांगीण विकास है।

इसी सर्वांगीण विकास को दृष्टि में रखते हुए भारतीय ऋषियों ने वर्ण-व्यवस्था और वर्ण-धर्मों का ऐसा प्रतिपादन किया कि जो अनन्त ऐतिहासिक दुर्घटनाओं के घटित होते हुए भी, हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-समाज को बनाए रखने में सहायक सिद्ध हुए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्ण-व्यवस्था में अनेक रूढ़ियां और दोष उत्पन्न हो चुके हैं, किन्तु इसका मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति को स्थिर बनाए रखने के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस दृष्टिकोण से वर्ण-व्यवस्था की संक्षिप्त व्याख्या करना आवश्यक है।

प्राचीन भारतीय ऋषियों ने हिन्दू-समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चार वर्णों में विभक्त किया। किन्तु यह विभाजन आरम्भ में रूढ़िवादी नहीं था। इसके दो मुख्य आधार थे, जिनमें से एक दार्शनिक और दूसरा व्यावहारिक था। दार्शनिक आधार भी केवल कल्पनात्मक ही नहीं है, अपितु वैदिक सृष्टि-सम्बन्धी सिद्धान्त से सम्बन्ध रखता है। ऋग्वेद में तथा ब्राह्मणों में वर्ण-व्यवस्था के सृष्टि-सम्बन्धी सिद्धान्त प्रस्तुत हैं। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार ब्रह्माण्ड को व्यक्ति एवं पुरुष माना गया है और कहा गया है कि ब्राह्मण उस ब्रह्माण्ड-रूपी पुरुष के सिर एवं मुख की अभिव्यक्ति हैं, क्षत्रिय उसकी भुजाओं और वक्षस्थल की अभिव्यक्ति हैं, वैश्य उसके उदर की अभिव्यक्ति हैं और शूद्र उसके पांवों की अभिव्यक्ति हैं। अतः समाज-रूपी शरीर एक ओर व्यक्ति के शरीर के सदृश है और दूसरी ओर ब्रह्माण्डव्यापी पुरुष के सदृश है।

समाज का विश्व और व्यक्ति के मध्य का स्तर, वेदों और ब्राह्मणों में अभि-व्यक्त एक अन्य सृष्टि-सिद्धान्त में भी प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त को वैदिक साहित्य में 'प्राजापत्यवलषा पंचपर्वा विश्वविद्या' कहा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार, वेदों में विभिन्न देवताओं को व्यक्तिगत न मानकर भौतिक तत्त्व स्वीकार किया गया है और इन तत्त्वों को मुख्यतया पांच श्रेणियों में विभक्त किया गया है। ये तत्त्व विभिन्न नक्षत्रों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं और वे नक्षत्र सृष्टि के विभिन्न स्तर हैं। पृथ्वी एक

नक्षत्र है, जिसके चारों ओर दूसरा नक्षत्र चन्द्रमा अपने दक्षवृत्त पर परिक्रमा करता है। पृथ्वी अपने उपग्रह चन्द्रमासहित क्रान्तिवृत्त पर गतिमान होती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है। सूर्य अपने ग्रहमण्डलसहित, आयतवृत्त पर गतिमान होता हुआ २५,००० वर्षों में, एक अन्य केन्द्र परमेष्ठी के चारों ओर एक परिक्रमा समाप्त करता है। इसी प्रकार अनन्त परमेष्ठी अपने सौरमण्डलोंसहित स्वयम्भु प्रजापति के चारों ओर आन्द-वृत्त पर परिक्रमा करते हैं। यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि स्वयम्भु प्रजापति का अर्थ वह केन्द्रस्थ सत्ता है, जिसे केन्द्रों का केन्द्र, सत्यों का सत्य कहा गया है और जो सर्वव्यापी विशुद्धगति और विशुद्धस्थिति है। सृष्टि की यह शाखा प्रजापतितत्त्व की अनन्त शाखाओं में से एक है, किन्तु यह पांच मुख्य तत्त्वों की अभिव्यक्ति है जिन्हें क्रमशः पृथ्वीतत्त्व, चन्द्रतत्त्व, सूर्यतत्त्व, परमेष्ठीतत्त्व तथा स्वयम्भु प्रजापतितत्त्व कहा गया है। इन्हीं पांच तत्त्वों की उपस्थिति व्यक्ति में शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा के रूप में उपस्थित है, जहां पर पार्थिव शरीर पृथ्वीतत्त्व की अभिव्यक्ति है। चान्द्रमन, चन्द्र-तत्त्व की अभिव्यक्ति है, सौरबुद्धि, सूर्यतत्त्व की अभिव्यक्ति है और आत्मा परमेष्ठी तथा स्वयम्भु प्रजापति दोनों की अभिव्यक्ति है। यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आत्मा के दो अंग हैं--महान आत्मा तथा अव्यय पुरुष। महान आत्मा का अर्थ, व्यक्ति में उपस्थित वह परम्परागत संस्कार हैं, जो उसे अपने सात पीढ़ियों के पूर्वजों से प्राप्त होते हैं और जो भविष्य की सात पीढ़ियों तक उपस्थित रहते हैं। अव्यय पुरुष विशुद्ध आत्मा है, जो ब्रह्म एवं प्रजापतितत्त्व की अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि को और अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रजापतितत्त्व की वैदिक परिभाषा देना नितान्त आवश्यक है। वेदों के अनुसार निम्नलिखित मन्त्र प्रजापति की परिभाषा देता है :

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।"

अर्थात् "प्रजापति प्रत्येक वस्तु के गर्भ में उपस्थित है, वह केन्द्रस्थ सत् है, अजायमान है, किन्तु अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है। विद्वान लोग उसके इस रहस्य को एवं उसके अन्तरतम अस्तित्व को समझते हैं, क्योंकि विश्व की सत्ता के सभी स्तर उसीपर आधारित हैं।"

यहां पर इस सृष्टि-विद्या की व्याख्या का उद्देश्य केवल इतना है कि भारतीय प्राचीनतम दर्शन में व्यक्ति को विश्व की प्रतिमूर्ति माना गया है और विश्व के अंगों को व्यक्ति में उपस्थित शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। व्यक्ति और विश्व के बीच में जो समाज है, उसके अंग भी चार हैं जिन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहा गया है। यहां पर शूद्र को समाज का शरीर, वैश्य को समाज का मन, क्षत्रिय को समाज की बुद्धि और ब्राह्मण को समाज की आत्मा माना गया है। अतः सामाजिक विकास के लिए भी उन्हीं चारों पुरुषार्थों : अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष की आवश्य-कता है, जोकि व्यक्ति के विकास के आदर्श माने गए हैं।

वर्ण-व्यवस्था का व्यावहारिक आधार मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से शूद्र वही है, जो शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा का समन्वय होते हुए भी शारीरिक प्रवृत्तियों से अधिक प्रभावित है एवं शरीरधर्मा है। वैश्य वही है, जो मानसिक प्रवृत्तियों से अधिक प्रभावित है एवं मनोधर्मा है। क्षत्रिय वह है, जो बौद्धिक प्रवृत्तियों से अधिक प्रभावित है एवं बुद्धिधर्मा है। ब्राह्मण वही है, जो आत्मा-सम्बन्धी प्रवृत्तियों से अधिक प्रभावित है एवं आत्मधर्मा है। अतः चार वर्णों का नैतिक आधार मनोवैज्ञानिक आधार से सम्बन्धित है। शूद्र-वर्ण का कर्तव्य शारीरिक श्रम द्वारा अधिक से अधिक अर्थ एवं सम्पत्ति का उत्पादन करना है ; वैश्य-वर्ण का मुख्य कर्तव्य कला-कौशल एवं कृषि के द्वारा समाज की मानसिक तृप्ति के लिए काम के पुरुषार्थ की पूर्ति करना है ; क्षत्रिय-वर्ण का कर्तव्य शासन-सत्ता का अधिकार प्राप्त करके धर्म की रक्षा करना है और ब्राह्मण-वर्ण का कर्तव्य आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा मोक्ष के आदर्श की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न करना और अन्य तीनों वर्णों को सांसारिक तथा पारलौकिक जीवन को समन्वित करने का परामर्श देना है।

इसी प्रकार व्यक्ति और समाज के समन्वित विकास के लिए हिन्दू धर्मशास्त्र में व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है जिन्हें ब्रह्मचर्य-आश्रम, गृहस्थ-आश्रम, वानप्रस्थ-आश्रम तथा संन्यास-आश्रम कहा गया है। जीवन के पहले पचीस वर्षों में व्यक्ति ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहकर विद्या का उपार्जन करता है और पात्र बनकर अर्थ की प्राप्ति की योग्यता प्राप्त करता है। जीवन के दूसरे पचीस वर्षों में वह गृहस्थ-आश्रम में रहकर और अर्थ का सदुपयोग करता हुआ अपने काम की धर्मानुकूल तृप्ति अनुभूत करता है। पचास वर्ष से पचहत्तर वर्ष की अवधि में वानप्रस्थ में स्थित हुआ व्यक्ति समाज-सेवा तथा धर्मोपदेश में अपना समय व्यतीत करता है। पचहत्तर वर्ष से सौ वर्ष की अवधि में संन्यास-आश्रम में स्थित व्यक्ति सांसारिक इच्छाओं का पूर्ण त्याग करके सतत मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास करता है। संक्षेप में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रम क्रमशः अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष के पुरुषार्थों से सम्बन्धित हैं। भारतीय ऋषियों ने इस प्रकार की नैतिकता की व्यवस्था, सहस्रों वर्ष पूर्व स्थापित करके एक समन्वयात्मक जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया था। अतः विश्व के नैतिक इतिहास में इस जीवन-शैली का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है। हम पश्चिमीय नैतिक इतिहास का उल्लेख करते समय स्थान-स्थान पर उसका भारतीय नैतिक आदर्शों से तुलनात्मक अध्ययन ही करेंगे। इस दृष्टि से भी उपर्युक्त भारतीय दृष्टिकोण की व्याख्या उपयोगी सिद्ध होगी।

पश्चिमीय आचार-विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पश्चिमीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में इतिहास-सम्बन्धी चिन्तन का आरम्भ यूनानी दार्शनिकों के समय में मिलता है। नैतिक चिन्तन तथा नैतिक आदर्श उस समय के दर्शन में स्पष्ट रूप से तो उपस्थित नहीं थे, किन्तु उन दार्शनिकों की तत्त्वात्मक खोज विशेष प्रकार

के नैतिक जीवन की ओर संकेत अवश्य करती थी। ईसा से छठी तथा पांचवीं शताब्दी पूर्व के मध्य में विशेषकर दो भौतिक दार्शनिकों ने नैतिक समस्या को कुछ स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया, यद्यपि इन दार्शनिकों का मुख्य उद्देश्य विश्व की आधारभूत भौतिक सत्ता की स्वरूप-व्याख्या करना था। इनके सामने मुख्य प्रश्न यह था कि विश्व किस तत्त्व से बना है। इन दो दार्शनिकों के नाम हेराक्लाइटस (५३० से ४७० ईसा से पूर्व) तथा डेमोक्राइटस (४६० से ३७० ईसा से पूर्व) था। हेराक्लाइटस के अनुसार विश्व का अधारभूत तत्त्व अग्नि एवं प्रकाश तथा रूक्षता का नियम है। यह प्रकाश तथा रूक्षता का नियम निरन्तर अन्धकार तथा आर्द्रता के नियम के विरुद्ध संघर्ष करता रहता है। अतः हेराक्लाइटस की यह धारणा है कि यही संघर्ष मनुष्य के जीवन में भी होता रहता है। अतः मनुष्य के जीवन का उद्देश्य प्रकाश तथा रूक्षता की विजय और अन्धकार तथा आर्द्रता की पराजय होना चाहिए। हेराक्लाइटस ने इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुए नैतिक नियम को प्रतिपादित करते हुए आदेश दिया, "अपनी आत्मा को सूखा रखो"[1] इस नियम का आशय यह था कि जीवन का उद्देश्य इच्छाओं पर नियन्त्रण करना है। इसलिए हेराक्लाइटस को इच्छाओं के दमन करनेवाला दार्शनिक, एवं रुदन करनेवाला दार्शनिक कहा गया है। इसके विपरीत डेमोक्राइटस के अनुसार नैतिकता का आधारभूत नियम इच्छाओं की तृप्ति एवं सुख की प्राप्ति है। अतः डेमोक्राइटस को हंसनेवाला दार्शनिक कहा जाता है। यूनानी दर्शन के इतिहास में आगे चलकर, यही दो दृष्टिकोण स्टायकवाद तथा एपीक्योरियनवाद अर्थात् संयमवाद तथा सुखवाद के रूप में विकसित होते हैं। किन्तु हेराक्लाइटस तथा डेमोक्राइटस ने स्पष्ट रूप से नैतिक समस्या का समाधान नहीं किया है।

उपर्युक्त दो दार्शनिकों के पश्चात् ज्ञानवादियों (Sophists) ने पुनः नैतिक समस्या की ओर ध्यान दिया। किन्तु उन्होंने केवल मनुष्य को ही नैतिकता का मापदण्ड स्वीकार किया। ज्ञानवादियों का मुख्य उद्देश्य दार्शनिक भ्रांतियों को दूर करना था। उन्होंने अपने समय के प्रचलित दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना की और उन सिद्धान्तों को अमूर्त, परस्पर-विरोधी तथा निरर्थक प्रमाणित करने की चेष्टा की। अतः उनकी आलोचना अधिकतर ध्वंसात्मक थी और वे तर्काभास का प्रयोग करके सत्य को असत्य और असत्य को सत्य प्रमाणित करने की चेष्टा करते थे। इसलिए ज्ञानवादियों को प्रायः संशयवादी माना जाता है और उनकी कड़ी आलोचना की जाती है। वास्तव में उनका उद्देश्य ज्ञान तथा नैतिकता-सम्बन्धी समस्याओं को यथार्थ रूप में सामने रखना था। ज्ञानवादी, शिक्षकों का एक समूह थे, जिन्होंने यूनानी नागरिकों को नैतिक बनाने की चेष्टा की। इन शिक्षकों का मुख्य उद्देश्य व्यावहारिक था और वे एथेन्स नगर के नवयुवकों को निपुण नागरिक बनाना चाहते थे। अतः वे नवयुवकों को शिक्षा देते समय नागरिकता के कर्तव्यों की व्याख्या करते थे। ऐसी व्याख्या करते समय उन्होंने यह आवश्यक समझा कि वे राजनीतिक कर्तव्य तथा सामाजिक नैतिकता के मूल आधार को ढूंढ़ने की चेष्टा करें। उन्होंने

---

१. "Keep your soul dry."

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नैतिकता का आलोचनात्मक अध्ययन किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपने समय की नैतिक प्रथाओं को चुनौती दी। उनकी यह क्रान्तिकारी भावना, रूढ़िवादी एवं अन्धविश्वास रखनेवाले वृद्ध व्यक्तियों के लिए एक चेतावनी थी। इसलिए ज्ञानवादियों का घोर विरोध किया गया और उनपर अनेक आरोप लगाए गए, जिसके फलस्वरूप ज्ञानवादियों को अवांछनीय ही माना गया। किन्तु तटस्थ अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि ज्ञानवादी अपने समय के विद्वान व्यक्ति थे और उन्होंने अपने नगर में बौद्धिक जाग्रति उत्पन्न की। उन्होंने अपने समय के मूल्यों, सत्यपरायणता आदि की कड़ी आलोचना की। उसका कारण यह था कि उस समय नैतिक आदर्शों का दुरुपयोग किया जा रहा था। अतः ज्ञानवादियों ने आदर्श तथा व्यावहारिक जीवन में जो विषमताएं थीं, उनकी ओर ध्यान आकर्षित किया। किन्तु आवश्यकता से अधिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखने के कारण अधिकतर ज्ञानवादियों ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि नैतिक व्यक्ति अनैतिक व्यक्ति की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन में असफल और दुःखी रहता है। नैतिक आदर्शों को परस्पर-विरोधी प्रमाणित करते हुए ज्ञानवादी इस परिणाम पर पहुंचे कि प्रत्येक व्यक्ति सत्-असत् और शुभ-अशुभ का निर्णय करने की सामर्थ्य रखता है। ज्ञानवादियों ने यद्यपि नैतिक आदर्श की स्थापना नहीं की, तथापि उन्होंने एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया, जिसमें नैतिकता की समस्या का समाधान करना एक अनिवार्य प्रश्न हो गया।

सुकरात (४७० से ३९९ ईसा से पूर्व)

वास्तव में सुकरात स्वयं एक प्रकार का ज्ञानवादी था। उसने नैतिक समस्या को सुलझाने का सफल प्रयत्न किया। सुकरात को पूर्णतया ज्ञानवादी कहना तो एक भ्रान्ति है, क्योंकि ज्ञानवादियों ने केवल समस्या ही खड़ी की थी, परन्तु उसका कोई समाधान नहीं किया था, जबकि सुकरात ने नैतिकता की समस्या को ज्ञान की सम्भावना के आधार पर सुलझाया। ज्ञानवादी सन्देहवादी थे और वे व्यक्तिगत ज्ञान को ही एकमात्र ज्ञान समझ बैठे थे। इसके विपरीत सुकरात ने ज्ञान को अन्तरात्मक न मानकर सामान्य और बाह्यात्मक स्वीकार किया। उसने यह प्रमाणित किया कि यथार्थ ज्ञान सम्भव है और वह संवेदनात्मक न होकर धारणात्मक एवं तर्कात्मक है। तर्कात्मक ज्ञान ही हमें ऐसे सत्य पर पहुंचाता है, जो व्यक्तिगत न होकर सामान्य होता है और जो विरोधाभास के स्थान पर समन्वय उत्पन्न करता है। ऐसे ज्ञान पर आधारित व्यवहार ही वांछनीय व्यवहार एवं धर्म (Virtue) हैं। सुकरात ने यथार्थ ज्ञान को ही धर्म माना है और अपने दर्शन में धर्म एवं नैतिकता को ही उच्चतम स्थान दिया है। सुकरात का जीवन विशुद्ध नैतिक जीवन था। उसने न ही केवल सिद्धान्त के द्वारा, अपितु व्यावहारिक जीवन के द्वारा नैतिक आदर्श को वांछनीय प्रमाणित किया है। उसका जीवन संयम पर आधारित था। उसने यथार्थ ज्ञान एवं सत्य के प्रचार में ही अपना जीवन व्यतीत किया और सत्य के लिए ही अपने जीवन

का बलिदान दिया। उसने अपने समय के रूढ़िवाद और भ्रान्त विचारों का घोर विरोध किया। अतः उसपर यह आरोप लगाया गया कि वह धर्म का विरोध करता है और नवयुवकों को सामाजिक तथा नैतिक प्रथाओं के विपरीत शिक्षा देता है। वास्तव में उसपर आरोप लगानेवाले वाद-विवाद में सुकरात से पराजित हो चुके थे और वे उससे वैमनस्य रखते थे। इन कारणों से सुकरात को दोषी ठहराया गया और उसे विष-सेवन द्वारा मृत्युदण्ड दिया गया। मृत्यु के दण्ड भुगतने से पूर्व, जब सुकरात को जेल से भाग जाने का परामर्श दिया गया, तो उसने अपने मित्रों तथा हितैषियों के आग्रह पर भी ऐसा करना स्वीकार नहीं किया और सत्य के लिए हंसते-हंसते विष-पान कर लिया। अतः उसकी मृत्यु उसके जीवन से भी अधिक नैतिकता का आदर्श बन गई। सुकरात ज्ञानवादियों की भांति आलोचना तो अवश्य करता था, किन्तु वह अपने-आपको शिक्षक न कहकर आचारशास्त्र का विद्यार्थी मानता था। वह कदापि अपने दृष्टिकोण को अचूक नहीं मानता था, क्योंकि वह समस्याओं की कठिनाई को भली भांति जानता था। उसने यह बात निश्चयपूर्वक प्रमाणित की कि नैतिक जीवन के प्रति जनसाधारण की व्याख्याएं अपूर्ण थीं और उनकी वैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता थी। उसकी यह धारणा थी कि नैतिकता की वैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता, न ही केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से, अपितु सदाचार को व्यावहारिक बनाने के लिए भी आवश्यक थी। उसकी यह धारणा थी कि कोई भी व्यक्ति अकस्मात् धर्म पर चलनेवाला एवं नैतिक नहीं हो सकता। धर्मपरायण वही हो सकता है, जो धर्म एवं कर्तव्य का यथार्थ ध्यान रखता है। जो व्यक्ति नैतिक लक्ष्य के स्वरूप को भली भांति जानता है, वह कदापि उसको जीवन में उतारने में एवं उसका अनुसरण करने में असफल नहीं हो सकता। अतः उसकी यह धारणा थी कि "धर्म ज्ञान है।"[१] यह स्पष्ट है कि सुकरात की दृष्टि से 'ज्ञान' का अर्थ केवल जानना एवं परिचय-मात्र नहीं है, अपितु व्यावहारिक ज्ञान एवं सत्य को जीवन में उतारने का नाम ज्ञान है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी सुकरात का कहना था कि जो व्यक्ति नैतिक लक्ष्य के स्वरूप से अनभिज्ञ है, वह कदापि नैतिक नहीं हो सकता। अतः उसका कहना था कि जो वस्तु अथवा क्रिया हमारे ज्ञान के क्षेत्र से बाहर है, वह अनैतिक है।

सुकरात के इस दृष्टिकोण के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि कुछ व्यक्ति सत् और शुभ का ज्ञान रखते हुए भी उनका अनुसरण नहीं करते। किन्तु सुकरात का यह कहना था कि शुभ का अनुसरण न करना इस बात का द्योतक है कि ऐसा व्यक्ति शुभ के यथार्थ रूप को नहीं जानता, उसकी शुभ के प्रति जो धारणा है वह मिथ्या धारणा है। इसलिए जो व्यक्ति किसी कर्म को शुभ मानता है और उसका अनुसरण नहीं करता, तो उसका अभिप्राय यह है कि उसकी शुभ की धारणा भ्रान्त है एवं असत्य है। दूसरे शब्दों में, शुभ का अनुसरण न करना एक बौद्धिक त्रुटि है। सुकरात इस दृष्टिकोण की धर्म के उदाहरणों द्वारा व्याख्या करता है। साहस एक धर्म एवं नैतिक गुण है और साहसी व्यक्ति

१. "Virtue is knowledge."

का अर्थ यह नहीं कि वह कभी भय का अनुभव नहीं करता। प्रत्येक मनुष्य उन वस्तुओं से एवं परिस्थितियों से अवश्य भय का अनुभव करता है, जो उसकी शक्ति से बाहर हैं और जिनसे सुरक्षित न रहकर मनुष्य की मृत्यु अवश्यम्भावी होती है। इसके साथ ही साथ धर्म-परायण व्यक्ति अपमान से भयभीत होता है। वह अपने मित्रों से द्रोह करने से भयभीत होता है और इस बात से भी भय खाता है कि उसको कायर न समझा जाए। अतः सुक-रात कहता है कि साहसी व्यक्ति भी कायर व्यक्ति की भांति भय का अनुभव करता है, किन्तु साहसी और कायर के भय के अनुभव में अन्तर अवश्य होता है। साहसी व्यक्ति ऐसी वस्तुओं से भय का अनुभव करता है जिनसे कि कायर भयभीत नहीं होता। वह उन वस्तुओं से भयभीत होता है जिनसे कि उसे भयभीत होना चाहिए, क्योंकि वे वस्तुएं यथार्थ रूप से भयजनक होती है। अतः साहसी व्यक्ति यह जानता है कि कौन-सी वस्तुएं एवं परि-स्थितियां वास्तव में भयजनक हैं, जबकि कायर व्यक्ति को ऐसा ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार वीर एवं साहसी व्यक्ति तथा कायर व्यक्ति में अन्तर ज्ञान अथवा अन्तर्दृष्टि का होता है। साहसी व्यक्ति यह जानता है कि किस वस्तु एवं परिस्थिति से भयभीत होना वांछ-नीय है, जबकि कायर ऐसा ज्ञान नहीं रखता।

सुकरात ने धर्म को यथार्थ ज्ञान तो माना है, किन्तु उसने कोई ऐसा विशेष ज्ञान प्रस्तुत नहीं किया, जोकि नैतिक लक्ष्य के स्वरूप को प्रतिपादित करे। नैतिक लक्ष्य का स्वरूप क्या है ? इस तथ्य को जानने के लिए सुकरात सदैव अपने-आपको जिज्ञासु मानता रहा। सुकरात के दर्शन के अध्ययन से कुछ लोग यह अनुमान लगाते हैं कि उसका नैतिक आदर्श सुखवादी था। किन्तु सुकरात के नैतिक दृष्टिकोण को निश्चित रूप से सुखवाद नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि सुकरात के अनुयायियों में नैतिकता के प्रति मतभेद था। अतः उसके दर्शन पर परस्पर-विरोधी नैतिक सिद्धान्त आधारित किए गए।

सुकरात के पश्चात् यूनान में जो दो मुख्य विरोधी सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए, उन्हें सिनिक्स (Cynics) तथा सिरीनायक्स (Cyrenaics) कहा जाता है। सिनिक्स सिद्धान्त के अनुयायी सुकरात के संयमयुक्त जीवन से प्रभावित हुए, अतः उन्होंने सुकरात की आवश्यकताओं से स्वतन्त्र रहने की प्रवृत्ति को ही जीवन का आदर्श माना। अतः उनका नैतिक दृष्टिकोण तर्कवादी एवं बुद्धिवादी था। यही नैतिक सिद्धान्त आगे चलकर स्टायक सिद्धान्त कहलाया, जिसने कि संयम को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना। सिरीनायक सिद्धान्त के अनुयायी सुकरात की उस दक्षता से प्रभावित हुए, जिसके द्वारा कि वह अपने वातावरण का पूर्ण सदुपयोग करता था। अतः उन्होंने संयम का विरोध करके सुखवादी दृष्टिकोण अपनाया। सिरीनायक सिद्धान्त आगे चलकर एपीक्योरियन सिद्धान्त में परि-वर्तित हुआ, जिसने कि 'खाओ, पियो और मौज उड़ाओ' के आदर्श को नैतिक जीवन का लक्ष्य घोषित किया। वास्तव में सुकरात के दर्शन पर आधारित ये दो परस्पर-विरोधी नैतिक सिद्धान्त पश्चिमीय दर्शन के इतिहास में विभिन्न रूप धारण करके पुनः-पुनः प्रकट होते रहे हैं। कांट का बुद्धिवादी नैतिक दृष्टिकोण निस्सन्देह एक प्रकार का सिनिक

दृष्टिकोण है और मिल का 'सुखवाद' सिरीनायक सिद्धान्त का नवीन रूप है।

प्लेटो (४२७ से ३४७ ईसा से पूर्व)

सुकरात के पश्चात् जिस यूनानी दार्शनिक ने व्यवस्थित नैतिक दृष्टिकोण उपस्थित किया, वह सुकरात का विख्यात शिष्य प्लेटो (४२७ से ३४७ ईसा से पूर्व) था। प्लेटो का नैतिक सिद्धान्त उसके तत्त्वात्मक सिद्धान्त पर आधारित था। प्लेटो के अनुसार, मनुष्य की आत्मा एवं उसके व्यक्तित्व के तीन मुख्य अंग हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(१) तर्कात्मक अंग (Reasoning part)
(२) उच्चतम एवं उत्कृष्ट संवेगात्मक अंग (Part made up of the higher and nobler emotions)
(३) मूलप्रवृत्यात्मक अंग (Appetitive part)

व्यक्ति के तर्कात्मक अंग को विकसित करने के लिए प्लेटो ने ज्ञान (Prudence) के गुण का अनुसरण करने को धर्म माना है। उत्कृष्ट संवेदनात्मक अंग व्यक्ति को क्रियाशीलता के लिए प्रेरित करता है। अतः इस अंग के विकास के लिए प्लेटो के अनुसार साहस (Courage) के गुण की आवश्यकता है। मूलप्रवृत्यात्मक अंग, जो साधारणतया व्यक्ति को विषय-भोग आदि की ओर आकर्षित करता है, संयम (Temperance) के गुण की अपेक्षा करता है। अतः प्लेटो ज्ञान, साहस और संयम—तीन गुणों को मुख्य मानता है। इनके साथ ही साथ वह इन तीनों गुणों को परस्पर समन्वित करने के लिए चौथे गुण न्याय एवं विवेक को सर्वोपरि मानता है। उसका कहना है कि नैतिकता का उच्चतम स्तर केवल दार्शनिक ही प्राप्त कर सकता है।

यहां पर यह बात उल्लेखनीय है कि प्लेटो समाज एवं राष्ट्र को आत्मा एवं व्यक्ति के सदृश समझता है। उसके अनुसार, व्यक्ति के तीन अंग आदर्श समाज के तीन वर्ग होते हैं। उच्चतम वर्ग को प्लेटो ने राज्य करनेवाला वर्ग माना है और कहा है कि केवल उत्कृष्ट, विचारशील दार्शनिक ही राज्यसत्ता संभालने के योग्य हैं। उसके अनुसार, समाज का दूसरा अंग वह वर्ग है, जो समाज की रक्षा के लिए युद्ध करता है। समाज का तीसरा अंग वह वर्ग है, जो श्रम के द्वारा दूसरे दो वर्गों के लिए भोजन, कपड़ा, रहने का स्थान तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। प्लेटो यह भी कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के आधार पर ही विशेषवर्ग का सदस्य माना जा सकता है। जिन व्यक्तियों में तर्कात्मक अंग अधिक प्रभावशाली है, वे सत्ताधारी एवं रक्षक-वर्ग बनने के अधिकारी हैं; जिनमें प्रेरणात्मक एवं उत्कृष्ट संवेदनात्मक तत्त्व का आधिक्य है, वे सैनिक-वर्ग बनने के अधिकारी हैं और जिनमें मूलप्रवृत्यात्मक तत्त्व का प्राधान्य है एवं जिनमें इच्छाएं तर्क के अधीन नहीं होतीं, वे श्रमजीवी-वर्ग बनने के अधिकारी हैं। प्लेटो का यह दृष्टिकोण निस्सन्देह भारतीय दृष्टिकोण के सदृश है। इसमें अन्तर केवल इतना है कि भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा—चार तत्त्वों का

समन्वय है, जबकि प्लेटो के अनुसार वह केवल तर्क अथवा बुद्धि, उत्कृष्ट संवेग अथवा मन, मूलप्रवृत्त्यात्मक तत्त्व अथवा शरीर तीन तत्त्वों का समन्वय है। इसी प्रकार जहां भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार समाज एवं आदर्श राष्ट्र को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—चार वर्गों में विभक्त किया गया है, वहां प्लेटो उसे सत्ताधारी, योद्धा तथा श्रमिक तीन वर्गों में विभक्त करता है। भारतीय दृष्टिकोण की भांति प्लेटो भी स्वभाव के आधार पर ही व्यक्तियों का विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकरण करता है।

अरस्तू (३८४ से ३२२ ईसा से पूर्व)

यूनानी दर्शन के इतिहास में प्लेटो के पश्चात् अरस्तू ने अपने समय की नैतिक विचारधारा को अधिक व्यवस्थित किया। सुकरात द्वारा प्रतिपादित और प्लेटो द्वारा स्वीकृत ज्ञान, साहस, संयम तथा न्याय एवं विवेक—चार धर्मों एवं गुणों की अरस्तू ने विस्तृत व्याख्या की। उसने अपने समय के नैतिक जीवन का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। वह प्लेटो से इस बात में सहमत है कि उच्चतम नैतिकता का स्तर, सामान्य व्यक्ति के जीवन में नहीं, अपितु दार्शनिक के उच्चतर चिन्तन में उपलब्ध होता है। किन्तु अरस्तू आचार-विज्ञान के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अंगों में भेद मानता है और आचार-विज्ञान को मुख्यतया व्यावहारिक मानता है। यही कारण है कि उसके अनुसार केवल ज्ञान ही धर्म अथवा नैतिकता नहीं है, अपितु वह अभ्यास एवं आदत है। अरस्तू का नैतिक सिद्धान्त एक दृष्टि से सुखवादी माना जा सकता है। अरस्तू इस बात को स्वीकार करता है कि मनुष्य के लिए सुख शुभ है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह उसे मानवीय प्रयत्न का एकमात्र लक्ष्य मानता है। यह तो स्पष्ट है कि अरस्तू ऐसा नहीं मानता कि सुख का पीछा करने से मनुष्य नैतिक बन सकता है। अरस्तू के अनुसार, सुख स्वयं स्वलक्ष्य मूल्य नहीं है। इसके विपरीत जब हम अन्य स्वलक्ष्य उद्देश्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, तो हमें सुख स्वयं ही उपलब्ध हो जाता है। प्लेटो कहता है कि सुख किसी अन्य वस्तु का चिह्न है। जब हम किसी भी उचित लक्ष्य को प्राप्त करने में प्रयत्नशील होते हैं, तो हमें स्वतः ही सुख प्राप्त होता है। अतः सुख की प्राप्ति सच्चरित्र एवं उत्कृष्ट सदाचार के द्वारा होती है।

सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू के पश्चात् स्टायक तथा एपीक्योरियन सिद्धान्त ही नैतिकता के दो मुख्य दृष्टिकोण प्रभावशाली रहे। वास्तव में ये दोनों दृष्टिकोण केवल सैद्धान्तिक ही नहीं थे, अपितु व्यावहारिक दो प्रकार की जीवन-शैलियां थीं। स्टायक दृष्टिकोण के अनुयायी उस समय प्रभावशाली थे, जब यूनानी नागरिकता अवनति के पथ पर थी, अतः उन्होंने ज्ञान को उच्चतम आदर्श माना और त्याग के द्वारा सब आवश्यकताओं से स्वतन्त्र होने को ही नैतिकता समझा। किन्तु उनके दृष्टिकोण में क्रियाशीलता की अपेक्षा, निष्क्रियता और संशयवाद का प्रभाव अधिक था। एपीक्योरियन सिद्धान्त निवृत्ति के विरुद्ध था, किन्तु उसका उद्देश्य सांसारिक सुख को महत्त्व देना था।

एपीक्योरियन नैतिकता निस्संदेह सुखवादी नैतिकता थी। आरम्भ में तो इस सिद्धान्त का प्रवर्तक एपीक्योरस स्वयं निरंकुश इच्छाओं की तृप्ति में विश्वास नहीं रखता था, किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् एपीक्योरियनवाद का अर्थ 'खाओ, पियो और मौज उड़ाओ' के सिद्धान्त पर चलना ही रह गया।

मध्यकालीन नैतिक विचारधारा

मध्यकाल में आचार-सम्बन्धी चिन्तन पर यूनानी आचार-विज्ञान तथा ईसाई धर्म में प्रतिपादित आचार-विज्ञान का प्रभाव पड़ा। इस समय में, विशेषकर धार्मिक विचारों ने दर्शन पर प्रभाव डाला। न ही केवल इतना, अपितु धर्म का प्रभाव राजनीति पर भी पड़ा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म को प्रधान माना गया। अतः आलोचकों का कहना है कि मध्यकाल में दर्शन, धर्म की दासी-मात्र था। यूनानी समय में आचार-विज्ञान और राजनीति-विज्ञान में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था कि व्यक्ति का शुभ एवं उसका नैतिक विकास तथा राज्य (State) का शुभ एवं उसका नैतिक विकास अन्योन्याश्रित माने जाते थे। किन्तु मध्यकाल में विशेषकर ईसाई धर्म के प्रभाव के कारण, राजनीतिक तथा नैतिक क्षेत्र पृथक् कर दिए गए। ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य का वास्तविक जीवन इस लोक में नहीं, अपितु परलोक में है। उसके अनुसार परलोक पूर्णतया शुभ है और इस लोक में अशुभ तथा दुःख उपस्थित है। इसी प्रकार परलोक में अमरत्व है और लौकिक जीवन अस्थायी है। इसलिए लौकिक जीवन पारलौकिक जीवन की उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त करने के लिए एक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर है। इस विश्व में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं, जो निरपेक्ष रूप से शुभ हो। सांसारिक शुभ, पारलौकिक शुभ की प्राप्ति के साधन-मात्र हैं। इस प्रकार पारलौकिक जीवन को लौकिक जीवन से श्रेष्ठ मानकर और ईश्वर को दोनों लोकों का एकमात्र स्वामी घोषित करके ईसाई धर्म ने राजनीतिक आचार को गौण प्रमाणित किया और नैतिक जीवन को ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र साधन मानकर नैतिकता और राजनीति में एक दरार उत्पन्न कर दी। इस समय के नैतिक विचारों को समझने के लिए दो मुख्य विचारकों, सेंट टामस एक्वीनास तथा दान्ते के दृष्टिकोणों की संक्षिप्त व्याख्या करना आवश्यक है।

सेंट टामस एक्वीनास (१२२७ से १२७४)

सेंट टामस एक्वीनास का दर्शन तथा उसकी नैतिक विचारधारा ईसाई धर्म पर आधारित हैं। न ही केवल इतना, अपितु उसके राजनीतिक विचार भी ईसाई धर्म पर आश्रित हैं। सेंट टामस के अनुसार मनुष्य के दो अंग हैं—एक प्राकृतिक एवं स्वाभाविक और दूसरा आध्यात्मिक (Super-natural)। मनुष्य इन दोनों में से किसी भी स्तर पर रह सकता है; किन्तु उसकी मुक्ति इस लौकिक जीवन में न होकर, पारलौकिक जीवन में है। अतः उस मुक्ति की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक स्तर पर जीवन व्यतीत करना

नितान्त आवश्यक है। सेंट टामस के अनुसार ईश्वर की सत्ता, परम सत्ता है और उसी सत्ता का मनुष्य के प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक अंगों पर पूर्ण अधिकार है। मनुष्य का कर्तव्य ईश्वर की इच्छा को इस पृथ्वी पर प्रसारित करने के लिए और ईश्वरीय साम्राज्य को स्थापित करने के लिए नैतिक जीवन व्यतीत करना आवश्यक है। यह नैतिकता निस्सन्देह अहिंसा और प्रेम पर आधारित है। इसके अनुसार मनुष्य को अपने शत्रुओं से भी प्रेम करना कर्तव्य माना गया है।

दान्ते (१२६५ से १३२१)

दान्ते के सामने भी मुख्य समस्या लौकिक तथा ईश्वरीय शक्ति के परस्पर संबंध की थी। उसके अनुसार भी लौकिक शासक एवं राजनीतिज्ञ का आध्यात्मिक शासक के अधीन रहना आवश्यक है। सेंट टामस की भांति दान्ते भी मानता है कि मनुष्य के जीवन के प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक दो स्तर हैं और उनमें से आध्यात्मिक स्तर पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। वह भी इस बात को मानता है कि मनुष्य की आध्यात्मिक सत्ता परलोक में ही उपलब्ध है, किन्तु इसके साथ-साथ वह इस बात को मानता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसका चरम लक्ष्य अपनी सभी निहित शक्तियों को, विशेषकर बौद्धिक शक्ति को, अनुभूत करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने साथियों से सहकारिता करना आवश्यक है। दान्ते का कहना था कि कोई भी मनुष्य अन्य मनुष्यों की सहायता के बिना अपनी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। दान्ते ने यह अनुभूत किया कि व्यक्ति तथा समाज का विकास तभी हो सकता है, जब उसका वातावरण शान्त और सुरक्षित हो। अतः दान्ते ने सबसे प्रथम विश्व-राज्य की धारणा प्रस्तुत की है। उसने कहा है कि दार्शनिक के चिन्तनात्मक विकास के लिए, कलाकार की रचनात्मक कृति के लिए तथा वैज्ञानिक की खोज के लिए जीवन में शांति तथा सुरक्षा का होना नितान्त आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, दान्ते ने शान्ति को सभी शुभों का आधार माना है। उसने कहा है कि यह शान्ति तभी स्थापित हो सकती है, जब मानव-मात्र के लिए एक ही विश्व-राज्य स्थापित हो जाए। उसने जिस विश्व-राज्य की कल्पना की, वह पवित्र रोमन साम्राज्य था। उसकी यह धारणा थी कि विश्व का एक ही शासक राष्ट्रीय शासक की अपेक्षा राज्य के दुरुपयोग की लालसा से मुक्त हो सकता है, क्योंकि ऐसे शासक को किसी अन्य शत्रु का भय नहीं होगा और न ही उसकी किसी अन्य व्यक्ति से ईर्ष्या होगी। किन्तु दान्ते इस शासक को धार्मिक शासक ही मानता है। इससे यह स्पष्ट है कि दान्ते की विचारधारा पूर्णतया ईसाई धर्म से प्रभावित थी।

मेकीएवली (१४६९ से १५२७)

इससे पूर्व कि हम आधुनिक युग के नैतिक इतिहास पर प्रकाश डालें, मध्यकाल तथा आधुनिककाल के बीच के समय में उत्पन्न होनेवाले विख्यात राजनीतिक दार्शनिक

मेकीएवली के विचारों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

मेकीएवली ने नैतिकता के प्रति उल्लेख तो किया है, किन्तु उसने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि नैतिकता स्वलक्ष्य नहीं, अपितु मनुष्य की राजनीतिक सफलता का साधन-मात्र है। मेकीएवली भारतीय राजनीतिज्ञ चाणक्य की भांति कूटनीति का समर्थक है। उसकी विचारधारा राजनीतिक शक्ति एवं सत्ता प्राप्त करने के लक्ष्य को चरम लक्ष्य मानती है। सत्ता को प्राप्त करनेवाले व्यक्ति के लिए नैतिकता गौण है और अवसरवादिता ही उसके व्यवहार का आधार है। मेकीएवली इस दृष्टि से नैतिकता एवं धर्म दोनों को विद्वान शासक की सफलता के साधन मानता है। उसके अनुसार, नैतिकता तथा धर्म के आधार बाह्यात्मक नियम नहीं हैं और न ही वे ऐसे तत्त्व हैं, जो मनुष्य से स्वतन्त्र विश्व में अस्तित्व रखते हों; अतः वे मनुष्य के व्यवहार का निरपेक्ष मार्गदर्शन नहीं कर सकते। किन्तु नैतिकता के नियम शासक के लिए इसलिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं कि उनके द्वारा प्रजा में आज्ञा का पालन करने तथा शासक का सत्कार करने की भावना को प्रेरित किया जा सकता है। मेकीएवली धर्म तथा नैतिकता दोनों को शक्ति के अधीन करता है।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि मध्यकाल में जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों की भांति दार्शनिक-क्षेत्र में भी ईसाई धर्म में प्रतिपादित मान्यताओं का अधिक प्रभाव रहा, विशेषकर व्यावहारिक दर्शन एवं नैतिकता पर ईसाई धर्म ने जो प्रभाव डाला, वह अधिक स्थायी था। हम आगे चलकर देखेंगे कि आधुनिक युग के विचारकों ने भी आरम्भ में ईसाई धर्म को तर्क-संगत प्रमाणित करने की चेष्टा की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक दर्शन ने अन्धविश्वास को बहिष्कृत करके बौद्धिक तथा वैज्ञानिक विधियों को अपनाया है और विश्वास की अपेक्षा तर्क को श्रेष्ठ माना है। किन्तु ऐसा करते हुए भी न ही केवल आधुनिक दार्शनिकों ने, अपितु वर्तमान समय के (Contemporary) दार्शनिकों ने भी ईसाई धर्म की मान्यताओं को तर्क द्वारा पुष्ट करने की चेष्टा की है। उसका परिणाम यह हुआ है कि पश्चिमीय दार्शनिक-जगत् में, न ही केवल विज्ञान को धर्म से पृथक् माना गया है, अपितु तत्त्व-दर्शन को भी धर्म से बहिष्कृत किया गया है। किन्तु जहां तक नैतिकता का प्रश्न है, आज भी पश्चिमीय आचार-विज्ञान ईसाई धर्म की नैतिक मान्यताओं से प्रेरणा प्राप्त करता है।

आधुनिक युग में नैतिक विचारधारा

आधुनिक युग में नैतिक विचारधारा का विकास मध्ययुग की नैतिक विचारधारा की अपेक्षा अधिक जटिल अवश्य रहा है, किन्तु जब हम इस विकास के विभिन्न विचारकों के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं, तो हमें तीन मुख्य दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(१) अन्तर्दृष्टिवादी सिद्धान्त (Intuitionist school)

(२) तर्कात्मक सिद्धान्त (Rational school)

(३) उपयोगितावादी सिद्धान्त (Utilitarian school)

इन तीन मुख्य विचारधाराओं में परस्पर मतभेद होने के कारण अन्य वर्तमान सिद्धान्तों का भी उद्भव हुआ। वर्तमान समय में विकासवादी सिद्धान्त तथा जर्मन दार्शनिकों के महान प्रत्ययवादी सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। किन्तु हम इस नैतिक विचारधारा के विकास का केवल संक्षिप्त अध्ययन कर सकते हैं। इनका विस्तृत अध्ययन तो यथास्थान नैतिक सिद्धान्तों की व्याख्या करते समय किया जाएगा।

आधुनिक युग में जो नैतिक विचारधारा सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से दार्शनिक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होती है, वह उस भौतिकवादी सिद्धान्त पर आधारित है, जिसके दो मुख्य समर्थक गसंडी तथा हाब्ज़ (१५८८–१६७९) माने जा सकते हैं। गसंडी का दृष्टिकोण निस्सन्देह एपीक्योरियनवादी दृष्टिकोण था। किन्तु हाब्ज़ का नैतिक सिद्धान्त मौलिक होने के कारण उल्लेखनीय है। उसे हम आत्मवादी दार्शनिक (Subjectivistic philosopher) कह सकते हैं। हाब्ज़ अपने सिद्धान्त को निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक कथन पर आधारित करता है, "सब मनुष्य स्वभाव से अहंवादी हैं।"[1] हाब्ज़ इस बात को स्वयंसिद्ध मानता था कि अहंभाव मनुष्य का स्वभाव है, किन्तु हाब्ज़ का यह अहंवादी दृष्टिकोण एक विशेष ज्ञान के सिद्धान्त पर आधारित था। इस सिद्धान्त को वह अन्तरवाद एवं व्यक्तिवाद (Solipsism) कहता है, जिसके अनुसार हम केवल उन्हीं विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जो हमारे व्यक्तिगत मन की क्रियाएं होती हैं। यदि मैं केवल अपनी मानसिक प्रक्रियाओं को जान सकता हूं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मेरे मन से बाहर की किसी भी वस्तु से मेरा सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा सत्य हो, तो प्रश्न यह होता है कि परमार्थ (Altruism) एवं समाज-सेवा में हमारा विश्वास कैसे उत्पन्न होता है। हाब्ज़ इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि मनुष्य अपने स्वभाव से तो स्वार्थी एवं अहंवादी है, किन्तु वह समाज में रहकर आत्मसिद्धि की अनेक सुविधाएं प्राप्त करता है। अतः समाज-सेवा से भी व्यक्ति को निजी लाभ होता है। नैतिक गुण अथवा धर्म के विषय में हाब्ज का कहना है कि शुभ वही वस्तु है, जो हमारी भूख को तृप्त करती है, हमारी इच्छा को पूरा करती है। उसका कहना है कि जो कुछ भी किसी मनुष्य की भूख अथवा इच्छा का विषय है, वह (व्यक्ति) उसीको ही शुभ कहता है और जो कुछ उसकी घृणा एवं अनिच्छा का विषय है, वह उसे अशुभ एवं अवांछनीय कहता है। अतः हम कह सकते हैं कि हाब्ज़ का नैतिक दृष्टिकोण व्यक्तिगत सुखवादी दृष्टिकोण है।

हाब्ज़ का यह संकुचित दृष्टिकोण केम्ब्रिज के अंतर्दृष्टिवादी विचारकों द्वारा अस्वीकार किया गया। इन विचारकों में से मुख्य शेफ्ट्सबरी (१६७१–१७१३), बिशप बटलर (१६९२–१७५२) तथा हैचीसन (१६९४–१७४७) थे। इन विचारकों में से शेफ्ट्सबरी तथा हैचीसन ने जिस प्रकार के अंतर्दृष्टिवाद को प्रतिपादित किया, उसे नैतिक भावका

१. "All men are egoists."

सिद्धांत (Moral sense school) कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ में स्वतः ही अपने अन्तस् से ठीक उसी प्रकार विवेक करते हैं, जिस प्रकार कि सुन्दर-असुन्दर में भेद करते हैं। इस सिद्धान्त का विस्तृत अध्ययन हम आगे चलकर करेंगे। यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि इस सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता, अर्जित न होकर एक अन्तर्निहित जन्मजात प्रवृत्ति है, जो मनुष्य में स्वाभाविक होती है। बटलर ने जो अन्तर्दृष्टिवादी सिद्धान्त प्रतिपादित किया, वह अन्तःकरणवाद कहा जा सकता है। उसके अनुसार, अन्तःकरण मनुष्य में स्थित ऐसा अन्तर्निहित नियम है, जो मनुष्य का उच्चतम स्वभाव है और जिसके कारण मनुष्य सत्-असत् और शुभ-अशुभ में विवेक करता है। यही अन्तःकरण मनुष्य को परमार्थी बनने के लिए प्रेरित करता है। अन्तःकरण का नियम बटलर के अनुसार एक परम नियम है और ऐसी अन्तर्निहित सत्ता है, जो निरपेक्ष है। यही परम नियम मनुष्य को स्वार्थी बनने से रोकता है और उसे पाशवी प्रवृत्तियों के आवेश में आने से सुरक्षित रखता है। दूसरे शब्दों में, अन्तःकरण ही मनुष्य में परमार्थ की भावना जागरित करता है। बटलर के इस सिद्धान्त का अध्ययन भी यथास्थान विस्तारपूर्वक किया जाएगा। यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि बटलर का अन्तर्दृष्टिवाद एक प्रकार का नवीन प्लेटोवाद है। नैतिक भाव का सिद्धांत तथा बटलर का अन्तःकरणवाद—दोनों अन्तर्दृष्टिवाद हैं। ये सत्-असत् के विवेक को जन्मजात एवं अन्तर्निहित मानते हैं। इसी विचारधारा से एक अन्य अन्तर्दृष्टिवादी विचारधारा का जन्म हुआ, जिसको कि तर्कात्मक सिद्धान्त (Rational school) कहा जाता है।

तर्कात्मकवाद का आरम्भ तो जॉन लॉक से माना जा सकता है, किन्तु क्लार्क (१६७५–१७२९) तथा वलास्टन (१६५९–१७२४) भी इसी दृष्टिकोण के मुख्य समर्थक हुए हैं। क्लार्क ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि जिस प्रकार प्रकृति के नियम अनिवार्य हैं, उसी प्रकार नैतिक औचित्य भी अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में, वह गणितशास्त्र तथा भौतिक-विज्ञान के आधार पर नैतिक भाव के सिद्धान्त को प्रमाणित करने का प्रयत्न करता है। उसकी यह धारणा है कि नैतिक विवेक का नियम ईश्वर ने मनुष्य में उत्पन्न किया है। यही तर्कात्मक विचारधारा कांट के तर्कात्मक नैतिक सिद्धान्त में चरम सीमा पर पहुंची। कांट का निरपेक्ष आदेशवाद (Categorical imperative) नैतिकता को उस अन्तर्निहित तर्कात्मक अनिवार्य नियम पर आधारित करता है, जो प्रत्येक सामान्य व्यक्ति को शुभ संकल्प पर चलने के लिए प्रेरित करता है। कांट का यह दृष्टिकोण एक ऐसे नैतिक सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है, जो नैतिक मूल्यों को बाह्यात्मक एवं विश्वव्यापी सत्ता प्रदान करता है। हम कांट के नैतिक सिद्धान्त का अध्ययन भी यथास्थान विस्तारपूर्वक करेंगे। यहां पर इतना कह देना पर्याप्त है कि कांट तथा उसके अनुयायियों का दृष्टिकोण प्लेटो तथा अरस्तू के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता है। कांट के नैतिक विचारों ने प्रत्ययवादी सिद्धान्त (Idealism) पर विशेष प्रभाव डाला। इसके फलस्वरूप इंगलैण्ड के

विख्यात नैतिक विचारकों तथा दार्शनिकों ग्रीन, ब्रैडले तथा बोसांके ने अपनी-अपनी नैतिक विचारधाराएं प्रस्तुत कीं। इसके साथ ही साथ प्रत्ययवाद की आलोचना के फलस्वरूप कुछ अंग्रेज विचारकों ने इस तथ्य पर अधिक बल दिया कि शुभ वही है, जो समाज के लिए कल्याणकारी है अथवा जो मानव-मात्र के सुख को उत्पन्न करता है। इस प्रकार की आलोचना ने सार्वजनिक सुखवाद एवं उपयोगितावाद (Utilitarianism) को जन्म दिया। उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर हम नैतिक आदर्शों (Moral standards) का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर सकते हैं।

पांचवां अध्याय

सुखवादी नैतिक सिद्धांत

(Hedonistic Theory of Morality)

यदि हम नैतिकता के आरम्भ की समस्या को लेकर यह जानने की चेष्टा करें कि मनुष्य में अत्-असत् और शुभ-अशुभ का विवेक कब से उत्पन्न हुआ, तो हमें यह कहना पड़ेगा कि नैतिक धारणा तथा मनुष्य में तर्क करने की शक्ति एकसाथ ही उत्पन्न हुई हैं। दूसरे शब्दों में, नैतिकता का इतिहास मनुष्य के सभ्य होने का इतिहास है। जिस दिन से मनुष्य में आत्मचेतना एवं विचारशीलता उत्पन्न हुई है, उसी दिन से वह अपने व्यवहार का मूल्यांकन करने लगा है और औचित्य के आधार पर एक कर्म को दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं नैतिक समझने लगा है। विश्व की विभिन्न संस्कृतियों का इतिहास प्राचीनतम इतिहास है। मिस्र की सभ्यता तथा भारत की सभ्यता सहस्रों वर्ष पूर्व की सभ्यताएं हैं। इनके अध्ययन से यह पता चलता है कि मनुष्य की नैतिक औचित्य की धारणाएं बहुत प्राचीन हैं। इसी प्रकार यूनान में भी कम से कम तीन हज़ार वर्ष पूर्व नैतिक तथा सांस्कृतिक जीवन एक उच्च शिखर पर पहुंचा हुआ था। नैतिक आदर्शों की रक्षा के लिए मनुष्य अपना सर्वस्व त्याग देते थे और अपना जीवन तक बलिदान कर देते थे। भारतीय इतिहास में रामायण तथा महाभारत की घटनाएं इस बात की साक्षी हैं कि नैतिक आदर्श का पालन करने के लिए राजा अपना राज्य त्याग देते थे और प्रजा सदाचारी राजा के लिए अपना जीवन तक न्योछावर करने को तत्पर रहती थी। यूनान के इतिहास में भी ऐसी घटनाएं घटी हैं, जिनमें सुकरात जैसे दृढ़ चरित्रवाले व्यक्तियों ने नैतिक आदर्श को जीवन से अधिक प्रिय समझा है।

आचार-विज्ञान के व्यवस्थित होने से पहले एवं नैतिक आदर्शों को व्यवस्थित एवं सैद्धान्तिक रूप देने से पहले भी मानवीय व्यवहार का नैतिक मूल्यांकन किया जाता था और सदाचार को उत्कृष्ट तथा दुराचार को निकृष्ट माना जाता था। किन्तु पश्चिम में यूनानी दार्शनिकों के समय से और पूर्व में उपनिषदों के समय से, नैतिकता पर गम्भीर चिन्तन आरम्भ हुआ और दार्शनिक व्यवहार की नैतिकता के सम्बन्ध में व्यवस्थित सिद्धांत प्रतिपादित करने लगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सिद्धान्तों का आरम्भ जनसाधारण के अनुभव पर आधारित था और उसका मूल्यांकन सामान्य व्यक्ति के लिए बुद्धिगम्य

था। नैतिकता के मूल्यांकन में जो प्रश्न सामान्य व्यक्ति के मन में सबसे पहले उत्पन्न होता है, वह यह है कि हम एक कर्म को शुभ और वांछनीय क्यों मानते हैं और दूसरे को अशुभ और अवांछनीय क्यों मानते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक युग के विचारकों ने दिया है। उनमें से जिन्होंने बहुमत के अनुभव का अनुसरण करते हुए यह स्वीकार किया है कि वांछनीय एवं शुभ कर्म वही होता है जो सुखद हो और अवांछनीय एवं अशुभ कर्म वह होता है जो दुखद हो, ऐसे नैतिक चिन्तकों को सुखवादी (Hedonists) कहा गया है और ऐसी धारणा को सुखवाद का नाम दिया गया है। दूसरे शब्दों में, सुखवाद वह सिद्धान्त है, जो मानवीय व्यवहार का मूल्यांकन, सुख-दुःख पर आधारित करता है और सुख को ही शुभ तथा दुःख को अशुभ घोषित करता है। यूनान में इस विचारधारा को व्यवस्थित रूप से सबसे पहले एपीक्योरस ने रखा। अतः उसने प्रत्येक मनुष्य को 'खाओ, पियो और मौज उड़ाओ' का उपदेश दिया। भारतीय दर्शन के इतिहास में भी यह विचार-धारा प्राचीन है। कुछ सूत्रों के अनुसार, सुखवादी नैतिक सिद्धान्त उपनिषदों के समकक्ष माना गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चार्वाक-दर्शन, जो सम्भवतया अन्य सभी दर्शनों से प्राचीन है, एक सुखवादी नैतिक आदर्श है। कहा जाता है कि इस दर्शन के प्रवर्तक बृह-स्पति थे। भारतीय सुखवाद का आरम्भ जैसे भी हुआ हो, यह बात सत्य है कि चार्वाक एवं भारतीय सुखवाद के अनुसार, यह स्वीकार किया गया है कि संगत जीवन वही है, जो सुखमय है। इस दृष्टिकोण के अनुसार यह कहा गया है :

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।"

अर्थात् "मनुष्य जब तक जिए सुख से जिए ऋण लेकर भी पौष्टिक भोजन का सेवन करे।"

इस प्रकार के सुखवादी विचार प्राचीनतम विचार हैं। आधुनिक समय में विशेष-कर मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रगति होनेके कारण और दर्शनमें तर्कात्मक तथा आलोचना-त्मक विधियों के प्रयोग के कारण, सुखवाद को एक व्यवस्थित सिद्धान्त बना दिया गया है। सुखवाद के दो मुख्य सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedo-nism) तथा नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism) हैं। नैतिक सुखवाद को दो अन्य शाखाओं में विभक्त किया गया है, जिन्हें व्यक्तिगत सुखवाद (Egoistic Hedonism) तथा सामूहिक सुखवाद एवं उपयोगितावाद (Altruistic Hedonism or Utilita-rianism) कहा जाता है। सुखवाद के दो अन्य भेद तात्कालिक सुखवाद तथा दूरवर्ती सुखवाद हैं। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार, मानवीय व्यवहार स्वभावतया सुख-दुःख पर आधारित है। हम उसी कर्म की स्वाभाविक रूप से इच्छा करते हैं, जो सुखद होता है और उस कर्म की इच्छा नहीं करते, जो दुःखदायी होता है। नैतिक सुखवाद के अनुसार, यह प्रतिपादित किया जाता है कि हमें सुख को ही अपने कर्म का लक्ष्य बनाना चाहिए। व्यक्तिगत सुखवाद के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति का निजी सुख ही चरम लक्ष्य है, किन्तु सामूहिक सुखवाद यह प्रतिपादित करता है कि अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक सुख ही नैतिक लक्ष्य है। तात्कालिक सुखवाद की यह धारणा है कि भविष्य के

सुख की अपेक्षा वर्तमान सुख अधिक वांछनीय एवं श्रेष्ठ है। दूरवर्ती सुखवाद, वर्तमान सुख की अपेक्षा भविष्य के सुख को अधिक वांछनीय मानता है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि इसकी धारणा यह प्रमाणित करने की चेष्टा करती है कि शुभ का सामान्य लक्षण सुख है। इसके अतिरिक्त, जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे, कुछ नैतिक सुखवादी धारणाएं मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित हैं। यही कारण है कि नैतिक सुखवाद को समझने तथा उसका मूल्यांकन करने के लिए मनोवैज्ञानिक सुखवाद का उल्लेख करना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद की मान्यता है कि हमारे कर्म का एकमात्र प्रेरक सुख है और हम उसी कर्म को करने की इच्छा करते हैं, जो हमें सुखद प्रतीत होता है। इसके विपरीत जो कर्म दुःख-दायी होता है, हम कदापि उसकी इच्छा नहीं करते। इस दृष्टिकोण को दो विख्यात विचारकों, बैन्थम तथा मिल ने प्रतिपादित किया है। बैन्थम ने अपनी पुस्तक 'विधान के नियम' (Principles of Legislation) में मनोवैज्ञानिक सुखवाद को प्रतिपादित करते हुए लिखा है, "प्रकृति ने मनुष्य को सुख तथा दुःख के साम्राज्य के आधिपत्य में रखा है। हमारे सभी विचार इन्हीं (सुख तथा दुःख) के कारण हैं। हम अपने सभी निर्णय तथा जीवन-सम्बन्धी सभी संकल्प इन्हींपर आधारित करते हैं। जो व्यक्ति इनके साम्राज्य से मुक्त होने का बहाना करता है, वह अज्ञानी है। जब वह वड़े से बड़े सुखों का बहिष्कार करता है अथवा विषद दुःखों को स्वीकार करता है, उस समय भी उसका एकमात्र उद्देश्य सुख का अनुसरण करना तथा दुःख से संकोच करना है। नैतिक तथा विधान के निर्माता को इन शाश्वत तथा अनिवार्य स्थायी भावों का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए।" बैन्थम के अनुसार, जो व्यक्ति सुखों का त्याग करने का हठ करता है और इस प्रकार दुःख को अपनाता है, वह भी मानो सुखवाद के नियम का अनुसरण कर रहा है। किन्तु बैन्थम की यह धारणा, जोकि सुख को ही एकमात्र कर्म का प्रेरक मानती है, एक भ्रान्त धारणा है और इसमें विरोधाभास है। इस विरोधाभास की व्याख्या हम आगे चलकर करेंगे। यहां पर केवल इतना कह देना आवश्यक है कि हम सम्भवतया जिस वस्तु को लक्ष्य बनाते हैं, उसको सुखद समझ लेते हैं। दूसरे शब्दों में, हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति के विचार में सुख का अनुभव करते हैं, किन्तु इसका भी अभिप्राय यह नहीं कि सुख हमारा उद्देश्य होता है। मिल के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने से पूर्व, इसी प्रकार के एक अन्य भ्रान्त दृष्टिकोण का उल्लेख करना आवश्यक है। ए० ई० टेलर ने भी सुखवाद की पुष्टि इसी प्रकार के विचार पर आधारित की है।

महाशय टेलर ने आचार-विज्ञान पर जो पुस्तक लिखी है, उसका शीर्षक 'व्यवहार की समस्या' (Problem of Conduct) है। इस पुस्तक में उसने सुखवाद का निरूपण करते हुए लिखा है, "जैसाकि हमने पहले कहा है, आधारभूत नैतिक तथ्य यह है कि किसी वस्तु को उचित अथवा अनुचित स्वीकार किया जाता है। दूसरे शब्दों में, हमारी संवेदना प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा विचार जैसी विशेष घटनाओं की विचारात्मक

अभिव्यक्ति तभी होती है, जब उनमें सुख अथवा दुःख का भाव उपस्थित होता है।"[1] साधारण भाषा में हम प्रायः 'मैं यह चाहता हूं, मैं इसे पसन्द करता हूं' जैसे कथनों को 'मैं इसे शुभ समझता हूं' कथन के समकक्ष घोषित करते हैं। वास्तव में पसन्द करना और शुभ, दो विभिन्न तथ्य हैं, इसी कारण हम इस भ्रान्ति में पड़ जाते हैं कि नैतिक निर्णयों का एकमात्र वर्ग, सुखद वस्तुएं ही हैं। वास्तव में हम यह जानते हैं कि हम सदैव उन सभी वस्तुओं को वांछनीय घोषित नहीं करते, जो हमें सुखद प्रतीत होती हैं। इसके विपरीत हम कई बार दुःखदायी वस्तुओं को भी वांछनीय इसलिए मानते हैं कि उनका परिणाम शुभ होता है। हम इस दृष्टिकोण को मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना में अधिक स्पष्ट करेंगे।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की व्याख्या मिल के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किए बिना अपूर्ण रहेगी। जे० एस० मिल को उपयोगितावाद का प्रवर्तक माना गया है। उपयोगितावाद निस्सन्देह नैतिक सुखवाद है और इसकी व्याख्या इसी अध्याय में आगे चलकर की जाएगी, किन्तु मिल नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित करता है। उसने अपनी पुस्तक 'उपयोगितावाद' में इस दृष्टिकोण को निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है, "और अब यह निश्चित करने के लिए कि क्या वास्तव में ऐसा होता है, क्या मनुष्य सुख के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करते, अथवा उस वस्तु के अतिरिक्त कुछ भी इच्छा नहीं करते, जिसकी अनुपस्थिति में दुःख होता है; हम ऐसे प्रश्न पर पहुंच गए हैं जोकि तथ्यात्मक और अनुभवात्मक प्रश्न है और जोकि अन्य सभी ऐसे प्रश्नों की भांति साक्षी पर निर्भर है। इसका निर्णय अन्य व्यक्तियों के निरीक्षण की सहायता से अनुभवी आत्मचेतना तथा आत्मनिरीक्षण द्वारा किया जा सकता है। मेरा यह विश्वास है कि यदि साक्षी के इन स्रोतों का तटस्थ रूप से अध्ययन किया जाए, तो वे घोषणा करेंगे कि किसी वस्तु के प्रति इच्छा करना और उसे सुखद अनुभव करना, उसकी अनिच्छा करना तथा उसे दुःखद मानना ऐसे तथ्य हैं जो सर्वथा अभिन्न हैं अथवा एक ही तथ्य के दो अंग हैं; स्पष्ट भाषा में वे एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य के नामकरण के दो रूप हैं; और किसी वस्तु की उसके विचार में निहित सुख के अनुपात से अतिरिक्त इच्छा करना भौतिक तथा तत्त्वात्मक दृष्टि से असम्भव है।"[2]

मिल का मनोवैज्ञानिक सुखवाद निस्सन्देह एक भ्रान्त सिद्धान्त है। इससे पूर्व कि

१. "The primary Ethical fact is, we have said, that something is approved or disapproved; that is, in other words, the ideal representation of certain events in the way of sensation, perception, or idea, is attended with a feeling of pleasure or of pain."

—Problem of Conduct by A. E. Taylor, Page 120.

२. "And now to decide whether this is really so; whether mankind do desire nothing, but that which is a pleasure to them, or of which

हम इस सिद्धान्त की त्रुटियों पर प्रकाश डालें, उपर्युक्त कथन में जो विरोधाभास है, उसको स्पष्ट कर देना आवश्यक है। मिल एक ओर तो यह मानकर चलता है कि किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखद समझना एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य के दो नाम हैं, दूसरी ओर वह यह कहता है कि इच्छा तथा सुख के एकत्व का प्रश्न ऐसा है जिसको कि अनुभवी आत्मचेतना तथा आत्मनिरीक्षण के द्वारा निश्चित किया जा सकता है। यदि पहला कथन सत्य है, यदि इच्छा और सुख का तादात्म्य है, तो अनुभव कदापि हमें उनका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं दे सकता। उस अवस्था में तो यह तथ्य स्वयंसिद्ध ही होना चाहिए। मिल इस बात को भूल जाता है कि इच्छा में स्वयं सुख की भावना निहित होती है, किन्तु वह भावना केवल हमारे निर्वाचन के कारण होती है, न कि उस भावना के कारण हम विशेष इच्छा का निर्वाचन करते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारी इच्छा की निर्णायक सुख की भावना-मात्र नहीं होती, अपितु हमारा सविकल्पक निर्णय स्वत: ही सुख की भावना का अनुभव कराता है। मिल के विरुद्ध हेनरी सिजविक ने भी विरोधाभास का आरोप लगाया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे सविकल्पक कर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यह प्रमाणित करता है कि हमारी इच्छा सुख पर आधारित नहीं होती, अपितु वस्तु के उन लक्षणों पर आधारित होती है, जिनको कि हम सुख की अपेक्षा किन्हीं अन्य कारणों से शुभ के लक्षण मानते हैं। मनोवैज्ञानिक सुखवाद की हम निम्नलिखित आलोचना कर सकते हैं :

सर्वप्रथम यह बताना आवश्यक है कि मिल का उपर्युक्त कथन, जोकि मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आधारशिला माना जाता है, सर्वथा भ्रान्त और परस्पर-विरोधी विचारों की अभिव्यक्ति है। एक ओर तो मिल 'इच्छा करने' तथा 'सुखद मानने' की प्रक्रियाओं को एक प्रक्रिया स्वीकार करके चलता है और कहता है कि ये दोनों वास्तव में 'एक ही मनोवैज्ञानिक तथ्य को बतलाने की दो विभिन्न विधियां हैं' और दूसरी ओर वह कहता है कि हम इच्छा तथा सुख के तादात्म्य अथवा उनके पार्थक्य की समस्या को

---

the absence is a pain ; we have evidently arrived at a question of fact and experience, dependent, like all similar questions, upon evidence. It can only be determined by practised self-consciousness and self-observation, assisted by observation of others. I believe that these sources of evidence, impartially consulted will declare that desiring a thing and finding it pleasant, aversion to it and thinking of it as painful, are phenomena entirely inseparable, or rather two parts of the same phenomenon ; in strictness of languages, to different modes of naming the same psychological fact ;...........and that to desire anything, except in proportion as the idea of it is pleasant is a physical and metaphysical impossibility."

—Utilitarianism by J. S. Mill, Chapter IV.

'अनुभवी आत्मचेतना तथा आत्मनिरीक्षण के द्वारा' सुलझा सकते हैं। मिल इस बात की अवहेलना करता है कि यदि इच्छा और सुख एक ही तथ्य के दो विभिन्न नाम हैं, तो यह बात स्वयंसिद्ध होनी चाहिए और इसके लिए न तो 'अनुभवी आत्मचेतना' की आवश्यकता है और न हमारा अनुभव कदापि यह प्रमाणित कर सकता है कि ये दोनों पृथक् तत्त्व हैं। वास्तव में सुख और संकल्प अथवा इच्छा के तत्त्व को हम एक प्रमाणित नहीं कर सकते। सुख का अर्थ निस्सन्देह वह तृप्ति है, जो हमारी आवश्यकताओं के पूरा होने के पश्चात् अनुभूत होती है, जबकि इच्छा हमारे संकल्प अथवा निर्वाचन की क्रिया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, हम यह प्रमाणित कर सकते हैं कि हमारी इच्छा सुख द्वारा निर्दिष्ट नहीं होती।

सुखवादियों ने इस तथ्य की भी अवहेलना की है कि सुख अथवा सुखद तृप्ति अपने-आपमें कुछ अस्तित्व नहीं रखती और अनेक ऐसे सुखद अनुभव हैं, जो विशेष विषयों की इच्छा के बिना निरर्थक और अस्तित्वहीन हैं। दूसरे शब्दों में, बहुत-से ऐसे सुखद अनुभव हैं, जिनको सुख की इच्छा केवल तभी कहा जा सकता है, जबकि उनकी पहले अपेक्षा अथवा आवश्यकता अनुभूत की जाए। उदाहरणस्वरूप, दाक्षिण्य अथवा उदारता के सुख को लीजिए। कोई भी व्यक्ति जिसने कभी दूसरे लोगों की भलाई की इच्छा न की हो, दान अथवा दक्षिणा में निहित सुख का अनुभव नहीं कर सकता और न ही उसकी इच्छा कर सकता है। तथ्य तो यह है कि सुख कुछ विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् उत्पन्न होता है और आवश्यकताएं तृप्ति से पूर्व घटित होती हैं। अतः हम किसी वस्तु में निहित सुख के अनुभव की इच्छा करने से पूर्व, उस वस्तु की तटस्थ भावना से इच्छा करते हैं। यह बात ऐन्द्रिय सुख देनेवाली घटनाओं के विषय में भी सत्य प्रमाणित होती है। महाशय रेशडाल ने इस दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुए विशेष प्रकार की मदिरा पीने की इच्छा का उदाहरण दिया है। मान लीजिए कि एक व्यक्ति ने कभी शेम्पेन नाम की मदिरा को नहीं पिया है और न ही वह मदिरा पीने को नैतिक समझता है। यदि उस व्यक्ति को उसके जाने बिना लेमन सोडे में थोड़ी-सी शेम्पेन मदिरा मिश्रित करके पिला दी जाए, तो वह उसका रसास्वादन करने के पश्चात् दूसरी बार लेमन का सोडा मांगते समय इच्छा प्रकट करेगा कि उसे पहलेवाला सोडा कटु स्वादवाला लेमन सोडा पीने को दिया जाए। इस उदाहरण का उद्देश्य यह है कि सुखद वस्तु अपने-आपमें मूल्य नहीं रखती, अपितु अनुभव के पश्चात् व्यक्ति वस्तु-विशेष को सुखद मानने लगता है और उसकी इच्छा करने लगता है। अनेक ऐसी वस्तुएं होती हैं जो सामान्य व्यक्ति के लिए दुःखद होती हैं, किन्तु जब उनको सेवन करने की आदत पड़ जाती है, तो वे ही दुःखद वस्तुएं सुखद प्रतीत होने लगती हैं। उदाहरणस्वरूप, कॉफी पीने की आदत को लीजिए। जो व्यक्ति प्रथम बार कॉफी पीता है, उसे वह बहुत कटु लगती है और वह उस कटुता में दुःख का अनुभव करता है, किन्तु जब अनेक बार कॉफी का सेवन करने के पश्चात् धीरे-धीरे उस व्यक्ति की कॉफी पीने की आदत पड़ जाती है, तो उसके लिए

कॉफी की इच्छा सुख की इच्छा हो जाती है। इन उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि सुख अथवा किसी प्रकार की तृप्ति की इच्छा करने से पूर्व, वस्तु-विशेष की तटस्थ रूप से इच्छा करना आवश्यक होता है। अतः हम इच्छा का मूल्यांकन सदैव सुख की भावना के आधार पर नहीं करते।

इसके अतिरिक्त जैसाकि सिजविक ने भी कहा है, तथ्य तो यह है कि हम जिस वस्तु की इच्छा करते हैं वह हमारा लक्षित विषय होता है, न कि उससे सम्बन्धित तुष्टि अथवा तृप्ति। यही कारण है कि सुख की प्राप्ति की इच्छा करनेवाले के लिए यह आवश्यक है कि यदि वह वास्तव में सुख का अनुभव करना चाहता है, तो वह प्रयत्नशील होते समय उस सुख को पूर्णतया विस्मृत कर दे। दूसरे शब्दों में, जब हम सुख की इच्छा करते भी हैं, तो ऐसा करने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि सुख को प्राप्त करने के लिए हमें उसे विस्मृत कर देना चाहिए। यदि हम सुख की प्राप्ति से पूर्व प्रयत्न करने की अपेक्षा सुख का ही चिन्तन करते रहें, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम सुख से वंचित रह जाएंगे। इसके विपरीत, यदि हम सुख की अपेक्षा लक्षित विषय को प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहें, तो हमें स्वतः ही सुख प्राप्त हो जाता है। इसी दृष्टि मे ही भगवद्गीता में फल की इच्छा के बिना, कर्म करने को सबसे उत्तम नैतिक आदर्श माना गया है। विशेषकर उन सुखों के सम्बन्ध में, जिनकी प्राप्ति के लिए सतत प्रयास किया जाता है, निष्काम कर्म की आवश्यकता रहती है। उदाहरणस्वरूप, किसी ऐसे खेल को ले लीजिए, जिसमें विजय प्राप्त करने का संघर्ष रहता है। इस खेल में भाग लेनेवाला कोई भी सामान्य खिलाड़ी खेल में प्रविष्ट होने से पूर्व, विजय की इच्छा नहीं रखता। वास्तव में संघर्ष में प्रविष्ट होने से पूर्व वह ऐसा संकल्प करने में कठिनाई अनुभव करता है कि वह विजय प्राप्त करने से किस प्रकार सुख का अनुभव करेगा। खेल के आरम्भ होने से पूर्व, वह जिस वस्तु की इच्छा करता है, वह विजय से उत्पन्न सुख नहीं है, अपितु संघर्ष की सुखद उत्सुकता है। यदि कोई खिलाड़ी संघर्ष में रुचि लेने की अपेक्षा, खेलते समय विजय प्राप्त करने के सुख की कल्पना करता रहे, तो यह निश्चित है कि वह न तो विजय प्राप्त कर सकेगा और न उससे उत्पन्न सुखद भावना की अनुभूति कर सकेगा।

पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिए, निष्काम भावना नितान्त आवश्यक है। किसी भी संघर्ष में कोई भी व्यक्ति उस समय तक सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता, जब तक कि वह अपने-आपको सुख की इच्छा से विरक्त न कर ले। अतः सुखवाद की विधि, एक विरोधाभास उत्पन्न करती है, क्योंकि उसके अनुसार सुख की प्रवृत्ति यदि आवश्यकता से अधिक प्रभावशाली हो, तो वह अपने लक्ष्य में असफल रहती है। दूसरे शब्दों में, सुखवाद को यह मानना पड़ता है कि सुख की प्राप्ति के लिए सुख को विस्मृत करना एवं सुख के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को लक्षित करना आवश्यक है। यदि हम उच्च प्रकार के सुख एवं आनन्द के अनुभव का विश्लेषण करें, तो भी हमें यह मानना पड़ेगा कि वास्तविक आनन्द निष्काम संघर्ष से ही प्राप्त होता है। एक विख्यात अंग्रेजी साहित्यकार ने

लिखा है, "आनन्द की अनुभूति का मूल तत्त्व आत्मविस्मृति है।"[१] इससे यह प्रमाणित होता है कि हम सदैव अपनी इच्छाओं को सुख एवं तुष्टि-मात्र पर आधारित नहीं करते।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की भ्रान्त धारणा का एक कारण यह भी है कि सुख, जिसका पर्यायवाची अंग्रेज़ी भाषा में 'प्लैज़र' (Pleasure) है, वास्तव में द्विर्थक शब्द है। एक दृष्टि से तो सुख को सुखद भावना एवं तुष्टि की भावना समझा जाता है और दूसरी दृष्टि से, सुख का अर्थ वह विषय है, जोकि तुष्टि प्रदान करता है। दूसरी दृष्टि के अनुसार ही हम कहते हैं कि स्वस्थ शरीर एक सुख है, धन की प्राप्ति दूसरा सुख है, एक अच्छी गृहिणी तीसरा सुख है इत्यादि। उपर्युक्त तीनों विषय स्वयं सुख की भावना तो नहीं हैं, किन्तु वे तुष्टि एवं सुखद भावना प्रदान करनेवाले हैं। जहां हम सुख शब्द को इस दृष्टि से प्रयोग में लाते हैं, तो विशेषकर अंग्रेज़ी भाषा में सुख को बहुवचन में लिया जाता है और 'प्लैज़र्स' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ अनेक सुख (सुखद विषय) है। जब सुख के अंग्रेज़ी पर्यायवाची 'प्लैज़र' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो वह एकवचन में सुख कहा जाता है, जिसका अर्थ वह तृप्ति एवं तुष्टि की भावना होती है जोकि सुखद विषय की प्राप्ति का परिणाम होती है। यदि हम सुख का अर्थ सुखद विषय लें, तो यह बात तर्क-संगत हो सकती है कि हम सदैव सुख की इच्छा करते हैं; किन्तु यह कहना कि हम सुखद विषय की इच्छा करते हैं, केवल यह प्रकट करता है कि हम उसकी इच्छा करते हैं जिसकी कि इच्छा करते हैं। यह वाक्य एक पुनरुक्ति है, किन्तु वास्तविकता की अभिव्यक्ति अवश्य है। हम जिस वस्तु की भी इच्छा करते हैं, वह चाहे स्वयं घृणित वस्तु भी क्यों न हो और अन्य व्यक्तियों के लिए दुःखदायी भी क्यों न हो, हमारे लिए इसलिए सुख प्रमाणित होती है कि उसकी प्राप्ति हमें तुष्टि प्रदान करती है। इस दृष्टि से तो प्रत्येक इच्छा की पूर्ति सुखद होने के कारण प्रत्येक इच्छा का विषय सुख ही प्रमाणित होता है। जो व्यक्ति किसी राजनीतिक दल की पराजय चाहता है, वह उस दल की पराजय को सुख मानता है, यद्यपि ऐसी घटना अपने-आपमें और विशेषकर उन दल के सदस्यों के लिए सुख नहीं है, अपितु दुखदायी है। मनोवैज्ञानिक सुखवादी इच्छा का विश्लेषण करते समय इस बात को भूल जाते हैं कि इच्छा का लक्ष्य सुखद भावना नहीं होता, अपितु एक विशेष प्रकार का सुख (Qua-pleasure) अर्थात् विशिष्ट सुख होता है।

इसी भ्रान्ति के कारण नैतिक सुखवादी भी इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक सुख वांछनीय है। इस धारणा में एक और भ्रान्ति निहित है, जिसके अनुसार यह समझा जाता है कि एक सुख की भावना सम्भवतया अधिक विशदता के कारण दूसरी सुख की भावना से अधिक वांछनीय हो सकती है। वास्तव में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सुख की भावना अपने-आपमें कुछ भी नहीं है। वह एक अमूर्त तत्त्व है। हम जब भी सुख का अनुभव करते हैं, वह अनुभव किसी न किसी सुखद

१. "Self-forgetfulness is the essence of enjoyment."

विषय से सम्बद्ध होता है, इसलिए इच्छा के लक्ष्य का मूल्यांकन अमूर्त सुख की भावना के आधार पर नहीं होता, अपितु किसी अन्य गुण पर आधारित होता है, जोकि ऐच्छिक विषय में होता है । यही कारण है कि हम एक सुखद विषय को, दूसरे सुखद विषय की अपेक्षा उसमें सुखद भावना की विशदता कम होते हुए भी, अधिक वांछनीय स्वीकार करते हैं। रेशडाल ने अपनी पुस्तक 'शुभ-अशुभ के सिद्धान्त' (Theory of good and evil) में इस बात का उदाहरणसहित स्पष्टीकरण किया है। वह सुख की इच्छा के तुलनात्मक अध्ययन के लिए, एक ऐसे शराबी का उदाहरण देता है, जो शराब के नशे में अपनी पत्नी को पीटने में सुख प्राप्त करता है। यह बात स्पष्ट है कि पत्नी को पीटनेवाला शराबी जब सामान्य चेतना की अवस्था में होता है और अपने व्यवहार पर विचार करता है, तो वह इस बात को स्वीकार करता है कि पत्नी को पीटने की अपेक्षा शेम्पेन शराब का एक प्याला पीना अधिक सुखदायी है, किन्तु जिस समय शराब के नशे में पत्नी को पीटते हुए शराबी को शेम्पेन शराब का एक प्याला प्रस्तुत करके कहा जाए कि वह अपनी पत्नी को पीटना छोड़ दे और शराब का प्याला पीकर अधिक सुख की प्राप्ति करे, तो वह उस समय अपनी पत्नी को पीटने की क्रिया को ही अधिक वांछनीय समझेगा। इस उदाहरण का अभिप्राय यह है कि हम कभी सुख की इच्छा नहीं करते, अपितु विशिष्ट सुख की इच्छा करते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारी इच्छा का लक्ष्य सुख की अमूर्त भावना न होकर विशिष्ट विषय होता है, जिसकी प्राप्ति हमें स्वतः ही सुख प्रदान करती है।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद एक निराधार और निरर्थक सिद्धान्त है। वह सुख के अनुभव के भ्रान्त विश्लेषण पर आधारित है। अतः यह सिद्धान्त असंगत होने के कारण आचार-विज्ञान में कुछ महत्त्व नहीं रखता। इसके विपरीत, सुखद अनुभव का विश्लेषण यह प्रमाणित करता है कि सुख की भावना की अपेक्षा लक्षित विषय अधिक महत्त्व रखता है। कोई भी सामान्य व्यक्ति, अमूर्त सुख की भावना-मात्र को अपनी इच्छा का लक्ष्य नहीं बनाता और न ही ऐसी अमूर्त भावना की इच्छा करना मनोवैज्ञानिक और तर्कात्मक दृष्टि से सम्भव है। जब कोई व्यक्ति प्रसन्न होता है, अथवा कहता है कि वह सुख का अनुभव कर रहा है, तो वह निस्सन्देह यह स्वीकार करता है कि वह किसी ठोस घटना के कारण ही प्रसन्नता अथवा सुख का अनुभव कर रहा है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वह बिना किसी विषय के प्रसन्न है, अथवा सुख की अनुभूति कर रहा है। अमूर्त सुख की भावना, अपने-आपमें कुछ नहीं है, वह सदैव लक्षित विषय से सम्बद्ध रहती है। अतः मिल का मनोवैज्ञानिक सुखवाद सर्वथा असंगत है।

नैतिक सुखवाद

मनोवैज्ञानिक सुखवाद आधुनिक आचार-विज्ञान में कोई स्थान नहीं रखता। उसका महत्त्व केवल इतना है कि जे० एस० मिल जैसा उपयोगितावादी अपने सुखवादी सिद्धांत

को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित करता है। किन्तु ऐसा करते हुए भी नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद से स्वतन्त्र भी माना जाता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद को अप्रमाणित करने का अभिप्राय यह नहीं कि इस सिद्धान्त के साथ ही साथ नैतिक सुखवाद भी असंगत सिद्ध हो जाता है। यदि यह मान भी लिया जाए कि हम वास्तव में सुख की इच्छा नहीं करते, अर्थात् सुख की इच्छा करना मनोवैज्ञानिक तथ्य नहीं है, तब भी नैतिक सुखवादी यह कह सकता है कि सुख की इच्छा न करना मूर्खता है और नैतिक आदर्श के विरुद्ध है। यदि प्रकृति हमें स्वभाव से सुख की ओर प्रेरित नहीं भी करती, हमारा नैतिक आदर्श इसीमें है कि हम अधिक से अधिक सुख को ही नैतिक कर्म का एकमात्र आदर्श मानें, और उसीके आधार पर कर्म का सत्-असत् तथा शुभ-अशुभ के प्रकरण में मूल्यांकन करें। इसके विपरीत सिजविक का कहना है कि नैतिक सुखवाद का मनोवैज्ञानिक सुखवाद से मेल नहीं हो सकता। यदि हम सदैव अपना अधिक से अधिक सुख, स्वभाव से ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं और सुख का अनुसरण करते हैं, तो इस कथन में कोई तथ्य नहीं रह जाता कि हमें अधिक से अधिक सुख और विशेषकर अन्य व्यक्तियों के सुख को लक्ष्य बनाना चाहिए। यदि मनुष्य के स्वभाव में ही निजी सुख को प्राप्त करने की प्रवृत्ति निहित है, तो अन्य व्यक्तियों के सुख को लक्ष्य बनाना प्रकृति का विरोध करना होगा। अतः मनोवैज्ञानिक सुखवाद का नैतिक सुखवाद से विशेष संबंध नहीं है। जो लोग इन दोनों को सम्बन्धित समझते हैं वे इच्छा के मनोवैज्ञानिक स्वरूप को नहीं जानते और इसलिए भ्रान्त धारणा प्रस्तुत करते हैं। मिल ने ऐसी भूल की है। हम आगे चलकर उसकी इस धारणा का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगे। यहां पर इतना कह देना पर्याप्त है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद की अनुपस्थिति में भी नैतिक सुखवाद का सिद्धान्त अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रख सकता है।

हमने आरम्भ में सुखवाद के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए यह बताया था कि नैतिक सुखवाद में भी दो मुख्य शाखाएं हैं, जिन्हें व्यक्तिगत सुखवाद (Egoistic Hedonism) तथा सामूहिक सुखवाद (Altruistic Hedonism) अथवा उपयोगितावाद कहा गया है। आधुनिक काल में व्यक्तिगत सुखवाद का विशेष महत्त्व नहीं है, परन्तु फिर भी आधुनिक सुखवादी विचारक बैन्थम तथा मिल ने व्यक्तिगत सुखवाद और उपयोगितावाद में स्पष्ट भेद नहीं बताया है। किन्तु उन दोनों विचारकों द्वारा प्रतिपादित सुखवाद निस्सन्देह सामूहिक सुखवाद ही है। इन्हें सामूहिक सुखवाद तथा उपयोगितावाद की व्याख्या करते समय, व्यक्तिगत सुखवाद की आलोचना अवश्य करनी पड़ती है, क्योंकि व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है और व्यक्तिगत सुख तथा सामूहिक सुख का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमने यह पहले ही कहा है कि यूनान के प्राचीन सुखवादी सिद्धान्तों के अनुयायी सिरीनायकस (Cyrenaics) तथा एपीक्योरियन्स (Epicurians) थे। प्राचीन नैतिक सुखवादी, निस्सन्देह मनोवैज्ञानिक सुखवादी भी थे। क्योंकि हमने मनोवैज्ञानिक सुखवाद को असंगत प्रमाणित कर दिया है, अतः सिरीनायकस तथा

एपीक्योरियन्स का व्यक्तिगत नैतिक सुखवाद स्वतः ही असंगत प्रमाणित हो जाता है। अब केवल सामूहिक नैतिक सुखवाद एवं उपयोगितावाद की धारणा की व्याख्या हमारा मुख्य उद्देश्य रह जाती है। इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थक सिजविक, बैन्थम तथा मिल हैं। अतः हम इस अध्याय में इन तीनों विचारकों के सिद्धान्तों की व्याख्या करेंगे।

इससे पूर्व कि हम उपयोगितावाद के मुख्य समर्थकों के विचारों का विस्तार-पूर्वक अध्ययन करें, उपयोगितावाद की संक्षिप्त परिभाषा देना नितान्त आवश्यक है। उपयोगितावाद को हम वह दृष्टिकोण मान सकते हैं जो यह प्रतिपादित करता है कि किसी भी कर्म का नैतिक मूल्यांकन उसके फल एवं परिणामों के आधार पर किया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त का विशेष उपयोगितावादी लक्षण यह है कि वह उसी कर्म को नैतिक मानता है जोकि अन्ततोगत्वा सर्वोत्तम परिणाम में फलित होता है। उपयोगितावाद के अनुसार सामूहिक सुख ही सर्वोत्तम परिणाम दे सकता है। अतः अन्ततोगत्वा, उपयोगितावाद 'अधिक से अधिक संख्या के अधिक से अधिक सुख' को ही नैतिक आदर्श स्वीकार करता है।

सिजविक (१८३८ से १९००)

सिजविक का दृष्टिकोण उपयोगितावादी और सुखवादी है। उसे हम उपयोगितावादी इसलिए कह सकते हैं कि वह इस बात में विश्वास रखता है कि किसी भी कर्म का मूल्यांकन, उस कर्म की सुखद तथा सन्तुष्ट चेतना के उत्पन्न करने की क्षमता पर आधारित किया जा सकता है। उसका यह उपयोगितावाद सुखवादी इसलिए है, क्योंकि वह सुख को ही एकमात्र ऐसी वस्तु समझता है, जो परम मूल्य रखती है, यद्यपि उसका यह विचार है कि हमारा यह कर्तव्य है कि हम प्रत्येक व्यक्ति के सुख को समान रूप से चाहें और निजी सुख को अधिक श्रेष्ठ न समझें। सिजविक का सुखवाद एक विशेष प्रकार का सुखवाद है, क्योंकि वह विश्वास करता है कि हमारे सभी नैतिक निर्णयों में अन्तर्दृष्टि निहित रहती है। वह इस अन्तर्दृष्टि को बटलर की भांति अन्तःकरण मानता है, वह स्वीकार करता है कि अन्तःकरण का आदेश एक ऐसा आदेश है, जो पूर्णतया उपयोगी है। इस प्रकार वह अन्तर्दृष्टि और उपयोगितावाद का समन्वय करता है। उसकी दृष्टि में अन्तःकरण का दृष्टिकोण तर्क का दृष्टिकोण है और हमें उसीके आदेश का पालन करना चाहिए। यह तर्क का दृष्टिकोण हमें न्याय (Justice) की धारणा देता है और यह धारणा हमें दो आदेश देती है। पहला आदेश यह है कि हमें अपने-आपसे न्याय करना चाहिए। इस आदेश की व्याख्या करते हुए सिजविक कहता है कि इसके अनुसार हमें अपने समस्त जीवन के सुख के प्रति पक्षपातरहित होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, सुखका निर्वाचन करते समय, दूरवर्ती सुख तथा निकटवर्ती सुख को समकक्ष समझना चाहिए। इस अन्तःकरण अथवा तर्क द्वारा दिए गए न्याय का दूसरा आदेश यह है कि अन्य व्यक्तियों के सुख को भी उतना ही महत्त्व देना चाहिए, जितना कि हम निजी सुख को देते हैं।

सिजविक, अन्तःकरण की इस प्रेरणा के आधार पर व्यक्तिगत सुख तथा सामूहिक

सुख के परस्पर-विरोध की समस्या को सुलझाने की चेष्टा करता है। वह इस बात को तो स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख की प्राप्ति को नैतिक आदर्श समझता है, किन्तु तटस्थ अवस्था में, जब हम तर्क के द्वारा निजी सुख तथा सामूहिक सुख की तुलना करते हैं, तो हम यह स्वीकार करते हैं कि अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक सुख ही वांछनीय है। हमारा तर्क हमें अन्य व्यक्तियों के प्रति भी न्यायशील होने की प्रेरणा देता है।

सिजविक की, व्यक्तिगत सुखवाद को पराजित करके सामूहिक सुखवाद को ही एकमात्र संगत सुखवादी सिद्धान्त प्रमाणित करने की चेष्टा प्रथम दृष्टि में सफल प्रतीत होती है। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। सिजविक स्वयं व्यक्तिगत सुख तथा सामूहिक सुख के परस्पर-विरोध की समस्या को एक अत्यन्त जटिल समस्या समझता है। वह कहता है कि हम अपने निजी सुख को प्रथम शुभ मानते हैं और केवल दोबारा चिन्तन करने पर ही हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अन्य व्यक्तियों का सुख भी निजी सुख के समकक्ष ही स्वीकार किया जाना चाहिए। हमारी यह गौण उपपत्ति प्राथमिक निजी सुख-सम्बन्धी सत्य को पराजित नहीं कर सकती। इस प्रकार हम निजी सुख को परम शुभ मानने पर बाध्य रहते हैं। सिजविक ने तर्क की इस प्रकार की अनिश्चितता एवं उसके द्वैतवाद को स्वयं स्वीकार किया है। यह द्वन्द्व अथवा विरोधाभास हमारे सामने बना ही रहता है। एक ओर हमारे लिए अधिक से अधिक निजी सुख प्राप्त करना वांछनीय है और दूसरी ओर अधिक से अधिक प्राणियों का अधिक से अधिक सुख भी हमारे लिए वांछनीय है।

इस प्रकार अन्तःकरण एवं तर्क द्वारा दिया गया आदेश, अन्ततोगत्वा हमारे मन में संघर्ष को बनाए रखता है और यह प्रतीत होता है कि सम्भवतया निजी और सामूहिक उद्देश्य कदापि एक नहीं होंगे। सिजविक ने इस विरोधाभास को स्वीकार किया है और उसे व्यावहारिक तर्क का द्वैत (The Dualism of Practical Reason) कहा है। अतः सिजविक की तर्कात्मक अन्तःकरण की धारणा निजी सुख तथा सामूहिक सुख की समस्या का समाधान करने में असफल रही है। यदि हम व्यावहारिक तर्क को निजी सुख पर भी लागू करें, तो हम देखेंगे कि वहां पर एक प्रकार का व्यावहारिक द्वैतवाद उत्पन्न हो जाता है। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि हम 'वर्तमान अधिक से अधिक सुख' को वांछनीय समझें अथवा 'भविष्य के अधिक से अधिक सुख' को। मैकन्ज़ी का कहना है कि इस प्रकार के द्वन्द्व को न सुलझा सकने के कारण सामूहिक सुखवाद नाम के सिद्धान्त का कोई महत्त्व नहीं रहता। अतः आधुनिक आचार-विज्ञान में, सामूहिक सुखवाद शब्द की अपेक्षा उपयोगितावाद शब्द का प्रयोग किया जाता है और इसका अर्थ 'अधिक से अधिक संख्या का अधिक से अधिक शुभ' माना जाता है।

हम इस उपयोगितावाद की आलोचना तो बैन्थम तथा मिल के सुखवादी सिद्धान्तों की व्याख्या करने के पश्चात् प्रस्तुत करेंगे, किन्तु यहां पर पश्चिमीय दर्शन की एक त्रुटि की व्याख्या कर देना इसलिए आवश्यक है कि इसी त्रुटि के कारण ही स्थान-स्थान पर

द्वैतवाद उत्पन्न होता रहता है। व्यक्ति तथा समूह का द्वैत इसलिए उत्पन्न होता है कि पश्चिमीय दर्शन व्यक्तित्व को सदैव एक संकुचित दृष्टि से देखता है और उसे समाज से विभिन्न समझता है। भारतीय दर्शन, व्यक्ति और समाज में तथा आत्मा और ब्रह्म में द्वैत को, केवल अस्थायी द्वैत मानता है और इनके एकत्व को एवं अद्वैत को वास्तविकता मानता है। उसका कारण यह है कि भारतीय तत्त्व-मीमांसा के अनुसार, विश्व का अनेकत्व केवल भौतिक व्यक्त सत्ता तक सीमित है, जबकि विश्व की आधारभूत अव्यक्त सत्ता निस्सन्देह एक एवं अद्वैत है। जब तक तत्त्वात्मक दृष्टि से सत्-मात्र को अद्वैत न मान लिया जाए, तब तक व्यक्ति व्यावहारिक तर्क के द्वैत से ऊपर नहीं उठ सकता। इस तत्त्वात्मक यथार्थ ज्ञान की अनुपस्थिति में ही व्यावहारिक तर्क के द्वैत की भ्रान्ति यथार्थ प्रतीत होती है। किन्तु यह प्रतीति निस्सन्देह असंगत और अयथार्थ है। भगवद्-गीता में इसी भ्रान्ति को दूर करने के लिए कहा गया है :

"आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति।"

अर्थात् "जो व्यक्ति सब प्राणियों को अपने सदृश देखता है, वही व्यक्ति यथार्थ ज्ञान रखता है।" भारतीय दर्शन में आत्मा का अर्थ व्यक्ति है, किन्तु वह आत्मा ब्रह्म का रूप है और उसका यथार्थ ज्ञान मनुष्य को, व्यक्ति और समष्टि, समय और स्थान, कार्य और कारण के द्वन्द्वों से ऊपर उठा देता है। ऐसा व्यक्ति न ही केवल समाज को, न ही केवल प्राणी-जगत् को, अपितु सत्-मात्र को आत्मा मानता है और "तत् त्वम् असि" अर्थात् "ब्रह्म तू ही है" तथा "अहं ब्रह्म अस्मि" अर्थात् "मैं ब्रह्म हूं", "सर्व खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् "सत्-मात्र ब्रह्म है" के आशय को यथार्थ रूप से जान लेता है। जो मनुष्य भौतिक अनेकत्व में आत्मा का एकत्व देखता है, जो शारीरिक भिन्नता में, आत्मा की समानता को स्वीकार करता है और जो अपने-आपको और सत्-मात्र को एक ही सत्ता मानता है, वह कदापि किसीसे घृणा नहीं कर सकता, किसीसे द्वेष नहीं कर सकता तथा किसीसे अन्याय नहीं कर सकता। यदि वह किसीके प्रति ऐसा सोचे, तो उसके मन में प्रश्न उठता है कि क्या वह अपने-आपसे घृणा करे; क्या वह अपने-आपसे द्वेष करे; क्या वह अपने-आपसे अन्याय करे? पश्चिमीय दर्शन में, इस व्यापक दृष्टिकोण के अभाव के कारण, इस तत्त्वात्मक अद्वैतवाद की अवहेलना के कारण, तर्क में, आचार-विज्ञान में और ज्ञान-मीमांसा में, स्थान-स्थान पर द्वैतवाद उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि सिजविक केवल तर्क के आधार पर, निजी सुख और सामूहिक सुख की समस्या का समाधान नहीं कर पाता।

बैन्थम का सुखवाद (१७४८ से १८३२)

बैन्थम भी नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित मानता है। अतः वह धर्म (Virtue) की परिभाषा देते हुए यह कहता है कि धर्म का अर्थ सुख प्राप्त करने की आदत है, चाहे वह सुख हमारे लिए हो, चाहे दूसरों के लिए। हमने बैन्थम के मनोवैज्ञानिक सुखवाद के विषय में पहले लिखा है। वह सुख तथा दुःख को हमारे नैतिक

कर्मों के निर्वाचन का आधार मानता है, इसलिए उसके अनुसार सुख ही एकमात्र नैतिक आदर्श है। बैन्थम को हम उपयोगितावाद का मुख्य समर्थक इसलिए कह सकते हैं कि उसने सुख को पूर्ण समाज के लिए आदर्श माना है। बैन्थम की नैतिकता में व्यक्तिगत धर्म को प्रतिपादित करने के लिए रुचि नहीं थी। वह अपने इस विचार को इन शब्दों में अभिव्यक्त करता है, "विधान की कला हमें यह सिखाती है कि किस प्रकार विधान बनानेवाले प्रेरकों को व्यवहार में लाकर समुदाय-रूपी मनुष्यों का समूह, उस मार्ग का अनुसरण करे, जोकि सम्पूर्ण समुदाय के लिए सुखकारी हो। नैतिकता तो वह कला है, जो उन लोगों के द्वारा सुख की अधिक से अधिक संख्या को उत्पादित करने का निर्देश देती है, जिनका उद्देश्य उसमें (नैतिकता में) निहित होता है।"[1] बैन्थम के इस दृष्टिकोण को यहां प्रस्तुत करने का अभिप्राय यह है कि उसका सुखवाद समाज के लिए है और व्यक्ति के लिए नहीं। इसके साथ ही साथ यह भी कह देना आवश्यक है कि बैन्थम का नैतिक सिद्धान्त इतना सूक्ष्म और स्पष्ट नहीं है जितना कि उसके अनुयायी जॉन स्टुअर्ट मिल का है। किन्तु यह सत्य है कि बैन्थम पहला ही ऐसा विचारक है, जिसने कि सुखवाद को उपयोगितावाद में परिवर्तित किया है। जे० एस० मिल का नैतिक सिद्धान्त, निस्सन्देह बैन्थम के दृष्टिकोण पर आधारित है। अतः उपयोगितावाद की पूरी व्याख्या करने के लिए, मिल के दृष्टिकोण का विस्तारपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है। क्योंकि मिल बैन्थम का अनुयायी है, अतः मिल के दृष्टिकोण की आलोचना स्वतः ही बैन्थम के उपयोगितावाद की आलोचना हो जाएगी। इसका अभिप्राय यह नहीं कि मिल तथा बैन्थम के विचारों में तादात्म्य है। निस्सन्देह इन दोनों के दृष्टिकोण किसी-किसी स्थान पर एक-दूसरे के विरुद्ध भी हैं। उदाहरणस्वरूप, बैन्थम सुख के भिन्न प्रकारों अथवा गुणों को मान्यता नहीं देता, इसके विपरीत मिल इस विभिन्नता को स्वीकार करता है तथा महत्त्व देता है। हम उनके इस मतभेद की व्याख्या आगे चलकर करेंगे।

जे० एस० मिल का उपयोगितावाद

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की व्याख्या करते हुए हमने मिल के दृष्टिकोण को पहले ही प्रस्तुत किया है। महाशय मिल अपने नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित करता है और उसी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का आश्रय लेकर, वह व्यक्तिगत

---

१. "The art of legislation teaches how a multitude of man composing a community may be disposed to pursue the course which upon the whole is the most conducive to the happiness of the whole community, by means of motives to be applied by the legislator...... Morality is the art of directing men's actions to the production of the greatest quantity of happiness, on the part of those whose interest is in view."

सुख को वांछनीय स्वीकार करके, सामूहिक सुख को वांछनीय घोषित करता है। जैसाकि हमने पहले कहा है कि सुखवादी दृष्टिकोण में मिल, बैन्थमका अनुयायी है। उसका निम्नलिखित कथन उसपर बैन्थम की विचारधारा के प्रभाव को प्रमाणित करता है:

"सुख तथा दुःख से निवृत्ति ही केवल वस्तुएं हैं जिनको उद्देश्य बनाया जाना वांछनीय है...सभी वांछनीय वस्तुएं...या तो इसलिए वांछनीय हैं कि उनमें स्वयं सुख निहित है, अथवा इसलिए वांछनीय हैं कि वे सुख की उत्पत्ति तथा दुःख के अवरोध का साधन हैं।" इसी प्रकार मिल वांछनीय शब्द की भ्रान्तिपूर्वक व्याख्या करता है। सिजविक ने अपनी पुस्तक 'आचार-विज्ञान की विधियां' (Methods of Ethics) में मिल के निम्नलिखित कथन को प्रस्तुत किया है :

"किसी वस्तु को दृश्य सिद्ध करने का एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग वास्तव में उसे देखते हैं, किसी शब्द को श्रवण करने योग्य सिद्ध करने का एकमात्र प्रमाण है कि लोग उसे श्रवण करते हैं...इसी प्रकार मेरी यह धारणा है कि किसी वस्तु को वांछनीय प्रमाणित करने के लिए जो एकमात्र साक्षी सम्भवतया प्रस्तुत की जा सकती है, वह यह है कि लोग वास्तव में उसकी इच्छा करते हैं।"[1]

ऊपर दिए गए मिल के दो कथन यह प्रमाणित करते हैं कि एक ओर तो मिल बैन्थम की भांति सुख को इच्छा का एकमात्र प्रेरक मानता है और दूसरी ओर वह वांछनीय शब्द की भ्रमात्मक व्याख्या करके नैतिक सुखवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आश्रित करने की चेष्टा करता है। हम उसके मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना तो पहले कर ही चुके हैं। इससे पूर्व कि उसके उपयोगितावाद की व्याख्या की जाए, यह आवश्यक है कि उसने जो वांछनीय शब्द के प्रति भ्रान्ति उत्पन्न की है, उसका स्पष्टीकरण किया जाए। वास्तव में, मिल ने वांछनीय शब्द के अंग्रेज़ी पर्यायवाची 'डिज़ायरेबल' (Desirable) शब्द का अर्थ करते हुए, अलंकार का तर्काभास प्रस्तुत किया है। 'डिज़ायरेबल' (वांछनीय) शब्द को अंग्रेज़ी के दो अन्य शब्दों 'विज़िबल' (जो देखा जा सके) तथा 'ऑडीबल' (जो सुना जा सके) के समकक्ष मान लिया है। किन्तु उसकी यह धारणा सर्वथा असंगत है। जबकि 'विज़िबल' शब्द का अर्थ दृश्य अथवा वह वस्तु है, जो देखी जा सकती है और 'ऑडीबल' शब्द का अर्थ वह वस्तु है, जो वास्तव में सुनी जा सकती है, 'डिज़ायरेबल' (वांछनीय) शब्द का अर्थ वह वस्तु नहीं है, जिसकी कि इच्छा की जा सकती है, इसके विपरीत उसका अर्थ वह वस्तु है, जिसकी इच्छा करना उचित है एवं मूल्यात्मक है। अतः मिल की मनोवैज्ञानिक सुखवाद के आधार पर नैतिक सुखवाद को

---

१. "The only proof......capable of being given that an object is visible, is that people actually see it. The only proof that a sound is audible, is that people hear it......in like manner, I apprehend, the sole evidence it is possible to produce that anything is desirable, is that people do actually desire it."

प्रतिपादित करने की चेष्टा भ्रान्त और असंगत है।

अब हम मिल के उपयोगितावाद की व्याख्या करेंगे। हम यह तो पहले ही कह चुके हैं कि उपयोगितावाद का अर्थ वह सिद्धान्त है जोकि मानव-मात्र एवं प्राणी-मात्र के अधिक से अधिक सुख को नैतिक आदर्श मानता है। बैन्थम ने नैतिकता की परिभाषा देते हुए इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। मिल ने उसके इस सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या अपनी पुस्तक 'उपयोगितावाद' के चतुर्थ अध्याय में इस प्रकार की है, "सिवाय इसके कि प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्ति अपने सुख की इच्छा करता है, हम इस प्रश्न का और कोई कारण नहीं बता सकते कि सामान्य (सामूहिक) सुख क्यों वांछनीय है? क्योंकि यह निश्चित रूप से एक तथ्य है, इसलिए (इसको बताकर) हमने न ही केवल यह सिद्ध करने का सम्पूर्ण प्रमाण प्रस्तुत किया है कि सुख एक शुभ है, अपितु हमने वह सब कुछ कह दिया है जोकि सम्भवतया आवश्यक था। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का सुख उस व्यक्ति के लिए शुभ है, अतः सामान्य सुख सभी व्यक्तियों की समष्टि के लिए शुभ है।" इस कथन में मिल ने व्यक्तिगत सुख के आधार पर, सामूहिक सुख को वांछनीय प्रमाणित करने की जो चेष्टा की है, वह भी भ्रमात्मक है। उसने यह तर्क प्रस्तुत करते हुए उस तर्काभास की भूल की है जिसको पश्चिमीय तर्कशास्त्र में रचना का दोष (Fallacy of composition) कहते हैं। मिल यह तर्क प्रस्तुत करते हुए यह भूल जाता है कि सुख को भौतिक विषयों की भांति एक समष्टि में नहीं लाया जा सकता। जिस प्रकार यह कहना असंगत है कि एक सौ सैनिकों का एक समूह छः सौ फुट लम्बा है, क्योंकि प्रत्येक सैनिक छः फुट लम्बा है, उसी प्रकार यह कहना भी एक भारी भूल है कि सभी व्यक्तियों का पृथक्-पृथक् सुख मानव-मात्र के लिए शुभ होगा, क्योंकि व्यक्तिगत सुख प्रत्येक मनुष्य के लिए शुभ होता है। मिल इस तथ्य की भी अवहेलना करता है कि सुख कोई बाह्यात्मक वस्तु नहीं है। वह एक मानसिक अनुभव है और सर्वथा अन्तरात्मक है। एक व्यक्ति का सुख दूसरे व्यक्ति के लिए न ही केवल अवांछनीय, अपितु दुःखदायक वस्तु प्रमाणित हो सकता है। एक ओर तो सुख, एक अमूर्त और भावात्मक अभिव्यक्ति है और दूसरी ओर वह एक सापेक्ष तत्त्व है, जिसको कि निरपेक्ष रूप से कदापि शुभ स्वीकार नहीं किया जा सकता। हम आगे चलकर कांट के शुभ संकल्प की धारणा के विषय में यह देखेंगे कि उसका निरपेक्ष आदेशवाद इसी प्रकार की अन्य अमूर्त धारणा पर आधारित होने के कारण सापेक्ष और असंगत सिद्ध होता है। कांट का शुभ संकल्प तो निस्सन्देह एक स्वलक्ष्य मूल्य है और उस दृष्टि से निरपेक्ष भी है। किन्तु सुख सर्वथा सापेक्ष होता है और इसलिए उसको किसी भी अवस्था में मनुष्यों की समष्टि के लिए एकमात्र आदर्श नहीं माना जा सकता। सुखवाद की आलोचना में हम सुख की संख्या तथा उसके गुणों के भेद के विषय में आगे चलकर आलोचना करेंगे। किन्तु यहां पर उपयोगितावाद की थोड़ी-सी और व्याख्या करने के लिए, यह बता देना आवश्यक है कि किस आधार पर एक सुख को दूसरे सुख की अपेक्षा अधिक वांछनीय स्वीकार किया जाना चाहिए।

जब उपयोगितावाद अथवा सामूहिक सुखवाद यह आदेश देता है कि हमारा नैतिक आदर्श 'अधिक से अधिक सुख' होना चाहिए, उसका अभिप्राय यह है कि संख्या की दृष्टि से यदि हम विभिन्न सुखों का मूल्यांकन करें, तो अधिक से अधिक संख्या-वाले सुख को, कम संख्यावाले सुख की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना चाहिए। सुख की संख्या का अनुमान लगाते समय प्रायः दो तत्त्वों का ध्यान रखा जाता है जो विशदता (Intensity) तथा अवधि हैं। कुछ सुख अधिक विशद होने के कारण दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जा सकते हैं और कुछ अधिक देर तक रहने के कारण दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जा सकते हैं। यदि ये दोनों तत्त्व किसी सुख में अधिक मात्रा में हों, तो उस सुख को कम मात्रा-वाली विशदता तथा अवधि रखनेवाले सुख की अपेक्षा अधिक वांछनीय समझना चाहिए। बैन्थम के अनुसार सुखों का मूल्यांकन करते समय निश्चितता, अन्य सुखों को उत्पादित करने की शक्ति, दुःख से मुक्ति आदि जैसे तत्त्वों को भी ध्यान में रखना चाहिए। मान लीजिए कि हम तीन विभिन्न सुखों का मूल्यांकन करते हैं और उनका मूल्य क्रमशः ३, ४, ५ निर्धारित करते हैं, तब उपयोगितावाद के अनुसार ५, ३ अथवा ४ दोनों की अपेक्षा श्रेष्ठ होगा। ३ + ४, ५ की अपेक्षा श्रेष्ठ होगा; ३ + ५, ३ + ४ की अपेक्षा श्रेष्ठ होगा और ४ + ५, ३ + ४ की अपेक्षा श्रेष्ठ होगा।

इस संख्यात्मक मूल्यांकन के साथ-साथ जे० एस० मिल ने, सुखों को गुण के आधार पर अधिक और कम उपयोगी मानकर, उपयोगितावाद के सिद्धान्त को और भी जटिल बना दिया है। यदि हम सुखों की संख्या के आधार पर तुलना कर सकते हैं, तो उसका अभि-प्राय यह होता है कि सभी सुख एक ही प्रकार के हैं; किन्तु मिल स्वयं इस बातको स्वीकार करता है कि सुख न ही केवल संख्या में, अपितु गुण में भी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। दूसरे शब्दों में, कुछ सुख दूसरे सुखों की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ नहीं माने जाते कि वे संख्या में दूसरों की अपेक्षा अधिक हैं, अपितु इसलिए कि वे उत्कृष्ट प्रकार के हैं। न ही केवल इतना, अपितु नीचे के स्तरवाले सुखों की अपेक्षा ऊंचे स्तरवाले सुख, संख्या की दृष्टि से कम होते हुए भी वांछनीय माने गए हैं। यह स्वीकार किया गया है कि कुछ सुख अधिक विशद न होते हुए भी, अधिक उत्कृष्ट होने के कारण अन्य सुखों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। यदि ऊंचे स्तर तथा नीचे स्तर के सुखों में से हमें एक प्रकार के सुख का निर्वाचन करना हो, तो ऊंचे स्तरवाले सुख को वांछनीय समझना उचित होगा, चाहे वह सुख कम विशद भी क्यों न हों।

आलोचना

नैतिक सुखवाद नैतिकता को सुख की अपेक्षा गौण समझता है और उसे सुख का साधन-मात्र मानता है। चाहे वह सुख नैतिकता में प्राप्त हो अथवा केवल नैतिकता के द्वारा प्राप्त हो, हर अवस्था में सुखवाद इस बात पर बल देता है कि सुख की प्राप्ति ही हमारा परम लक्ष्य होना चाहिए। इस प्रकार सुखवाद, जोकि एक नैतिक सिद्धान्त

स्वीकार किया जाता है, नैतिकता को गौण मानकर और सुख को स्वलक्ष्य मानकर एक विरोधाभास प्रस्तुत कर देता है। एक ओर तो सुखवाद हमें नैतिक आदेश देने की चेष्टा करता है और दूसरी ओर सुख को स्वलक्ष्य मानकर और नैतिकता एवं शुभ को गौण मानकर सुख को नैतिकता की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रमाणित करता है। इस प्रकार के आदर्श को सामान्य व्यक्ति कदापि व्यवहार में नहीं ला सकता।

सुखवादी सिद्धान्त इसलिए भ्रान्त है कि वह सुख के भावात्मक अंग को भूल जाता है। सुख तथा दुःख निस्सन्देह भाव हैं और वे भाव सदैव अन्तरात्मक हैं, इसलिए उनकी अनुभूति शून्य में नहीं हो सकती, उनकी प्राप्ति अनुभव करनेवाले व्यक्ति के बिना नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, अनुभव करनेवाले व्यक्ति के बिना सुख कुछ अस्तित्व नहीं रखता। सुख कोई बाह्यात्मक वस्तु नहीं है, जिसको कि कम या अधिक मात्रा में किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को प्रदान किया जाए। अतः अधिक से अधिक सुख को व्यावहारिक उद्देश्य नहीं बनाया जा सकता। सुखों की निश्चित इकाई नहीं हो सकती, उनका ठोस आकार नहीं हो सकता। इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुए ब्रैडले ने कहा है कि नैतिक आदर्श सुख की प्राप्ति नहीं, अपितु आत्मानुभूति हो सकता है, क्योंकि अनुभूति के बिना सुख का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। ब्रैडले के शब्दों में, "यदि किसी व्यावहारिक उद्देश्य को व्यावहारिक लक्ष्य तथा आदर्श बनना है, तो उसे किसी विशेष इकाई के रूप में, किसी ऐसे ठोस 'पूर्ण' के रूप में हमारे सामने उपस्थित होना चाहिए, जिसे हम अपने कर्मों में अनुभूत करें तथा जिसे हम जीवन में कार्यान्वित करें। सुख (दुःख की भांति) ऐसे नाम के अतिरिक्त और कुछ प्रमाणित नहीं होता, जोकि किसी न किसी क्षणिक भावों की अभिव्यक्ति होता है।"

मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना करते हुए भी, हमने यह बताया था कि मनुष्य सुखद भावना की इच्छा नहीं करता, अपितु सुखद भावना उसके लक्षित विषय में स्वयं ही उपलब्ध हो जाती है। किसी भी अवस्था में, सुख की भावना-मात्र को कर्म के नैतिक अथवा अनैतिक होने का मापदण्ड नहीं बनाया जा सकता। नैतिक सुखवाद सुख की भावना को मूल्य मानकर चलता है। उपयोगितावाद के अनुसार यह स्वीकार किया गया है कि एकमात्र सुख ही ऐसी वस्तु है जो हमारे अनुभव के विषयों को मूल्य देता है। दूसरे शब्दों में, हमारा चेतनात्मक अनुभव उतना ही मूल्यवान है जितना कि वह सुखद है। चाहे अपने वास्तविक अनुभव में हम कई बार दो विषयों में से कम सुखद विषय की भी इच्छा करते हैं, तथापि जब हम तटस्थ रूप से इस समस्या पर विचार करते हैं, तो हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि हमारा चैतन्य कर्मों का निर्वाचन केवल सुख के आधार पर ही होता है और हम कम सुखद वस्तु की अपेक्षा अधिक सुखद वस्तु को ही श्रेष्ठ मानते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि अधिक सुखद का निर्वाचन करना हमारे स्वभाव में नहीं है, तथापि हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि हम उस समय तक अधिक से अधिक सुखद क्रियाओं का निर्वाचन करें, जब तक कि हमारा यह निर्वाचन किसी अन्य व्यक्ति के सुख में बाधक

नहीं होता। सामान्यतया हमें ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि हमारी सभी मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त सुख अधिक से अधिक हो। सुखवाद की यह धारणा यह स्वीकार करके चलती है कि सुख कर्म की नैतिकता का मापदण्ड है। कुछ सीमा तक यह कहा जा सकता है कि सुख मूल्य का किंचित् आधार हो सकता है। यह बात तो स्वीकार करने योग्य है कि जो विषय हमारी चेतना के लिए कुछ मूल्य रखते हैं, उन विषयों के साथ सुख की भावना सम्बद्ध अवश्य रहती है।

इसका अभिप्राय यह तो नहीं है कि सुख की भावना ही मूल्य रखती है, क्योंकि लक्षित विषय स्वयं सुख न होते हुए भी सुखद इसलिए होता है कि हम उसकी इच्छा करते हैं। उदाहरणस्वरूप, जो व्यक्ति किसी राजनीतिक दल का पतन चाहता है, उसके लिए वह घटना मूल्य रखती है और इसलिए उसके घटित होने से उसे सुख की प्राप्ति होती है। किन्तु यह सत्य है कि मूल्य तो लक्षित विषय का होता है, किन्तु उस लक्षित विषय की प्राप्ति से जो सुदृढ़ भावना अनुभूत होती है, उसको हम मूल्य का आभास (Sense of value) कह सकते हैं। अतः सुख स्वयं मूल्य न होते हुए भी, कुछ सीमा तक मूल्य का परोक्ष रूप से मापदण्ड हो सकता है। मैकन्ज़ी का कहना है कि जिस प्रकार मुद्रा स्वयं मूल्य न होते हुए भी, वस्तुओं के मूल्य का आधार हो सकती है, उसी प्रकार सुख भी स्वयं मूल्य न होते हुए भी, कुछ सीमा तक नैतिक मूल्य का आधार हो सकता है।

मैकन्ज़ी का यह दृष्टिकोण इस बात को प्रमाणित नहीं करता कि सुख वास्तव में कर्म का मूल्यांकन करने का विश्वसनीय परिमाण है। यदि सुख को मुद्रा की भांति भी परिमाण का साधन मान लिया जाए, तब भी हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि ऐसा सम्भव नहीं है। जब हम मुद्रा को आर्थिक वस्तुओं के परिमाण का साधन मानते हैं, तो मुद्रा के मूल्य में एक समरूपता होती है। किन्तु जब हम सुख को नैतिकता का परिमाण मानते हैं, तो हम यह मानकर नहीं चलते कि सुख हर समय एक ही मूल्य रखते हैं अथवा एक ही प्रकार के हैं। मिल जैसे सुखवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि गुणात्मक दृष्टि से एक सुख की दूसरे सुख से विभिन्नता होती है। सुखों की यह विभिन्नता यह प्रमाणित करती है कि हम सुखको मुद्रा की भांति मापदण्ड नहीं मान सकते। यदि हम यह स्वीकार करें कि सुख के विभिन्न प्रकार और विभिन्न गुणात्मक भेद होते हैं, तो उसका अभिप्राय यह होगा कि सुखों का उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होना किसी अन्य तत्त्व पर निर्भर है। सुखवादी इस बात को भूल जाते हैं कि सुख कदापि स्वलक्ष्य मूल्य नहीं बन सकता। वे साधन को लक्ष्य मान लेते हैं और सुख को नैतिक कर्म का एकमात्र साधन मानकर एक पक्षपाती दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण वे सुख को एक ठोस वस्तु मानकर उसकी अधिक से अधिक संख्या को उत्कृष्ट आदर्श मानते हैं। सुखों के विभिन्न प्रकार तथा गुणात्मक भेद सर्वथा यह प्रमाणित करते हैं कि सुख का मूल्य अपने-आपमें कुछ नहीं है और वह विषयों के बिना एक अमूर्त और निरर्थक धारणा-मात्र रह जाता है। इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें सुखों के गुणात्मक भेद का अध्ययन करना होगा।

उपयोगितावाद के मुख्य समर्थक जे० एस० मिल ने सुखों की परस्पर विभिन्नता को गुण पर आधारित मानकर सुखवादी सिद्धान्त को और भी जटिल बना दिया है। एक ओर तो सुखवाद की यह धारणा है कि सभी सुखों की हम संख्यात्मक दृष्टि से तुलना कर सकते हैं, और दो सुखों अथवा सुखों के जोड़ की तुलना करते हुए हम यह बता सकते हैं कि कौन-सा सुख अधिक है और कौन-सा कम। दूसरी ओर सुखवाद यह स्वीकार करता है कि एक सुख दूसरे सुख की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ एवं अधिक वांछनीय है, क्योंकि वह गुण की दृष्टि से उत्कृष्ट प्रकार का सुख है। यदि गुण के आधार पर ही किसी वस्तु को अधिक वांछनीय स्वीकार किया जा सकता है, तो यह सिद्ध हो जाता है कि केवल सुख ही वांछनीय वस्तु नहीं है। सुख की श्रेष्ठता, सुखद भावना पर आधारित न होते हुए, जब किसी अन्य गुण पर आधारित हो जाती है, तो उससे यह प्रमाणित होता है कि सुख की श्रेष्ठता सुखद भावना से परे है। इसके अतिरिक्त एक सुख को दूसरे की अपेक्षा गुण के आधार पर अधिक वांछनीय मानने से, सुखों तथा सुखों के जोड़ को वांछनीयता का क्रम देना असम्भव हो जाता है। हम गुणों का मूल्यांकन संख्या द्वारा नहीं कर सकते, जब तक कि हम गणों को किसी प्रकार से संख्या में परिवर्तित न कर दें। किन्तु गुणों को संख्या में परिवर्तित करना न ही केवल कठिन है, अपितु असम्भव और मूर्खतापूर्ण प्रयास है। हम किसी भी मापदण्ड के आधार पर यह नहीं कह सकते कि आम खाने का सुख, सेब खाने के सुख से डेढ़ गुना व दुगुना है अथवा संगीत सुनने का सुख नींद के सुख से आधा है इत्यादि। सुखवाद की यह व्यावहारिक कठिनाई इस सिद्धान्त को अव्यावहारिक सिद्ध करती है।

सुखवाद की आलोचना करते हुए मैकन्ज़ी ने सुखों के प्रकार की विभिन्नता की ओर जो संकेत किया है, वह यहां उल्लेखनीय है। सुखों के प्रकार की विभिन्नता यह सिद्ध करती है कि यदि सुख को नैतिकता का मापदण्ड मान भी लिया जाए, तो भी वह मापदण्ड सदैव एक नहीं रह सकता। मैकन्ज़ी का कहना है कि जिस प्रकार इच्छाओं के विभिन्न प्रकार होते हैं, उसी प्रकार तृप्ति के उन भावों के भी विभिन्न प्रकार होते हैं, जोकि विषय की प्राप्ति पर अनुभव किए जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, जब हमारी भूख की तृप्ति होती है, तो उसमें जो तृप्ति का भाव एवं सुख प्राप्त होता है, वह सरल और प्रत्यक्ष होता है। किन्तु जो सुखद भावना किसी बौद्धिक अथवा तर्कात्मक इच्छा की तृप्ति के पश्चात् अनुभूत होती है, वह उत्कृष्ट प्रकार की तृप्ति होती है और उसे सुख न कहकर आनन्द (Happiness) कहना अधिक उचित है। यही कारण है कि विषय-भोग आदि की तृप्ति में जो सुख प्राप्त होता है, वह बौद्धिक तथा तर्कात्मक सुख की अपेक्षा न्यून स्तर का होता है। मानवीय इच्छा की तृप्ति में जब उद्देश्य की चेतना अधिक प्रत्यक्ष होती है, तो उससे सम्बन्धित सुख उत्कृष्ट सुख एवं आनन्द होता है। किन्तु जब उद्देश्य की चेतना कम प्रत्यक्ष होती है, तो सुख का प्रकार भी न्यून स्तर का होता है और वह आनन्द न कहलाकर सुख-मात्र ही कहलाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्कृष्ट सुख एवं आनन्द

का सम्बन्ध, उत्कृष्ट एवं ऊंचे स्तर के इच्छाओं के व्यूह से होता है। सुखों के प्रकार का यह भेद निस्सन्देह अन्तरात्मक होता है और व्यक्ति पर ही निर्भर करता है। जब व्यक्ति उत्कृष्ट दृष्टिकोण को अपनाता है एवं उसकी इच्छाओं का व्यूह उत्कृष्ट होता है, तो उसका सुख भी उत्कृष्ट ही होता है। किन्तु जब व्यक्ति का दृष्टिकोण न्यून स्तर का होता है एवं उसकी इच्छाओं का व्यूह न्यून होता है, तो इच्छाओं की तृप्ति द्वारा प्राप्त सुख भी न्यून स्तर का ही होता है। हमने यह पहले ही इच्छाओं के व्यूह के सम्बन्ध में कहा है कि समय और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति का इच्छाओं का व्यूह भी परिवर्तित होता रहता है और इस परिवर्तन के साथ-साथ ही सुख के स्तर का परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में, सुख का स्तर एवं प्रकार व्यक्ति के इच्छाओं के व्यूह के प्रकार पर निर्भर रहता है। अतः यदि हम सुख को ही नैतिक कर्म का मूल्य मानें, तो यह मूल्य एक प्रकार का नहीं हो सकता—कभी तो वह एक प्रकार का होगा, कभी दूसरे प्रकार का होगा और कभी तीसरे प्रकार का ; क्योंकि उसके स्तर, अनुभव करनेवाले व्यक्ति की इच्छाओं के व्यूह के अनुसार, परिवर्तित होते रहेंगे। सुखवाद की इस कठिनाई को मैकन्ज़ी ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है, "हर अवस्था में, चाहे हम इच्छाओं के विभिन्न व्यूहों (क्षेत्रों) को पृथक्-पृथक् नामों से पुकारें अथवा न पुकारें, यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भावों में लक्षणों की विभिन्नता अवश्य होती है, और (उनमें) इसलिए आत्मानुभव का भाव भी विभिन्न होता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक भाव के सम्बन्ध में मूल्य की धारणा ऐसी धारणा होती है, जो विभिन्न निर्णायकों के द्वारा दी जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम कभी सोने को, कभी चांदी को और कभी तांबे को परिमाण बना रहे हों।"[1] इस कथन का अभिप्राय यह है कि सुख अनेक प्रकार का होने के कारण वास्तव में स्वयं किसी अन्य कारण से मूल्य का मापदण्ड बन सकता है; अर्थात् सुख का भाव अपने-आपमें ऐसा मापदण्ड नहीं हो सकता।

उपर्युक्त आलोचना में विभिन्न सुखों में जो भेद बताया गया है, वह वास्तव में सुखद भावना का भेद तो नहीं है, अपितु वह भेद उस सुखद घटना अथवा विषय का होता है जिससे कि सुख का अनुभव अविच्छिन्न होता है। सुख (Pleasure) कोई ऐसा तत्त्व

---

१. "At any rate, whether or not we use different words for the different universes, it seems clear that the feelings in question are of very different characters. It is, in fact, a very different self that is realized in each of these cases; and the feeling of self-realizedness is consequently different. Or, to put it in the other form that we have used, the sense of value in each case is a sense of value for a different judge. We are estimating as it were, sometimes in gold, sometimes in silver, and sometimes in copper."

—A Manual of Ethics by J. S. Mackenzie, Page 180.

नहीं है, जिसका किसी वस्तु या विषय से पृथक् स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व हो, क्योंकि सुख का अनुभव सदैव ठोस परिस्थिति से उत्पन्न होता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद की आलोचना करते हुए भी हमने सुखवाद की इस कठिनाई का उल्लेख किया है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वह केवल सुख अथवा अमूर्त सुख का अनुभव कर रहा है। वास्तव में सुख एक ऐसा सापेक्ष तत्त्व है, जोकि चेतना की सम्पूर्ण घटना एवं अवस्था का एक अंग-मात्र होता है। सम्भवतया यह उसका एक अनिवार्य और आवश्यक अंग है। किन्तु इसका सम्बन्ध चेतना के विषय से इतना घनिष्ठ होता है कि चेतना का विषय और सुख की भावना, जोकि उस विषय का ही परिणाम होती है, सूक्ष्म दृष्टि से पृथक् होते हुए भी अभिन्न होते हैं। किसी भी सुखद अनुभव में सुख की भावना तथा उसका विषय पृथक् तो अवश्य होते हैं, किन्तु उन दोनों के मिश्रण से जिस सुख का अनुभव होता है, वह एक विशेष प्रकार का सुख इसलिए होता है कि वह सुख के भाव के अतिरिक्त अनेक अन्य तत्त्वों से प्रभावित होता है, जोकि उस परिस्थिति की सम्पूर्ण चेतना को निर्मित करते हैं। उदाहरणस्वरूप, किसी ऐसे सुख को ले लीजिए, जोकि एक शास्त्रीय नृत्य को देखने से उत्पन्न होता है। इस उदाहरण में जिस सुख का हम अनुभव करते हैं, वह उस नृत्य से अवश्य भिन्न है जोकि हम देखते तथा सुनते हैं। किन्तु जो नृत्य हम देखते हैं अथवा सुनते हैं, उस परिस्थिति में वही सम्पूर्ण विषय नहीं होता, जोकि हमारी चेतना के समक्ष होता है और जो सुख की भावना उत्पन्न करता है। नृत्य के देखने तथा पायल की झंकार सुनने के साथ-साथ जो विचार उस नृत्य के द्वारा हमारे मन में उत्पन्न होते हैं, वे सभी हमारी चेतना को निर्मित करते हैं। अतः जो विषय इस अवस्था में सुखद भावना को उत्पन्न करनेवाला होता है, वह असंख्य विचारों, प्रतिमाओं तथा भावों का एक जटिल 'पूर्ण' होता है। सुख की भावना-मात्र यह सम्पूर्ण चेतना नहीं हो सकती और न ही हम यह कह सकते हैं कि वह सुख की भावना इस सम्पूर्ण चेतना से पृथक् अस्तित्व रखती है। वह भावना तथा सम्पूर्ण घटना अथवा चेतना वास्तव में एक ही अनुभव के दो अभिन्न पहलू हैं। यदि सम्पूर्ण परिस्थिति एवं सम्पूर्ण चेतना के तत्त्वों में थोड़ा-सा भी परिवर्तन कर दिया जाए, तो सुख की भावना भी विभिन्न हो जाएगी। यही कारण है कि जो सुख का भाव हमें एक नृत्य के देखने से अनुभव होता है, वह उस सुख के भाव से विभिन्न होता है, जोकि हमें एक सुन्दर चित्र के देखने से अनुभव होता है। अतः सुख के भाव की विभिन्नता अपने-आपमें निरर्थक है और वह हमारी चेतना की समष्टि पर निर्भर रहती है। इसलिए सुख की भावना-मात्र को नैतिक मूल्य एवं मापदण्ड मानना असंगत है।

ब्रैडले ने भी चेतना की समष्टि को ही सुख की उत्पत्ति का कारण माना है और कहा है कि हमारी इच्छा का लक्ष्य, सुख का भाव न होकर आत्मानुभूति है, न कि विशेष प्रकार का भाव अथवा तृप्ति। जिस आत्मा (Self) की अनुभूति प्राप्त की जाती है, वह निस्सन्देह जटिल स्वरूप रखती है। सुख क्षणिक तथा परिवर्तनशील तत्त्व हैं, किन्तु जिस आत्मा के द्वारा वे अनुभव किए जाते हैं, वह एक ऐसी पूर्ण है, जोकि इन सुखों को धारण करने-

वाली है। ये सुख आत्मा में उपस्थित होकर ही अस्तित्व रखते हैं एवं अपना महत्त्व प्राप्त करते हैं। इसलिए एक साधारण मनुष्य के लिए आनन्द (Happiness) का अर्थ न तो एक सुख है न सुखों की संख्या है। इसके विपरीत वह उसकी आत्मानुभूति है। दूसरे शब्दों में, आनन्द वास्तव में सुख का भाव-मात्र नहीं है, अपितु एक पूर्ण है। ब्रैडले के शब्दों में, "सामान्य मनुष्य के लिए प्रसन्नता (Happiness) का अर्थ न तो सुख (Pleasure) है और न सुखों की संख्या है। साधारणतया इसका अर्थ अपने-आपको प्राप्त करना है अथवा एक पूर्ण रूप से अपने-आपको तृप्त करना है और विशेषकर इसका अर्थ अपने जीवन के ठोस आदर्श की अनुभूति करना है। वह (सामान्य मनुष्य) कहता है, 'यह प्रसन्नता है', ऐसा कहते समय वह प्रसन्नता का एक सुख या सुखों की संख्या से तादात्म्य नहीं करता और उसका यह आशय समझता है, 'इसमें ही वह तत्त्व सार्थक बना है जो मेरे हृदय में था,' किन्तु सुखवादी ने कहा है—प्रसन्नता सुख है और सुखवादी जानता है कि प्रसन्नता एक पूर्ण है।"[१]

ब्रैडले की इस आलोचना का अर्थ यह है कि प्रसन्नता पूर्ण व्यक्तित्व पर निर्भर करती है न कि सुख की भावना पर। यहां पर ब्रैडले का दृष्टिकोण भगवद्गीता के नैतिक दृष्टिकोण के सदृश है। ब्रैडले ने यह कहा है कि सुख क्षणभंगुर है, अतः वह आदर्श नहीं माना जा सकता। हम क्षणिक सुख की प्राप्ति के पश्चात् वहीं रह जाते हैं, जहांकि पहले थे और हम अपने-आपको प्राप्त नहीं कर सकते और न ही हम पूर्णतया तृप्त होते हैं। भगवद्गीता में भी कहा गया है कि सुख-दुःख क्षणिक अनुभव हैं और वही व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त कर सकता है, जो इस द्वन्द्व से ऊपर उठ जाता है। यह बात भी सत्य है कि सुख का अनुभव हमारे व्यक्तित्व के बिना कोई अर्थ नहीं रखता। यदि कोई व्यक्ति सुख भोगने को ही अपना लक्ष्य बना ले, तो अन्त में उसे यह अनुभव होगा कि उसने सुख का सेवन नहीं किया, अपितु सुख उसके व्यक्तित्व में आया और चला गया। वास्तव में क्षणिक सुख का अस्तित्व और उसकी अनुभूति केवल यह प्रमाणित करती है कि हमारे व्यक्तित्व में वृद्धि के स्थान पर कुछ हानि ही हुई है। हम ऐसा समझते हैं कि हमने सुख को भोगा है, किन्तु वास्तव में सुख ही हमारे व्यक्तित्व को भोगता है। हम समझते हैं कि हमने समय व्यतीत किया है, किन्तु समय हमारे व्यक्तित्व को व्यतीत करता है। हम उस

१. "Happiness for the ordinary man neither means a pleasure, nor a number of pleasures. It means in general the finding of himself, or the satisfaction of himself as a whole, and in particular it means the realization of his concrete ideal of life. 'This is happiness,' he says, not identifying happiness with one pleasure or a number of them, but understanding by it, 'in this it become a fact what I have at heart.' But the Hedonist has said, happiness is pleasure, and the Hedonist knows that happiness is a whole."

—F. H. Bradley : Ethical Studies, Page 96.

समय तक प्रसन्नता एवं परम सुख को प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक कि हम आत्म-विकास और आत्मवृद्धि को लक्ष्य न बनाएं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विषय से पृथक् तथा व्यक्तित्व से पृथक् सुख का अस्तित्व मृगतृष्णा के समान है। हम सुख की भावना की विषय तथा व्यक्ति से पृथक् कल्पना कर सकते हैं, किन्तु यह कल्पना वास्तविकता के विरुद्ध है। सुखवादी इसको वास्तविक मानकर एक व्यावहारिक भूल करते हैं और एक ऐसे नैतिक आदर्श को प्रस्तुत करते हैं जिसे हम बिना आकार के सामग्री (Matter without form) कह सकते हैं। यदि सुख किसी ठोस वस्तु का नाम होता और हम उसे अधिक या कम मात्रा में किसी विशेष परिमाण द्वारा अनुभूत कर सकते, तो सम्भवतया सुख एक नैतिक मूल्य हो सकता था। सुखों को किसी भी अवस्था में एक-दूसरे से जोड़ा नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में, उन्हें ठोस वस्तुओं की भांति इकट्ठा नहीं किया जा सकता। सुखों को एक, दो, तीन की संख्या में परिणत करना एक असम्भव प्रयास है। सुखवादी यह भूल जाते हैं कि सुख एक भाव एवं गुण है और गुण को संख्या के आधार पर परिमित नहीं किया जा सकता। सुख की श्रेष्ठता व अश्रेष्ठता उसकी संख्या पर निर्भर नहीं है, अपितु अनुभव करनेवाले व्यक्ति पर निर्भर है। सुखवाद इस बात को भूल जाता है कि जब हम तृप्ति की ओर जाते हैं, तो हमारा उद्देश्य इच्छाओं की तृप्ति नहीं होता, अपितु हमारे व्यक्तित्व की तृप्ति होता है। ऐसी तृप्ति के समय मूल्यांकन का आधार सुख नहीं होता, अपितु हमारा अपना दृष्टिकोण अथवा, मैकन्ज़ी के शब्दों में, हमारी इच्छाओं का व्यूह होता है। मैकन्ज़ी ने सुखवाद की आलोचना करते हुए इसी दृष्टिकोण को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया है, "तृप्ति का मूल्य हमारे व्यक्तित्व के उस स्तर पर निर्भर करता है, जो इस तृप्ति को अनुभव करनेवाला है, अर्थात् वह उस इच्छाओं के व्यूह पर निर्भर करता है, जिसमें कि तृप्ति प्राप्त की जाती है। वह सुख पाशवी सुख हो सकता है, वह मानवीय सुख हो सकता है, वह आनन्द के समान, एक दैवी सुख हो सकता है, सुख का इस प्रकार मूल्यांकन करना, हमारी इच्छाओं को उसके आकार एवं उद्देश्य के प्रकरण में समझना है। सुखवाद इस आकार को भूल जाता है। यह हमारी इच्छाओं तथा उनकी तृप्ति को किसी कच्चे पदार्थ की संख्या की भांति समझता है, यह हमारी आवश्यकताओं को मानो अनेक ऐसे मुख समझता है, जिनको कि भरता है और उनकी तृप्ति के सुखों को मानो चीनी के ढेले समझता है, जिनके द्वारा कि उन मुखों को भरना है। यह बिना आकार के सामग्री है।"[१]

सुखवाद को पूर्णतया असंगत तथा निरर्थक तो प्रमाणित नहीं किया जा सकता, किन्तु उसे नैतिकता का एकपक्षीय एवं एकांगी आदर्श अवश्य कहा जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी भी आदर्श को उस समय तक नैतिक आदर्श कहना उचित नहीं है, जब तक कि वह मानव के कल्याण को लक्ष्य न बनाता हो। केवल इतना ही नहीं, अपितु एक व्यापक नैतिक आदर्श वही है, जो प्राणी-मात्र के कल्याण को लक्ष्य मानता है।

१. A Manual of Ethics by Mackenzie, Page 183.

किन्तु केवल सुख को ही प्राणियों अथवा मनुष्यों के कल्याण का अद्वितीय लक्षण मान लेना अवश्य एक भूल है। कल्याण में सुख अवश्य उपस्थित होता है और दुःख की अनुपस्थिति होती है, किन्तु सुखद भावना को ही कल्याण (Well-being) का एकमात्र तत्त्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि सुख की अनुभूति व्यक्ति के दृष्टिकोण के अनुसार होती है और उच्चतम दृष्टिकोण ही सबसे अधिक उत्कृष्ट, सुख एवं आनन्द देनेवाला होता है। एक ही मनुष्य में जब अनेक न्यून तथा उच्च स्तर के दृष्टिकोण होते हैं एवं उसके व्यक्तित्व के विभिन्न स्तर होते हैं, उन्हीं स्तरों के अनुसार विभिन्न सुखों की अनुभूति अवश्य होती है। अतः मनुष्य का नैतिक आदर्श उसके उच्चतम व्यक्तित्व के स्तर की प्राप्ति एवं अनुभूति है। ब्रैडले ने जो आत्मानुभूति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, उसका आशय भी यही है कि सुख की प्राप्ति का सम्बन्ध व्यक्तित्व की अनुभूति में है। इसी प्रकार मैकन्ज़ी भी इच्छाओं के व्यूह के विभिन्न स्तरों को स्वीकार करता है और सुख को इन स्तरों से ही सम्बन्धित करता है। यही स्तर, जैसाकि हमने पहले कहा है, व्यक्तित्व के स्तर हैं। आचार-विज्ञान के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि व्यक्तित्व का कौन-सा स्तर सबसे अधिक उत्कृष्ट एवं सबसे अधिक वांछनीय है। उसी स्तर की प्राप्ति ही नैतिक आदर्श होना चाहिए। इस प्रकार सुखवाद, जो केवल सुख को ही उच्चतम आदर्श प्रमाणित करने की चेष्टा करता है, अपने लक्ष्य में तो सफल नहीं होता, किन्तु वह इतना संकेत अवश्य करता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का उच्चतम स्तर वह होगा, जिसकी अनुभूति में परम सुख एवं परम आनन्द की प्राप्ति होती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि कुछ पश्चिमीय विचारक अन्तःकरण को मनुष्य का उच्चतम स्तर मानते हैं और उसीके आदेश को ही नैतिक कर्तव्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार की विचारधारा प्रस्तुत करनेवाले विचारक अन्तर्दृष्टिवादी दार्शनिक कहे जाते हैं। कांट एक विशेष प्रकार का अन्तर्दृष्टिवादी नैतिक विचारक है। वह मनुष्य के तर्कात्मक स्तर को ही उच्चतम स्तर मानता है, और तर्क तथा शुभ संकल्प सत्यं तथा शिवं का तादात्म्य करता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि कांट का यह दृष्टिकोण भी एकांगी दृष्टिकोण है। कांट के नैतिक सिद्धान्त की तुलना यथास्थान भगवद्गीता के कर्मयोग से की जाएगी। किन्तु यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि जहां सुखवाद एक भावात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, वहां कांट का दृष्टिकोण एक विशुद्ध तर्कात्मक दृष्टि का प्रतिपादन करता है। कांट के सिद्धान्त के अध्ययन के पश्चात् ही हम दोनों नैतिक सिद्धान्तों की तुलना कर सकेंगे और यह निश्चित कर सकेंगे कि भारतीय नैतिक आदर्श इन दोनों की अपेक्षा कहां तक संगत और उनका समन्वय करने में समर्थ हैं।

सुखवाद एवं उपयोगितावाद की मुख्य त्रुटि यह है कि यह सिद्धान्त हमारे सामने 'अधिक से अधिक व्यक्तियों के लिए अधिक से अधिक सुख' उपार्जित करने का उद्देश्य प्रस्तुत करता है और इसी उद्देश्य को ही परम शुभ एवं परम लक्ष्य घोषित करता है, किन्तु वह उन नियमों एवं साधनों की ओर ध्यान नहीं देता, जोकि उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। साधन अथवा नियम निस्सन्देह अन्तरात्मक प्रेरणाएं हैं, जो हमें सन्मार्ग पर

चलने के लिए बाध्य करती हैं। हमारा अन्तःकरण एक ऐसा अन्तरात्मक नियम है, जो नैतिक उद्देश्य की पूर्ति का साधन है। भले ही नैतिक उद्देश्य की पूर्ति 'अधिक से अधिक सुख' की प्राप्ति को ही मान लिया जाए, तो भी उस पूर्ति को बिना किसी साधनके अथवा बिना किन्हीं नियमों के निरंकुश पूर्ति मान लेने का अभिप्राय, प्रत्येक व्यक्ति को अनैतिक बनने की स्वतन्त्रता देना है। सुखवादी यह भूल जाते हैं कि उद्देश्य तभी नैतिक हो सकता है, जब उसकी प्राप्ति के साधन भी नैतिक ही हों। दूसरे शब्दों में, शुभ की प्राप्ति केवल किसी वस्तु को शुभ घोषित करने-मात्र से ही नहीं हो सकती, अपितु वह सत् के अपनाने से ही उपलब्ध हो सकती है। सदाचार के नियम शुभ की प्राप्ति के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य हैं। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक धर्म में नैतिकता को बनाए रखने के लिए अनेक सदाचार के नियमों के पालन करने को अनिवार्य स्वीकार किया गया है। यह नियम आदेश के रूप में प्रतिपादित किए गए हैं। उदाहरणस्वरूप, सत्य बोलो, चोरी मत करो आदि ऐसे नियम हैं जोकि आदेश देनेवाले हैं। किन्तु ये ऐसे नियम भी हैं, जिनपर चलने के लिए किसी बाहरी दबाव की आवश्यकता नहीं है और न ही कोई बाहरी दबाव इन नियमों का पालन कराने में सफल हो सकता है। यदि कोई शक्ति हमें इन नियमों पर चलने के लिए प्रेरित करती है, जो वह अन्तरात्मक शक्ति है एवं हमारी अन्तर्दृष्टि है। जब तक उस अन्तर्दृष्टि के आदेश का पालन न किया जाए, तब तक कोई भी उद्देश्य नैतिक नहीं माना जा सकता। अतः नैतिक आदर्श की पूरी व्याख्या तभी हो सकती है, जब हम अन्तर्दृष्टयात्मक (Intuitive) नैतिक सिद्धान्तों का भी अध्ययन करें। ये अन्तर्दृष्टयात्मक सिद्धान्त, अन्तःकरण तथा अन्तरात्मक तर्क के नियम के सिद्धान्त हैं। अगले अध्याय में हम इन्हीं सिद्धान्तों का व्याख्यापूर्वक अध्ययन करेंगे और उसके पश्चात् ही हम यह निर्णय देने के योग्य हो सकते हैं कि 'अधिक से अधिक व्यक्तियों के अधिक से अधिक सुख' को किस सीमा तक और किन साधनों को अपनाकर उद्देश्य माना जा सकता है।

छठा अध्याय

आचार के अन्तर्दृष्टयात्मक सिद्धांत

(Intuitive Schools of Ethics)

सुखवाद का अध्ययन करते हुए हम इस परिणाम पर पहुंचे थे कि उपयोगितावाद हमारे सामने एक उद्देश्य तो प्रस्तुत करता है, किन्तु उसमें उस उद्देश्य को कार्यान्वित करने की प्रेरणा का अभाव है। अन्तर्दृष्टि का अर्थ निस्सन्देह आन्तरिक सूझ एवं आन्तरिक प्रेरणा है, जो मनुष्य को विशेष मार्ग पर चलने एवं कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नैतिक व्यवहार बाहरी दबाव के द्वारा कदापि उत्पन्न नहीं होता, चाहे वह दबाव राजनीतिक सत्ता का दबाव हो, चाहे सामाजिक बन्धनों का एवं रूढ़िवाद का दबाव हो और चाहे वह नरक और स्वर्ग के भय से युक्त, ईश्वरीय दबाव हो। मनुष्य की श्रेष्ठता का मूल तत्त्व उसकी सूझ है, उसकी वह विवेक-शक्ति है जो उसे यह निर्णय देने में समर्थ बनाती है कि अमुक वस्तु शुभ है, अमुक अशुभ है, अमुक सुन्दर है, अमुक असुन्दर है। इसी मानवीय अन्तरात्मक विवेक को ही अन्तर्दृष्टि कहा जाता है। कुछ दार्शनिकों का विचार है कि यह नैतिक अन्तर्दृष्टि अधिक व्यापक है और हमें यह बताती है कि कुछ कर्म अपने-आपमें असत् हैं और कुछ सत् हैं, कुछ अशुभ हैं और कुछ शुभ हैं; चाहे हम उन्हें व्यक्तिगत रूप से ऐसा मानें या न मानें, हमारी अन्तर्दृष्टि जोकि एक विशेष शक्ति है, हमें हर समय नैतिक निर्णय पर पहुंचने में सहायता देती है। इस अन्तर्दृष्टि को हम नैतिक सूझ (Moral Sense) एवं भावना अथवा अन्तःकरण (Conscience) अथवा तर्क का नियम (Law of Reason) कह सकते हैं। नैतिकता का अन्तर्दृष्टयात्मक मत निस्सन्देह सामान्य व्यक्ति के दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है। जनसाधारण इस बात को मानकर चलते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति, साधारणतया स्वभाव से, शुभ-अशुभ और सत्-असत् में विवेक कर सकता है। ईसाई धर्म भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन करता है और अन्तःकरण को ईश्वर की आवाज़ मानता है। उसके अनुसार यह आन्तरिक प्रेरणा ऐसा ईश्वरीय आदेश है, जिसपर चलने से व्यक्ति आत्मविकास कर सकता है। यदि इस आन्तरिक शब्द को सुनकर उसका अनुसरण किया जाए, तो हमारी यह अन्तर्दृष्टि प्रवृद्ध हो सकती है और इस प्रवृद्धि के द्वारा व्यक्ति नैतिकता के उच्चतम स्तर पर पहुंच सकता है।

अन्तःकरण एवं अन्तर्दृष्टि को नैतिकता का आधार मानने में जनसाधारण का मत भी समर्थन करता है। यही कारण है कि सामान्य व्यक्ति अन्तःकरण को छठी ज्ञानेन्द्रिय मानते हैं। इसी प्रकार का एक जनसाधारण के अनुभव पर आधारित दृष्टिकोण नैतिक सूझ का सिद्धान्त (Moral Sense School) कहलाता है। धार्मिक दृष्टिकोण से अन्तर्दृष्टयात्मक प्रेरणा को एक आन्तरिक आवाज़ स्वीकार किया जाता है। इस मत के आधार पर जो नैतिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, उसे अन्तःकरण का नियम (Law of Conscience) कहते हैं। ये दोनों नैतिक सिद्धान्त इस बात को मानकर चलते हैं कि मनुष्य में यह अन्तर्दृष्टि अभ्यास के द्वारा विकसित की जा सकती है। इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त एक अन्य सिद्धान्त, जोकि अन्तर्दृष्टि को तर्क का नियम स्वीकार करता है, अधिक स्पष्ट रूप से एक ऐसे नैतिक नियम का प्रतिपादन करता है, जिसके आदेश का पालन करना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। इस नैतिक सिद्धान्त को निरपेक्ष आदेशवाद का सिद्धान्त (Doctrine of Categorical Imperative) कहा गया। अतः हम इस अध्याय में तीन मुख्य नैतिक सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे जिन्हें क्रमशः इन नामों से अभिहित किया गया है :

(१) नैतिक सूझ का सिद्धान्त (Moral Sense School)
(२) अन्तःकरण का सिद्धान्त (Law of Conscience)
(३) निरपेक्ष आदेशवाद का सिद्धान्त (Doctrine of Categorical Imperative)

नैतिक सूझ का सिद्धान्त

इस नैतिक दृष्टिकोण के अनुसार, जब हम किसी कर्म को नैतिक अथवा अनैतिक घोषित करते हैं, तो हमारा यह निर्णय किसी बाहरी निरीक्षण के आधार पर नहीं होता और न ही किसी तर्क के आधार पर होता है, अपितु वह हमारे अन्तस् में स्थित एक ऐसे भाव के आधार पर होता है, जो हमें स्वतः ही सत्-असत् का ज्ञान देता है। दूसरे शब्दों में, हमारे नैतिक निर्णय का कारण, हमारी स्वाभाविक नैतिक सूझ (Moral Sense) है। 'नैतिक सूझ' पद का प्रयोग सर्वप्रथम नैतिक लेखक हचीसन (१६९४–१७४७) ने अपनी पुस्तक 'नैतिक दर्शन का सिद्धान्त' (System of Moral Philosophy) में किया। उसके अनुसार हम अपनी नैतिक धारणाएं उसी प्रकार बनाते हैं, जिस प्रकार कि हम रंग की धारणा बनाते हैं। उदाहरणस्वरूप, जब हम विशेष लाल वस्तुओं को देखते हैं और उन्हें देखने के पश्चात् एक सामान्य गुण की धारणा बना लेते हैं, तो वही धारणा लाल रंग की धारणा होती है। इसी प्रकार हम जब ऐसी विशेष परिस्थितियों का निरीक्षण करते हैं, जिनमें कि नैतिक गुण शुभ-अशुभ उपस्थित होते हैं; और हम इन विशेष घटनाओं से नैतिक गुणों का पार्थक्य करते हैं, तब हम सत्-असत् अथवा नैतिक-अनैतिक की धारणा बनाते हैं। जिस प्रकार लाल रंग के सम्बन्ध में हमारी देखने की प्रवृत्ति, जोकि एक विशेष

क्षमता है (और जो स्वाभाविक रूप से हममें उपस्थित है), लाल रंग को देखती है और जिस प्रकार उस क्षमता की अनुपस्थिति में हमें लाल रंग की धारणा प्राप्त नहीं हो सकती, उसी प्रकार नैतिकता के सम्बन्ध में हमारी विशेष प्रवृत्ति, क्षमता अथवा नैतिक सूझ, उन नैतिक गुणों का निरीक्षण करती है, जोकि मनुष्यों तथा वस्तुओं के जगत् में उपस्थित होते हैं। अतः यदि हममें वह नैतिक सूझ की क्षमता न हो, तो हमारी नैतिक धारणाएं कभी नहीं बन सकतीं। इस नैतिक सूझ को हचीसन ने कर्मों तथा भावनाओं में सौन्दर्य की ऐसी सूझ कहा है, जिसके द्वारा हम अपने में तथा दूसरों में सद्गुण अथवा अवगुण का निरीक्षण कर सकते हैं।

नैतिक सूझ के सिद्धान्त के अनुसार, हम अपनी अन्तर्निहित भावना के अनुसार नैतिक आदर्श पर चलने की चेष्टा करते हैं। वह भावना ही हमारी नैतिकता की एकमात्र प्रेरणा है। अतः हम जिस प्रकार सुन्दर वस्तु की ओर आकर्षित होते हैं, ठीक उसी प्रकार शुभ कर्म की ओर भी आकर्षित होते हैं। नैतिक सूझ का यह आधुनिक सिद्धान्त वास्तव में प्राचीन यूनानी दार्शनिकों की उस धारणा का प्रतीक है, जिसके अनुसार सुन्दर और शुभ को एक माना गया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यूनान में स्टायक दार्शनिकों ने किया। उनके अनुसार केवल उसी कर्म को शुभ माना जाता था, जोकि सुन्दर (अर्थात् नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट) हो। हचीसन के अतिरिक्त शेफ्ट्सबरी (१६७१–१७१३) ने भी नैतिक सूझ के सिद्धान्त की पुष्टि की है। ये दार्शनिक सुन्दर और शुभ को एक मानकर आचार-विज्ञान को सौन्दर्यशास्त्र का अंग बना देते हैं। शेफ्ट्सबरी के अनुसार हममें नैतिकता की भावना ठीक उसी प्रकार स्वभाव के रूप में उपस्थित है, जिस प्रकार कि सौन्दर्य की भावना उपस्थित होती है। हम स्वच्छ इसलिए रहना चाहते हैं कि स्वच्छता की भावना हममें स्वतः ही उपस्थित होती है। हमारे स्वच्छ रहने का कारण यह नहीं कि हम दूसरे लोगों को दिखाने के लिए ऐसा करें। यहां पर इस दृष्टिकोण को अधिक स्पष्ट करने के लिए शेफ्ट्सबरी के दृष्टिकोण को उसीके शब्दों में प्रस्तुत करना आवश्यक है:

"···यदि कोई ऐसा व्यक्ति, जोकि देखने में भद्रपुरुष लगता हो, मुझसे यह पूछे कि मैं उस समय अपना नाक साफ क्यों करता हूं, जबकि कोई व्यक्ति उपस्थित नहीं होता। सर्वप्रथम मुझे यह पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि वह पूछनेवाला व्यक्ति बहुत ही भद्दा भद्रपुरुष होगा और मेरे लिए उस व्यक्ति को यह समझाना कि वास्तविक स्वच्छता क्या होती है, एक कठिन कार्य होगा। फिर भी इस बात की उपेक्षा करते हुए मैं उसके प्रति एक छोटा-सा उत्तर देने में सन्तोष का अनुभव करूंगा और कहूंगा 'इसलिए कि मैं नाक रखता हूं। ······मैं स्वयं उस समय तक अपना आदर नहीं कर सकता, जब तक कि मैं इस बात को अनुभव नहीं कर लेता कि वास्तव में मेरा अपने प्रति क्या कर्तव्य है और एक मानवीय जन्तु होने के नाते मेरे लिए क्या करना उचित है।' इसी प्रकार मैंने कई लोगों को यह पूछते हुए सुना है कि मनुष्य को अंधेरे में सत्यपरायण क्यों होना चाहिए? मैं यह तो नहीं कहूंगा कि ऐसा प्रश्न करनेवाला व्यक्ति स्वयं किस प्रकार का व्यक्ति

होगा।······यथार्थ रूप से दार्शनिक चिन्तन करने का अर्थ अपनी भद्रता को एक कदम ऊंचा ले जाना है।"[1]

शेफ्ट्सबरी के इस कथन का अर्थ यह है कि सदाचारी होना एवं सदाचार अथवा नैतिकता को व्यावहारिक जीवन में लागू करना ही एकमात्र नैतिक गुण है। हम नैतिकता का अनुसरण औपचारिक रूप से नहीं करते और न ही किसी बाहरी दबाव के कारण ऐसा करते हैं। इसके विपरीत, शेफ्ट्सबरी के अनुसार नैतिकता एक प्रकार की वह अर्जित प्रवृत्ति एवं आदत है जो हमें शुभ कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि अंग्रेज़ी में इस प्रवृत्ति, झुकाव अथवा आदत का पर्यायवाची शब्द 'टेस्ट' (taste) माना गया है। यहां पर इस शब्द का अर्थ सद्वृत्ति (Good taste) है। यह सद्वृत्ति न ही केवल हमें किसी कर्म का नैतिक दृष्टि से शुभ-अशुभ होने का ज्ञान देती है, अपितु वह एक प्रकार की आन्तरिक ज्ञानात्मक प्रवृत्ति है, जोकि अधिक विकसित होने पर स्वतः ही मनुष्य में नैतिक नियम का पालन करने की आदत डाल देती है।

नैतिक सूझ एवं प्रवृत्ति का यह सिद्धान्त हमें सामान्य व्यक्ति के लिए स्पष्ट नैतिक आदेश नहीं देता। यदि नैतिकता एक आन्तरिक भावना-मात्र है और प्रत्येक व्यक्ति में वह भावात्मक प्रवृत्ति उपस्थित है, तो उससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने कर्म का नैतिक मूल्यांकन करके और उसे सत्कर्म मानकर उसका आचरण करता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति का कर्म वास्तव में नैतिक दृष्टि से सत्कर्म होता है। किन्तु जब हम विभिन्न व्यक्तियों के आचार पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें यह मानना पड़ता है कि केवल विकसित सच्चरित्रवाले व्यक्ति ही नैतिक नियम का पालन स्वच्छन्द रूप से करते हैं और उनमें सत्कर्म का निर्वाचन करना तथा असत्कर्म का तिरस्कार करना एक

१. "Should one,......who had the countenance of a gentleman ask me, 'why I would avoid being nasty when nobody was present?' In the first place, I should be fully satisfied that he himself must be a very nasty gentleman, who could ask this question; and that it would be a hard matter for me to make him even conceive what true cleanliness was. However I might, notwithstanding this, be contented to give a slight answer and say, it was because I had a nose... honour myself I never could; whilst I had no better sense of what, in reality, I owed myself, and what became me, as a human creature.........Much in the same manner have I heard it asked, why should a man be honest in the dark? What a man must be to ask this question I won't say......To philosophize in a just signification is but to carry good breeding a step higher."

—An Essay on the Freedom of Wit and Humour
In Characteristics, Part III, Section IV.

स्वभाव-मात्र हो जाता है। किन्तु जनसाधारण के विषय में हम यह नहीं कह सकते कि उनका प्रत्येक कर्म स्वच्छन्द रूप से शुभ कर्म है अथवा वह स्वच्छन्द रूप से किसी कर्म को सत् अथवा असत् घोषित कर सकता है। शेफ्ट्सबरी इस बात की अवहेलना करता है कि यदि नैतिकता की सूझ एवं प्रवृत्ति एक अर्जित प्रवृत्ति है और वह विकसित हो सकती है, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि वह किसी व्यक्ति में अधिक और किसी में कम मात्रा में विकसित है।

शेफ्ट्सबरी और हचीसन नैतिक सूझ के सिद्धान्त की पूरी व्याख्या नहीं कर सके। उन्होंने यह बताने की चेष्टा अवश्य की है कि मनुष्य में इस प्रवृत्ति का विकास उसके सामाजिक वातावरण के कारण होता है। उन्होंने कहा है कि विकसित नैतिक सूझवाले व्यक्ति के लिए वही कर्म नैतिक होता है, जोकि सम्पूर्ण समाज के लिए उपयोगी होता है, अर्थात् जो 'अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक सुख' उत्पन्न करता है। ऐसी व्याख्या करते हुए भी इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने नैतिक सूझ को एक निश्चित प्रवृत्ति मानकर उसकी अधिक व्याख्या करने को उचित नहीं समझा। यदि हम नैतिकता को अर्जित प्रवृत्ति मानकर उसकी व्याख्या करें, तो हम निस्सन्देह इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि यह सिद्धान्त व्यावहारिक सिद्ध नहीं हो सकता। उसका एक कारण तो यह है कि यदि नैतिक सूझ का विकास सामाजिक वातावरण पर निर्भर है, तो विभिन्न व्यक्तियों में यह प्रवृत्ति विभिन्न प्रकार की होगी। इस प्रकार नैतिकता एक दक्षता हो जाएगी, जो किसीमें कम और किसीमें अधिक मात्रा में उपस्थित होगी। इस अवस्था में यदि नैतिक सूझ को नैतिकता का आधारभूत नियम मान भी लिया जाए, तो भी यह स्पष्ट है कि यह नियम सब लोगों पर समान रूप से लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रवृत्ति का विकसित होना विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। नैतिक सूझ का सिद्धान्त हमारे सामने ऐसा व्यापक आदर्श प्रस्तुत नहीं करता, जोकि मानव-मात्र के लिए अनिवार्य रूप से पालन करने योग्य हो अथवा जो प्रत्येक मनुष्य के लिए, प्रत्येक धर्म-संकट में, निरपेक्ष आदेश देने के योग्य हो। अतः नैतिकता को सौन्दर्य के निर्वाचन की भांति दक्षता एवं कला नहीं माना जा सकता।

किन्तु यह दृष्टिकोण सर्वथा असंगत है, यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। नैतिक कर्म के निर्वाचन में हमारे भावों का स्थान अवश्य है। शेफ्ट्सबरी ने नैतिक विवेक को एक प्रकार की आन्तरिक वृत्ति मानकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि किसी कर्म को उसके बाहरी परिणाम के आधार पर ही शुभ नहीं माना जा सकता और न ही किसी व्यक्ति को उसके औपचारिक शिष्टाचार के कारण सदाचारी कहा जा सकता है। शेफ्ट्सबरी के शब्दों में, "एक अच्छा व्यक्ति वह होता है, जोकि अपने स्वभाव अथवा भावों के झुकाव से प्रेरित होकर तुरन्त शुभ की ओर आकर्षित होता है और अशुभ का विरोध करता है, न कि वह व्यक्ति है, जो गौण रूप से अथवा आकस्मिक

परिस्थितियों के वश में नैतिक कर्म करता है।"[१] दूसरे शब्दों में, केवल औपचारिक दृष्टि से शुभ कर्म करना ही नैतिकता नहीं है, अपितु वास्तविक नैतिकता वह है, जो मनुष्य के स्वभाव से एवं उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति से परिस्फुटित होती है ।

शेफ्ट्सबरी का यह दृष्टिकोण आन्तरिक सद्वृत्ति पर बल देकर एकांगी सिद्धान्त अवश्य प्रस्तुत करता है, किन्तु वह हमें चेतावनी देता है कि हम किसी व्यक्ति को केवल इसलिए ही सदाचारी न मान लें, क्योंकि वह रुचि और उत्साह से जनता की सेवा करता है, अपितु इसलिए कि उसके (व्यक्ति के) अन्तस् में सत् तथा असत् की सूझ एवं अन्तर्दृष्टयात्मक प्रवृत्ति है। दूसरे शब्दों में, सत्कर्म वह कर्म है जो न्यायपूर्ण, समता तथा शुभ भावना द्वारा किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शेफ्ट्सबरी मध्यकाल के उस सिद्धान्त में दृढ़ विश्वास रखता था, जिसके अनुसार भावों तथा संवेगों को कर्म का मुख्य स्रोत माना जाता था। उसने इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए सरल भाषा का प्रयोग किया है। चाहे उसका सिद्धान्त शत-प्रतिशत मान्य न हो, किन्तु उसने आचार-विज्ञान में एक प्रेरणात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। शेफ्ट्सबरी के दृष्टिकोण की व्याख्या हचीसन के द्वारा ही की गई है। उसने कहा है कि कर्म का मूल्यांकन अथवा उसका औचित्य तथा बहिष्कार इतने सरल विचार हैं कि उनकी व्याख्या करना सम्भव नहीं है। इसलिए हचीसन नैतिक औचित्य को सूझ (Sense) कहता है। वह इस बात को स्पष्ट करने की चेष्टा करता है कि नैतिक मूल्यांकन एक प्रत्यक्ष क्रिया है एवं प्राथमिक अनुभव है, जोकि सान्तर अथवा तर्कात्मक ज्ञान से सर्वथा विभिन्न है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह इस सूझ को अन्तर्दृष्टयात्मक तत्त्व तो अवश्य मानता है, किन्तु उसका विशेष आशय यह है कि वह इस सूझ को सद्वृत्यात्मक स्वभाव से उत्पन्न स्वच्छन्द प्रवृत्ति एवं क्रियात्मक सुझाव प्रमाणित करे। हचीसन के शब्दों में, "प्रत्येक ऐसा कर्म जिसको कि हम नैतिक दृष्टि से शुभ अथवा अशुभ मानते हैं, वह कर्म है जो किसी न किसी ऐसे भाव से उत्पन्न होता है, जो हमारा संवेदनात्मक स्वभाव होता है ; और जिसको हम गुण अथवा दोष कहते हैं या तो वह इसी प्रकार का भाव होता है और या कोई ऐसा कर्म होता है, जो उसका (भाव का) परिणाम होता है।"[२] इससे यह प्रमाणित होता है कि सत्कर्म केवल वही कर्म नहीं है, जोकि अच्छे परिणाम में फलित होता है, अपितु वह ऐसा कर्म है जो हमारे हृदय में निहित सद्भावना से प्रेरित होता है। अतः शेफ्ट्सबरी तथा हचीसन का

१. Characteristics by Shaftsbury, Vol. II, Page 26.

२. "Every action which we apprehend as either morally good or evil, is always supposed to flow from some affection towards sensitive natures; and whatever we call virtue or vice, is either some such affection, or some action consequent upon it."

—An Enquiry into the Origin of our Ideas of Beauty and Virtue by Hutchinson, IV Edition, Page 132.

दृष्टिकोण आचार-विज्ञान में विशेष महत्त्व रखता है।

यदि हम शेफ्ट्सब्री के दृष्टिकोण की सुखवाद से तुलना करें, तो हम यह कह सकते हैं कि जहां सुखवादी, सुख को केवल बाह्यात्मक विषयों द्वारा प्राप्त तृप्ति मानते हैं, वहां शेफ्ट्सबरी वास्तविक सुख (Happiness) एवं प्रसन्नता को ऐसी उपाधि मानता है, जोकि बाहरी परिस्थितियों से सर्वथा स्वतन्त्र है और अन्तरात्मक है। इसको प्राप्त करने के लिए हमें प्रकृति की इच्छा (Will of Nature) के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। प्रकृति की इच्छा हमसे यह आशा करती है कि हम आत्मा की रक्षा तथा उसका विकास करें। किन्तु आत्मा के इस विकास का यह अर्थ नहीं कि हम स्वार्थसिद्धि को ही अपना लक्ष्य समझें। प्रकृति की इच्छा, जो एक व्यक्ति को प्रेरित करती है, वह अन्य व्यक्तियों को भी प्रेरित करती है। वह इच्छा सबके कल्याण को लक्ष्य बनाती है। अतः जो कर्म प्रकृति की इच्छा से प्रेरित होकर किया जाता है, वह ऐसा कर्म है जोकि व्यक्ति तथा समाज दोनों के हित का समन्वय करता है। इसलिए नैतिक सूझ का सिद्धान्त सुखवाद को एक आन्तरिक प्रेरणा प्रदान करके उसे उपयोगितावाद बनाने में सहायक सिद्ध होता है। यही कारण है कि सिजविक ने भी अन्तःकरण को एक आन्तरिक न्याय का नियम स्वीकार करके व्यक्तिगत सुखवाद तथा सामूहिक सुखवाद के संघर्ष को सुलझाने की चेष्टा की है।

अन्तःकरण का सिद्धान्त

पश्चिमीय दर्शन के इतिहास में आचार-विज्ञान के सम्बन्ध में बिशप बटलर की विचारधारा का विशेष महत्त्व है। बटलर भी शेफ्ट्सबरी की भांति अन्तर्दृष्टयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और नैतिकता को आन्तरिक भावना से प्रेरित मानता है। किन्तु उसका यह सिद्धान्त नैतिक सूझ के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित है और मनुष्य के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। बटलर मानवीय मनोविज्ञान को प्लेटो की भांति तीन भागों में विभक्त करता है। इसका प्रथम भाग एवं अंग संवेगों अथवा भावों का समूह है। इन प्रवृत्तियों को वह क्रोध, कामवृत्ति, इच्छा, ईर्ष्या-द्वेष आदि प्रेरणाएं कहता है। प्रत्येक ऐसी प्रेरणा का मुख्य उद्देश्य तृप्ति प्राप्त करना है। मनुष्य के मनोवैज्ञानिक स्वभाव का दूसरा अंग अथवा स्तर दो ऐसे सामान्य नियम हैं, जो मनुष्य को कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं और वे नियम जनहित अथवा उदारता (Benevolence) तथा आत्मप्रेम (Self-love) हैं। जनहित का अर्थ वह सार्वजनिक प्रवृत्ति है, जो हमें सब व्यक्तियों के 'अधिक से अधिक सुख' को लक्ष्य बनाने के लिए प्रेरित करती है। आत्मप्रेम वह प्रवृत्ति है, जोकि मनुष्य को अधिक से अधिक व्यक्तिगत सुख प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है। मनुष्य के स्वभाव का तीसरा मनोवैज्ञानिक भाग अथवा स्तर वह उच्चतम नियम है, जिसे अन्तःकरण कहा गया है और जिसका अन्य सभी आंतरिक नियमों एवं प्रेरणाओं पर आधिपत्य है। यह अन्तःकरण निश्चित करता है कि किन

प्रेरणाओं को वांछनीय स्वीकार किया जाए और किनको अस्वीकार। यह अन्तःकरण सर्वोपरि होने के कारण यह भी निर्णय देता है कि आत्मप्रेम तथा जनहित के अन्तरात्मक नियमों में से किसका अनुसरण किया जाए।

बटलर मनुष्य के स्वभाव के इन तीनों स्तरों को अन्योन्याश्रित मानता है और तीनों को ही अपने-अपने स्थान पर उचित स्वीकार करता है। दूसरे शब्दों में, बटलर का दृष्टिकोण एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण है। यदि हम मनुष्य के स्वभाव के तीनों स्तरों को ठीक प्रकार से परस्पर सम्बन्धित करें, तो हमारा कर्म शुभ हो सकता है। अशुभ कर्म तभी घटित होता है, जब हम मानवीय स्वभाव के इन तीनों अंगों को ठीक प्रकार से समन्वित नहीं करते अथवा जब हम उनमें से किसी एक अंग को ही महत्त्व दे देते हैं। मनुष्य का यह स्वभाव एवं उसके व्यक्तित्व के अंग एक घड़ी की भांति यान्त्रिक पूर्ण हैं, जिसमें कि प्रत्येक अंग दूसरे अंग से सम्बन्धित है। जिस प्रकार कि एक घड़ी के विभिन्न पुरज़ों को जानना-मात्र ही पर्याप्त नहीं है, अपितु यह जानना भी आवश्यक है कि उसके विभिन्न भागों का पूर्ण यंत्र में क्या स्थान है एवं उनकी क्या क्रिया है, ठीक उसी प्रकार मानवीय स्वभाव को समझने के लिए केवल उसके विभिन्न अंगों को जानना ही पर्याप्त नहीं है। इसके विपरीत इन विभिन्न अंगों के सम्यक् सम्बन्ध का ज्ञान रखना नितान्त आवश्यक है।

मनुष्य के व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों, प्रेरणाओं, जनहित तथा आत्मप्रेम के नियमों तथा अन्तःकरण के परस्पर सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए बटलर कहता है कि प्रेरणाओं को जनहित तथा आत्मप्रेम के नियमों के अधीन करना चाहिए और इन नियमों को अन्तःकरण के आधिपत्य में होना चाहिए। अतः बटलर अन्तःकरण के सिद्धान्त को, जिसको कि वह न्याय एवं सदाचार का उच्चतम नियम मानता है, अन्य सभी नियमों से श्रेष्ठ स्वीकार करता है। उसके अनुसार यह नियम मानवीय स्वभाव का सर्वोत्तम तत्त्व होने के कारण ऐसा निरपेक्ष सिद्धान्त है कि जिसके आदेश का अनुसरण करना प्रत्येक सामान्य व्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। बटलर का कहना है कि अन्तःकरण का यह सिद्धान्त इतना प्रभावशाली सिद्धान्त है कि इसके द्वारा हम न ही केवल अपने भावात्मक कर्मों का मूल्यांकन करते हैं, अपितु जनहित तथा आत्मप्रेम के संघर्ष का भी निर्णय करते हैं। अन्तःकरण की स्पष्ट धारणा तो नहीं बनाई जा सकती, किन्तु यह कहा जा सकता है कि उसकी एकमात्र सत्ता निर्णय देने में, निर्देश में एवं आधिपत्य में है। बटलर के शब्दों में, "यह (अन्तःकरण) विचार अथवा स्वयं उस प्रवृत्ति का तत्त्वात्मक अंग है और प्राधान्य तथा राज्य करना इसके ऐसे तत्त्व हैं, जोकि मनुष्य के स्वभाव तथा मितव्ययिता से प्राप्त हुए हैं। यदि इसके पास उतना बल होता, जितना कि इसके पास अधिकार है; उतनी शक्ति होती, जितना कि उसका अभिव्यक्त आधिपत्य है, तो वह विश्व के ऊपर निरपेक्ष रूप से

राज्य करता।"[१]

बटलर के अनुसार, एक आदर्श मानवी स्वभाव में अन्तःकरण आत्मप्रेम तथा जनहित पर आधिपत्य करता है अर्थात् वह इस बात का निर्णय करता है कि इन दोनों नियमों की सीमाएं क्या हैं। इसी प्रकार आत्मप्रेम और जनहित विशेष प्रेरणाओं की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। वे दोनों यह निश्चित करते हैं कि इन प्रेरणाओं की तृप्ति किस सीमा तक होनी चाहिए? बटलर अन्तःकरण के आधिपत्य पर बल इसलिए देता है कि किसी भी सामान्य मनुष्य में उसका आत्मप्रेम उसके अन्तःकरण पर विजयी हो सकता है और इस प्रकार जनहित की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हो सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि किसी व्यक्ति में आत्मप्रेम की अपेक्षा जनहित का नियम अधिक प्रभावशाली हो जाए और वह व्यक्ति आत्मप्रेम की उपेक्षा करके अपने प्रति न्याय न कर सके। ऐसी घटना तब घटित होती है, जबकि कोई मनुष्य अपने को सुसंस्कृत करने की क्रिया की अवहेलना करता है और जन-कल्याण में इतना प्रवृत्त हो जाता है कि वह अपने स्वास्थ्य और सुख को भी उपेक्षा के कारण खो बैठता है। दोनों प्रकार के व्यक्ति एकांगी दृष्टिकोण रखने के कारण नैतिक नहीं कहे जा सकते, यद्यपि हम प्रायः आत्मप्रेम से प्रभावित व्यक्ति को अनैतिक समझते हैं और स्वार्थ की अवहेलना करनेवाले परमार्थी व्यक्ति को बुरा नहीं समझते। इसी प्रकार किसी व्यक्ति में विशेष प्रेरणाएं भूख, कामवृत्ति आदि आवश्यकता से अधिक उग्र हो सकती हैं और वे आत्मप्रेम तथा जनहित दोनों नियमों पर आच्छादित हो सकती हैं। आत्महित पर अनेक बार अभिमान, ईर्ष्या, क्रोध आदि इतने आच्छादित हो जाते हैं कि वे व्यक्ति के सुख को तथा समाज के कल्याण को क्षति पहुंचाते हैं। इसलिए आदर्श मानवी स्वभाववाला व्यक्ति वही है, जिसकी विशेष प्रेरणाएं आत्मप्रेम तथा जनहित के अधीन होती हैं और आत्मप्रेम तथा जनहित के दोनों सामान्य नियम अन्तःकरण के परम नियम के अधीन होते हैं।

बटलर के अनुसार, अन्तःकरण के परम नियम के दो मुख्य अंग हैं: एक ज्ञानात्मक अंग (Cognative aspect) और दूसरा अधिकारात्मक अंग (Authoritative aspect)। ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से, अन्तःकरण एक तर्कात्मक एवं विचारात्मक नियम है। उसके विचार के विषय कर्म, व्यक्तियों के चरित्र तथा उनके उद्देश्य होते हैं। अन्तःकरण इन कर्मों का केवल प्रत्याह्वान नहीं करता, अपितु उनके सत्-असत् होने पर तर्क-वितर्क एवं चिन्तन करता है। दूसरे शब्दों में, अन्तःकरण में सत्-असत् का निर्णय देने के लिए बौद्धिक तत्त्व उपस्थित होता है। अतः अन्तःकरण असत्कर्म में और ऐसे कर्म में भेद मानता

१. "This is a constituent part of the idea, that is, of the faculty itself; and to preside and govern, from the very economy and constitution of man, belongs to it. Had it strength, as it has right, had it power, as it has manifest authority, it would absolutely govern the world." —Bishop Butler: Sermon II.

है, जोकि अनायास किया गया हो और जिसका परिणाम असत् हो। जो कर्म जान-बूझकर किसी व्यक्ति को क्षति पहुंचाने के लिए किया जाए, ऐसे कर्म को तो अन्तःकरण असत् घोषित करता है, किन्तु अनजाने में किए गए हानिकारक कर्म को असत् नहीं मानता। इसी प्रकार यदि किसी निर्दोष मनुष्य को दुःख सहन करना पड़ता है, तो उसके प्रति हमारे अन्तःकरण में सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है, किन्तु जो व्यक्ति अपने कुकर्म के फलस्वरूप दुःख भोग रहा हो, उस समय हमारे अन्तःकरण में सहानुभूति की भावना नहीं होती। अतः हम यह कह सकते हैं कि ज्ञानात्मक दृष्टि से अन्तःकरण हमारी वह आन्तरिक प्रवृत्ति है, जो व्यक्तियों, कर्मों तथा उद्देश्यों के प्रति शुभ-अशुभ और सत्-असत् के प्रकरण में निर्णय देती है। यहां पर यह कहना आवश्यक है कि अन्तःकरण इस प्रकार का निर्णय देते समय कर्मों तथा उद्देश्यों को कर्म करनेवाले व्यक्ति अथवा कर्ता के चरित्र से पृथक् नहीं करता। इसके विपरीत अन्तःकरण का निर्णय कर्ता के आदर्श स्वभाव पर ही निर्भर रहता है। उदाहरणस्वरूप, एक शिशु अथवा एक पागल व्यक्ति का आदर्श, स्वभाव एवं व्यक्तित्व एक सामान्य बुद्धिवाले प्रौढ़ मनुष्य से विभिन्न होता है, अतः अन्तः-करण इन तीनों व्यक्तियों द्वारा किए गए कर्म का निर्णय समान नहीं देगा।

अन्तःकरण के अधिकारात्मक अंग का अर्थ यह है कि अन्तःकरण द्वारा दिया गया निर्णय न ही केवल वांछनीय होता है, अपितु वह अन्तिम निर्णय स्वीकार किया जाता है। जो निर्णय अन्तःकरण देता है, वह सम्भवतया आत्मप्रेम के द्वारा अवांछनीय माना जा सकता है अथवा जनहित की प्रवृत्ति के विरुद्ध हो सकता है, किन्तु वह इन दोनों से ऊपर उठा हुआ होता है और इसलिए उन दोनों से श्रेष्ठ होता है। यदि आत्मप्रेम और जनहित के नियमों का परस्पर संघर्ष हो जाए, तो इन दोनों में से किसीके भी स्वभाव में ऐसा तत्त्व उपस्थित नहीं है, जोकि किसी एक को दूसरे की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ घोषित करे। कई बार आत्मप्रेम के लिए जनहित के सामने सिर झुका देना उचित होता है और कई बार जनहित का आत्मप्रेम के द्वारा पराजित होना उचित होता है। किन्तु अन्तःकरण इन दोनों की अपेक्षा श्रेष्ठ है और वह कदापि इनसे पराजित नहीं होता। एक आदर्श मनुष्य में अन्तःकरण कदापि जनहित अथवा आत्मप्रेम के अधीन नहीं हो सकता। इस प्रकार बटलर अतःकरण को उच्चतम निर्णायक घोषित करता है।

इस प्रकार बटलर के द्वारा प्रस्तुत किया गया सिद्धान्त केवल अन्तःकरण से प्रेरित कर्म को ही नैतिक घोषित करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, आत्मप्रेम तथा जनहित के नियमों का मानवीय जीवन में अपना स्थान अवश्य है, किन्तु इनका यह स्थान भी अन्तः-करण के द्वारा ही निश्चित किया जाता है। एक स्थान पर बटलर यह कहता है कि अन्तः-करण तथा आत्मप्रेम में परस्पर संघर्ष नहीं हो सकता, क्योंकि अन्तःकरण किसी भी ऐसे कर्म को उचित घोषित नहीं करता, जोकि युक्त आत्मप्रेम अथवा युक्त स्वार्थ के विरुद्ध हो। इसी प्रकार सुख की प्राप्ति के सम्बन्ध में भी बटलर अन्तःकरण की प्रेरणा को ही एकमात्र आदेश मानता है। बटलर की यह धारणा थी कि जो कर्म अन्तःकरण के आदेश

से किया जाए, वह निस्सन्देह जन-कल्याण के लिए ही होगा। यहां पर यह कह देना उचित है कि बटलर की अन्तःकरण में अगाध निष्ठा इसलिए है कि वह अन्तःकरण को ईश्वर की देन मानता है। अतः उसके सिद्धान्त के अनुसार हमारा कर्तव्य अपने अन्तःकरण के अनुसार कर्म करना है और सार्वजनिक सुख को केवल उन्हीं साधनों द्वारा प्रवृद्ध करना है, जिनको कि अन्तःकरण स्वीकार करता है, चाहे हमारा अपना विचार यह भी कहता हो कि हम असत्य और पक्षपात के द्वारा कुछ विशेष परिस्थितियों में ऐसे सुख को अधिक प्रवृद्ध कर सकते हैं। अन्तःकरण के आदेश को व्यक्तिगत विचार की अपेक्षा बटलर इसलिए श्रेष्ठ मानता है कि अन्तःकरण ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट होता है और ईश्वर मनुष्य की अपेक्षा सार्वजनिक सुख की सम्भावना को अधिक जानता है।

बटलर के दर्शन की उपर्युक्त व्याख्या यह प्रमाणित करती है कि उसके अन्तःकरणवाद का उद्देश्य एक अन्तर्दृष्टयात्मक व्यापक नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना है। बटलर अन्तःकरण को व्यापक इसलिए स्वीकार करता है कि उसके अनुसार यह एक ऐसा आन्तरिक नियम है, जो प्रत्येक सामान्य व्यक्ति में उपस्थित रहता है। उसका यह मनोवैज्ञानिक तर्क यह तो प्रमाणित करता है कि अन्तःकरण सभी मनुष्यों में समान रूप से उपस्थित है, किन्तु वह अन्तःकरण की प्रवृत्ति के निर्माण की पृष्ठभूमि की अवहेलना करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान, और विशेषकर मनोविश्लेषण का अनुसंधान यह बतलाते हैं कि अन्तःकरण का उद्भव बाल्यकाल की दबी हुई इच्छाओं के कारण होता है। यदि यह सत्य है, तो अन्तःकरण को सत्-असत् कर्म का एकमात्र निर्णायक मानना असंगत होगा।

यदि अन्तःकरण को एक जन्मजात ऐसी मूल प्रवृत्ति भी मान लिया जाए, जोकि मनुष्य को ऐसे कर्म करने की प्रेरणा देती है, जोकि समाज की भलाई के लिए उपयोगी होते हैं, तो भी इसका विकास उस सामाजिक वातावरण पर निर्भर रहता है, जिसके प्रभाव से व्यक्ति-विशेष में अन्तःकरण का विकास होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अन्तःकरण का विकास वातावरण के प्रभाव से ही होता है और वह वातावरण विशेषकर उन धारणाओं तथा मान्यताओं पर निर्भर होता है, जोकि विशेष समाज में प्रचलित होती हैं। यही कारण है कि कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जोकि एक व्यक्ति के अन्तःकरण के अनुसार वांछनीय होते हैं और दूसरे व्यक्ति के अन्तःकरण के अनुसार अवांछनीय ; क्योंकि उन दोनों का सामाजिक वातावरण विभिन्न होता है और उनके अन्तःकरण भी विभिन्न होते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति व्याख्या की दृष्टि से विभिन्न अन्तःकरण रखता है, यदि कोई विश्वव्यापी आदर्श अन्तःकरण नहीं है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत अन्तःकरण को नैतिक निर्णायक मानना हर प्रकार के कर्मों को शुभ घोषित करना है। इसका कारण यह है कि एक चोर और डाकू भी विशेष वातावरण में रहने के कारण, विशेष प्रकार के अन्तःकरण का विकास करता है और उसके अनुसार ही व्यवहार करता है। किसी भी व्यक्ति-विशेष का अन्तःकरण उसकी अपनी दृष्टि से अनैतिक नहीं होता, किन्तु अन्य व्यक्तियों

की दृष्टि से वह अनैतिक हो सकता है। रसकिन के शब्दों में, "किसी व्यक्ति का अन्तःकरण एक गधे का अन्तःकरण (The conscience of an ass) भी हो सकता है।" किन्तु जब बटलर अन्तःकरण को नैतिकता का आधार स्वीकार करता है, तो हम यह कह सकते हैं कि उसका अभिप्राय व्यक्तिगत अन्तःकरण से नहीं है, अपितु सामान्य व्यापक अन्तःकरण से है। इस धारणा में भी कठिनाई यह उत्पन्न हो जाती है कि यह व्यापक अन्तःकरण मनुष्य में कैसे उत्पन्न होता है। यदि यह व्यापक अन्तःकरण भी सामाजिक वातावरण का परिणाम है, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि विभिन्न देशों में और इतिहास के विभिन्न युगों में मनुष्य का यह व्यापक अन्तःकरण भी विभिन्न प्रकार का होगा। अतः अन्तःकरण को हर अवस्था में एक सापेक्ष प्रेरणा ही मानना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, अन्तःकरण का सिद्धांत रोचक होते हुए भी नैतिक आदर्श नहीं बन सकता। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य अवश्य हो सकता है और इसे प्रेरणाओं तथा आत्मप्रेम और जनहित के नियमों से श्रेष्ठ भी अवश्य माना जा सकता है। किन्तु उसका अभिप्राय यह नहीं कि अन्तःकरण प्रत्येक व्यक्ति के धर्मसंकट में एक अचूक नियम है। इस सापेक्षता के कारण अन्तःकरणवाद को एकमात्र नैतिक आदर्श स्वीकार करना और उसके आदेश को प्रत्येक परिस्थिति में लागू करना एक भूल है। यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि बटलर स्वयं इस कठिनाई का अनुभव करता है और उसकी धारणा है कि हमारे जीवन की प्रत्येक घटना को अन्तःकरण के द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जाना चाहिए। उसका यह विश्वास है कि अन्तःकरण को आगे लाने की अपेक्षा जितना अधिक पृष्ठभूमि में रखा जाए, उतना अच्छा है। उसका कहना है कि हमें अपने कर्मों को निरन्तर अन्तःकरण के परीक्षण में नहीं रखना चाहिए, किन्तु वे कर्म ऐसे होने चाहिए, जोकि परीक्षा किए जाने पर अन्तःकरण द्वारा स्वीकार किए जा सकें। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अन्तःकरण भी नैतिक सूझ की भांति एक अस्पष्ट प्रवृत्ति ही प्रमाणित होता है।

अन्तःकरणवाद की यह आलोचना बौद्धिक दृष्टि से एक संगत आलोचना है। यदि हमारा नैतिक नियम एक व्यापक नियम है और वह प्रत्येक व्यक्ति में समान रूप से उपस्थित है, तो वह नियम एक अस्पष्ट प्रवृत्ति-मात्र नहीं हो सकता, चाहे उस प्रवृत्ति को नैतिक सूझ कहा जाए, चाहे उसे ईश्वरकी देन कहा जाए। यदि अन्तरात्मक नैतिक नियम व्यापक हो सकता है, तो वह निस्सन्देह एक स्पष्ट तर्कका नियम (Law of Reason) होना चाहिए। ऐसा स्पष्ट नियम ही हमें निरपेक्ष आदेश दे सकता है और हमारे सभी कर्मों का मूल्यांकन करने में सहायक हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नैतिक आदर्श केवल वही नियम बन सकता है, जो हर अवस्था में और हर समय पर समान रूप से लागू किया जा सके। ऐसा निरपेक्ष नियम हमें कांट के निरपेक्ष आदेशवाद के सिद्धान्त में मिलता है। अतः अब हम कांट के नैतिक दृष्टिकोण का अध्ययन करेंगे।

कांट का निरपेक्ष आदेशवाद का सिद्धान्त

इससे पूर्व कि हम कांट के नैतिक सिद्धान्त की व्याख्या करें, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कांट के सामान्य दार्शनिक दृष्टिकोण की संक्षिप्त व्याख्या की जाए। एमेनुअल कांट जर्मनी का विख्यात तत्त्ववादी विचारक हुआ है, जिसने कि विशेषकर ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में मौलिक धारणाएं प्रस्तुत की हैं। उसकी सम्पूर्ण विचारधारा तर्क पर आधारित है और उसकी प्रत्येक धारणा बौद्धिक विश्लेषण की अद्भुत उत्पत्ति है। अतः उसका दर्शन आरम्भ से अन्त तक एक बुद्धिवादी दर्शन है, जोकि आलोचनात्मक और तर्कात्मक है। कांट की तीन मुख्य कृतियां हैं : 'निर्णय की आलोचना' (Critique of Judgment), 'विशुद्ध तर्क की आलोचना' (Critique of Pure Reason) तथा 'व्यवहारात्मक तर्क की आलोचना' (Critique of Practical Reason)। जैसाकि उसकी कृतियों के शीर्षकों से स्पष्ट है, वह इनमें मनुष्य के ज्ञान तथा उसकी तर्कात्मक प्रवृत्तियों की बौद्धिक व्याख्या करता है। सर्वप्रथम वह ज्ञान की क्षमता और विचार की उन धारणाओं की व्याख्या करता है, जिनके आधार पर मनुष्य के विचार की प्रक्रिया विकसित होती है। 'विशुद्ध तर्क की आलोचना' में कांट इस परिणाम पर पहुंचता है कि हमारा विश्व के प्रति ज्ञान अन्तरात्मक प्रक्रिया है, और विज्ञान का क्षेत्र बाहरी वस्तुओं द्वारा प्राप्त इसी अन्तरात्मक एवं तथ्यात्मक (Phenomenal) सिद्धान्तों को एवं मन द्वारा निर्मित ज्ञान के आधार पर प्रकृति के व्याख्यात्मक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करना है। कांट का यह भी मत है कि विज्ञान केवल वस्तुओं के गुणों का विश्लेषण कर सकता है और भौतिक द्रव्य के व्यवहार की व्याख्या-मात्र कर सकता है, किन्तु वह यह नहीं जान सकता कि वस्तुएं अपने-आपमें (Things in themselves) क्या हैं। इस प्रकार विशुद्ध तर्क के क्षेत्र में वह वस्तु के आन्तरिक स्वरूप को अज्ञेय स्वीकार करता है। इसी अज्ञेयवाद के फलस्वरूप, कांट व्यवहारात्मक तर्क की आलोचना में ऐसी मान्यताओं को प्रस्तुत करता है, जिनके बिना हमारा व्यावहारिक जीवन निरर्थक हो जाता है। जैसाकि हमने आचार की आधारभूत मान्यताओं के सम्बन्ध में पहले उल्लेख किया है, उसकी मुख्य मान्यताएं ईश्वर का अस्तित्व, आत्मा का अमरत्व और संकल्प की स्वतन्त्रता हैं। ये सभी धारणाएं कांट के उस नतिकवाद की देन हैं, जोकि उसके दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। कांट नैतिकता को मनुष्य का एक अभिन्न तत्त्व मानता है और उसका यह मत है कि नैतिक आदेश (Moral command) एक ऐसा आदेश है, जिसका उल्लंघन कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता और जिसके बिना कोई भी मनुष्य, मनुष्य नहीं कहा जा सकता। वह नैतिक आदर्श को एक ऐसा अनिवार्य नियम मानता है, जो विश्वव्यापी है और जिसकी अवहेलना करना किसी भी सामान्य बुद्धिवाले मनुष्य के लिए अनुचित है। अतः वह इस नियम की अन्य व्याप्त नियमों से तुलना करता है।

यदि हम आचार के नियमों की अन्य नियमों से तुलना करें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि चाहे वे नियम राजनीतिक नियम हों, चाहे सामाजिक हों और चाहे वे किसी

विशेष विज्ञान के नियम हों, उन्हें इस प्रकार निरपेक्ष नहीं माना जा सकता कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में हर समय और हर अवस्था में उनपर आवश्यक रूप से चले। उदाहरणस्वरूप, अर्थशास्त्र के नियम एक सामाजिक विज्ञान के नियम हैं, जो विशेष परिस्थितियों में सत्य प्रमाणित होते हैं। अनेक बार ये नियम व्यावहारिक क्षेत्र में असत्य भी प्रमाणित होते हैं, किन्तु जो व्यक्ति व्यापार-उद्योग आदि में रुचि न रखता हो, वह इन नियमों के जाने बिना ही अपने जीवन का निर्वाह सफलतापूर्वक कर सकता है। इसी प्रकार इंजीनियरिंग-विज्ञान के नियम व्यापक नियम तो अवश्य हैं और वे देश और काल के भेद के बिना सब स्थानों पर समान रूप से लागू होते हैं, किन्तु इन नियमों का क्षेत्र भी केवल उन व्यक्तियों तक सीमित है, जो मकानों तथा सड़कों के बनाने अथवा नहरों आदिके खोदने से सम्बन्धित हों। जनसाधारण के लिए इन नियमों का जानना आवश्यक नहीं है। न ही केवल इतना, अपितु तर्कशास्त्र तथा सौन्दर्य-विज्ञान जैसे आदर्शवादी विज्ञानों के नियम भी निरपेक्ष स्वीकार नहीं किए जा सकते। उदाहरणस्वरूप, तर्कशास्त्र के नियम हमें यह बताते हैं कि यथार्थ चिन्तन किस प्रकार किया जा सकता है। यदि हम तर्कशास्त्र के नियमों का पालन करें और उनको समझें, तो हम यह बता सकते हैं कि अमुक विचार यथार्थ है और अमुक अयथार्थ, अमुक तर्क-संगत है और अमुक दोषपूर्ण। किन्तु फिर भी प्रत्येक व्यक्ति तर्कशास्त्र के नियमों को अपने जीवन में लागू किए बिना भी सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करता है। जो लोग वाद-विवाद में रुचि रखते हैं और जिनका व्यवसाय ऐसा है कि उसमें वाद-विवाद के द्वारा दूसरों को प्रभावित करना पड़ता है, उनके लिए तो तर्कशास्त्र के नियम अनिवार्य माने जा सकते हैं। इसके विपरीत, जो व्यक्ति ईश्वर में विश्वास रखकर सद्भावना से अपना जीवन-निर्वाह करता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने जीवन के प्रत्येक कर्म में तर्क-वितर्क करता रहे। अनेक बार आवश्यकता से अधिक तर्क करनेवाला व्यक्ति कुछ काम नहीं कर पाता और जीवन में असफल रहता है। व्यावहारिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए आत्मविश्वास अथवा ईश्वरनिष्ठा की अधिक आवश्यकता रहती है, इसलिए हिन्दी के अद्वितीय कवि तुलसीदासजी ने कहा है:

"होइ है सोइ जो राम रचि राखा।
को करि तर्क बढ़ावै साखा॥"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आवश्यकता से अधिक तर्क करने का परिणाम नवीन सिद्धान्तों तथा नवीन दृष्टिकोणों को जन्म देता है। प्रायः ये दृष्टिकोण एक-दूसरे के अनुकूल नहीं होते और इस प्रकार कम से कम बौद्धिक संघर्ष को जन्म अवश्य देते हैं। अतः तर्कशास्त्र के नियमों को हम ऐसे निरपेक्ष नियम नहीं मान सकते, जोकि अनिवार्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति पर लागू किए जाएं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे नियमों का जानना उचित है, किन्तु इस औचित्य की अवहेलना की जा सकती है और इस अवहेलना से सामाजिक जीवन को विशेष क्षति नहीं पहुंच सकती। जहां तक आचार के नियमों का सम्बन्ध है, हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि ये नियम प्रत्येक सामान्य मनुष्य के लिए

इसलिए अनिवार्य हैं कि इनको जाने बिना और इनपर चले बिना, व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन अस्तव्यस्त हो सकता है। यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति वाद-विवाद से अपने-आपको पृथक् रखे, यह भी सम्भव है कि एक व्यक्ति तटस्थता का जीवन व्यतीत करते हुए, ललित कला आदि से सम्बन्ध न रखता हुआ, सौन्दर्यशास्त्र के नियमों की अवहेलना करता हुआ सफल जीवन व्यतीत करे; किन्तु यह बात सम्भव नहीं हो सकती कि कोई भी व्यक्ति सदाचार के नियमों का उल्लंघन करे और उनको जानने के बिना ही जीवन व्यतीत करे। आचार के नियमों का सम्बन्ध हमारे कर्म से है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में कर्म करना ही पड़ता है। इंजीनियरिंग के नियम भले ही केवल उन व्यक्तियों पर लागू हो सकें, जोकि विशेष परिस्थितियों में इस विज्ञान की सहायता लेना चाहते हैं और अन्य व्यक्ति इन नियमों से अपने-आपको पृथक् मान सकते हैं, क्योंकि वे कह सकते हैं कि उनका भवन बनाने में और सड़कों का निर्माण करने से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि सदाचार के नियम केवल उन व्यक्तियों के लिए हैं, जो नैतिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं और अन्य व्यक्ति इन नियमों से मुक्त हैं। कांट का कहना है कि "जो कर्म हमें करना चाहिए, वह करना ही चाहिए।"[१] कोई भी व्यक्ति अपने-आपको नैतिक औचित्य से पृथक् नहीं मान सकता। दूसरे शब्दों में, नैतिक नियम ऐसा नियम है जो समान रूप से सभी व्यक्तियों पर, सभी परिस्थितियों में अनिवार्य रूप से लागू होता है और जो किसी भी व्यक्ति को किसी विशेषता के कारण, नैतिकता को भंग करने की आज्ञा नहीं देता। अतः नैतिक नियम वह होना चाहिए, जोकि सर्वमान्य हो एवं सापेक्ष हो।

कांट का यह दृष्टिकोण स्वतः ही हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि यदि कोई नियम आचार का निरपेक्ष नियम बन सकता है, तो वह बाह्यात्मक न बनकर अन्तरात्मक ही होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, आचार का निरपेक्ष नियम वही नियम हो सकता है, जोकि मनुष्य के अन्तस् में उपस्थित हो। यदि वह नियम बाह्यात्मक हो तो वह सापेक्ष सिद्ध होगा, क्योंकि सम्भवतया उसके पालन करने के लिए मनुष्य को बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर रहना पड़ेगा। राजनीतिक नियम नैतिकता का आदर्श नहीं बन सकता, क्योंकि उसका प्रतिपादन और उसका परिवर्तन राजनीतिक सत्ता पर निर्भर रहता है। ईश्वर को भी नैतिकता के नियम का स्रोत नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह ईसाई धर्म के दृष्टिकोण से मनुष्य के बाहर अस्तित्व रखता है। इस प्रकार कांट इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि नैतिकता का निरपेक्ष नियम केवल मनुष्य में ही नियत हो सकता है। उसका लक्ष्य मानवीय ही हो सकता है, इसलिए वह अपना उद्देश्यवादी दृष्टिकोण प्रतिपादित करते हुए मनुष्य को स्वलक्ष्य घोषित करता है और कहता है कि "मानव को, चाहे वह मानव तुम स्वयं हो, चाहे कोई अन्य व्यक्ति हो, कदापि साधन मत बनाओ, अपितु सदैव उसे साध्य

१. "What we ought to do, we ought to do."

एवं लक्ष्य स्वीकार करो।"[1]

इस प्रकार अपने उद्देश्यवाद का प्रतिपादन करते हुए कांट मनुष्य के अन्तस् में निहित ऐसे क्रियात्मक तत्त्व को ढूंढ़ने की चेष्टा करता है, जो अपने-आपमें स्वलक्ष्य हो और जो ऐसा निर्विरोध हो कि प्रत्येक व्यक्ति उसे सत्कर्म का आधार स्वीकार कर सके। कांट अपने बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा तुरन्त इस खोज में सफल होता है और घोषित करता है कि वह विश्वव्यापी परममूल्य शुभ संकल्प एवं सद्भावना एक अद्वितीय रत्न है, जो प्रत्येक मनुष्य के अन्तस् में निहित है। यह शुभ संकल्प ही ऐसा निरपेक्ष तत्त्व है, जोकि कदापि साधन नहीं बनता, अपितु साध्य रहकर स्वलक्ष्य सिद्ध होता है। हम ज्ञान, शक्ति, सम्पत्ति आदि गुणों एवं मूल्यों को वांछनीय तो मानते हैं, किन्तु ये सभी मूल्य, साधन होने के कारण, अनैतिक कर्म को भी जन्म दे सकते हैं और देते हैं। शक्ति का प्राप्त करना एक लक्ष्य है, लोग सतत प्रयत्नों के पश्चात् शक्ति, अधिकार एवं सत्ता को प्राप्त करते हैं, किन्तु उसको प्राप्त करने के पश्चात् सत्ता का सदुपयोग भी होता है और दुरुपयोग भी। सत्ताधारी व्यक्ति अनेक बार अन्याय करता है, दूसरों के अधिकार की अवहेलना करता है और पक्षपात करता है। सत्ता को प्राप्त करने से पूर्व नम्र भाववाला व्यक्ति भी, सत्ता प्राप्त करने के पश्चात् अभिमानी और स्वार्थी बन जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

"कोउ न जन्मा अस जग माहीं। प्रभुता पाइ जाइ मद नाहीं॥"

अतः सत्ता की प्राप्ति को हर अवस्था में वांछनीय इसलिए नहीं माना जा सकता कि वह साध्य नहीं है, अपितु साधन है। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करना एक सद्गुण है। ज्ञानी व्यक्ति निस्सन्देह उत्कृष्ट माना जाता है, किन्तु प्रायः यह देखा गया है कि ज्ञान भी मनुष्य को अभिमानी और स्वार्थी बना सकता है। जब तक अणुबम बनाने का ज्ञान केवल एक ही राष्ट्र तक सीमित था, तो यही ज्ञान विश्व में भय और आतंक का कारण बना हुआ था। यदि ज्ञान को रहस्य के रूप में रखा जाए, तो वह अनेक प्रकार से हानिकारक सिद्ध हो सकता है, इसलिए ज्ञान को भी स्वलक्ष्य स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जहां तक सम्पत्ति एवं धन का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक समय में इसका बड़ा महत्त्व है। आज के समाज में भी व्यक्ति का स्तर, उसकी सम्पत्ति एवं धन के आधार पर ही निश्चित किया जाता है। धनवान व्यक्ति हर प्रकार के सुख को प्राप्त कर सकता है, वह अपनी सभी इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। यदि वह चाहे तो धन के द्वारा राजनीतिक सत्ता को भी प्राप्त कर सकता है और उच्च से उच्च कोटि के विद्वान के ज्ञान को भी मोल ले सकता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि अर्थ एक स्वलक्ष्य मूल्य है। अर्थ का जहां सदुपयोग हो सकता है, वहां उसका दुरुपयोग भी अधिकतर हो सकता है और होता है। धन की लालसा ही समाज में रिश्वत और व्यभिचार

१. "Never treat man, either in thine own person or in that of others, as a means, but always as an end in himself."

का कारण बनती है। इसकी प्राप्ति के लिए लोग अनेक पापों का आचरण करते हैं और अन्याय तथा अत्याचार के द्वारा भी धन एकत्र करते हैं। अतः सम्पत्ति एवं अर्थ को, साधन होने के कारण, निरपेक्ष रूप से वांछनीय मूल्य कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शुभ संकल्प का महत्त्व बतलाते हुए कांट ने लिखा है, "इस विश्व में अथवा विश्व के बाहर, शुभ संकल्प के अतिरिक्त कोई भी ऐसी बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है, जिसको कि निरपेक्ष रूप से शुभ कहा जा सके। यदि प्रकृति की निष्ठुरता तथा कृपणता के कारण यह शुभ संकल्प किसी परिणाम में फलित न भी हो सके और केवल शुभ संकल्प ही रह जाए, तो भी यह एक रत्न की भांति अपने ही प्रकाश से आभासित होगा।" कांट इसी आन्तरिक शुभ संकल्प एवं नैतिक संकल्प को भौतिक जगत् से श्रेष्ठ मानता है और उसे मनुष्य-मात्र के अन्तस् में निहित स्वीकार करता है। यह नैतिक तत्त्व ऐसा तत्त्व है कि यह बाहरी जगत् के कार्य-कारण-सम्बन्ध से परे है और इसका कोई ठोस रूप नहीं है। इसकी प्राप्ति अथवा इसपर आधारित कर्म का नियम उस समय उत्पन्न हो सकता है, जबकि हम किसी परिस्थिति पर विचार करते हैं। इसकी उत्पत्ति कांट के अनुसार मनुष्य के नैतिक स्वभाव से ही होती है। अतः मानव एक नैतिक प्राणी होने के नाते वस्तु-जगत् के उस क्षेत्र का निवासी नहीं है, जिसमें कि वस्तुएं आभास-मात्र प्रतीत होती हैं, अपितु वह उस क्षेत्र का निवासी है, जिसमें कि वस्तुएं अपने यथार्थ रूप में उपस्थित होती हैं। इसी कारण जब वह नैतिक नियम का पालन करता है तो कहा जाता है कि वह ऐसे नियम का पालन कर रहा है, जोकि उसके उस व्यक्तित्व से उत्पन्न होता है, जो उसकी विचारशीलता और उसके वास्तविक अस्तित्व को अभिव्यक्त करता है। नैतिकता एवं नैतिक नियम की आज्ञा का यह पालन एक ऐसी नैतिक स्वतन्त्रता है, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि व्याख्या का सम्बन्ध बुद्धि से होता है और बुद्धि केवल आभासित वस्तु-जगत् तक ही सीमित रहती है। वस्तु-जगत्, विज्ञान का एवं तथ्यों की व्याख्या का जगत् है और नैतिक जगत् औचित्य, कर्तव्य एवं मूल्यों का जगत् है।

इस प्रकार आकारात्मक होते हुए भी नैतिक संकल्प द्वारा हम नैतिक आदेश अवश्य प्राप्त कर सकते हैं। कांट की यह धारणा थी कि नैतिक संकल्प जो आदेश देता है वह यह है कि हर अवस्था में ऐसे सामान्य नियमों पर चलना चाहिए जिनको कि हम अपनी अन्तर्दृष्टि के द्वारा नैतिक कर्तव्य मानते हैं। यह सामान्य नियम ऐसे हैं कि जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों की परवाह न करता हुआ स्वीकार करता है। उदाहरणस्वरूप, झूठ बोलना असंगत है, प्रतिज्ञा का पालन अवश्य करना चाहिए, निष्ठुरता की अपेक्षा दया श्रेष्ठ है इत्यादि ऐसे सामान्य नियम हैं जिनको प्रत्येक व्यक्ति नैतिक स्वीकार करता है। कांट का कहना है कि ये सभी नियम, जोकि नैतिक संकल्प द्वारा निर्धारित किए जाते हैं, ऐसे नियम हैं जो तर्कसंगत हैं अर्थात् जिनमें विरोधाभास नहीं है। अतः हम नैतिक संकल्प पर आधारित एक ऐसे निरपेक्ष आदेश पर पहुंच सकते हैं, जिसको कि

हम सर्वमान्य स्वीकार कर सकते हैं। कांट का यह नियम इस प्रकार है, "उस सिद्धान्त के अनुसार कर्म करो, जिसका कि तुम समान रूप से एक विश्वव्यापी नियम स्वीकार किए जाने का संकल्प कर सकते हो।"[1]

कांट इस नियम का प्रतिपादन करते समय अनेक उदाहरणों द्वारा इस निरपेक्ष नैतिक आदेश की व्याख्या करता है और यह प्रमाणित करने की चेष्टा करता है कि नैतिक कर्म वह कर्म है, जो विरोधाभास के बिना विश्वव्यापी बनाया जा सकता है, जबकि अनैतिक कर्म ऐसा प्रमाणित नहीं हो सकता। अतः उसके आदेश का अभिप्राय यह है कि हमें इस प्रकार कर्म करना चाहिए कि हम उस कर्म को उसी प्रकार करने के लिए बिना विरोधाभास अथवा संघर्ष के प्रत्येक व्यक्ति का संकल्प बना सकें। उदाहरणस्वरूप, वचन के भंग करने की समस्या को लीजिए। यदि कोई व्यक्ति इस धर्मसंकट में पड़ जाए कि क्या उसे दिए गए वचन का पालन करना चाहिए या नहीं, तो इस धर्मसंकट में उसे ऐसा विचार करना चाहिए कि क्या वचन का भंग करना एक विश्वव्यापी संकल्प हो सकता है। यदि मान लीजिए कि वचन का भंग करना विश्वव्यापी संकल्प बन जाता है, तो उसका परिणाम यह होगा कि सभी दिए गए वचन भंग किए जाएंगे। इस अवस्था में, जबकि प्रत्येक दिया गया वचन भंग होगा, तो कोई भी व्यक्ति वचन का विश्वास नहीं करेगा। जब सभी दिए गए वचन अविश्वसनीय होंगे, तो कोई भी व्यक्ति वचन नहीं देगा। जब कोई भी वचन नहीं दिया जाएगा, तो कोई वचन भंग भी नहीं होगा; दूसरे शब्दों में, वचन का भंग करना एक विरोधाभास है एवं असम्भव है। इस प्रकार कांट शुभ और सत्य को प्रमाणित करता है। उसके अनुसार तर्क का नियम ही नैतिकता का नियम है। इसी नियम की पुष्टि करते हुए, कांट यह भी प्रमाणित करता है कि आत्महत्या को तथा चोरी करने को तथा लोगों की दुरवस्था के प्रति तटस्थता के कर्म को, इसलिए विश्वव्यापी नहीं बनाया जा सकता कि यदि ऐसा किया जाए, तो वह असंगत प्रमाणित होता है। जब हम किसी कर्म को दूसरों के द्वारा किए जाने की कल्पना नहीं कर सकते, तो ऐसे कर्म को हम अपने संकल्प का विषय भी नहीं बना सकते। अतः कांट का नैतिक सिद्धान्त हमें यह आदेश देता है कि हम ऐसे ढंग से कर्म करें कि प्रत्येक व्यक्ति हमारे जैसी सामान्य परिस्थितियों में उस कर्म के करने का संकल्प कर सके। कांट का यह निरपेक्ष नैतिक आदेश आचार-विज्ञान में विशेष महत्त्व रखता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त सबसे अधिक व्याप्त सिद्धान्त है और यह प्रमाणित करता है कि अनैतिक कर्म सदैव हानिकारक कर्म होता है, किन्तु यह आकारात्मक होने के कारण अनेक व्यावहारिक नैतिक समस्याओं में स्पष्ट रूप से हमारा मार्गदर्शन नहीं करता। इसलिए इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना

---

१. "Act only according to that maxim which you can at the same time will to be a universal law."

—Guide to Philosophy of Morals and Politics by C. E. M. Jode, Op. cit. Page 208.

की गई है।

कांट का सिद्धान्त एक अमूर्त सिद्धान्त इसलिए प्रमाणित होता है कि उसके शुभ संकल्प की धारणा एक विश्वव्यापी पूर्णतया स्वच्छन्द और स्वतन्त्र संकल्प की धारणा है। अतः उसका निरपेक्ष आदेश हमें व्यावहारिक दृष्टि से किसी ठोस कर्म के करने की प्रेरणा नहीं देता। सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि कांट का सिद्धान्त केवल निषेधात्मक आदेश देता है और वह आदेश भी एक सीमित क्षेत्र में ही प्राप्त होता है। यदि हम उसके आदेश को अपने कर्म पर लागू करके इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि वह कर्म विश्वव्यापी संकल्प नहीं बन सकता, तो उसका अभिप्राय यह हो जाता है कि वह कर्म अवांछनीय है, एवं उसका अनुसरण करना अनुचित एवं अनैतिक है। यह हमें केवल इतना आदेश देता है कि हमें किस प्रकार के कर्म का तिरस्कार नहीं करना चाहिए और यह नहीं बतलाता कि कौन-से कर्म को स्वीकार करना चाहिए। जब हम इस आदेश से यह जानना चाहें कि हमारा कर्तव्य क्या है, तो यह एक कोरा सिद्धान्त ही सिद्ध होता है। इस सिद्धान्त पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि इसपर आचरण तभी हो सकता है, जब हम कुछ विशेष परिस्थितियों एवं मान्यताओं को स्वीकार करके चलें। यदि हम ऐसी मान्यताओं को लेकर नहीं चलते, तो कांट के सिद्धान्त को लागू करने से एक शुभ कर्म भी अनैतिक प्रमाणित हो सकता है। यदि हम यह मानकर न चलें कि सामाजिक जीवन की सफलता के लिए कुछ व्यक्तियों का विशेष परिस्थितियों में ब्रह्मचारी रहना आवश्यक है, तो ब्रह्मचर्य जैसा नैतिक कर्म भी अनैतिक सिद्ध होता है, क्योंकि ब्रह्मचर्य को विश्वव्यापी संकल्प नहीं बनाया जा सकता। संसार के सभी मनुष्य जब ब्रह्मचारी हो जाएं, तो उसका परिणाम शुभ के स्थान पर अशुभ ही होगा और ब्रह्मचर्य एक अवांछनीय कर्म हो जाएगा। इसी प्रकार यदि हम यह मानकर न चलें कि समाज में दुःख के निवारण के लिए तथा नैतिक विकास के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है, तो समाज-सेवा जैसा नैतिक कर्म भी अनैतिक ही सिद्ध होगा। यदि सभी मनुष्य समाज-सेवा में लग जाएं, तो प्रश्न यह होता है कि सेवा करानेवाला कौन रहेगा। कांट के सिद्धान्त से हमें नैतिक कर्म की ठोस सामग्री प्राप्त नहीं होती। अतः उसका (कांट का) शुभ संकल्प हमें कुछ स्पष्ट आदेश नहीं देता। वह केवल इतना बताता है कि संकल्प ही हमारे कर्म का लक्ष्य है, वह हमें यह नहीं बताता कि कौन-सा संकल्प हमारा लक्ष्य है। अतः हम यही प्रश्न करके रह जाते हैं कि शुभ संकल्प क्या है। हम इस शुभ संकल्प को स्वतन्त्र संकल्प अथवा विश्वव्यापी संकल्प अथवा स्वच्छंद संकल्प अथवा आकारात्मक संकल्प कह सकते हैं। अन्त में हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि शुभ संकल्प संकल्प, का कोरा आकार ही है और यही लक्ष्य है, जिसकी मैंने अनु-भूति करनी है, वह मेरे व्यक्तित्व की ही अनुभूति है। वह अनुभूति किसी विशेष लक्ष्य की नहीं हो सकती। अतः किसी विशेष अनुभूति न होने के कारण वह एक आकार-मात्र ही रह जाती है। यदि यह शुभ संकल्प हमारे संकल्प का आकार-मात्र ही है, तो इस आकार में हमें ठोस सामग्री कहां से प्राप्त हो सकती है। यदि मैं इस आकार को अपने-आपपर

लागू करता हूं, तो मैं देखता हूं कि मैं आकार-मात्र नहीं हूं। मेरे व्यक्तित्व में अनुभवात्मक स्वरूप है; उसमें विशेष स्तरों की शृंखला है; उसमें इच्छाओं, प्रवृत्तियों, संवेगों, सुखों तथा दुःखों का समूह है। इस ठोस व्यक्तित्व को हम अपने अहं का संवेदनात्मक अंग कह सकते हैं। हमारे व्यक्तित्व के इस अंग में ही वह सारी सामग्री उपलब्ध होती है, जो शुभ संकल्प के आकार में रखी जा सकती है। इस सामग्री के बिना संकल्प का आकार-मात्र अमूर्त रह जाता है। कांट के सिद्धान्त की यह एक मुख्य त्रुटि है।

यदि हम कांट के 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि उसका सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से निरर्थक है। संकल्प का मूल तत्त्व क्रियाशीलता में है। जो संकल्प कर्म में परिवर्तित नहीं होता, वह संकल्प नहीं है और कर्म सदैव विशेष घटना होता है। कांट विशेष घटना को कोई स्थान नहीं देता और संकल्प को सामान्य तथा विश्वव्यापी ही बनाना चाहता है। जब हम कोई कर्म करना चाहते हैं, तो हमारा संकल्प किसी वस्तु का निश्चित संकल्प होना चाहिए, अर्थात् वह विशेष संकल्प होना चाहिए। सामान्य रूप से, कोई संकल्प करना असम्भव है। वह केवल आकार है और आकार क्रियाशील नहीं हो सकता।

कांट के सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए हम इसके दो विभिन्न अर्थ निकाल सकते हैं। हम यह मान सकते हैं कि उसका आदेश व्यवहार के सामान्य प्रकारों पर लागू होता है और किसी भी विशेष परिस्थिति को स्थान नहीं देता अथवा हम यह कह सकते हैं कि वह विशेष कर्मों पर लागू होता है और उसमें देश, काल और परिस्थितियों की सीमाओं को भी स्थान दिया गया है। यदि इस सिद्धान्त का आशय पहली प्रकार का हो, तो हम आगे चलकर देखेंगे कि इसके पालन करने का अर्थ एक नितान्त कठोर आदर्श का पालन करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कांट ने स्वयं निरपेक्ष नैतिक आदेश का प्रतिपादन इसी दृष्टि को लेकर किया था। इस तथ्य का प्रतीक उसका अपना संयमपूर्ण जीवन है। वह आयु-पर्यन्त ब्रह्मचारी रहा और अपने नित्यप्रति के कार्यक्रम में इतना यन्त्रवत् दृढ़ और नियमित रहा कि लोग उसके कार्यक्रम के आधार पर घड़ी का समय ठीक किया करते थे। उनको यह विश्वास था कि उनकी घड़ियां समय देने में दोषपूर्ण हो सकती हैं, किन्तु कांट का कार्यक्रम, एक क्षण के लिए भी इधर-उधर नहीं हो सकता। यदि हम इस निरपेक्षवाद का अर्थ दूसरी दृष्टि के आधार पर करें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि यह सिद्धान्त इतना आवश्यकता से अधिक व्यापक हो जाता है कि इसके आधार पर प्रत्येक व्यक्तिगत कर्म नैतिक सिद्ध हो जाता है। दूसरे शब्दों में, पहली दृष्टि से कांट का सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक संकीर्ण और दूसरी दृष्टि से ढीला हो जाता है।

यदि निरपेक्ष नैतिक आदेश को जीवन पर लागू करते समय हम यह मानकर चलें कि एक सामान्य दृष्टि से बिना किसी भी विशेष परिस्थिति को स्थान दिए ही, हमें ऐसे सामान्य नियम का अनुसरण करना है, जिसको कि विश्वव्यापी संकल्प बनाया जा सके, तो हमारे मार्ग में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयां आएंगी और हमें अनेक अवांछनीय

ग्रौर दयनीय घटनाग्रों की ग्रवहेलना करते हुए सत्य, ग्रहिंसा, ब्रह्मचर्य ग्रादि का पालन करना होगा। उदाहरणस्वरूप, यदि हमें यह ग्रादेश दिया जाए कि किसी विशेष परिस्थिति की परवाह न करते हुए झूठ बोलने के कर्म को, उसके विश्वव्यापी संकल्प न बन सकने के कारण त्याग करना ही नैतिक है, तो हमारे सामने प्रश्न यह खड़ा होता है कि यदि एक रोगी को उसके वास्तविक रोग के प्रति सत्य कह देने से उसकी मृत्यु निश्चित हो ग्रौर उसको गुप्त रखने से उसके जीवन की रक्षा होती हो, तो क्या ऐसी ग्रवस्था में भी झूठ बोलना ग्रनैतिक है ? कांट के दृष्टिकोण के ग्रनुसार, इसका उत्तर 'हां' में होगा। इसी प्रकार हिंसा न करना एवं ग्रहिंसा का पालन करना भी इस व्यापक दृष्टिकोण के ग्रनुसार ऐसी व्यावहारिक समस्याएं खड़ी कर देता है कि निरपेक्ष ग्रहिंसा पर चलनेवाले व्यक्ति के लिए जीवित रहना भी ग्रनैतिक सिद्ध होता है। यदि हम बिना विशेष परिस्थितियों पर विचार किए निरपेक्ष रूप से ग्रहिंसा को परम धर्म मानें, तो सांस लेना भी इसलिए ग्रनैतिक माना जाएगा कि इस क्रिया में ग्रसंख्य सूक्ष्म जीवों का संहार होता है। भारत में जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय की एक शाखा 'तेरा पंथ' इस प्रकार की निरपेक्ष ग्रहिंसा को ही परम धर्म स्वीकार करती है। इस मत के ग्रनुसार, यदि बिल्ली चूहे को मारने के लिए उसका पीछा कर रही हो, तो उस बिल्ली को लाठी से घायल करके चूहे की रक्षा करना इसलिए मोक्ष-धर्म नहीं है कि यह कर्म निरपेक्ष ग्रहिंसा नहीं माना जा सकता।

निरपेक्ष ग्रहिंसा का सिद्धान्त केवल एक ग्रमूर्त ग्रादर्श इसलिए रह जाता है कि उसपर चलना मनुष्य के लिए ग्रसम्भव है। मनुष्य ग्रपने जीवन में केवल सापेक्ष ग्रहिंसा का ही पालन कर सकता है। महात्मा गांधी ने भी इसी तथ्य को स्वीकार किया है। ग्रपनी कृति 'बुद्ध ग्रौर ग्रहिंसा' में गांधीजी ने ग्रपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं, "ग्रहिंसा एक बहुत व्यापक शब्द है। मनुष्य बाह्यात्मक हिंसा के बिना जीवित नहीं रह सकता। वह खाते, पीते, बैठते ग्रौर उठते समय ग्रनिवार्य रूप से किसी न किसी प्रकार की हिंसा करता ही रहता है। जो व्यक्ति इस प्रकार की हिंसा से बचने का प्रयत्न करता है, जिसके मन में दया है ग्रौर जो सूक्ष्म जीवों को भी नष्ट नहीं करना चाहता, उसीको ग्रहिंसा का पुजारी मानना चाहिए। ऐसे मनुष्य का संयम ग्रौर उसकी कोमलहृदयता निरन्तर बढ़ती चली जाएगी। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी जीवित प्राणी बाह्यात्मक हिंसा से पूर्णतया मुक्त हो सके।"

गांधीजी के इस दृष्टिकोण का ग्रभिप्राय यह है कि ग्रहिंसा उच्चतम ग्रादर्श होते हुए भी, व्यावहारिक दृष्टि से मनुष्य के लिए निरपेक्ष नैतिक नियम स्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यावहारिक जीवन में, सापेक्ष रूप से ग्रहिंसा का पालन करना भी नैतिकता ही स्वीकार किया जाना चाहिए। गांधीजी ने सदैव सापेक्ष हिंसा का, विशेषकर उस समय समर्थन किया ह, जबकि मनुष्य की रक्षा के लिए इस प्रकार की सापेक्ष हिंसा ग्रनिवार्य हो जाती ह। एक बार जब गांधीजी से यह पूछा गया कि उन बन्दरों को मार भगाने की क्रिया नैतिक है या नहीं, जोकि ग्रन्नकी खेती को क्षति पहुंचाते हैं, तो उन्होंने पत्र 'हरिजन'

में यह स्पष्ट किया कि मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिए, उन पशुओं पर हिंसा करना उचित है, जोकि मनुष्यों के भक्षक हैं। गांधीजी ने इन शब्दों में अपने इस विचार को प्रकट किया, "मेरी अहिंसा एक विशेष निजी अहिंसा है, मैं प्राणी-मात्र के प्रति अनुकम्पा के अर्थ को पचा नहीं सकता। मैं उन प्राणियों की रक्षा करने के लिए अनुकम्पा नहीं रखता, जो मनुष्यों को खा जाते हैं अथवा उन्हें क्षति पहुंचाते हैं। मैं उनके फलने-फूलने को प्रोत्साहन देने को पाप समझता हूं। अतः मैं चींटियों को, बन्दरों को और कुत्तों को खाना नहीं खिलाऊंगा, मैं उनकी रक्षा करने के लिए मनुष्यों का संहार नहीं करूंगा।"[१]

गांधीजी के इन विचारों का आशय यह है कि जो भी नैतिक नियम निर्धारित किया जाए, उसका अभिप्राय मनुष्य का कल्याण ही होना चाहिए। मनुष्य नियम का निर्माता है न कि नियम मनुष्य का। कांट इस बात को भूल जाता है कि नैतिकता मनुष्य के लिए है, न कि मनुष्य नैतिकता के लिए। इसका अभिप्राय यह नहीं कि व्यक्ति नैतिक नियमों का उल्लंघन ही करता रहे। इसके विपरीत मनुष्य के लिए नैतिक बनना इसलिए अनिवार्य है कि वह विचारशील प्राणी है और वही केवल नैतिकता के अर्थ को समझ सकता है। जहां तक अहिंसा की निरपेक्षता का सम्बन्ध है, गांधीजी का यह मत था कि यदि बिना हिंसा के शुभ कर्म किया जा सकता है, तो निस्सन्देह अहिंसा का पालन करना चाहिए। जब गांधीजी से यह पूछा जाता था कि क्या उस मनुष्य अथवा मनुष्यों के समूह का संहार करना उचित है जोकि बहुत संख्या में मनुष्यों को दुःख दे रहा हो, तो गांधीजी का यह कहना था कि ऐसा कर्म अनैतिक है। बन्दरों का संहार करना इसलिए अनिवार्य है कि पशु का हृदय परिवर्तित करने के लिए हमारे पास कोई उपाय नहीं है। अतः कृषि को विनाश से बचाने के लिए बन्दरों का संहार करना क्षम्य हो सकता है; किन्तु जहां मनुष्य का सम्बन्ध है, दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति के हृदय को परिवर्तित करने की भी संभावना सदैव रहती है। इस प्रकार के परिवर्तन के साधन भी समाज में उपस्थित हैं। अतः अहिंसा के क्षेत्र में स्वार्थ के लिए मनुष्यों का संहार करने का कोई स्थान नहीं है। गांधीजी का यह मत था कि मनुष्यों के संहार को अनिवार्य कदापि नहीं माना जा सकता। यदि कांट के समक्ष ऐसी समस्या उपस्थित की जाती, तो अहिंसा को हर अवस्था में अनिवार्य रूप से नैतिक स्वीकार किया जाता और पशुओं तथा मनुष्यों की तुलना में मनुष्यों को श्रेष्ठ न समझा जाता। कांट के सिद्धान्त की यह संकीर्णता मानवता के विरुद्ध है।

यदि कांट के सिद्धान्त का अर्थ दूसरी दृष्टि के आधार पर किया जाए और यह स्वीकार किया जाए कि नैतिकता के निरपेक्ष आदेश को जीवन में लागू करते समय, प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता है कि वह अपनी विशेष परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए, ऐसी चेष्टा करे कि उसका कर्म विश्वव्यापी संकल्प बन सके, तो हम यह देखेंगे कि यह सिद्धान्त एक शिथिल सिद्धान्त सिद्ध होता है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति अपनी परिस्थितियों को ऐसी विशेष परिस्थितियां मानता है कि वह उन्हें अनिवार्य स्वीकार करता है और उनके वश में,

१. M. K. Gandhi : Harijan, Dated 26th April, 1946.

वह जिस प्रकार का व्यवहार करता है, उसको भी अनिवार्य मानता है। मनुष्य का मन न ही केवल चंचल है, अपितु वह ऐसा लचीला है कि हर परिस्थिति में वह अपने-आपको अनुकूल बना लेता है और अपने कर्म को नैतिक सिद्ध करने के लिए तर्क ढूंढ़ लेता है। एक हत्यारा डाकू भी अपने व्यवहार को, अपनी विशेष परिस्थितियों को अनिवार्य प्रमाणित करके, नैतिक ही घोषित करता है। वह कहता है कि कोई भी सामान्य व्यक्ति, जो उन परिस्थितियों में रखा जाए, जिनमें कि वह ऐसा कर्म कर रहा है, तो वह व्यक्ति भी उसी डाकू की भांति ही व्यवहार करेगा। दूसरे शब्दों में, शराबी, चोर और जुआरी सभी अपने-अपने कर्म को और अपनी आदत को अनिवार्य परिस्थितियों का परिणाम स्वीकार करते हैं। यदि इन विशेष परिस्थितियों की सापेक्षता से उनके कर्म को विश्वव्यापी संकल्प बनाने की आज्ञा दे दी जाए, तो सभी अनैतिक कर्म नैतिक ही स्वीकार किए जाएंगे। दूसरे शब्दों में, कांट का निरपेक्ष नैतिक आदेश इतना सापेक्ष और शिथिल सिद्ध होगा कि संसार का कोई भी कर्म अनैतिक स्वीकार नहीं किया जाएगा।

वास्तव में कांट ने स्वयं निरपेक्ष आदेशवाद के सिद्धान्त को किसी भी दृष्टि से सापेक्ष स्वीकार नहीं किया। उसका कारण यह है कि वह शुभ संकल्प को न ही केवल स्वलक्ष्य मानता है, अपितु उसे स्वयम्भू निरपेक्ष वास्तविकता स्वीकार करता है, इसलिए वह किसी भी अवस्था में विशुद्ध शुभ संकल्प को किसी अन्य प्रेरक से सम्बन्धित करना नहीं चाहता और केवल 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' को ही उच्चतम नैतिक आदर्श मानता है। यही कारण है कि कांट भाव (Feeling) को अपने नैतिक सिद्धान्त में कोई स्थान नहीं देता। उसका कहना है कि नैतिक कर्म वही है जो दया, अनुकम्पा आदि की भावना से प्रभावित न होकर केवल कर्तव्यपरायणता के लिए ही किया जाता है। दूसरे शब्दों में, कांट भगवद्गीता के निष्काम कर्म के सिद्धान्त की भांति अनासक्त कर्तव्य को ही चरम लक्ष्य मानता है। यदि कोई न्यायाधीश एक हत्यारे को इसलिए मृत्यु का दण्ड देता है कि उसने किसी निर्दोष नवयुवक की ऐसी दुर्दशा से हत्या की है कि जिसकी मृत देह को देखकर न्यायाधीश के मन में करुणा उत्पन्न हो जाती है, तो कांट के दृष्टिकोण के अनुसार न्यायाधीश का यह कर्म इसलिए अनैतिक होगा कि वह कर्तव्य के लिए कर्तव्य नहीं है। कांट कर्तव्य को, दया, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति आदि सभी प्रकार के भावों से पृथक् करके, एक अत्यंत शुष्क और कठोर नैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। वह इस तथ्य की अवहेलना करता है कि जिस प्रकार शुभ संकल्पसे प्रेरित होकर शुभ कर्म किया जासकता है, उसी प्रकार देशभक्ति अथवा किसी व्यक्ति के प्रति सच्चे प्रेम से प्रेरित होकर भी नैतिक कर्म किया जा सकता है। हम देशभक्ति की भावना से प्रेरित उस व्यक्ति के बलिदान को कदापि अनैतिक नहीं कह सकते, जो अपने देश की रक्षा और स्वतन्त्रता के लिए हंसते-हंसते सूली पर चढ़ जाता है।

कांट की इस कठोरता की काफी आलोचना की गई है। एक आलोचक ने व्यंग्यात्मक आलोचना करते हुए कहा है, "मैं कांट के नैतिक सिद्धान्त का अनुयायी हूं, अतः

मैं कर्तव्य का पालन करते समय किसी प्रकार के भाव से प्रभावित नहीं होता। मैं भूखे व्यक्तियों को खाना और नंगों को वस्त्र तो देता हूं, किन्तु उनपर दया करना पाप समझता हूं। मैं रोगियों को औषधि तो बिना मूल्य के देता हूं, किन्तु उनके दुःख से प्रभावित होकर आंसू बहाना घोर अपराध समझता हूं, क्योंकि यदि मैं दया, करुणा आदि भावों से प्रेरित होकर कर्म करूं, तो मैं निस्सन्देह अनैतिक माना जाऊंगा।" इस प्रकार कांट का सिद्धान्त भावहीन, कठोर और शुष्क होने के कारण, बिना सामग्री के आकार, बिना शरीर के आत्मा तथा बिना कारण के कार्य प्रमाणित होता है। इसलिए याकोबी ने कहा है, "कांट का संकल्प वह संकल्प है जो कुछ भी संकल्प नहीं करता।"[1]

कांट के निरपेक्ष आदेशवाद की उपर्युक्त आलोचना का अभिप्राय यह नहीं कि उसका नैतिक सिद्धान्त सर्वथा असंगत है। हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कांट ने शुभ संकल्प को, आन्तरिक निरपेक्ष नैतिक नियम स्वीकार करके नैतिकता को विश्व-व्यापी बनाने का जो प्रयत्न किया है, वह विश्व के दार्शनिक इतिहास में एक अमूल्य देन है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शुभ संकल्प मनुष्य के व्यक्तित्व का एक अमूल्य अंग है, किन्तु कांट ने इस संकल्प को केवल तर्कात्मक मानकर, मनुष्य के भावात्मक व्यक्तित्व की अवहेलना की है। कांट ने यदि नैतिकता के प्रति पूर्ण सत्य नहीं कहा, तो उसने आंशिक सत्य अवश्य कहा है। मनुष्य के व्यक्तित्व में ज्ञान, भाव और संकल्प तीनों समान रूप से उपस्थित होते हैं और ये तीनों ही मानव के आन्तरिक तत्त्व हैं। इन तीनों में से किसी एक या दो को महत्त्व देकर तीसरे तत्त्व की अवहेलना करना पूर्ण सत्य नहीं हो सकता। यदि सुखवाद हमें बिना आकारके सामग्री प्रस्तुत करता है, तो कांट का निरपेक्ष आदेशवाद बिना सामग्री के आकार को ही नैतिक आदर्श घोषित करता है। 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' व्यक्तित्व के विकास की ठोस सामग्री से सर्वथा पृथक् रहकर एक निरुद्देश्य प्रेरकहीन अमूर्त और अव्यावहारिक सिद्धान्त बनकर रह जाता है। ठोस जीवन में आकार तथा सामग्री, कारण तथा कार्य, प्रेरक तथा उद्देश्य सदैव समन्वित रहते हैं। कांट स्वयं इस बात को स्वीकार करता है कि कर्तव्यपरायण व्यक्ति को आनन्द की प्राप्ति होती है और होनी चाहिए। एक ओर तो कांट कर्तव्य के लिए कर्तव्य को उच्चतम नैतिक आदर्श मानता है और दूसरी ओर वह कहता है कि शुभ संकल्प का शुभ फल एवं आनन्द प्रदान करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है। अतः कांट का सिद्धान्त शत-प्रतिशत संगत तथा पूर्ण नहीं माना जा सकता। हम आगे चलकर यह देखेंगे कि ग्रीन का आत्मानुभूति का सिद्धान्त कांट के निरपेक्ष आदेशवाद तथा सुखवाद का समन्वय करने का चेष्टा करता है।

कांट तथा सुखवाद

ऊपर दिए गए विवेचन तथा आलोचना से तो यह प्रमाणित होता है कि कांट का

१. "Kant's will is a will that wills nothing."

एकमात्र सिद्धान्त निरपेक्ष आदेशवाद है, जोकि केवल कर्तव्य पर ही बल देता है और नैतिकता के लक्ष्य की ओर ध्यान नहीं देता। किन्तु उसके दर्शन का गम्भीर अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि कांट ने नैतिक लक्ष्य तथा नैतिक नियम दोनों को स्वीकार किया है। उसे हम सुखवादी तो नहीं कह सकते और न ही वह तृप्ति की दृष्टि से सुख को जीवन का लक्ष्य मानता है, किन्तु उसने अपने सिद्धान्त को पूर्णतया आकारात्मक होने से बचाने के लिए स्वीकार किया है कि नैतिक जीवन का लक्ष्य द्विमुखी लक्ष्य है, जिसके अनुसार हम अपने पूर्णत्व तथा अन्य लोगों के श्रेयस् (Happiness) को कर्तव्यपरायणता का उद्देश्य मानते हैं। हमारे व्यक्तित्व की पूर्णता का अर्थ शुभ संकल्प का वह विकास है, जो हमें विश्वव्यापी संकल्प के स्तर पर ले जाता है। कांट यह तो स्वीकार करता है कि नैतिकता का दूसरा उद्देश्य अन्य लोगों का श्रेयस् है, किन्तु वह इस श्रेयस् की पूरी व्याख्या नहीं करता। उसका कारण यह भी हो सकता है कि हम अन्य लोगों में बौद्धिक परिवर्तन उत्पन्न करके उनके शुभ संकल्प का विकास नहीं कर सकते। अतः हम अन्य लोगों की पूर्णता को अपना लक्ष्य नहीं बना सकते। जब हम अपने शुभ संकल्प को विकसित करने के द्वारा नैतिकता के उच्चतम स्तर पर पहुंच जाते हैं, तो स्वतः ही हमारा कर्म ऐसा सत्कर्म होगा, जो कि समाज के श्रेयस् के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

इससे यह स्पष्ट होता है कि कांट का 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' इतना अमूर्त और शुष्क नहीं है, जितना कि उसके आलोचक समझते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कांट श्रेयस् अथवा सुख को नैतिक व्यक्ति का प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं मानता, किन्तु उसका यह विश्वास है कि परम मानवीय शुभ की व्याख्या में सुख एवं श्रेयस् को नैतिकता के साथ अवश्य उपस्थित मानना चाहिए ; यद्यपि सुख की यह उपस्थिति नैतिकता के अधीन ही होगी। कांट सुख तथा नैतिकता को दो ऐसे तत्त्व मानता है जो एक-दूसरे से अभिन्न हैं। उनका परस्पर सम्बन्ध समन्वय का है, न कि विच्छिन्नता का। यही कारण है कि कांट सुख को नैतिकता का स्वाभाविक परिणाम मानता है, यद्यपि वह सुख की प्राप्ति को नैतिकता का प्रेरक नहीं मानता। कांट का यह दृष्टिकोण है कि यद्यपि नैतिक व्यक्ति सुख को उद्देश्य मानकर नहीं चलता, तथापि मनुष्य के सम्पूर्ण कल्याण में सुख तथा सद्-गुण दोनों उपस्थित होने चाहिए। यही कारण है कि कांट नैतिकता के फलस्वरूप नैतिक व्यक्ति को, उसके कर्तव्य के अनुसार श्रेयस् प्रदान करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है। हमारी अपनी पूर्णता तथा अन्य व्यक्तियों के श्रेयस् को नैतिक जीवन का उद्देश्य मानने का यही अभिप्राय है।

इससे यह प्रतीत होता है कि कुछ सीमा तक कांट उस लक्ष्य की व्याख्या करने की चेष्टा करता है, जिसकी अनुभूति वांछनीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि कांट के दृष्टि-कोण से विश्वव्यापी आत्मा (Universalself) ही वह आदर्श लक्ष्य है, जिसकी अनुभूति सर्वश्रेष्ठ मानी जा सकती है। इसलिए वह एक उद्देश्यात्मक विश्व का समर्थन करता है, जिसमें कि मनुष्य तथा मनुष्य में स्थित शुभ संकल्प को वह स्वलक्ष्य मानता है। किन्तु

यह बात कांट ने स्पष्ट नहीं की है कि क्या निरपेक्ष आदेश का अनुसरण करने से व्यक्ति किसी ऐसे उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है, जोकि उसे नैतिक व्यवहार करने के लिए प्रेरित करता है। यद्यपि कांट का यह कहना है कि सद्‌गुण तथा सुख दोनों मिलकर पूर्ण शुभ का निर्माण करते हैं, तथापि वह यह स्पष्ट नहीं करता कि उन दोनों का समन्वय किस प्रकार सम्भव है। इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए वह एक ऐसे ईश्वर की धारणा को स्वीकार करने पर बाध्य हो जाता है, जो सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है और जो सद्‌गुण तथा श्रेयस् का समन्वय करने के लिए समर्थ है। निस्सन्देह यह एक विचित्र बात है कि उद्देश्यात्मक विश्व का समर्थक कांट, जो इस बात पर बल देता है कि मानव अपना उद्देश्य स्वयं है, ईश्वर की मान्यता केवल इसलिए स्वीकार करता है कि सद्‌गुण तथा श्रेयस् के समन्वय करने का ईश्वर साधन-मात्र बन सके।

कांट सद्‌गुण की संगतता के सिद्धान्त को यथार्थ प्रमाणित नहीं कर सका। उसका कारण सम्भवतया यह है कि वह मनुष्य को स्वलक्ष्य तो मानता है, किन्तु आत्मानुभूति एवं मोक्ष-प्राप्ति के सिद्धान्त को नहीं जानता। यही कारण है कि वह मनुष्य की उस आत्मा के स्वरूप की व्याख्या नहीं करता, जिसकी प्राप्ति के लिए हमारे सभी कर्म साधन बनने चाहिए। वह सुख को नैतिकता का फल प्रमाणित करने के लिए एक ऐसा अपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत करने पर बाध्य हो जाता है जो आधा नैतिक है और आधा धार्मिक। इससे यह स्पष्ट होता है कि एक पूर्ण नैतिक सिद्धान्त के लिए एक ऐसी तत्त्वात्मक धारणा की आवश्यकता है, जोकि व्यावहारिक दृष्टि से प्राप्त करने योग्य आदर्श बन सके और जो अन्तरात्मक भी हो। कांट ने सद्‌गुण के अन्तरात्मक होने पर तो बल दिया है, किन्तु वह अपने नैतिक सिद्धान्त को पूर्ण बनाने के लिए एक बाह्यात्मक ईश्वर की धारणा प्रस्तुत करने के लिए विवश हो जाता है। इस प्रकार उसका नैतिक सिद्धान्त न तो पूर्ण है और न स्पष्ट। उसका निरपेक्ष आदेश नैतिक औचित्य के प्रति कैसे-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर तो देता है, किन्तु यह नहीं बताता कि नैतिक औचित्य का क्यों अनुसरण करना चाहिए। सुखवाद अथवा उपयोगितावाद हमें यह बताता है कि नैतिकता का क्यों अनुसरण करना चाहिए, किन्तु वह यह नहीं बताता कि उसका अनुसरण कैसे किया जाता है। कांट तथा सुखवाद की धारणाएं हमें नैतिकता के प्रति क्रमशः 'कैसे' तथा 'क्यों' का उत्तर देती हैं। ये दोनों सिद्धान्त परस्पर-विरोधी प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तव में ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और सापेक्ष हैं। इनका परस्पर-विरोध किसी निरपेक्ष सिद्धान्त के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। पश्चिमीय आचार-विज्ञान में ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है जो पूर्णता को जीवन का चरम लक्ष्य मानता है और जिसके अनुसार इच्छाओं की तृप्ति तथा तर्कात्मक संयम, उपयोगिता तथा कर्तव्य, सुख तथा त्याग दोनों को उचित स्थान दिया गया है। हम ऐसे पूर्णवादी सिद्धान्त की व्याख्या यथास्थान करेंगे। इससे पूर्व विकासवादी नैतिक सिद्धान्त के प्रति पश्चिमीय आचार-विज्ञान के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है।

सातवां अध्याय

विकासवादी नैतिक सिद्धांत

(The Evolutionary Theories of Ethics)

आचार का सम्बन्ध जीवन से है और जीवन निस्सन्देह एक ऐसी प्रक्रिया है जो गतिशील और क्रियात्मक है; जिसका आरम्भ है, विकास है एवं अन्त भी है। अनेक विद्वानों ने पश्चिम में विकास के सिद्धान्त को जीवन पर तथा जीवन-सम्बन्धी अन्य प्रक्रियाओं पर लागू किया है। न ही केवल इतना, अपितु विश्व की सृष्टि को भी विकासवादी सिद्धांत के अधीन करके यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड एक भौतिक विकास है। सर्वप्रथम विकासवाद की धारणा जर्मनी के विख्यात दार्शनिक हीगल ने प्रस्तुत की थी। उसके अनुसार विश्व की आधारभूत सत्ता ठीक उसी प्रकार की विकासवादी प्रक्रिया है जिस प्रकार कि मनुष्य में स्थित तर्क एवं विचार की प्रक्रिया है। तर्क की प्रक्रिया में पहले एक धारणा (Thesis), उत्पन्न होती है फिर उसकी विरोधी धारणा (Antithesis) उत्पन्न होती है और अन्त में समन्वय (Synthesis) के द्वारा एक नवीन परिणाम प्राप्त होता है। यही विकासवाद एवं परिणामवाद का सिद्धान्त जीव की उत्पत्ति पर लागू किया गया है और आधुनिक ज्योतिषशास्त्र (Astronomy) तथा भूगोलशास्त्र (Geography) के विद्वानों द्वारा विश्व तथा पृथ्वी की सृष्टि की व्याख्या में लागू किया गया है।

डार्विन के अनुसार जीवन-प्रक्रिया एक विकासवादी प्रक्रिया है और छोटे से छोटे जन्तु ऐमीबा (Amoeba) से उत्पन्न होकर धीरे-धीरे मनुष्य के रूप में विकसित हुई है। इस विकास में असंख्य जीव उत्पन्न हुए और वातावरण से संघर्ष करते हुए उनमें से अनेकों प्रकार के जीव सदा के लिए नष्ट भी हो गए। केवल जीवों की वे श्रेणियां निरन्तर विकसित होती रहीं और आज तक विकसित हो रही हैं, जोकि सफलतापूर्वक जीवन के संघर्ष में वातावरण का सामना कर सकीं और इस प्रकार प्रकृति द्वारा निर्वाचित रहीं। जीवन के विकास में, संघर्ष तथा निर्वाचन दो नियमों का प्रभुत्व माना गया है। लैमार्क का कहना है कि जीवों में अपने जीवन को बनाए रखने की प्रेरणा के कारण उन लक्षणों का विकास होता रहता है, जो उन्हें वातावरण पर विजय प्राप्त करने में सहायक होते हैं। रचनात्मक विकासवादी (Creative evolutionists) तथा वर्तमान समय के वैज्ञानिक

दार्शनिक हेनरी बर्गसान ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जीवन का विकास उद्देश्यात्मक और रचनात्मक है। इस प्रकार विकासवाद के सिद्धान्त में अनेक परिवर्तन हुए हैं और अनेक शाखाएं उत्पन्न हुई हैं। इन सभी शाखाओं के उल्लेख का यहां महत्त्व नहीं है। यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक ऐसे नैतिक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए, जोकि विकासवाद पर आधारित थे। विकास एक ऐसी विश्वव्यापी प्रक्रिया है, जिसकी विशेष अभिव्यक्ति मानव है। अतः जो नियम विकास की प्रक्रिया पर लागू होते हैं, वे मनुष्य के स्वभाव पर भी लागू होते हैं, ऐसी धारणा नैतिक विकासवादियों की है। नैतिक विकासवादी संक्षेप में इस धारणा के समर्थक हैं कि जो भी परिस्थितियां एवं कर्म जीवन बनाए रखने के लिए उपयोगी हैं, वे ही शुभ माने जा सकते हैं और वे ही सुखद हैं।

स्पैन्सर का नैतिक सिद्धांत

हरबर्ट स्पैन्सर (१८२० से १९०३) के नैतिक सिद्धान्त को हम मुख्य विकासवादी नैतिक सिद्धान्त कह सकते हैं। उसने अपनी तीन पुस्तकों 'नैतिकता के सिद्धान्त' (The Principles of Ethics)', 'नैतिकता के आगमन' (Induction of Ethics) तथा 'सामाजिक गणित' (Social Statistics) में अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। स्पैन्सर का नैतिक दृष्टिकोण तर्कात्मक तथा वैज्ञानिक है। सर्वप्रथम स्पैन्सर ने व्यवहार की व्याख्या दी है और शुभ व्यवहार तथा अशुभ व्यवहार में भेद बताया है। क्योंकि स्पैन्सर व्यवहार को विकासात्मक क्रिया मानता है, इसलिए उस प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह व्यवहार की व्याख्या समस्त जीवन के आधार पर देता है। उसका कहना है कि मनुष्य में तथा अन्य प्राणियों में शुभ तथा अशुभ व्यवहार उपस्थित होता है और वह व्यवहार जीवन से सम्बन्ध रखता है। स्पैन्सर का कहना है कि जीवन के न्यून से न्यून स्तर में भी मुख्य उद्देश्य प्राणी का आन्तरिक प्रेरणाओं के आधार पर अपने-आपको वातावरण के अनुकूल बनाना है। जीवन को बनाए रखने की प्रेरणा प्रधान है। अतः समस्त व्यवहार या तो प्राणी की वातावरण से अनुकूलता को सहायता देता है या उसमें बाधक होता है। प्राणी-मात्र के इस व्यवहार को हम शुभ व अशुभ कह सकते हैं। जो व्यवहार इस अनुकूलता में सहायक होता है, वह शुभ है और जो बाधक होता है, वह अशुभ है। क्योंकि जीवन को बनाए रखनेवाला व्यवहार शुभ है, इसलिए स्पैन्सर उसे सुखद मानता है और अशुभ व्यवहार को दुःखद स्वीकार करता है। हमारा सामान्य व्यवहार सुख और दुःख का मिश्रण होता है एवं शुभ भी होता है और अशुभ भी। जिस व्यवहार में दुःख तनिक-मात्र भी न हो और जो केवल सुखद हो, उसी व्यवहार को स्पैन्सर ने पूर्णतया शुभ स्वीकार किया है। हमारा व्यवहार इस प्रकार एक सापेक्ष व्यवहार है। जिस व्यवहार में दुःख की मात्रा कम और सुख की मात्रा अधिक होती है, उसको हम सापेक्ष रूप से शुभ मान लेते हैं। हमारा नैतिकता का चरम उद्देश्य यही है कि हम विकास की प्रक्रिया में अधिक से

अधिक वातावरण से अनुकूलता उत्पन्न करने की चेष्टा करें।

स्पैन्सर के लिए शुभ का अर्थ विशेष बाह्यात्मक शुभ नहीं है, अपितु उसका अर्थ विशेष प्रकार का शुभ है। एक वस्तु अपने प्रकार का शुभ तभी प्रमाणित होती है, जब वह अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करती है। अतः शुभ किसी कर्म को ठीक प्रकार से निभाने के उद्देश्य का साधन है। इसी कर्म को तभी सफलतापूर्वक निभाया गया माना जाएगा, जब वह सुख अथवा तृप्ति का देनेवाला हो। स्पैन्सर के दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक विचारशील प्राणी के लिए एकमात्र उद्देश्य अधिक से अधिक सुख और कम से कम दुःख प्राप्त करना है। इस उद्देश्य में अग्रसर होते हुए सुख के आधिक्य को प्राप्त करते हुए यदि ऐसी अवस्था उपलब्ध हो जाए कि जिसमें दुःख सर्वथा अनुपस्थित हो, तो वह अवस्था निरपेक्ष लक्ष्य हो जाएगी। इस दृष्टि से हम स्पैन्सर को सुखवाद का समर्थक भी मान सकते हैं। किन्तु स्पैन्सर एक विशेष प्रकार का सुखवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उसके लिए सुख इसलिए शुभ नहीं है कि वह हमें सुखद अनुभव देता है, अपितु वह इसलिए वांछनीय है कि वह जीवन को बनाए रखने के उद्देश्य की पूर्ति करता है।

स्पैन्सर का कहना है कि दार्शनिक के लिए केवल यह पर्याप्त नहीं है कि वह इतना बता दे कि कुछ वस्तुएं सुखद होने के कारण शुभ हैं, इसके अतिरिक्त उसके लिए यह बताना नितान्त आवश्यक है कि वे वस्तुएं क्यों शुभ हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्पैन्सर वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करते हुए विकासवाद के सिद्धान्त को अपनाता है। उसका कहना है कि प्रत्येक प्राणी का स्वभाव एक परिणामी उत्पत्ति एवं विकास द्वारा उत्पन्न लक्षण के द्वारा निर्धारित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, किसी प्राणी के स्वभाव की व्याख्या करते हुए हमें सदैव इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि वह प्राणी विकास द्वारा उत्पन्न तत्त्व है। यही कारण है कि प्रत्येक प्राणी विकसित होना चाहेगा और अपने-आपको विकसित करने के साथ-साथ उस सन्तान को उत्पन्न करना चाहेगा, जोकि उस वर्ग को निरन्तर बनाए रखे, जिसमें कि वह स्वयं उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार का विकासात्मक कर्म निस्सन्देह सुखद कर्म है। अतः सुखद कर्म अपने-आपमें शुभ नहीं है, अपितु जीवन के बनाए रखने के उद्देश्य का साधन होने के कारण शुभ स्वीकार किया गया है। मनुष्य इसी कारण अधिक से अधिक सुख के लिए संघर्ष करता है। सुख, जीवन की वृद्धि-सम्बन्धी व्यवहारकी अभिव्यक्ति है और दुःख प्राणीके जीवन से प्रतिकूल व्यवहारकी अभिव्यक्ति है।

स्पैन्सर इस बात को भी स्पष्ट करता है कि जो प्राणी अपने वातावरण से ठीक प्रकार से अनुकूलित नहीं है, उसके जीवित रहने की सम्भावना कम होगी; इसलिए वह व्यवहार जोकि प्राणी को अपने वातावरण के अनुकूल बनाने में सहायक होता है, विशेष प्राणियों के वर्ग में स्थायी रहेगा। इसके विपरीत वह व्यवहार, जो जीवन को बनाए रखने में सहायक नहीं है, विशेष प्राणी-वर्ग में स्थायी नहीं रहेगा। इस प्रकार दुःखद क्रियाओं के बहिष्कार करने की प्रवृत्ति और सुखद व्यवहार को अपनाने की प्रवृत्ति प्राणियों में स्वाभाविक है। वे प्राणी जीवित रह सकेंगे जो दुःख की अपेक्षा सुख को अधिक अपनाते

हैं। इसलिए प्राणियों में उस व्यवहार को अपनाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होगी, जोकि जीवन के अस्तित्व के संघर्ष में सहायक होगी। इस प्रकार स्पैन्सर के दृष्टिकोण के अनुसार, सुख को प्रोत्साहन देनेवाला व्यवहार इसलिए किया जाता है कि वह विकास की प्रक्रिया में सहायक होता है और वह व्यवहार, जो विकास की दृष्टि से उपयोगी है, इसलिए किया जाता है कि वह सुखद है।

जैसाकि हमने ऊपर बताया है, स्पैन्सर न ही केवल यह धारणा प्रस्तुत करता है कि जीवन को बनाए रखने तथा विकास को अग्रसर करनेवाला व्यवहार सुखद होता है, अपितु वह इस बात की पूरी व्याख्या करता है कि कौन-सा व्यवहार ऐसा है जो जीवन को बनाए रखने में सहायक होता है और कौन-सा ऐसा है जो विकास को प्रोत्साहन देता है। उसके दृष्टिकोण के अनुसार जो व्यवहार मनुष्य को उसके वातावरण से अनुकूलित करता है, वही व्यवहार जीवन को बनाए रखता है और विकास को प्रोत्साहन देता है। इस प्रकार का अनुकूलित होना मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों तथा उन परिस्थितियोंमें सामंजस्य उत्पन्न करता है, जोकि मूल प्रवृत्तियों को प्रेरित करती हैं। स्पैन्सर के दृष्टिकोण के अनुसार, सुचारु रूप से अनुकूलित व्यक्ति यन्त्रवत् क्रिया करता है। वह अपने वातावरण के प्रति एक ऐसे स्निग्ध यन्त्र की भांति प्रतिक्रिया करता है और ऐसा व्यवहार करता है, जोकि उष्णता उत्पन्न किए बिना कम से कम प्रयत्न द्वारा पूर्ण होता है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार तेल से भली प्रकार से स्निग्ध यन्त्र कम से कम शक्ति लगाकर बिना उष्ण हुए चालू रहता है, उसी प्रकार अनुकूलित व्यक्ति का शरीर अपने वातावरण में व्यवहार करते समय सुगमतापूर्वक और कम से कम प्रयत्न के द्वारा व्यवहार करता है। इस प्रकार के व्यक्ति को सन्तुलित व्यक्ति कहा जाता है और इसी सन्तुलित अवस्था में ही वह व्यक्ति सुख का अनुभव करता है। स्पैन्सर का यह सन्तुलन का दृष्टिकोण भगवद्गीता के संयमी व्यक्ति की धारणा के सदृश प्रतीत होता है। स्पैन्सर का कहना है कि इस अवस्था की प्राप्ति ही मानवीय चेष्टा का स्थायी लक्ष्य है। अतः हमारे सभी कर्म इस अवस्था की अनुभूति एवं प्राप्ति का साधन-मात्र होते हैं। इस दृष्टि में भी स्पैन्सर की धारणा की तुलना उस स्थितप्रज्ञ एवं जीवन्मुक्त व्यक्ति की धारणा से की जा सकती है, जिसका प्रतिपादन भगवद्गीता में किया गया है। इसकी व्याख्या हम यथास्थान करेंगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि जीवन की प्रक्रिया विकासात्मक है और वह विकास निरन्तर अग्रसर हो रहा है, तो इस गति का अन्तिम उद्देश्य क्या है। स्पैन्सर के अनुसार, जहां तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, विकास का एकमात्र उद्देश्य वह सन्तुलन की अवस्था है जोकि अनुकूलित व्यवहार से प्राप्त होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्तुलन की अवस्था पूर्णतया प्राप्त नहीं होती, यही कारण है कि स्पैन्सर के लिए शुभ का कोई निरपेक्ष मापदण्ड नहीं है। वह कहता है कि परम शुभ एक ऐसा उद्देश्य है, जिसकी अनुभूति न तो होती है और न ही हो सकती है, क्योंकि पूर्ण सन्तुलन न तो अनुभूत होता है और न अनुभूत किया जा सकता है। यहां पर स्पैन्सर का दृष्टिकोण भगवद्गीता के दृष्टिकोण

से मेल नहीं खाता, क्योंकि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को पूर्ण रूप से सन्तुलित स्वीकार किया जाता है। स्पैन्सर का शुभ सापेक्ष शुभ है। वह कहता है कि जो व्यवहार इस सन्तुलन के उद्देश्य के अनुकूल है, वही शुभ है। स्पैन्सर मनुष्यों के विभिन्न वातावरण तथा उनकी क्षमता की विभिन्नता को स्थान देता है, इसलिए वह कहता है कि नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निश्चित नियम निर्धारित नहीं किए जा सकते। वैज्ञानिक आचार-मीमांसा केवल सामान्य निर्देश दे सकती है और यह बता सकती है कि इस प्रकार के व्यवहार को क्यों अपनाना चाहिए। वह यह भी बता सकती है कि यदि अनुकूलित व्यवहार किया जाए तो व्यक्ति सुख का अनुभव करेगा। इस प्रकार स्पैन्सर नैतिक नियमों को गणित के नियमों की भांति सुनिश्चित न मानकर अनिश्चित और अस्थायी नियम ही स्वीकार करता है।

स्पैन्सर का विकासवादी सिद्धान्त न ही केवल व्यक्तिगत व्यवहार की व्याख्या करता है, अपितु वह सामाजिक व्यवहार की भी उचित व्याख्या देने की चेष्टा करता है। जैसाकि हमने ऊपर कहा है, जीवन के विकास में प्राकृतिक निर्वाचन के नियम का अर्थ जीवन में संघर्ष तथा व्यक्ति के लिए जीवन को बनाए रखने के उद्देश्य की प्रधानता है। यदि इस संघर्ष के द्वारा ही व्यक्ति अपने जीवन को बनाए रखने में सफल होता है, तो उसमें दूसरे व्यक्तियों के जीवन को सुरक्षित रखने की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, विकासवाद में संघर्ष का नियम सामूहिक विकास के विरुद्ध प्रतीत होता है। अतः स्पैन्सर के सामने यह कठिनाई उत्पन्न हो जाती है कि वह सामाजिक विकास की समस्या को कैसे सुलझाए। और वह इस कठिनाई से बाहर निकलने की पूरी चेष्टा करता है।

स्पैन्सर का कहना है कि विकास की विशेषता यह है कि विकास की प्रगति सरलता से जटिलता की ओर होती है। सरल से सरल एमीबा जन्तु धीरे-धीरे विकसित होकर मनुष्य जैसे जटिलतम प्राणी में विकास की चरमसीमा पर पहुंचता है। अतः विकास में एक अनिश्चित असम्बन्धित समरूपता एक निश्चित सुव्यवस्थित विभिन्नता में परिवर्तित हो जाती है। छोटे से छोटे जन्तु एमीबा की रचना सरलतम होती है जबकि मनुष्य का शरीर एक जटिल आकारवाला है और उसके शरीर के सभी अंग एक-दूसरे से विभिन्न हैं। इसी प्रकार समाजिक जीवन में भी सरलता से जटिलता की ओर विकास हुआ है। आदिम समाज में सभी मनुष्य एक प्रकार का जीवन व्यतीत करते थे और समाज का ढांचा सरलतम था। ज्यों-ज्यों समाज सुसंस्कृत हुआ और उसका विकास आगे बढ़ा, तो मनुष्यों के जीवन तथा व्यवहार में हर प्रकार की विभिन्नता उत्पन्न होने लगी। उनके रहने-सहने और खाने-पीने तथा वेशभूषा में विभिन्नताएं उत्पन्न हुई। विकसित समाज में मनुष्य का जीवन अधिक से अधिक जटिल हो जाता है, इस अवस्था में सहयोग की भावना एक अनिवार्य तत्त्व बन जाती है। स्पैन्सर के अनुसार, सहयोग इसलिए आवश्यक है कि इसके द्वारा मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और इस प्रकार वे अपनी

शक्ति को अपने-अपने विकास के लिए प्रयोग में ला सकते हैं। यही कारण है कि मनुष्य में स्वार्थी प्रवृत्तियों के साथ-साथ धीरे-धीरे वे प्रवृत्तियां भी उत्पन्न हो जाती हैं, जोकि उसे अन्य व्यक्तियों से सहयोग करने पर प्रेरित करती हैं। ये प्रवृत्तियां भी मनुष्य के जीवन को बनाए रखने के लिए उतनी ही आवश्यक हैं, जितनी कि व्यक्तिगत प्रवृत्तियां होती हैं। अतः सामाजिक प्रवृत्तियां भी विकासवाद के लिए अनिवार्य हैं।

ये सामाजिक प्रवृत्तियां, पशुओं में समूह में रहने की भावना तथा सहयोग की भावना उत्पन्न करती हैं। भेड़ें सदैव समूह में चलती हैं। शहद की मक्खियां सहयोग से छत्ता बनाती हैं। किन्तु मनुष्य में ये प्रवृत्तियां उच्चतम विकसित रूप धारण करती हैं। ये मनुष्य को सहयोगी सामाजिक प्राणी बनाती हैं, इसलिए मनुष्य को परोपकारी बनना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, समाज अनिवार्य रूप से सहयोग की भावना के आधार पर निर्भर रहता है। समाज के रीति-रिवाज तथा नैतिकता के नियम उसके सदस्यों के हित को हानि पहुंचाए बिना, समूह में सहयोग उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार स्पैन्सर सामूहिक कल्याण एवं सामूहिक सुखवाद को भी विकासवाद के अन्तर्गत मानता है।

मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्तियां व्यक्ति को इस बात से तो बचाती हैं कि वह समाज के हित को हानि न पहुंचा सके, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि संघर्ष का नियम समाज में क्रियाशील नहीं रहता। इसके विपरीत व्यक्ति-व्यक्ति के संघर्ष की अपेक्षा एक समूह का दूसरे समूह से संघर्ष जारी रहता है। इसी कारण युद्ध की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार वे व्यक्तिगत गुण, जोकि जीवन के संघर्ष में व्यक्ति को सफलता प्रदान करते हैं, जीवन को बनाए रखने की दृष्टि से व्यक्ति के लिए विकासात्मक मूल्य रखते हैं, उसी प्रकार जो गुण समुदायों के संघर्ष में किसी विशेष समुदाय को सफलता देने में सहायक होते हैं, वे ही विकासात्मक सुरक्षा-सम्बन्धी मूल्य (Evolutionary survival value) रखते हैं। हम यह जानते हैं कि समुदाय की रक्षा के लिए साहस, परमार्थ, सहयोग, सहानुभूति आदि गुण उपयोगी सिद्ध होते हैं, इसलिए समुदाय में इन गुणों को मूल्यवान समझा जाता है और इनको विकसित करने का प्रोत्साहन दिया जाता है। इस प्रकार यदि व्यक्तिगत दृष्टि से शुभ का अर्थ वह कर्म है, जो व्यक्ति को उसके वातावरण से अनुकूलित करने में सहायता देता है, तो सामूहिक दृष्टि से वह व्यवहार शुभ है, जो समूह की सुरक्षा तथा उसके कौशल में सहायक होता है। जिस प्रकार व्यक्ति के लिए उसका व्यक्तिगत सन्तुलन शुभ है, उसी प्रकार समुदाय के लिए भी सामूहिक सन्तुलन शुभ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि समाज में भी निरपेक्ष सन्तुलन उपस्थित नहीं है, जिस प्रकार कि निरपेक्ष सन्तुलित व्यक्ति का अस्तित्व सम्भव नहीं है। स्पैन्सर के अनुसार सामाजिक निरपेक्ष सन्तुलन निरपेक्ष शुभ भी भांति एक आदर्श-मात्र है।

निरपेक्ष शुभ यदि केवल कल्पना ही है, तो प्रश्न यह उठता है कि कर्तव्य की क्या धारणा हो सकती है। प्रथम दृष्टिपात से ऐसा प्रतीत होता है कि स्पैन्सर के नैतिक सिद्धान्त में कर्तव्य का कोई स्थान नहीं हो सकता। किन्तु स्पैन्सर स्वयं इस धारणा को

स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार विकासात्मक नैतिकता में मनुष्य के कर्तव्य का उचित स्थान है। वह कर्तव्य विकास की क्रिया को अग्रसर होने में सहायता करना है। मनुष्य स्वयं विकास की प्रक्रिया का अंग है, किन्तु वह जड़ पदार्थ की भांति अचेतन और अन्य प्राणियों की भांति बुद्धिहीन अंग नहीं है। मनुष्य विकास की प्रक्रिया का एक विचार-शील और बुद्धियुक्त अंग होने के कारण तथा आत्मचेतन होने के कारण यह उत्तरदायित्व रखता है कि वह विकास की प्रक्रिया में बाधा न डालकर उसमें सहायता दे। स्पेन्सर का कहना है कि यदि विकास के चरम लक्ष्य की अभी तक प्राप्ति नहीं हुई है, तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम विकास के परम उद्देश्य अर्थात् प्राणियों की अधिक सुखी और अधिक श्रेष्ठ जाति को उत्पन्न करने में सहायता दें। वर्तमान समय में नैतिकता सापेक्ष और स्थायी है, क्योंकि मनुष्य की अपनी अवस्था अपूर्ण और अस्थायी है। किन्तु स्पेन्सर का विश्वास है कि जब विकासात्मक प्रक्रिया की अन्तिम अवस्था प्राप्त हो जाएगी, तो उस समय निरपेक्ष शुभ का उदय होगा। हमारा कर्तव्य यह हो जाता है कि हम यथा-सम्भव इस निरपेक्ष शुभ के विकास में सहायता दें और विकासात्मक प्रक्रिया को आगे बढ़ाएं, क्योंकि यह प्रक्रिया उस परम शुभ की ओर अग्रसर हो रही है। इस प्रकार स्पेन्सर का दृष्टिकोण जीवनके विकासवाद के सिद्धान्त पर आधारित है और वह जीवन की रक्षा को ही नैतिक शुभ स्वीकार करता है।

आलोचना

सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि स्पेन्सर का नैतिक सिद्धान्त एक सुन्दर वैज्ञा-निक विवेचन तथा नैतिकता का एक विश्लेषणात्मक ऐतिहासिक अनुसन्धान अवश्य है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह एक ऐसा नैतिक आदर्श प्रस्तुत करता है, जिसको कि मानवीय जीवन का लक्ष्य बनाया जा सके। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ सीमा तक जीवन को बनाए रखने का उद्देश्य ही विकास की प्रक्रिया का लक्ष्य प्रतीत होता है। स्पेन्सर के पश्चात् जीव-विज्ञान के क्षेत्र में जो अनुसन्धान हुए हैं, वे स्पेन्सर के इस दृष्टिकोण का विरोध करते हैं। आधुनिक जीव-विज्ञान पुनः स्वभाववादी दृष्टिकोण को छोड़कर उद्देश्यात्मक दृष्टिकोण को अपना रहा है। बर्गसान का रचनात्मक विकासवाद यह प्रमाणित करता है कि जीवन की प्रक्रिया में पूर्णत्व का उद्देश्य है। लायड मार्गन का आकस्मिक विकासवाद (Emergent evolution) भी यही प्रमाणित करता है कि विकास का उद्देश्य केवल जीवन को बनाए रखना नहीं है। यदि जीवन की रक्षा ही विकास का उद्देश्य होता, तो वे विशालकाय प्राणी, जिन्होंने कि लाखों वर्षों तक इस पृथ्वी पर राज्य किया और जो मनुष्य के शरीर की तुलना में शत गुणा विशाल थे, वे ही विकास की अन्तिम सीढ़ी प्रमाणित होते। किन्तु आज उन महान शक्तिशाली प्राणियों का इस विश्व में अस्तित्व ही नहीं है। यदि हम विकास के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो हमें यह प्रतीत होगा कि विकास की प्रक्रिया का चरम लक्ष्य, शारीरिक विपुलता और प्राणात्मक (Biological) प्रगति-

मात्र नहीं है, अपितु चेतना की उत्तरोत्तर प्रगति और बुद्धि की वह उत्कृष्टता है जो मानव को दिव्य मानव, और पुरुष को पुरुषोत्तम बना सके। स्पैन्सर ने विकासवाद का एकपक्षीय विश्लेषण किया है। वर्तमान जीव-विज्ञान स्पैन्सर के इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता।

वैज्ञानिक प्रगति के प्रतिकूल होता हुआ भी स्पैन्सर का सिद्धान्त ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य रखता है। आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा का विकास भी हमें यह प्रेरणा देता है कि जीवन के प्रत्येक अंग को एक-दूसरे से सम्बन्धित होना चाहिए। नैतिक जीवन का अध्ययन सामान्य जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता। हम यह नहीं कह सकते कि जीवन के विकास का नैतिक विकास से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जीवन का विकास एक प्राकृतिक प्रक्रिया है, जबकि नैतिक जीवन का सम्बन्ध जीवन के आदर्श एवं मूल्य से है। विकासवाद एक तथ्यात्मक और व्याख्यात्मक सिद्धान्त है, जोकि जीवन की व्याख्या-मात्र करता है और हमें बताता है कि विश्व में प्राणी किस प्रकार वास्तविक रूप से व्यवहार करते हैं। इसके विपरीत आचार-विज्ञान एक आदर्शवादी नियामक और औचित्य-सम्बन्धी अध्ययन है, जो सर्वथा मूल्यात्मक है और हमें यह बताता है कि प्राणी-मात्र का नहीं, अपितु विचारशील प्राणियों एवं मनुष्यों के जीवन का परम लक्ष्य क्या होना चाहिए। स्पैन्सर ने तथ्यात्मक विश्लेषण पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है और तथ्यों तथा मूल्यों के परस्पर भेद की अवेहलना की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विज्ञान और दर्शन का परस्पर समन्वय होना चाहिए और तथ्यों तथा मूल्यों का समन्वय किया जाना चाहिए। किन्तु यह कहना कदापि संगत नहीं है कि जो तथ्य है वह मूल्य है, जो व्याख्या है वह औचित्य है और जो वास्तविकता है वह आदर्श है। कुछ समय के लिए यदि यह मान भी लिया जाए कि प्रकृति का उद्देश्य विकास की प्रक्रिया के द्वारा जीवन को बनाए रखना है, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि विचारशील मनुष्य जीवन की रक्षा-मात्र को ही नैतिक आदर्श स्वीकार करता है। यदि ऐसा होता तो आदर्शों के लिए प्राण त्याग देनेवाले व्यक्ति को अनैतिक स्वीकार किया जाता।

स्पैन्सर ने तथ्यों और मूल्यों का तादात्म्य करके एक ऐसा असंगत और अव्यावहारिक नैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जो एक ओर तो एक ऐसे बाह्यात्मक निरपेक्ष लक्ष्य को प्रस्तुत करता है, जिसका कि न कोई वैज्ञानिक आधार है और न तत्त्वात्मक, और दूसरी ओर नैतिक व्यवहार को केवल सापेक्ष कर्तव्य ही प्रमाणित करने की चेष्टा की है। यदि विकास का चरम लक्ष्य प्रकृति में उपस्थित है और यदि जीवन की प्रक्रिया उस लक्ष्य की ओर स्वतः ही अग्रसर हो रही है और यह सब कुछ मनुष्य के संकल्प से सर्वात्मना स्वतन्त्र रूप से घटित हो रहा है, तो नैतिकता के लिए न तो किसी सापेक्ष कर्तव्य की आवश्यकता है और न किसी व्यक्ति को उस बाह्यात्मक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्तरदायी माना जा सकता है। इस दृष्टि से आचार-विज्ञान केवल एक ऐतिहासिक अध्ययन और स्वाभाविक व्याख्या-मात्र रह जाता है। गम्भीर विचार करने पर यह सिद्ध होता है

कि यह स्वाभाविक व्याख्या भी यथार्थ व्याख्या नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि वर्तमान समाज की नैतिकता अतीत के समाज की नैतिकता की अपेक्षा सर्वथा उत्कृष्ट तथा अधिक विकसित है। स्पैन्सर इस बात को भूल जाता है कि यदि नैतिकता का चरम लक्ष्य मनुष्य के व्यक्तित्व से बाहर हो, तो वह लक्ष्य सदैव एक कल्पना-मात्र रहेगा और उसके प्रति मनुष्य का कर्तव्य कदापि निरपेक्ष कर्तव्य नहीं हो सकेगा। यहां पर हमें कांट के निरपेक्ष आदेशवाद के अन्तरात्मक तत्त्व को स्वीकार करना पड़ता है। नैतिक नियम निस्सन्देह निरपेक्ष नियम ही हो सकता है और कोई भी व्यक्ति नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा है, तो नैतिकता का लक्ष्य मनुष्य के अन्तस् में निहित होना चाहिए, न कि बाहरी वातावरण में।

स्पैन्सर इस बात में भूल करता है कि सामान्यतया प्राणी और विशेषकर मनुष्य अपने-आपको वातावरण से अनुकूलित कर सकता है, जब उसमें ऐसा करने की क्षमता, स्वच्छन्दता एवं स्वतन्त्रता हो। किसी भी वस्तु अथवा परिस्थिति को अनुकूलित अथवा प्रतिकूल स्वीकार करने की प्रक्रिया में निस्सन्देह एक आदर्श एवं लक्ष्य उपस्थित रहता है। जब हम यह कहते हैं कि दो वस्तुएं एक-दूसरे से अनुकूलित नहीं हैं, तो हमारा कहने का अभिप्राय यह होता है कि उन दोनों का परस्पर-सम्बन्ध ऐसा नहीं है, जोकि होना चाहिए। अनुकूलित होने का अर्थ एक वांछनीय अवस्था एवं आदर्श की प्राप्ति है। यदि ऐसा नहीं होता, तो संसार की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटना को स्वतः ही अनुकूलित स्वीकार किया जाता। मैकन्ज़ी ने इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुए कहा है, "एक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु के प्रति अनुकूलित है। मृत्यु एक प्रकार की अनुकूलता है, एक जीवित प्राणी अनुकूलता के एक विशेष अभाव के प्रति इसलिए चैतन्य होता है, क्योंकि उसके कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं। वैज्ञानिक मनुष्य इस बात का अनुभव करता है कि उसके विचार प्रकृति के तथ्यों के प्रति पूर्णतया अनुकूलित नहीं हैं और वह इसलिए ज्ञान की खोज करता है कि वह उन विचारों को अधिक पूर्णता से अनुकूलित कर सके। किन्तु एक पत्थर इस प्रकार के प्रयास की आवश्यकता के बिना ही अपने वातावरण से अनुकूलित है।"[१]

इस कथन का अभिप्राय यह है कि अनुकूलता की धारणा में आदर्श की धारणा निहित रहती है और वह आदर्श प्राकृतिक वातावरण में उपस्थित नहीं होता, अपितु अपने-आपको अनुकूलित करनेवाले प्राणी अथवा व्यक्ति में उपस्थित होता है। जब हम यह कहते हैं कि एक प्राणी अपने-आपको वातावरण से अनुकूलित करता है, तो उसका अभिप्राय यह नहीं होता कि वह अपने-आपको भौतिक वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए परिवर्तित करता है, इसके विपरीत अनुकूलता को प्राप्त करने के लिए वह वातावरण में परिवर्तन उत्पन्न करता है। विशेषकर मनुष्य के सम्बन्ध में तो हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह अनुकूलता की प्राप्ति के लिए वातावरण में तथा अपने-आपमें परिवर्तन

१. A Manual of Ethics by J. S. Mackenzie, Page 199.

उत्पन्न करता है। यदि मनुष्य में इस प्रकार अनुकूलता करने की क्षमता न होती एवं संकल्प की स्वतन्त्रता न होती, तो उसके लिए अनुकूलता की धारणा का कोई भी अर्थ न होता। सत्य तो यह है कि केवल मनुष्य में ही नहीं, अपितु पशुओं में भी इतनी स्वतन्त्रता अवश्य है कि वे अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर हो सकें। अतः स्पैन्सर ने उद्देश्य एवं लक्ष्य को प्रधानता न देकर और आरम्भ से व्याख्या करके एक ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जो सिर के बल खड़ा हुआ है। तर्कशास्त्र में इस प्रकार के विचार-सम्बन्धी दोष को प्रतिकूल तर्क (Hysteron-proteron) का दोष कहते हैं, जिसका अर्थ घोड़े के आगे गाड़ी रखना (Putting the cart before the horse) है।

यदि हम यह प्रश्न करें कि हम प्रकृति में सन्तुलन उत्पन्न करने के लिए केवल जीवन की रक्षा को ही उद्देश्य मानकर सुखद कर्म को शुभ क्यों समझें, तो स्पैन्सर का सिद्धान्त हमें कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं देता। यदि शुभ का अर्थ जीवित रहने की क्षमता है, तो सर्वोत्तम शुभ का अर्थ सबसे अधिक क्षमता रखना है। यदि यह पूछा जाए कि वह क्षमता किस बात के लिए है, तो स्पैन्सर उसका उत्तर देगा कि जीवित रहने के लिए। यदि यह पूछा जाए कि जीवित रहना शुभ क्यों है, तो हमें इसका उत्तर नहीं मिलता। हम इसका उत्तर उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक कि हम शुभ का अर्थ निर्धारित न कर लें। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि जीवित रहना आंशिक दृष्टि से शुभ हो सकता है, किन्तु जीवित रहना-मात्र ही पूर्ण शुभ नहीं हो सकता।

जहां तक स्पैन्सर के दृष्टिकोण का भगवद्गीता के स्थितप्रज्ञ एवं सन्तुलित व्यक्ति से तुलना का सम्बन्ध है, वहां पर यह कह देना पर्याप्त है कि स्पैन्सर की दृष्टि से सन्तुलन का अर्थ प्राणी द्वारा कम से कम संघर्ष करके कर्म करना है। उसके साथ ही साथ वह प्राणी की आवश्यकताओं की पर्याप्त पूर्ति को, जोकि उसी स्थायी वातावरण से प्राप्त होती है, सन्तुलन मानता है। इसके विपरीत भगवद्गीता के अनुसार, सन्तुलन बाह्यात्मक स्थिति नहीं है, अपितु ज्ञानी पुरुष की अन्तरात्मक अवस्था है। यहां पर हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भगवद्गीता में सन्तुलन की धारणा उस तत्त्व-मीमांसा पर आधारित है, जोकि भौतिक शरीर को आधार न मानकर, केन्द्रस्थ सत्ता आत्मा को ही उच्चतम सत्ता स्वीकार करती है। भगवद्गीता के अनुसार, ज्ञानेन्द्रियां, जोकि सुख-दुःख के अनुभव का साधन हैं, मन द्वारा नियन्त्रित होती हैं; मन, बुद्धि द्वारा नियन्त्रित होता है और बुद्धि, आत्मा पर निर्भर रहती है और आत्मा ही उच्चतम सत्ता है, जिसकी अनुभूति स्थितप्रज्ञ का लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को सुख-दुःख की अवस्था से ऊपर उठना पड़ता है। यही कारण है कि भगवद्गीता में कहा गया है कि सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि क्षणिक अनुभव हैं और जो व्यक्ति इन अनुभवों से प्रभावित न होकर, दुःख-सुख में समान रूप से व्यवहार करता है, वही मोक्ष का अधिकारी है। स्पैन्सर प्राणी के शारीरिक स्तर को ही सम्भवतया उच्चतम स्तर मानता है और इसलिए वह कहता है कि सन्तुलित अवस्था में प्राणी सुख का अनुभव करता है। वह सुख के अनुभव को ही शुभ मानता है,

अतः उसे नैतिक लक्ष्य स्वीकार करता है। इसके विपरीत भगवद्‌गीता में स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को सुख-दुःख से परे जाना पड़ता है। स्पेन्सर के अनुसार, मनुष्य की बुद्धिमत्ता इसीमें है कि वह अपने-आपको वातावरण से अनुकूलित करके अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति करे, यद्यपि वह परम शुभ एवं निरपेक्ष शुभ को ऐसा लक्ष्य मानता है जिसकी पूर्ति सम्भव न हो। उसका यह दृष्टिकोण आंशिक रूप से तत्त्वात्मक और आंशिक रूप से अनुभवात्मक है।

स्पेन्सर यह भूल जाता है कि यदि निरपेक्ष शुभ वास्तव में परम लक्ष्य है, तो वह अवश्य प्राप्त करने के योग्य होना चाहिए और उसकी प्राप्ति ही मनुष्य की चेष्टा का एकमात्र प्रेरक होना चाहिए। यदि परम शुभ ऐसा है जिसकी अनुभूति असम्भव है तो वह एक अमूर्त धारणा-मात्र ही प्रमाणित होता है। इसलिए स्पेन्सर इस परम शुभ एवं सन्तुलन की परम अवस्था की व्याख्या नहीं करता और उसे एक सम्भावित कपोल-कल्पित लक्ष्य मानकर ही रह जाता है। ग्रीन के आत्मानुभूति के सिद्धान्त की व्याख्या करते समय हम पुनः भगवद्‌गीता के इस दृष्टिकोण पर विचार करेंगे। यहां पर इतना कह देना पर्याप्त है कि स्थितप्रज्ञ के लिए सुख-दुःख आदि से ऊपर उठ जाने की अवस्था सन्तुलित अवस्था अवश्य है और इस अवस्था में सांसारिक विरोध भी अवश्य समन्वित हो जाते हैं, किन्तु उसकी यह व्यक्तिगत अवस्था भी एक साधन-मात्र है जोकि उसे और भी ऊंचा उठा सकती है। स्पेन्सर के लिए सन्तुलित अवस्था ही उद्देश्य है और निरपेक्ष सन्तुलित अवस्था असम्भव है। यही कारण है कि भगवद्‌गीता ऐसी विधि प्रतिपादित करती है जिसपर चलकर व्यक्ति परम शुभ को प्राप्त कर सकता है, जबकि स्पेन्सर कोई ऐसी विधि प्रतिपादित नहीं कर सका। अतः स्पेन्सर का नैतिक सिद्धान्त अपूर्ण, अव्यावहारिक और असंगत है।

अन्य विकासवादी नैतिक सिद्धान्त

स्पेन्सर का विकासवादी नैतिक सिद्धान्त, जैसाकि हमने ऊपर बताया है, न तो पूर्णतया वैज्ञानिक है (क्योंकि वह निरपेक्ष शुभ की धारणा प्रस्तुत करता है) और न ही पूर्णतया दार्शनिक (क्योंकि वह उद्देश्यात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए भी परम शुभ को असम्भव तत्त्व मानता है)। अन्य विकासवादी नैतिक विचारक, विकासवाद के आधार पर केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वे डार्विन के 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (Struggle for existence) को स्वीकार करके, नैतिकता के क्षेत्र में भी इसी प्रकार के संघर्ष की उपस्थिति को मान्यता देते हैं। उनकी यह धारणा है कि जिस प्रकार जीवन के संघर्ष में, प्राकृतिक निर्वाचन (Natural selection) के द्वारा सबसे अधिक क्षमतावाला (The fittest) प्राणी ही जीवित रह सकता है, उसी प्रकार नैतिक आदर्शों और परम्पराओं के संघर्ष में केवल सबसे अधिक शक्तिशाली एवं प्रभावशाली नैतिक आदर्श ही समाज में स्थिर रहते हैं। ये विकासवादी नैतिक विचारक निरपेक्ष शुभ को

स्वीकार नहीं करते, अपितु केवल सामाजिक सन्तुलन अथवा व्यवहार की अनुकूलता को ही लक्ष्य मान लेते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे दृष्टिकोण सापेक्ष दृष्टिकोण हैं और वास्तव में अपूर्ण व्याख्यात्मक धारणाएं हैं। इन विचारकों का उद्देश्य आचार-विज्ञान को आदर्शवादी विज्ञान के स्तर से हटाकर एक व्याख्यात्मक एवं प्राकृतिक विज्ञान बना देना है। ऐसे विचारकों में से प्रोफेसर एलैग्ज़ाण्डर का दृष्टिकोण, जोकि अन्य सभी दृष्टिकोणों का सारांश है, यहां उल्लेखनीय है।

प्रोफेसर एलैग्ज़ाण्डर यह मानकर चलता है कि नैतिकता विकासात्मक उत्पत्ति है और नैतिक आदर्श व्यवहार की अनुकूलता एवं व्यक्ति तथा वातावरण में सन्तुलन है। शुभ का अर्थ पूर्ण सामंजस्य है। अलैग्ज़ाण्डर के शब्दों में, "किसी व्यक्ति अथवा कर्म का मूल्यांकन ऐसे विशेष व्यवहार-सम्बन्धी मापदण्ड द्वारा किया जाता है, जिसको नैतिक आदर्श कहते हैं। यह नैतिक आदर्श क्रम की वह अनुकूलित व्यवस्था है, जो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों पर आधारित है और जो उन (प्रवृत्तियों) में सन्तुलन उत्पन्न करती है। शुभ, इस सन्तुलित पूर्ण में, अनुकूलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"[1] इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि ऐलैग्ज़ाण्डर विकासवादी प्राकृतिक निर्वाचन के संघर्ष के सिद्धान्त को नैतिक क्षेत्र में लागू करता है। यह तथ्य उसके एक लेख 'नैतिकता में प्राकृतिक निर्वाचन' से और भी पुष्ट हो जाता है। इस लेख का सारांश प्रोफेसर मैकन्ज़ी ने भी अपनी पुस्तक (ए मैनुअल आफ एथिक्स)[2] में दिया है। इसी लेख में ही प्रोफेसर एलैग्ज़ाण्डर ने वास्तव में विकासवादी नैतिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है।

जैसाकि हमने ऊपर कहा है, प्रो० एलैग्ज़ाण्डर प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धान्त को नैतिक विचारों के विकास का सिद्धान्त मानता है। अतः वह अपने लेख में सर्वप्रथम निर्वाचन के सिद्धान्त की सामान्य व्याख्या करता है। इस व्याख्या के अनुसार, जीवन के विकास में प्राकृतिक निर्वाचन उस प्रक्रिया को कहा जा सकता है, जिसके द्वारा विशेष लक्षणों के ढांचे (Characteristic structures) वाले प्राणियों की जाति प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए संघर्ष करती है और उनमें से एक प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और सापेक्ष रूप से स्थायी हो जाती है। जिस प्रकार इस नियम के आधार पर पशुओं के जीवन में संघर्ष होता है और उस संघर्ष के फलस्वरूप अधिक क्षमता एवं शक्तिवाला पशु जीवित रह सकता है, उसी प्रकार मनुष्य के आदर्शों में भी संघर्ष होता है। किन्तु इस प्राकृतिक निर्वाचन के संघर्ष में वह आदर्श स्थायी नहीं बनता, जोकि व्यक्तिगत जीवन के लिए उपयोगी

१. "An act or person is measured by a certain standard or criterion of conduct, which has been called the moral ideal. This moral ideal is an adjusted order of conduct, which is based upon contending inclinations and establishes an equilibrium between them. Goodness is nothing, but this adjustment in the equilibrated whole."

—Moral Order and Progress by Professor Alexander, Page 399.

२. A Manual of Ethics by J. S. Mackenzie, Pages 202, 203.

हो, अपितु वह जीवन-शैली एवं आदर्श स्थायी बनता है, जोकि सामाजिक कल्याण के लिए उपयुक्त होता है। पशुओं के जीवन के संघर्ष में तो जिनमें ऐसे शारीरिक लक्षण होते हैं, जोकि उनको वातावरण के विरोध में जीवन बनाए रखने के लिए सहायक सिद्ध होते हैं, जीवित रहते हैं और निर्बल प्राणियों का अन्त हो जाता है। किन्तु आदर्शों के संघर्ष में, एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित विचारधारा सामाजिक संघर्ष में सफल रहती है, यद्यपि उसको प्रतिपादित करनेवाला व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह मृत्यु को भी प्राप्त करता है।

इस संघर्ष की व्याख्या प्रो० एलैग्ज़ाण्डर ने विस्तारपूर्वक की है। उसका कहना है कि एक ऐसा व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह, जिसकी भावनाएं कम या अधिक चिन्तन द्वारा परिवर्तित होती हैं और जो उन भावनाओं से प्रेरित होकर जीवन के नये मार्ग पर चलना चाहता है, उत्पन्न होता है ; वह निर्दयता अथवा रूक्षता को नापसन्द करता है अथवा स्त्रियों के बन्धनों और अन्य सामाजिक दोषों का विरोध करता है। सम्भवतया वह अकेला अथवा कुछ मित्रों के साथ अपने दृष्टिकोण का प्रचार करता है। लोग उसकी विचारधारा पर सम्भवतया हंसी उड़ाते हैं और उससे घृणा करते हैं। इस संघर्ष में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और सम्भवतया उसको अपने आदर्शों के लिए जीवन का बलिदान भी देना पड़ता है। लोग उसकी मृत्यु से पूर्व तथा पश्चात् धीरे-धीरे उसके विचारों को अपनाने लगते हैं और अन्त में उसके आदर्श समाज पर छा जाते हैं। नैतिकता के निर्वाचन में प्रेरणा और शिक्षा, विरोधी जीवों के संहार तथा अपने वर्ग के प्राणियों के प्रसार का स्थान ले लेते हैं। दूसरे शब्दों में, जहां जीवन के संघर्ष में एक प्राणी-वर्ग अपने विरोधी वर्ग का अन्त करता है, वहां नैतिकता के संघर्ष में प्रेरणा, विरोधी विचारों की समाप्ति का साधन बनती है। एक मन की दूसरे मन पर विजय प्रेरणा के द्वारा होती है। जहां जीवन के संघर्ष में एक प्राणी-वर्ग अपनी सन्तान की वृद्धि के द्वारा जीवन की रक्षा करता है, वहां नैतिक संघर्ष में शिक्षा के द्वारा आदर्शों की रक्षा होती है।

आलोचना

प्रो० एलैग्ज़ाण्डर का यह दृष्टिकोण निस्संदेह एक व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण है, किन्तु हम इसे नैतिक सिद्धान्त एवं आदर्श नहीं मान सकते। अधिक से अधिक हम यह कह सकते हैं कि यह नैतिक जीवन के विकास का एक विशेष प्रकार का इतिहास है। यह इतिहास भी एक दृष्टिकोण को लेकर चलता है और सामाजिक घटनाओं की उस दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या करता है। सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि आचार-विज्ञान की विशेषता इसीमें है कि वह एक आदर्शवादी विज्ञान है, जोकि औचित्य का निर्णय देता है, जबकि एलैग्ज़ाण्डर का विकासवादी दृष्टिकोण, उसे एक प्राकृतिक और व्याख्यात्मक विज्ञान बनाने की चेष्टा करता है। जीव-विज्ञान में हम विकासवाद के

सिद्धान्त को लागू कर सकते हैं, क्योंकि वह विज्ञान व्याख्यात्मक है और उसका उद्देश्य यह बताना है कि जीवन का क्या स्वरूप है। किन्तु आचार-विज्ञान नियामक विज्ञान (Normative Science) होने के कारण, हमें जीवन के औचित्य (Ought)-सम्बन्धी मूल्यों से अवगत कराता है और हमें यह बताता है कि हमारे जीवन को किस प्रकार होना चाहिए। अतः इस क्षेत्र में विकासवादी व्याख्यात्मक सिद्धान्त को लागू करना आचार-विज्ञान के स्वरूप तथा उसकी विशेष विधि के सर्वथा विपरीत है।

विकासवादी नैतिक विचारक इस बात को भूल जाते हैं कि आचार-विज्ञान का सम्बन्ध जीवन से अवश्य है, किन्तु यह सम्बन्ध एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है; क्योंकि आचार-विज्ञान नियामक होने के कारण व्यवहार के आदर्श से सम्बन्ध रखता है, न कि व्यवहार की व्याख्या से। चाहे वह आदर्श व्यवहार-सम्बन्धी नियम एवं कर्तव्य हो, चाहे वह ऐसा उद्देश्य हो जिसकी ओर व्यवहार हमें निर्दिष्ट करता है, व्यवहार की नैतिकता यह पूछने से निर्धारित नहीं होती कि व्यवहार किस प्रकार प्रत्पन्न होता है। इसके विपरीत व्यवहार की नैतिकता का मूल्यांकन यह प्रश्न पूछने से होता है कि क्या वह निर्धारित नियम एवं नैतिक लक्ष्य के निकट है अथवा उसके अनुसार है कि नहीं? दूसरे शब्दों में, आचार-विज्ञान में हमारा सम्बन्ध शुभ संकल्प अथवा आदर्श व्यक्तित्व से होता है, न कि कर्म के प्रकार एवं क्रिया की व्याख्या से। जहां पर औचित्य नहीं है, वहां नैतिकता उपस्थित नहीं हो सकती। विकासवादी नैतिक सिद्धान्त व्याख्या पर बल देने के कारण औचित्य को कोई स्थान नहीं देते। अतः उनके सिद्धान्तों को हम आचार-विज्ञान में स्थान नहीं दे सकते।

यदि यह मान भी लिया जाए कि किसी नैतिक आदर्श को समाज द्वारा तभी शुभ मान लिया जाता है, जब वह स्थायी हो जाता है, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि उस आदर्श का शुभ होना उसकी सफलता पर ही निर्भर है। ऐलैग्ज़ाण्डर के दृष्टिकोण से कोई नवीन जीवन-शैली इसलिए शुभ प्रमाणित होती है कि वह संघर्ष में सफल हो जाती है। दूसरे शब्दों में, किसी आदर्श की सफलता उसके शुभ होने का चिह्न है। किन्तु यह धारणा निस्सन्देह एक भ्रान्त धारणा है। क्योंकि यदि ऐलैग्ज़ाण्डर से यह पूछा जाए कि वह कौन-सा लक्षण है, जोकि उसको शुभ बनाता है और नैतिक आदर्शों को वांछनीय बनाता है, तो वह (ऐलैग्ज़ाण्डर) यह उत्तर देगा कि शुभ का वह सामान्य लक्षण ऐसी जीवन-शैली है जोकि अस्तित्व की परिस्थितियों के अनुकूल होती है। दूसरे शब्दों में, वह समाज का सन्तुलन है। यदि यह पूछा जाए कि सामाजिक सन्तुलन क्यों वांछनीय है, तो विकासवादी इसका यह उत्तर देते हैं कि यह सन्तुलन जीवन के विकास के लिए उपयुक्त है। जीवन का विकास एक प्रक्रिया है जो पुनः प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का विषय है। यदि सामाजिक सन्तुलन को शुभ मान भी लिया जाए, तो वह पूर्ण शुभ नहीं होगा, अपितु एक प्रकार का शुभ होगा। इस प्रकार ऐलैग्ज़ाण्डर का विकासवादी दृष्टिकोण भी स्पेन्सर के दृष्टिकोण की भांति उद्देश्य एवं लक्ष्य को प्रधान न मानकर, केवल

व्याख्या को ही प्रधान मानता है।

हमने पहले भी निर्देश किया है कि आधुनिक अनुसन्धान ने जीवन को केवल प्राकृतिक क्रिया न मानकर उद्देश्यात्मक प्रक्रिया माना है। विकासवादियों की अपनी व्याख्या भी यह संकेत करती है कि विकासवाद उद्देश्यात्मक है। प्राणियों का सम्पूर्ण जीवन एक पूर्ण अनुकूलता प्राप्त करने का संघर्ष माना गया है। दूसरे शब्दों में, पूर्ण अनुकूलता एक ऐसा आदर्श है जो विकास की प्रक्रिया की व्याख्या करता है एवं उसका नियन्त्रण करता है। जब तक हम विकासवाद के उद्देश्यात्मक अंग की पूरी व्याख्या न करें, तब तक हम उसके अर्थ को नहीं समझ सकते। हम आगे चलकर यह देखेंगे कि हीगल जैसे दार्शनिकों ने समस्त जीवन की प्रक्रिया को ही नहीं, अपितु जड़ तथा चेतन सम्पूर्ण अस्तित्व-मात्र को उद्देश्यात्मक सृष्टि की उत्पत्ति माना है। एक क्षण के लिए यदि अन्य प्राणियों के जीवन को उद्देश्यात्मक न भी माना जाए, जहां तक मनुष्य के जीवन का सम्बन्ध है, हमें अनिवार्य रूप से उसकी नैतिकता को उद्देश्यात्मक दृष्टिकोण के अधीन करना पड़ता है।

विकासवादी नैतिक सिद्धान्त आचार-विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान बना देने की धुन में यह भूल जाते हैं कि आचार की विशेषता उसका मूलभूत आधार कर्तव्य ही है। ऐसे विचारक अपने सिद्धान्त में या तो कर्तव्य को स्थान ही नहीं देते या उसकी अस्पष्ट धारणा प्रस्तुत करते हैं। न ही केवल इतना, अपितु वे आचार-विज्ञान को कर्तव्य के बिना तथा सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के मूल्यों के बिना एक विचित्र विज्ञान बना देना चाहते हैं। आचार-विज्ञान को विशुद्ध वैज्ञानिक आधार देने की चेष्टा में एक अमरीकी वैज्ञानिक डाक्टर चांसी डी० लीक आचार-विज्ञान का नाम परिवर्तित करके उसे आचार के आधार का विज्ञान (Ethico-genesis) कहता है। उसके अनुसार, परम्परागत आचार-विज्ञान एक तत्त्वात्मक असंगतता है और रूढ़िवादी आदर्शवाद है। अतः आचार के अध्ययन में उसी व्याख्यात्मक विधि को अपनाना चाहिए, जो वैज्ञानिक खोज का लक्षण है और उसके द्वारा एक ऐसे प्राकृतिक नियम को ढूंढ़ निकालना चाहिए, जोकि मानवीय सम्बन्धों का आधार है। वैज्ञानिक विधि में उन अनुभवों का कोई स्थान नहीं हो सकता, जिनका निरीक्षण नहीं किया जा सकता और जिनपर प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतः मूल्यों को विज्ञान का विषय नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि वे केवल तत्त्वात्मक धारणाएं हैं। क्योंकि सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के निरपेक्ष और शाश्वत मूल्यों को व्याख्यात्मक विधि के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता, इसलिए मूल्यों की धारणा अवैज्ञानिक है। आचार-विज्ञान मूल्य-सम्बन्धी विज्ञान नहीं है, जिसका उद्देश्य शुभ को बाह्यगत मूल्य मानकर उसकी परिभाषा देना हो। इसके विपरीत, आचार-विज्ञान एक जीवन-सम्बन्धी विज्ञान है, जोकि अधिक व्यापक जीव-विज्ञान के अन्तर्गत है। लीक का कहना है कि जीव-विज्ञान के अनुसार यह बात स्पष्ट है कि किसी भी प्राणी अथवा प्राणियों की जाति के लिए, जीवन को बनाए रखना ही शुभ है। इस प्रकार लीक भी डार्विनवाद से सहमत है और यह स्वीकार करता है कि नैतिकता को समझने के लिए उस विकासवाद की व्याख्या आवश्यक है, जिसका

आधारभूत सिद्धान्त यह है कि जीवन की रक्षा वातावरण-सम्बन्धी परिस्थितियों से अनुकूलता द्वारा ही की जा सकती है।

स्पैन्सर ने आचार-विज्ञान को स्वभाववादी विज्ञान बनाने की चेष्टा नहीं की, यद्यपि उसके विकासवादी सिद्धान्त में यह धारणा निहित अवश्य है। लीक ने इस निहित धारणा को स्पष्ट करके आचार-विज्ञान की परिभाषा ही परिवर्तित कर दी है। उसके अनुसार, उस व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के, जो समरूपतापूर्वक अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों से अपने-आपको अनुकूलित करता है, जीवन की रक्षा की अधिक सम्भावना रहती है। विकासवाद के इस तथ्य के आधार पर नैतिकता के क्षेत्र में उसी व्यवहार को शुभ कहा जा सकता है जोकि वातावरण के प्रति सन्तुलित एवं समरूप (Harmonious) अनुकूलता में सहायक होता है। लीक इस सिद्धान्त को आचार-विज्ञान का सामंजस्य (Harmony) का सिद्धान्त कहता है। यही कारण है कि नैतिक नियम वांछनीय माने जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम करना इसलिए वांछनीय है कि इस प्रकार के व्यवहार द्वारा हम अपने-आपको सन्तुलित रूप से अपने वातावरण से अनुकूल बनाकर, अपने जीवन की रक्षा कर सकते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाए कि विकासवाद की, जीवन के लिए संघर्ष की धारणा नैतिकता के नियमों के विरुद्ध मनुष्य को अहिंसा की अपेक्षा हिंसा की ओर ले जाती है, तो लीक उत्तर देता है कि विकासवाद की यह आलोचना असंगत है। उसका कहना है कि डार्विन के विकासवाद का आचार-विज्ञान में महत्त्व यह है कि अरस्तू के द्वारा प्रस्तुत नैतिकता के सामंजस्य के सिद्धान्त को पुष्ट किया जाए। इस प्रकार नैतिक व्यवहार वह व्यवहार है जो अनुकूलता, मेल और समन्वय करनेवाला व्यवहार होता है और जो व्यक्तियों के परस्पर-सम्बन्ध में सन्तोष उत्पन्न करता है।

लीक के उपर्युक्त दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि उसने विकासवाद को आचार-विज्ञान का आधार मानकर, एक व्याख्यात्मक नैतिक नियम का प्रतिपादन किया है। उसकी यह धारणा है कि व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों के समुदायों में वे सम्बन्ध ही सम्भवतया अधिक समय तक स्थायी रह सकते हैं, जोकि उन व्यक्तियों अथवा समूहों के सह-अस्तित्व के लिए सन्तोषजनक होते हैं। इस प्रकार नैतिकता का नियम अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की भांति एक प्राकृतिक नियम है और चाहे हम इसे जानते हों या न जानते हों, यह स्वतः ही काम करता रहता है। इस नियम को स्वीकार करने का लाभ यही है कि हम इसका सदुपयोग करके अधिक कुशलता से व्यवहार कर सकते हैं।

लीक का यह सिद्धान्त परम्परागत नैतिकता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या देने की चेष्टा करता है। किन्तु यह व्याख्या भी एक अस्पष्ट व्याख्या है। यदि हम नैतिकता के इतिहास पर भी दृष्टि डालें, तो हम यह नहीं कह सकते कि किसी भी संस्कृति में त्याग की भावना और आदर्शों के लिए दुःख को सहन करने की प्रवृत्ति को अनैतिक स्वीकार किया गया है। लीक की भांति कुछ अन्य विचारकों ने भी मनुष्य के सम्पूर्ण व्यवहार की,

सुख-दुःख के अनुभव के आधार पर व्याख्या देने की चेष्टा की है। उनके अनुसार, सभ्य समुदायों में भी शुभ का अनुसरण इसलिए किया जाता था कि उसपर चलने से पारितोषिक की सम्भावना थी और उसपर न चलने से दण्ड मिलने का भय रहता था। इस प्रकार की व्याख्या मनुष्य के मूल्यात्मक अंग की अवहेलना करती है। मनुष्य केवल प्रकृति पर निर्भर रहनेवाला प्राणी नहीं है। उसका तर्क उसे प्राकृतिक स्तर से ऊपर उठाता है और उसमें आदर्श की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। मनुष्य की सामाजिक प्रगति का रहस्य केवल सुखद व्यवहार को अपनाने तथा दुःख से बचने की चेष्टा-मात्र में ही निहित नहीं है। इसके विपरीत उसका रहस्य मनुष्य में उपस्थित उस बौद्धिक शक्ति में है, जो उसे प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है। इसी विशेषता के कारण ही, मनुष्य अपने संकल्प को आदर्शों की प्राप्ति का साधन बनाता है। यदि मनुष्य की आदर्श को प्राप्त करने की प्रवृत्ति का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जा सकता, तो मनुष्य को कदापि विज्ञान का विषय भी नहीं बनाया जा सकता। यदि मनुष्य ब्रह्माण्ड के अन्य तथ्यों की भांति प्रकृति का एक अंग है और यदि मनुष्य के स्वभाव में आदर्श को प्राप्त करने की प्रेरणा एवं मूल्य की अनुभूति एक तथ्य है, तो मूल्यात्मक विज्ञान भी निश्चित रूप से उतना ही महत्त्वपूर्ण विज्ञान होना चाहिए, जितना कि कोई भी अन्य प्राकृतिक विज्ञान हो सकता है। अतः लीक तथा अन्य विकासवादियों की यह धारणा कि मूल्य का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जा सकता, एक असंगत धारणा है।

एक अन्य अमरीकी विचारक पैट्रिक रोमानेल ने भी वैज्ञानिक विधि को, केवल व्याख्यात्मक विधि स्वीकार करने की प्रवृत्ति का एक संकुचित प्रवृत्ति माना है। उसके अनुसार, वैज्ञानिक विधि का अर्थ केवल निरीक्षण और व्याख्या नहीं है। उस विधि में रचनात्मक कल्पना (Constructive imagination) का भी प्रयोग किया जाता है। हर प्रकार की वैज्ञानिक खोज में, चाहे वह खोज नैतिकता की भी क्यों न हो, रचनात्मक कल्पना का प्रयोग अवश्य किया जाता है। किन्तु स्वाभाववादी विज्ञानों में तथा आदर्शवादी विज्ञानों में अन्तर केवल दृष्टिकोण का ही रहता है, न कि विधि का। स्वभाववादी विज्ञानों में, उद्देश्य अस्तित्ववादी (Existential) होता है, जबकि आदर्शवादी विज्ञानों में उद्देश्य नियामक होता है। दूसरे शब्दों में, स्वभाववादी अथवा प्राकृतिक विज्ञान का सम्बन्ध वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप से होता है, जबकि आदर्शवादी विज्ञान का सम्बन्ध उनके औचित्य से होता है। अतः इन विज्ञानों का परस्पर अन्तर यह नहीं है कि स्वभाववादी विज्ञान व्याख्यात्मक विधि को अपनाते हैं और आदर्शवादी विज्ञान नियामक विधि को अपनाते हैं। इसके विपरीत उनमें भेद इस बात का है कि स्वभाववादी विज्ञानों का उद्देश्य व्याख्यात्मक होता है, जबकि आदर्शवादी विज्ञानों का उद्देश्य नियामक होता है। अतः आचार-विज्ञान को नियामक विज्ञान स्वीकार न करना और उसकी परिभाषा को बदलकर उसे केवल व्याख्यात्मक विज्ञान घोषित करना सर्वथा भ्रांत और असंगत है। यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि पश्चिमीय दार्शनिकों के दृष्टिकोण के अनुसार, दार्शनिक को

केवल एक वैज्ञानिक ही स्वीकार किया जाता है। दार्शनिक का उद्देश्य केवल सिद्धान्त को प्रतिपादन करना है। दर्शन और विज्ञान का भेद केवल इतना है कि जहां दर्शन सम्पूर्ण विश्व को जाननेकी चेष्टा करता है, वहां विज्ञान विश्व के आंशिक ज्ञान को लक्ष्य बनाता है। पश्चिमीय दर्शन की यह प्रवृत्ति ही विकासवादी नैतिकता जैसी भ्रान्त धारणाओं का मुख्य कारण है। किन्तु भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार, दर्शन का सम्बन्ध जीवन से है। उसका मुख्य उद्देश्य व्याख्यात्मक ज्ञान देना ही नहीं है, अपितु वास्तविकता की अनुभूति है। दूसरे शब्दों में, भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार दर्शन का अर्थ वास्तविकता से तादात्म्य एवं आत्मानुभूति स्वीकार किया गया है। यह अनुभूति निस्सन्देह व्यक्ति को उस ऊंचे स्तर पर पहुंचा देती है, जहां कि ज्ञाता और ज्ञेय अभिन्न हो जाते हैं और जहां सांसारिक सापेक्षताएं निरपेक्ष अनुभूति में विलीन हो जाती हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार, नैतिकता उस उच्चतम आत्मानुभूति का साधन है, जिसको प्राप्त करके व्यक्ति विज्ञान तथा नैतिकता दोनों से ऊपर उठ जाता है। अतः नैतिकता को पूर्ण से सम्बन्धित न करके, उसे आंशिक विज्ञान से सम्बन्धित करना आचार-विज्ञान के स्तर को नीचे की ओर ले जाना है। दर्शन की उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर और नैतिकता को आत्मानुभूति का साधन स्वीकार करने के पश्चात्, हम यह कह सकते हैं कि लीक ने आचार-विज्ञान के आधार को नष्ट करने की चेष्टा की है। उसने कोई नवीन नैतिक आधार प्रस्तुत नहीं किया।

लीक के सिद्धान्त की अपूर्णता और अस्पष्टता हमें इस बात को जानने के लिए प्रेरित करती है कि क्या पश्चिमीय आचार-विज्ञान में कोई ऐसा नैतिक सिद्धान्त भी है जो पूर्णता (Perfection) को नैतिकता का लक्ष्य मानता है। लीक इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता कि जीवन की रक्षा का क्या अर्थ है और वह क्यों वांछनीय है, क्योंकि वह मनुष्य में स्थित उस उच्चतम तत्त्व की अवहेलना करता है, जिसे विवेक (Reason) कहा गया है और जो जीवन के विकास की उच्चतम सीढ़ी स्वीकार की गई है। यदि जीवन का विकास विवेक एवं बुद्धि की उत्पत्ति का साधन सिद्ध हुआ है, तो क्या यह नहीं कहा जा सकता कि इस बुद्धि द्वारा निर्धारित मूल्य ही नैतिक लक्ष्य हो सकते हैं और नैतिकता का उद्देश्य सुख की प्राप्ति नहीं, अपितु आत्मानुभूति होना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर हमें पश्चिमीय दर्शन में ग्रीन के आत्मानुभूति के सिद्धान्त (Self-realization) में मिल सकता है।

आठवां अध्याय

पूर्णवादी नैतिक सिद्धान्त

(Perfectionism as the Standard of Morality)

हमने पिछले अध्याय में विकासवादी नैतिक सिद्धान्तों की अपूर्णता का निरीक्षण किया है। इस अपूर्णता का मुख्य कारण प्रकृति तथा जीवन को केवल तथ्य मानकर विकासवाद को एक निरुद्देश्य यान्त्रिक प्रक्रिया स्वीकार करना है। ऐसी धारणाओं को प्रस्तुत करनेवाले विचारक मनुष्य की विचारशीलता की अवहेलना करके, उसकी उत्कृष्ट रचनात्मक तथा कलात्मक मानसिक शक्ति के महत्त्व को ही कम नहीं करते, अपितु विचार को प्रकृति से पृथक् करके, विकास की प्रक्रिया की भ्रान्त धारणा प्रस्तुत करते हैं। हमने पहले भी कहा है कि यदि विकास एक निरन्तर प्रक्रिया है और उस निरन्तरता में मनुष्य की विवेकशक्ति और उसकी रचनात्मक कल्पना की उत्पत्ति सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के शाश्वत मूल्य, उसी शक्ति की देन हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि विकास एक निरुद्देश्य प्रक्रिया नहीं है। विकास का उद्देश्य प्रगति है और वह प्रगति जड़ से चेतन और चेतन से आत्मचेतन की ओर अग्रसर होती हुई दिखाई दे रही है। अतः हम विकासवाद से जो प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं, वह यह है कि मनुष्य अपने में स्थित, विवेक के उच्चतम तत्त्व का प्रयोग करके पूर्णत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करे। यह पूर्णत्व निस्सन्देह उसकी आत्मानुभूति ही होगी, क्योंकि आत्मचेतना ही विकास की प्रक्रिया का उद्देश्य प्रमाणित होता है। इस प्रकार का नैतिक सिद्धान्त श्री टी० एच० ग्रीन ने प्रस्तुत किया है। किन्तु इस सिद्धान्त की व्याख्या करने से पूर्व उस पृष्ठभूमि का उल्लेख करना आवश्यक है, जिस-पर कि यह सिद्धान्त आधारित है।

ग्रीन का आत्मानुभूति का सिद्धान्त प्रत्ययवाद (Idealism) की उस धारणा की उत्पत्ति है, जो विश्व के विकास को एक चेतनात्मक एवं आध्यात्मिक विकास मानता है और जो चेतना को ही विश्वव्यापी तत्त्व स्वीकार करता है। इस विश्वव्यापी प्रत्ययवाद (Objective Idealism) का निर्माता विख्यात जर्मन दार्शनिक हीगल है। हीगल का दर्शन पश्चिमीय दर्शन के इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। उसके प्रत्ययवाद ने दर्शन में दो मुख्य धारणाओं को जन्म दिया है। एक विचारधारा तो हीगल के प्रत्ययवाद का ही नवीन रूप है और उसे नवीन हीगलवाद कहा जाता है, दूसरी विचारधारा कार्ल मार्क्स का तर्कात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है। नवीन हीगलवाद

के समर्थक टी० एच० ग्रीन, एफ० एच० ब्रैडले तथा बी० बौन्साके आदि हुए हैं। यहां पर मार्क्सवादी सिद्धान्त की व्याख्या का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः हम हीगल के दृष्टिकोण की संक्षिप्त व्याख्या नवीन हीगलवाद के प्रकरण की दृष्टि से करेंगे।

हीगल के अनुसार मनुष्य उस आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया की सर्वश्रेष्ठ उत्पत्ति है, जोकि विश्व की प्रक्रिया में निहित है। उसके अनुसार सत्-मात्र, मनुष्य के विचार की भांति, एक विकासात्मक पूर्ण है। जिस प्रकार हमारे विचार में विकास और गति होती है और उसमें प्रथम विचार एक धारणा प्रस्तुत करता है, दूसरा विचार उसका विरोध करता है और तीसरा विचार दोनों का समन्वय करता है, ठीक उसी प्रकार विषयगत जगत् में विरोधी तत्त्वों का समन्वय होता है। हीगल के अनुसार, एक विश्व-व्यापी विचार ही अपने-आपको विश्व के विकास में अभिव्यक्त कर रहा है। सत् एक तर्कात्मक प्रक्रिया है, जिसका अर्थ और उद्देश्य है। यह अव्यवस्थित और अर्थहीन घटना नहीं है, अपितु एक व्यवस्थित विकास एवं प्रगति है। हीगल ने एक विश्वव्यापी आत्मा अथवा ईश्वर को ही वह व्यापक विचार माना है, जोकि विश्व की निहित शक्ति है और ऐसा समयातीत सम्पूर्ण है, जिसमें विकास की सभी क्षमताएं उपस्थित हैं। यह विचार रचनात्मक तर्क है, जो जड़-जगत् में सुप्त अवस्था में है, वनस्पति-जगत् में अर्धचेतन है, प्राणियों में चेतनावस्था में है और मनुष्य में आत्मचेतन हो जाता है। समयातीत सम्पूर्ण अथवा तर्क, समय और स्थान के अन्तर्गत विभिन्न स्तरों से गुज़रता हुआ विकास को प्राप्त होता है। अतः विश्वव्यापी चेतना एक क्रम से ही विकसित होती है।

यह आत्मा अथवा विश्वव्यापी तर्क न ही केवल प्रकृति के विकास में अपने-आपको व्यक्त करता है, किन्तु मानवीय संस्थाओं में, इतिहास में, सत् एवं नियम में, नैतिकता अथवा अन्तःकरण में तथा परम्परा अथवा नैतिक रीति-रिवाजों में भी अभि-व्यक्त होता है। इन संस्थाओं तथा इतिहास में यह तर्क अपने-आपको अनुभूत करता है और अव्यक्त से व्यक्त होता है। इसी दृष्टि से इसको जगद्व्यापी तर्क कहा जाता है। जिस तर्क अथवा विचार ने मानवीय संस्थाओं को जन्म दिया है, वही तर्क है जो उनको सम-झने की चेष्टा करता है। वह तर्क जिसने कि अनायास विधान, परम्परा तथा राज्य का विकास किया है, वही सत् के दर्शन में स्थित प्रक्रिया के प्रति चैतन्य होता है। दर्शन का उद्देश्य यह बताना है कि तर्कात्मक संस्थाएं किस प्रकार सत् अथवा न्याय के स्वरूप की धारणा से विकसित होती हैं। जगद्व्यापी तर्क, ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तियों के समाज में अनु-भूत होता है, जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति अपने समुदाय के विधान तथा रीतियों को अपने संकल्प पर लागू करता है। ऐसे समाज में व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अन्तःकरण को जगद्-व्यापी तर्क के अधीन करता है। वह अपनी विश्वव्यापी तथा यथार्थ आत्मा को अपने समुदाय के रीति-रिवाजों एवं नैतिक परम्पराओं में अभिव्यक्त-अनुभूत करता है। आत्म-चेतन व्यक्तियों के समुदाय में नैतिक जाग्रति का विकास क्रियात्मक तर्क के विकास का परिणाम है। समाज में अनेक अनुभवों के प्राप्त करने के पश्चात्, व्यक्ति यह सीखता है

कि जगद्व्यापी उद्देश्य का संकल्प करने में, वह अपना संकल्प कर रहा है और वह इस प्रकार स्वतन्त्र है। वास्तविकता और आदर्श यहां एक हो जाते हैं। व्यक्तिगत तर्क जगद्-व्यापी तर्क को अपना स्वीकार कर लेता है। व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत भावना को त्याग देता है और व्यक्तिगत तर्क को उस जगद्व्यापी तर्क के अधीन कर देता है, जोकि समुदाय की चेतना में अथवा राष्ट्रीय मन में अपने-आपको अभिव्यक्त करता है। यही संस्थागत नैतिकता है।

इस प्रकार हीगल के अनुसार, मानवीय इतिहास को एक ऐसी क्रमिक प्रक्रिया स्वीकार किया गया है, जोकि एक पूर्ण प्रकार की ऐसी आत्मचेतना की ओर अग्रसर हो रही है, जोकि परम सत्य की अनुभूति है। हीगल के इन विचारों का समर्थन अनेक विद्वानों ने किया है। जैसाकि हमने ऊपर कहा है, एफ० एच० ब्रैडले और टी० एच० ग्रीन ऐसे हीगल के समर्थकों में से दो मुख्य विचारक हैं। इन्होंने सर्वप्रथम अंग्रेज़ी भाषा में हीगल के दृष्टि-कोण को प्रस्तुत किया है। ब्रैडले की पुस्तक 'नैतिक अध्ययन' (Ethical Studies) ऐसी प्रथम पुस्तक थी, जिसके द्वारा अंग्रेज़ी भाषा में हीगल के विचारों को अभिव्यक्त किया गया है। किन्तु ग्रीन का दृष्टिकोण अधिक सरल और स्पष्ट है, यद्यपि वह भी हीगल के विचारों से प्रभावित है। यह तो सत्य है कि ब्रैडले ने सर्वप्रथम आत्मानुभूति के सिद्धान्त की व्याख्या की है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से तथा सरलता की दृष्टि से ग्रीन के नैतिक सिद्धान्त को ब्रैडले के सिद्धान्त की अपेक्षा पहले प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

ग्रीन का दृष्टिकोण

इससे पूर्व कि हम ग्रीन के नैतिक सिद्धान्त की व्याख्या करें, उसकी तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी धारणाओं पर प्रकाश डालना इसलिए आवश्यक है कि ये धारणाएं इस प्रश्न का उत्तर देने में सहायक होती हैं कि मनुष्य का प्रकृति में क्या स्थान है। जब तक हम इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते, तब तक हम उसके व्यवहार के आदर्श को निर्धारित नहीं कर सकते। ग्रीन के अनुसार, प्रकृति विविध है, किन्तु फिर भी उसमें एकत्व है। अतः प्रकृति को समझने के लिए हमें आत्मचेतना का उदाहरण देना चाहिए। जिस प्रकार आत्म-चेतना बुद्धियुक्त प्रक्रिया है, उसी प्रकार विश्व, सम्बन्धित तथ्यों का एक व्यवस्थित आध्यात्मिक समन्वय है, जो एक शाश्वत बुद्धि पर आधारित होने के कारण सम्भव है। विश्व का अस्तित्व इस बात को प्रमाणित करता है कि संसार में इस प्रकार का एकत्व उत्पन्न करनेवाली चेतना का अस्तित्व है। उसके स्वरूप को जानने का एकमात्र उपाय, हममें उपस्थित उस चेतना की क्रिया का आश्रय लेना है। वह क्रिया हमें विश्व तथा एक नैतिक आदर्श का ज्ञान देती है।

अतः मनुष्य विश्व में एक विशेष स्थान इसलिए रखता है कि वह एक ज्ञान का अनुभव करनेवाला आत्मचेतन सत् है, एवं एक स्वतन्त्र क्रिया है। वह ऐसी क्रिया है, जो समय में स्थित नहीं है, जो प्राकृतिक विकास की शृंखला की कड़ी नहीं है, जिसका अपने

से अतिरिक्त पूर्व अंग एवं कारण नहीं है। ग्रीन के अनुसार आत्मचेतना का कोई आरम्भ नहीं; क्योंकि हम ऐसे समय की ओर संकेत नहीं कर सकते, जबकि आत्मचेतना का अस्तित्व नहीं था। हमारे मस्तिष्क तथा स्नायुओं की सब प्रक्रियाएं, हमारे जीवन की सब क्रियाएं तथा संवेदनाएं और हमारे मानसिक इतिहास में उपस्थित तथ्यों की शृंखला—सभी विश्व-व्यापी चेतना से निर्मित हुए हैं। किन्तु मानवीय चेतना स्वयं इसलिए विश्वव्यापी मन की पुनरावृत्ति स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि वह समन्वयात्मक है और स्वयम्भू है। इस प्रकार मनुष्य की चेतना विश्वव्यापी चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम है। हम विकास-वाद को स्वीकार करते हुए भी इस धारणा को पुष्ट कर सकते हैं। मनुष्य का शरीर सम्भवतया अन्य प्राणियों के शरीर से विकसित हुआ है और प्राणियों का विकास भी धीरे-धीरे असंख्य स्तरों से गुज़रता हुआ माना जा सकता है। किन्तु मूलभूत आध्यात्मिक आधार की स्वीकृति विकास की धारणा से अप्रमाणित नहीं होती, क्योंकि विश्व का समस्त विकास शाश्वत और विश्वव्यापी आत्मचेतना की अभिव्यक्ति है।

आत्मचेतना की यह विकासात्मक अभिव्यक्ति मनुष्य के ज्ञान की विशेषता से प्रमाणित होती है; क्योंकि मनुष्य का ज्ञान केवल संवेदनात्मक न होकर संवेदनाओं द्वारा प्राप्त एक व्यवस्थित प्रक्रिया है, जो आत्मा एवं कर्ता के बिना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार ज्ञान का अनुभव ज्ञाता के बिना नहीं हो सकता, उसी प्रकार जीवन-सम्बन्धी आवश्य-कताएं तथा मूल प्रवृत्तियां-मात्र, मानवीय कर्म नहीं हो सकतीं। मानवीय कर्म, कर्ता पर निर्भर रहता है। अतः वह सदैव उद्देश्यात्मक होता है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि मानवीय प्रक्रियाएं इसलिए विशेष प्रकार की प्रक्रियाएं होती हैं कि उनमें आत्मचेतना होती है। आत्मा हमारे ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक व्यवहार को विशेष प्रकार का व्यवहार बना देती है। यह आध्यात्मिक तत्त्व ही तर्कात्मक तत्त्व है।

ग्रीन ने अपने विकासवादी दृष्टिकोण पर आधारित नैतिक सिद्धान्त को अपनी महान कृति Prolegomena to Ethics में अभिव्यक्त किया है। क्योंकि मनुष्य विकास की सर्वोत्तम कृति है और मनुष्य में तर्क एवं आत्मिक तत्त्व ही मूल तत्त्व है, इस-लिए उसकी सभी क्रियाएं अन्य प्राणियों की क्रियाओं की अपेक्षा उत्कृष्ट होती हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसमें पाशवी प्रवृत्तियां उपस्थित नहीं हैं। वे प्रवृत्तियां मनुष्य में उदात्त रूप धारण कर लेती हैं। मनुष्य में पशुओं की भांति मूल प्रवृत्तियां हैं, संवेदनाएं हैं तथा मानसिक प्रतिमाएं भी हैं, किन्तु ये और अन्य सभी प्रवृत्तियां मनुष्य में तर्क के कारण परिवर्तित रूप में उपस्थित होती हैं। उसकी मूल प्रवृत्तियां केवल मूल प्रवृत्तियां नहीं हैं, अपितु वे तर्क के प्रभाव के कारण उद्देश्यात्मक इच्छाएं बन जाती हैं। इसी प्रकार उसकी संवेदनाएं सरल ज्ञानात्मक संवेदनाएं-मात्र ही नहीं हैं, अपितु वे अर्थपूर्ण होने के कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान बन जाती हैं। इन सभी परिवर्तनों का कारण यह है कि मनुष्य तर्कात्मक आत्मचेतन और आत्मिक प्राणी है। मनुष्य के स्वभाव की यह विशेषता एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

जैसाकि हमने ऊपर कहा है, जो तर्कात्मक तत्त्व एवं विश्वव्यापी आत्मचेतना मनुष्य में उत्कृष्ट रूप में उपस्थित है, वही सम्पूर्ण जगत् में अभिव्यक्त हो रही है। इस प्रकार जड़-जगत् में तथा जीव-जगत् में यह तर्क उपस्थित तो अवश्य है, किन्तु वह उपस्थिति अव्यक्त है। दूसरे शब्दों में, विश्वव्यापी आत्मचेतना मनुष्य से अतिरिक्त अन्य सभी तथ्यों में अपूर्ण रूप से उपस्थित है। मनुष्य में वह स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है और इसलिए मनुष्य के जीवन में नैतिकता का महत्त्व यह है कि वह इस आधारभूत तत्त्व को अधिक से अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा कर सकता है। ग्रीन के अनुसार, मनुष्य का कर्तव्य अपने तर्कात्मक आत्मचेतन आत्मिक स्वभाव को अधिक से अधिक स्पष्ट बनाना एवं अनुभूत करना है।

ग्रीन का यह दृष्टिकोण विकासवाद को एक शोधित रूप दे देता है। विकास तथा नैतिकता का उद्देश्य एवं लक्ष्य विश्वव्यापी चेतना एवं तर्क की पूर्ण अभिव्यक्ति है। यह तर्क विश्व में विभिन्न स्तरों से गुज़रता हुआ मनुष्य के व्यक्तित्व में पूर्णतया अभिव्यक्त होता है, किन्तु मनुष्य में तर्क के अतिरिक्त उसका पाशवी स्वभाव भी उपस्थित रहता है। इस प्रकार मनुष्य विशुद्ध रूप से तर्कात्मक नहीं माना जा सकता और न ही ग्रीन ने ऐसा स्वीकार किया है। मनुष्य में अभी तक तर्कात्मक स्वभाव काफी सीमा तक विकसित हो चुका है। उसकी पाशवी प्रवृत्तियां तर्क के कारण परिवर्तित और शुद्ध हो चुकी हैं, किन्तु उसमें अब भी अनेक ऐसी प्रेरणाएं हैं, जो उसे पशुओं की भांति मूल प्रवृत्तियों की तृप्ति की ओर प्रेरित करती हैं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य के स्वभाव के दो स्तर हैं : एक तर्कात्मक और दूसरा तर्केतर पाशवी स्तर। इस अवस्था में, ग्रीन के अनुसार, इच्छाओं की तृप्ति, जिसका सम्बन्ध मनुष्य के न्यून स्तर से है, पूर्णतया बहिष्कृत नहीं की जा सकती, किन्तु उसे मनुष्य के उत्कृष्ट स्तर एवं तर्कात्मक अंग के अधीन किया जा सकता है। मैकन्ज़ी ने भी ग्रीन के इस दृष्टिकोण को पुष्ट किया है और उसने इस सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य के इस वास्तविक व्यक्तित्व एवं स्तर की धारणा को प्रतिपादित किया है, जिसकी अनुभूति को ग्रीन की आत्मानुभूति कहा जा सकता है।

ग्रीन के दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्ति का वही अंग एवं स्तर उच्चतम है, जो पूर्णतया तर्कात्मक है। मैकन्ज़ी इसी दृष्टिकोण की पुष्टि अपनी इच्छाओं के मण्डल की धारणा के प्रकरण में करता है।[1] उसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य में अनेक इच्छाओं के मण्डल एवं इच्छाओं के क्षेत्र होते हैं, जिनके अनुसार वह व्यवहार करता है। इनमें से कुछ मण्डल ऐसे होते हैं, जिनमें कि वह कुछ क्षणों के लिए ही व्यवहार करता है और कुछ ऐसे होते हैं, जिनके प्रभाव में वह अधिकतर स्वच्छन्द व्यवहार करता है। उनमें से कुछ मण्डल ऐसे होते हैं, जिनमें किसी प्रकार का स्थायी सन्तोष प्राप्त नहीं होता। विषय-भोग आदि एवं पाशवी प्रेरणाओं की तृप्ति के मण्डल को इसी प्रकार का क्षेत्र माना जा सकता है। यहां पर मैकन्ज़ी का दृष्टिकोण भगवद्गीता के उस दृष्टिकोण के सदृश प्रतीत होता है, जिसके

१. Ref. A Manual of Ethics by J. S. Mackenzie, Pages 213--215.

अनुसार शीत-उष्ण, सुख-दु:ख आदि को क्षणिक और अनित्य माना गया है। इन विभिन्न इच्छाओं के मण्डलों में से केवल उसी मण्डल को मनुष्य का चरित्र एवं उसका व्यक्तित्व स्वीकार किया जाता है, जोकि सबसे अधिक स्थायी होता है और जिसके आधिपत्य में वह स्वच्छन्दता से व्यवहार करता है। यदि वह किसी आकस्मिक प्रेरणा अथवा प्रलोभन के कारण इन इच्छाओं के मण्डल से निकलकर किसी अन्य मण्डल से प्रभावित होकर अनायास ऐसा कर्म कर देता है, जोकि उसके चरित्र से मेल नहीं खाता, तो वह प्राय: ऐसे आकस्मिक कर्मों का अपने-आपको उत्तरदायी स्वीकार नहीं करता। उसकी यह धारणा होती है कि इस प्रकार भावावेश में कर्म करते हुए वह अपने-आपमें नहीं था एवं वह अपनी प्रधान इच्छाओं के क्षेत्र में नहीं था।

इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ऐसे स्थायी इच्छाओं के मण्डल की आवश्यकता है, जिसमें कि वह निरंतर रहे और वह मण्डल इतना दृढ़ होना चाहिए, जोकि उस व्यक्ति की भावावेश से रक्षा करे। ऐसा यथार्थ और स्थायी सन्तोष देनेवाला इच्छाओं का मण्डल, जोकि सर्वोत्तम और सबसे उत्कृष्ट माना जा सकता है, वही तर्कात्मक व्यक्तित्व है, जिसको कि ग्रीन ने मनुष्य का आत्मिक अंग कहा है। यह हमारा वही क्षेत्र एवं दृष्टिकोण है, जिसको कि हम गम्भीर चिन्तन तथा अन्तर्दृष्टि के समय अपनाते हैं। इस प्रकार के मण्डल में कौन-कौन-से तत्त्व होंगे, इस बात पर पूरा प्रकाश डालना कठिन है। तर्कात्मक अन्तर्दृष्टि के मण्डल की सामग्री वास्तव में इतनी विस्तृत है, जितना कि तथ्यों का जगत् होता है। अत: उस मण्डल में पूर्ण रूप से जीवन व्यतीत करने का अर्थ उस विश्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है, जिसमें कि हम रहते हैं और जिससे हम सम्बन्धित हैं। इस प्रकार के आधार पर ही निरन्तर कर्म करना पूर्णता के आदर्श के अनुसार कर्म करना माना जाएगा। अत: नैतिक जीवन का उद्देश्य अपने-आपको पूरी तरह पहचानना एवं आत्मानुभूति है।

मैकन्ज़ी का यह विचार है कि ग्रीन का यह दृष्टिकोण कांट के सिद्धांत का स्पष्टीकरण करता है, क्योंकि यह भी तर्क को ही उच्चतम तत्त्व स्वीकार करता है। जहां पर कांट यह प्रतिपादित करता है कि तर्क पर आधारित व्यवहार वही होता है, जो आत्मसंगत होता है और ऐसे व्यवहार को ही उसने नैतिक स्वीकार किया है, वहां ग्रीन तर्कात्मक स्तर की अनुभूति को तो नैतिकता का लक्ष्य मानता है और उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तर्कपूर्ण व्यवहार को साधन मानता है। कांट का कहना है कि नैतिक बनने के लिए हमें आत्मसंगत होना चाहिए। किन्तु उसकी यह धारणा तर्क को एक अमूर्त अर्थ देती है और आत्मसंगतता (Self-consistency) को केवल आकार-मात्र बनाकर रह जाती है। यदि ग्रीन के दृष्टिकोण को अपनाया जाए, तो हमारा व्यवहार ऐसा होना चाहिए जोकि हमारे व्यक्तित्व एवं आत्मा के अनुरूप (Consistent with the self) हो और यह व्यक्तित्व तथा आत्मा यथार्थ आत्मा एवं तर्कात्मक स्तर ही होना चाहिए। इस प्रकार ग्रीन का सिद्धान्त कांट के आकार को सामग्री प्रदान करने की चेष्टा करता है।

ग्रीन के सिद्धान्त की उपर्युक्त प्रशंसा का अर्थ यह नहीं कि आत्मानुभूति का आदर्श शत-प्रतिशत यथार्थ और व्यावहारिक है। ऐसा प्रतीत अवश्य होता है कि तर्कात्मक आकार में इच्छाओं की तृप्ति को एक व्यवस्था देकर ठोस सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है। किन्तु ग्रीन आत्मा की पूरी व्याख्या नहीं कर पाता और यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाता कि उच्चतम व्यक्तित्व का स्तर अथवा तर्कात्मक स्तर के कौन-से ऐसे लक्षण हैं, जो उसे ठोस रूप देते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत आत्मा को उच्चतम स्तर मान ले, चाहे उसकी व्यक्तिगत आत्मा कांट के व्यक्तित्व की भांति उत्कृष्ट भी क्यों न हो, उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि उसके दृष्टिकोण पर आधारित व्यवहार न्यायपूर्ण होगा अथवा सब प्राणियों के कल्याण के लिए होगा। किसी भी नैतिक सिद्धांत को उस समय तक निरपेक्ष नहीं माना जा सकता, जब तक कि उसमें व्यक्तिगत सुख और सामूहिक सुख का सुन्दर समन्वय न हो और जब तक वह व्यवहार में उतारा जाकर उपयोगी सिद्ध न होता हो। पश्चिमीय दर्शन के क्षेत्र में कठिनाई की उत्पत्ति का मूल कारण यह है कि इसमें तत्त्व-मीमांसा को व्यवहार से पृथक् रखा जाता है और यह समझा जाता है कि तात्त्विक सिद्धान्त का नैतिक जीवन से सीधा सम्बन्ध नहीं हो सकता। यही कारण है कि ग्रीन के आत्मानुभूति के सिद्धान्त में उच्चतम आत्मा को साक्षेप अनुभव पर आधारित तर्कात्मक आत्मा माना गया है। यह आत्मानुभूति वास्तव में पूर्णवाद न होकर एक सापेक्ष सिद्धान्त ही रह जाता है। हम पश्चिमीय नैतिकता की इस सापेक्षता का उल्लेख यथास्थान करेंगे। यहां इतना कह देना पर्याप्त है कि ग्रीन का आत्मानुभूति का सिद्धान्त एक प्रकार का अहंवाद (Egoism) होकर ही रह जाता है।

भारतीय दर्शन में हमें इस सापेक्षता का प्रतिकार मोक्ष की उस धारणा में मिलता है, जिसमें सिद्धान्त तथा व्यवहार, तर्क तथा आनन्द, तत्त्वात्मक दृष्टिकोण तथा नैतिकता का सुन्दर समन्वय मिलता है। जैसाकि हमने पहले भी संकेत किया है, भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार, मोक्ष जीवन का ऐसा चरम लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है। मोक्ष की यह अनुभवात्मक अवस्था जीवन्मुक्ति के नाम से पुकारी गई है। व्यक्ति इस अवस्था में तभी पहुंच सकता है, जब वह विशेष आध्यात्मिक अनुशासन और संयम के द्वारा विश्व की सापेक्षताओं से ऊपर उठ जाता है। भगवद्गीता में जीवन्मुक्त व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति वह है, जो सुख-दुःख, शीत-उष्ण, जय-पराजय, लाभ-हानि, निन्दा-स्तुति आदि परस्पर-विरोधी अनुभवों से ऊपर उठ जाता है। जो व्यक्ति दुःख की अवस्था में उद्विग्न मनवाला नहीं होता, जो सुख की अवस्था में प्रफुल्लित नहीं होता और जो राग, भय, क्रोध आदि संवेगों से असंस्पृष्ट होता है, वही व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है। ऐसा व्यक्ति एक समुद्र की भांति दृढ़ और अविचल चरित्रवाला होता है। जिस प्रकार मर्यादित समुद्र में अनेक नदियों के जल समा जाते हैं, किन्तु उस अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र को अपनी मर्यादा से विचलित नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार जिस मनुष्य का व्यक्तित्व एवं आत्मा सुदृढ़, सुनिश्चित और स्थिर है

और जिसमें सभी इच्छाएं और कामनाएं समाविष्ट होती हैं, किन्तु उसे विचलित नहीं कर सकतीं, वही व्यक्ति परम शांति को प्राप्त कर सकता है, न कि इच्छाओं को निरंकुश रूप से तृप्त करनेवाला व्यक्ति ऐसा कर सकता है।

स्थितप्रज्ञ की उपर्युक्त धारणा से यह स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए एक कड़े अनुशासन की आवश्यकता है, किन्तु वह अनुशासन व्यक्तित्व को अमूर्त नहीं बनाता, अपितु उसमें उदारता, जन-कल्याण की भावना, समदृष्टि, दया, अनुकम्पा आदि मूल्यों की सामग्री भरकर, उसे एक ठोस आकार बना देता है और उसे जनसाधारण के स्तर से ऊपर उठाकर एक असाधारण स्तर पर पहुंचा देता है, जिसको प्राप्त करके वह मनुष्य सभी प्रकार की सापेक्षताओं से ऊपर उठकर, अपने-आपमें तुष्टि प्राप्त करता है और इस प्रकार पूर्णत्व का अनुभव करता है। यह पूर्णत्व, जीवन में ही प्राप्त होने के कारण एक व्यावहारिक अनुभवात्मक और वास्तविक अवस्था सिद्ध होता है। किन्तु इसके साथ ही साथ यह धारणा इस विश्वास पर आधारित है कि व्यक्तिगत आत्मा वास्तव में उस पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, जो ब्रह्माण्ड में व्याप्त है।

मोक्ष की यह धारणा, जोकि उपनिषदों के दर्शन से उपलब्ध होती है, निस्सन्देह पूर्णत्व की धारणा है जो इस प्रकार अभिव्यक्त की गई है :

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।"

अर्थात् "विश्वव्यापी सत्ता ब्रह्म पूर्ण है। यह व्यक्तिगत आत्मा भी पूर्ण है, क्योंकि वह पूर्ण से उत्पन्न हुई है। उस पूर्ण के इस आंशिक व्यक्तिगत पूर्ण (आत्मा) का ज्ञान प्राप्त करने से, उस विश्वव्यापी पूर्ण का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।" यहां पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भारतीय दर्शन में ज्ञान का अर्थ अनुभूति होता है, इसलिए उपनिषदों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" अर्थात् "ब्रह्म को जाननेवाला स्वयं ब्रह्म ही है।" उपनिषदों के अनुसार, ब्रह्माण्ड में ब्रह्म ही व्याप्त है। संसार की सभी वस्तुएं, जड़-चेतन व आत्मचेतन सृष्टि ब्रह्म ही से उत्पन्न होती है, ब्रह्म ही के द्वारा विकसित होती है और पुनः ब्रह्म में ही विलीन हो जाती है। इस शाश्वत सत्, चित्, आनन्द, निरपेक्ष सत्ता की अनुभूति केवल मानव ही कर सकता है, क्योंकि मानव में यह पूर्णत्व निहित है। भारतीय दर्शन स्पष्ट रूप से यह घोषित करता है, "न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि लोके।" अर्थात् "ब्रह्माण्ड में मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ कोई भी वस्तु नहीं है।" मोक्ष की अवस्था में मनुष्य की अव्यक्त शक्तियां व्यक्त होजाती हैं। उसमें निहित ज्ञान, भाव तथा संकल्प आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्त शक्ति में परिवर्तित हो जाते हैं।

इस प्रकार के मोक्ष की प्राप्ति ही भारतीय दर्शन में जीवन का चरम लक्ष्य एवं परम श्रेयस् स्वीकार किया गया है। इसको प्राप्त करके भी मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करता रहता है और समाज का उपयोगी अंग बना रहता है। इसी जीवन्मुक्त अवस्था की भगवद्गीता के सम्बन्ध में व्याख्या करते हुए श्रीमती ऐनीबेसेण्ट ने लिखा है,

"इसका उद्देश्य मुमुक्षु को त्याग के छोटे स्तर से उठाकर उस उच्चतम शिखर पर पहुंचाना है, जहां पर उसकी इच्छाएं स्वयं तृप्त हो जाती हैं और जहां पर योगी गहन समाधि की अवस्था में स्थित हो जाता है, जबकि उसका शरीर तथा मन उन कर्तव्यों का पालन करने में संलग्न रहते हैं, जोकि कर्मानुसार उसे प्राप्त होते हैं।"[1] इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन पर आधारित आत्मानुभूति का सिद्धान्त, ग्रीन के आत्मानुभूति के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और संगत है। केवल ऐसा सिद्धान्त ही पश्चिमीय नैतिक सिद्धान्तों की सापेक्षता का निराकरण कर सकता है। इससे पूर्व कि हम मोक्ष की धारणा के आधार पर भारतीय नैतिक सिद्धान्त की निरपेक्षता के महत्त्व को सिद्ध करें, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम एफ० एच० ब्रैडले के आत्मानुभूति के सिद्धान्त की भी संक्षिप्त व्याख्या करें, क्योंकि ब्रैडले ने यह स्वीकार किया है कि पश्चिमीय नैतिकता की धारणा सापेक्ष है और मानव की अपूर्णता की ओर निर्देश करती है।

ब्रैडले का आत्मानुभूति का सिद्धान्त

ब्रैडले का आत्मानुभूति का सिद्धान्त इस प्रश्न का उत्तर है कि हमें नैतिक क्यों होना चाहिए ; अर्थात् नैतिकता का क्या उपयोग है। ब्रैडले इसका उत्तर देते हुए यह कहता है कि नैतिकता का एकमात्र उद्देश्य आत्मानुभूति (Self-realization) है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अंग्रेज़ी भाषा में आत्मा के पर्यायवाची 'सैल्फ' (Self) का क्या अर्थ है, अनुभूत करने का क्या अर्थ है। इन दोनों का उत्तर हमें नैतिकता की व्याख्या में स्वयं मिल जाता है। नैतिकता में वह कर्म, जोकि किया जाना है और मेरे द्वारा ही किए जाने की प्रक्रिया, दोनों निहित रहते हैं। यदि किए जाने-वाले कर्म को उद्देश्य और मेरे द्वारा की गई प्रक्रिया को साधन मान लिया जाए, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि यह साधन और साध्य एक-दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। नैतिक चेतना में ये दोनों अंग इस प्रकार अभिन्न रहते हैं कि यदि इन दोनों का स्थानान्तर भी किया जाए, तब भी नैतिक चेतना के स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नैतिकता के लिए उद्देश्य में कर्म निहित रहता है और कर्म में आत्मानुभूति निहित रहती है। यदि इसमें कोई सन्देह हो, तो इसको सुख की उस भावना के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है, जोकि कर्म के पूर्ण होने पर स्वतः उत्पन्न होती है। यदि सुख आत्मा का भाव है और कर्म के साथ घटित होता है, तो इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म को प्रस्तुत करना अपने-आपको प्रस्तुत करना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी कर्म को करने के पश्चात् जो हमें सुख प्राप्त होता है, वह कोई बाह्यात्मक तत्त्व नहीं होता

---

१. "It is meant to lift the aspirant, from the lower levels of renunciation to the loftier heights, where the desires are dead, and where the yogi lives in deep contemplation, while his body and mind are engaged in discharging the duties that fall to his lot in life."

और अपने-आपमें कुछ मूल्य नहीं रखता। वह सुख इसलिए प्रतीत होता है कि वह कर्म करनेवाले व्यक्ति के लिए सुखद होता है। अतः सुख को अनुभूत करते हुए हम अपनी ही अनुभूति करते हैं। ब्रैडले का कहना है कि न ही केवल सुख, अपितु प्रत्येक अनुभव व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है। इसलिए ब्रैडले के सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता इसीमें है कि हम कर्म करते समय पूर्ण रूप से आत्मानुभूति को ही लक्ष्य बनाएं।

कांट के दृष्टिकोण में त्रुटि यह है कि वह एक अमूर्त संकल्प को ही नैतिक आदर्श स्वीकार कर लेता है और यह भूल जाता है कि मनुष्य का प्रत्येक कर्म, उसकी प्रत्येक इच्छा एवं उसका प्रत्येक ज्ञान, उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व तथा आत्मा से सम्बन्ध रखता है। जब हम यह कहते हैं, 'मैं यह संकल्प करता हूं अथवा वह संकल्प करता हूं,' तो इसका कुछ न कुछ वास्तविक अर्थ होता है। ऐसा कहते समय हमारा अभिप्राय यह नहीं होता कि हम उस व्यक्तित्व तथा आत्मा में भेद करते हैं, जोकि संकल्प नहीं करता। इसके विपरीत हमारा आशय उस आत्मा अथवा व्यक्तित्व का इच्छा के विशेष विषय से भेद बताना है, जोकि सामान्य रूप से संकल्प को अभिव्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में, संकल्प एक पूर्ण के रूप में समझा जाता है और उस पूर्ण के दो अंग होते हैं। उदाहरणस्वरूप, संकल्प का एक कर्म ले लीजिए। मान लीजिए कि वह कर्म एक विचारात्मक सविकल्पक निर्वाचन है। हमारे सामने दो परस्पर-संघर्ष करनेवाली 'क' और 'ख' नामक इच्छाएं हैं, हम दो विरोधी तनावों का अनुभव करते हैं। ये दोनों हमें विरोधी दिशाओं में आकर्षित करते हैं, किन्तु वास्तव में हम इन दोनों को स्वीकार नहीं कर सकते। उस अवस्था में किसी प्रकार का कर्म नहीं किया जाता। हम इच्छा के दोनों विषयों पर चिन्तन करते हैं और ऐसा करते समय हमें यह भान होता है कि हम उन दोनों विषयों पर चिन्तन कर रहे हैं। किन्तु हम तटस्थ रूप से दर्शक-मात्र की भांति खड़े नहीं रहते। हम यह अनुभव करते हैं कि हम एक दिशा की ओर चले गए हैं और हमने 'क' अथवा 'ख' में से किसी एक को छोड़ दिया है। इसका कारण यह है कि हम केवल इतना ही भान नहीं करते कि हम सैद्धान्तिक दृष्टि से 'क' तथा 'ख' विकल्पों से ऊपर उठे हुए हैं, अपितु हम यह भी अनुभूत करते हैं या अनुभव करते हैं कि हम व्यावहारिक दृष्टि से भी उन दोनों से ऊपर उठे हुए हैं। हमारा व्यक्तित्व इन दोनों विकल्पों से ऊपर इसलिए है कि हम 'क' को भी अनुभूत कर सकते हैं और 'ख' को भी। किन्तु यह अनुभूत करनेवाला व्यक्तित्व न 'क' है न 'ख' है, अपितु इन दोनों से श्रेष्ठ है। अतः संकल्प करने के लिए हमें किसी न किसी कर्म एवं परिस्थिति से अपना तादात्म्य करना पड़ता है। इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि संकल्प सदैव एक आत्मानुभूति होती है। यदि सुख का अनुभव एक आत्मानुभूति है, संकल्प भी एक आत्मानुभूति है, तो वे दोनों आत्मा की आंशिक अनुभूतियां हैं। इसलिए ब्रैडले का कहना है कि अपने-आपको अनुभूत करने का अर्थ अपने-आपको पूर्ण रूप से अनुभूत करना है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से तथा व्यावहारिक दृष्टि से हमारा उद्देश्य अपने-आपको पूर्ण

रूप से अनुभूत करना है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यह पूर्णत्व एक सिद्धान्त-मात्र एवं आकार-मात्र है, इसके विपरीत वह एक समरूप जीवन का एक ऐसा पूर्ण है, जो हमारे जीवन की व्यावहारिकता से सम्बन्ध रखता है। किसी सिद्धान्त के लिए केवल तार्किक दृष्टि से संगत होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसमें तथ्यों की समरूपता भी आवश्यक है। अतः ब्रैडले का कहना है कि आत्मानुभूति का अर्थ, आत्मा को पूर्ण रूप से अनुभूत करने के कथन-मात्र से अधिक है। हमारा वास्तविक सत् एकत्व की पराकाष्ठा नहीं है और न ही वह अनेकत्व की पराकाष्ठा है, अपितु वह इन दोनों का पूर्ण तादात्म्य है और 'अपने-आपको अनुभूत करो' का अर्थ केवल इतना नहीं है कि 'तुम एक पूर्ण बन जाओ', अपितु उसका अर्थ यह है कि 'तुम एक अनन्त पूर्ण बन जाओ।'[1]

ब्रैडले अनन्त की व्याख्या करते हुए कहता है कि चेतना एवं मन अनन्त है, क्योंकि वह अनुभव करता है कि उसकी क्षमताएं सान्त एवं सीमित है। सान्त का अर्थ वह तत्त्व है, जोकि अन्य तत्त्वों में से एक होता है, जोकि वह नहीं है जो अन्य हैं। जहां एक सान्त का अन्त होता है, वहां दूसरे सान्त का आरम्भ होता है अर्थात् सान्त की सीमाएं होती हैं और वह उस समय तक अपने से परे नहीं जा सकता, जब तक कि वह कुछ अन्य न बन जाए एवं जब तक उसका अन्त न हो जाए। जब हमारा मन यह ज्ञान रखता है कि वह सान्त है एवं सीमित है, उसका यह सीमित होने का ज्ञान स्वयं इस सीमा को पार कर जाता है। अतः मन को ब्रैडले आत्मज्ञान के कारण अनन्त स्वीकार करता है। अपने-आपको पूर्ण रूप से अनुभूत करने का अर्थ ब्रैडले इस प्रकार प्रस्तुत करता है, "अपने-आपको एक अनन्त पूर्ण के रूप में अनुभूत करो, जिसका अर्थ यह है कि अपने-आपको एक अनन्त पूर्ण का आत्मचेतन सदस्य अनुभूत करो और उस अनन्त पूर्ण को तुम अपने में ही अनुभूत करो।"[2] जब वह पूर्ण, जिसकी कि अनुभूति करनी है, वास्तव में अनन्त है और जब हमारा व्यक्तिगत संकल्प उससे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, तब हम भी पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं और एक पूर्ण आत्मानुभूति प्राप्त कर लेते हैं। अतः जिस आत्मा एवं व्यक्तित्व की अनुभूति नैतिक लक्ष्य स्वीकार की जाती है, वह आत्मा एवं व्यक्तित्व विशेष भाव नही है और न ही हमारे या किन्हीं अन्य व्यक्तियों के भावों की शृंखला है, इसलिए वह अनुभूति सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती, न ही वह केवल 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' हो सकती है।

आत्मानुभूति को उद्देश्य स्वीकार करने का अर्थ न तो विशेष भावों के समुदाय को लक्ष्य बनाना है और न अमूर्त विश्वव्यापी संकल्प को लक्ष्य बनाना है। इसके विपरीत, आत्मा की अनुभूति एक ऐसे संकल्प के रूप को प्राप्त करना है, जो हमारे व्यक्तित्व के बाहर या उससे ऊपर नहीं है, अपितु जो हमारे अन्तस् में निहित है। इस प्रकार वह एक बाहरी कर्तव्य के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। वह एक ठोस संकल्प है, जो प्रत्येक

---

१. Ethical Studies by Bradley, Page 74.
२. Ethical Studies by Bradley, Page 80.

व्यक्ति अपने जीवन में उतार सकता है, जो हमारे व्यक्तित्व को पूर्ण आत्मा बनाता है, हमारे शरीर को जीवित शरीर बनाता है और जो शरीर के बिना उसी प्रकार अमूर्त सिद्ध होता है जिस प्रकार कि शरीर उसके बिना अमूर्त है।

ब्रैडले की पूर्ण की यह धारणा मोक्ष की धारणा से मिलती-जुलती है, किन्तु वह भी अपनी इस धारणा को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर सका। उसका आशय यह है कि पूर्णत्व की प्राप्ति इस जीवन में सम्भव नहीं है। अतः नैतिकता का उद्देश्य निरन्तर इस पूर्णता को प्राप्त करने की चेष्टा करना है। नैतिकता की आवश्यकता इसलिए रहती है कि व्यक्ति पूर्ण आत्मानुभूति को प्राप्त नहीं कर सकता। व्यक्ति सदैव अपने-आपसे परे जाने की चेष्टा करता रहता है, क्योंकि वह पूर्णत्व उसके व्यक्तित्व से बाहर है, किन्तु उसका व्यक्तित्व उसकी चेष्टा के द्वारा उसकी ओर आगे बढ़ सकता है। अतः नैतिकता एक अनन्त प्रक्रिया है और इस प्रकार वह एक विरोधाभास है। ब्रैडले का कहना है कि इस विरोधाभास का कारण यह है कि मनुष्य स्वयं एक विरोधाभास है, क्योंकि उसमें सापेक्षताएं उपस्थित रहती हैं। किन्तु वह इस बात को भी स्वीकार करता है कि मनुष्य की आत्मचेतना एवं उसका यह ज्ञान कि उसमें विरोधी तत्त्व उपस्थित है, यह प्रमाणित करता है कि मनुष्य इस विरोधाभास से कुछ अधिक है। इस आधिक्य को प्राप्त करने के लिए ही ब्रैडले यह प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति को अपने सामाजिक स्थान के अनुसार निरन्तर अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। किन्तु वह सदैव ऐसा प्रयत्न करता हुआ भी संघर्ष में अवश्य रहता है। ब्रैडले इस संघर्ष से निवृत्ति का कोई ठोस उपाय नहीं बता सकता। वह कांट के 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' की आलोचना इसलिए करता है कि वह एक प्रकार का उद्देश्यहीन कर्म सिद्ध होता है।

भगवद्गीता का निष्काम कर्म का सिद्धान्त कांट के 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' को उत्कृष्ट बना देता है, क्योंकि वह न तो एक निरुद्देश्य एवं अमूर्त कर्म है और न वह सांसारिक सापेक्ष सुख को लक्ष्य स्वीकार करता है। वह हमें अधिकारों तथा कर्तव्यों को समन्वित करने का आदेश देता है। समाज के सदस्य के रूप में, व्यक्ति को न ही केवल अपने हितों की ओर ध्यान देना होता है, अपितु उस पूर्ण समाज के हितों की ओर भी ध्यान देना होता है जिसका कि वह सदस्य है। वास्तव में, समाज की सेवा करके ही वह आंशिक रूप से अपनी सेवा कर सकता है। आत्मप्रेम अथवा स्वार्थ अनैतिक नहीं है, किंतु वह उचित होना चाहिए। अपने हितों का ध्यान रखना व्यक्ति के लिए अनैतिक नहीं माना जा सकता, किन्तु ऐसा आत्महित ज्ञान पर आधारित होना चाहिए। इसी धारणा के आधार पर कर्म को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है, एक तो वह जो आत्महित से सम्बन्धित है और दूसरा वह जो सामाजिक कर्तव्य से सम्बन्धित है। सामान्य नैतिकता इसी दृष्टिकोण को अपनाती है, किन्तु यह दृष्टिकोण जिसको कि ब्रैडले भी अपनाता है, नैतिक संघर्ष को सुलझा नहीं पाता और व्यक्ति को उन अपूर्णताओं से ऊपर नहीं ले जा सकता, जो सांसारिक जीवन में स्वाभाविक रूप से उपस्थित होती हैं। भगवद्गीता का

निष्काम कर्म का सिद्धान्त इन अपूर्णताओं से इसलिए ऊपर उठ जाता है कि वह सम्पूर्ण कर्म को मोक्ष का साधन बना देता है।

ब्रैडले के सिद्धान्त में त्रुटि यह है कि उसमें स्पष्ट रूप से मोक्ष की धारणा उपस्थित नहीं है, यद्यपि अन्त में ब्रैडले इस बात को स्वीकार करता है कि नैतिकता की पराकाष्ठा ईश्वर से तादात्म्य अनुभूत करने में ही होती है। इसी अस्पष्टता के कारण ब्रैडले सामाजिक स्थान के अनुसार कर्तव्य का पालन करने के आदर्श को ही उच्चतम सम्भव नैतिकता स्वीकार करता है। भगवद्गीता के अनुसार सभी प्रकार के कर्म, चाहे वे समाज के कल्याण में फलित होते हों, चाहे व्यक्तिगत सुख में फलित होते हों, तभी मोक्ष का साधन स्वीकार किए जा सकते हैं, जब वे बिना आसक्ति के किए जाते हैं। यदि हम समाज को ही लक्ष्य मान लें, तो समाज-सेवा के कर्म निःस्वार्थ तो प्रतीत होते हैं, किंतु उनके अन्तस् में स्वार्थ निहित रह सकता है। जो व्यक्ति समाज-सेवा करता है, सम्भवतया उसका उद्देश्य स्वार्थ न हो और उस स्वार्थ के स्थान पर उसके कर्म का उद्देश्य सामाजिक कल्याण हो, किन्तु प्रायः यह देखा गया है कि ऐसे व्यक्ति के अचेतन मन में अपने हित अथवा स्वार्थ की भावना छिपी रहती है। इसके अतिरिक्त समाज-सेवा करनेवाले व्यवित के मन में प्रायः यह भावना रहती है कि उसकी सेवा के बिना समाज का कल्याण नहीं हो सकता। इसी प्रकार के अहंभाव को दूर करने के लिए भगवद्गीता का निष्काम कर्मयोग यह प्रतिपादित करता है कि कर्म करते समय सब प्रकार के सांसारिक उद्देश्यों को त्याग देना चाहिए, चाहे वे उद्देश्य संकुचित निजी उद्देश्य हों, चाहे तथाकथित सार्वजनिक शुभ हों। इसका अभिप्राय यह नहीं कि विश्व को योगी के अनासक्त कर्म से लाभ नहीं होता, अपितु उस योगी के दृष्टिकोण से यह लाभ उसका उद्देश्य नहीं है, यद्यपि वह उसका स्वाभाविक परिणाम है।

निष्काम कर्मयोगी जनसाधारण की अपेक्षा ऊंचे स्तर पर इसलिए होता है कि उसके सामने उस आत्मानुभूति का आदर्श होता है, जिसकी प्राप्ति से सांसारिक सुख स्वतः ही निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि वे उस चरम लक्ष्य की तुलना में तुच्छ प्रमाणित होते हैं। यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि भगवद्गीता की आत्मानुभूति का अर्थ मोक्ष की प्राप्ति है और इसलिए मनुष्य का सर्वस्व उसके सभी कर्म, सभी संकल्प और सभी भावनाएं उस लक्ष्य का साधन बन जाती हैं। केवल इसी दृष्टि से ही व्यक्ति नैतिक सापेक्षताओं से ऊपर उठ सकता है; और ब्रैडले के शब्दों में, उस तत्त्व को प्राप्त कर सकता है, जो मनुष्य के विरोधी स्वभाव से कुछ अधिक है। वही तत्त्व मनुष्य को मुक्तात्मा बनाता है। इस मुक्त आत्मा में द्वैत नहीं हो सकता और न ही उसका विभाजन हो सकता है। वही आत्मा सुख और दुःख में, शीत और उष्ण में, निन्दा और स्तुति में समान रहती है। उसको ऐसा विचार दुःखित नहीं करता कि 'मैंने शुभ क्यों नहीं किया ? अथवा मैंने अशुभ क्यों किया ?' उसका कारण यह है कि ऐसे व्यक्ति में कर्तापन का भाव नहीं होता। उसके सभी संघर्ष समाप्त होजाते हैं। औचित्य तथा अनौचित्य,

सापेक्ष शुभ तथा अशुभ उसके लिए महत्त्व नहीं रखते। वह उस तत्त्वात्मक अशुभ से इसलिए ऊपर उठ जाता है कि ज्ञान के कारण वह सबमें अद्वैत आत्मा को अनुभूत करता है। अशुभ उसपर विजय प्राप्त नहीं करता, वह समस्त अशुभ पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह जीवन्मुक्त अशुभ से, अशुद्धता से तथा सन्देह से रहित ब्रह्मज्ञानी होता है। ब्रैडले के सिद्धान्त में, मोक्ष की ऐसी धारणा की उपस्थिति ही उसके आत्मानुभूति के सिद्धान्त को पूर्ण और स्पष्ट बना सकती है। हमारे इस दृष्टिकोण की पुष्टि ब्रैडले के निम्नलिखित शब्दों में प्राप्त होती है :

"सुख की खोज, चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो, एक भ्रान्ति प्रमाणित होती है और कर्तव्य का आकार एक जाल प्रमाणित होता है और सान्त अनुभूति का 'मेरा स्थान' एक सत्य अवश्य था, और वह प्रसन्नता, जो हमें आकर्षित करती थी, उस समय के लिए स्थायी थी, किन्तु वह इतनी संकुचित थी कि वह आत्मा की भूख को पूर्णतया तृप्त न कर सकती थी। इस प्रकार आदर्श नैतिकता का परिणाम दुःखद और अनिवार्य असफलता की भावना प्रमाणित हुआ। यहां पर अन्त में हम ऐसे स्थान पर पहुंच गए हैं, जहां पर कि प्रक्रिया का अन्त होता है, यद्यपि सर्वोत्तम क्रिया सर्वप्रथम यहां से ही आरम्भ होती है। यहां पर हमारी नैतिकता ईश्वर से तादात्म्य में चरम अवस्था में फलित होती है और सर्वत्र हम उस 'अमर प्रेम' को देखते हैं, जो सदैव विरोधाभास पर विकसित होता है, किन्तु जिसमें विरोधाभास का सदा के लिए अन्त हो जाता है।"[1]

ब्रैडले के उपर्युक्त कथन इस बात की साक्षी हैं कि सभी नैतिक आदर्श, चाहे वे तर्क को निरपेक्ष मानकर चलें और चाहे वे सुख की अनुभूति को उद्देश्य मानकर, नैतिकता को इसलिए सिद्ध करते हैं कि वे आंशिक सत्य की अभिव्यक्ति हैं। अनुभूति निस्संदेह पूर्णता की ओर क्रमिक प्रगति है। किन्तु भारतीय दृष्टिकोण से वह प्रगति इस जीवन में भी पूर्णत्व तक पहुंच सकती है, जबकि पश्चिमीय दृष्टिकोण से उस पूर्णत्व को प्राप्त करने की सतत चेष्टा ही नैतिकता है।

---

१. "Be that as it may, the hunt after pleasure in any shape has proved itself a delusion, and the form of duty a snare, and the finite realization of 'my station' was truth indeed, and a happiness that called to us to stay, but was too narrow to satisfy wholly the spirit's hunger; and ideal morality brought the sickening sense of inevitable failure. Here, where we are landed at last, the process is at an end, though the best activity here first begins. Here our morality is consummated in oneness with God, and everywhere we find that 'immortal love,' which builds itself for ever on contradiction, but in which the contradiction is eternally resolved."

—Ethical Studies, Page 342.

नवां अध्याय

मूल्यात्मक नैतिक सिद्धांत

(Moral or Ethical Theory of Value)

हमने विकासवादी नैतिक सिद्धान्तों तथा आत्मानुभूति के सिद्धान्त का अध्ययन किया है। इन सबका उद्देश्य यही है कि पूर्णत्व ही नैतिकता का उद्देश्य होना चाहिए। मनुष्य स्वयं अपूर्ण होने के कारण इस पूर्णत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करता है और उसकी यह चेष्टा की प्रवृत्ति उसमें जन्म से उपस्थित होती है। मनुष्य में आदर्श को प्राप्त करने की उत्सुकता एक ऐसा तथ्य है, जिसकी व्याख्या प्राकृतिक विज्ञान नहीं दे सकता। तत्त्व-विज्ञान ही मूल्य की समस्या को सुलझा सकता है और यह व्याख्या कर सकता है कि शुभ का क्या अर्थ है। शुभ की व्याख्या निस्सन्देह एक अत्यन्त कठिन कार्य है, जिसमें कि सुक-रात तथा प्लेटो जैसे महान दार्शनिकों को भी पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई, किन्तु यह व्याख्या इतनी आवश्यक है कि इसके बिना नैतिकता के सभी सिद्धान्त निरर्थक प्रमाणित होते हैं। यही कारण है कि नैतिक आदर्श की विभिन्न धारणाएं परस्पर-विरोधी प्रतीत होती हैं। कांट केवल शुभ संकल्प को ही निरपेक्ष शुभ मानता है। सुखवादी सुख को शुभ स्वीकार करते हैं और विकासवादी जीवन की सुरक्षा को। अतः जब तक यह निर्धारित न हो जाए कि शुभ का क्या स्वरूप है, तब तक कोई भी ऐसा नैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, जो सर्वथा संगत हो और जो व्यावहारिक सिद्ध हो सकता हो। सभी परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों में त्रुटि यह है कि वे आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य स्वीकार कर लेते हैं। जब उनसे यह पूछा जाता है कि शुभ क्या है, तो वे अपने दृष्टिकोण के अनुसार किसी विशेष तत्त्व को ही शुभ की एकमात्र परिभाषा स्वीकार कर लेते हैं। यही कारण है कि अंग्रेज़ी के विख्यात साहित्यकार शेक्सपियर ने कहा है, "संसार में कुछ भी शुभ व अशुभ नहीं है; यह केवल एक दृष्टिकोण है कि अमुक वस्तु शुभ है, अमुक अशुभ।"[1]

ऐसे कथन का अभिप्राय यह नहीं कि शुभ एक कोरी कल्पना है, इसके विपरीत इसका अर्थ यह है कि शुभ एक परम मूल्य है, जिसकी परिभाषा देना उतना ही कठिन है, जितना कि विश्व की परम सत्ता की परिभाषा। जहां तक शुभ की परिभाषा का सम्बन्ध है, विख्यात अंग्रेज़ दार्शनिक जी० ई० मोर का कहना है कि शुभ अनिर्वचनीय है एवं उसकी

१. "Nothing is good or bad in the world, but thinking makes it so."

परिभाषा नहीं दी जा सकती। उसके शब्दों में, "शुभ, शुभ ही है और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।"[1] इस प्रकार की परिभाषा चक्रक तो अवश्य है, किन्तु वह इस बात को सिद्ध करती है कि 'सुख ही एकमात्र शुभ नहीं है अथवा आकांक्षित विषय ही एकमात्र शुभ नहीं है।' दूसरे शब्दों में, शुभ एक परम मूल्य है। इससे पूर्व कि हम शुभ की व्याख्या करें, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम मूल्य की धारणा पर कुछ प्रकाश डालें।

पश्चिमीय दर्शन में कांट ने ही सर्वप्रथम नैतिक मूल्य की महत्त्वपूर्ण धारणा प्रस्तुत की है। सामान्यतया 'मूल्य' शब्द का प्रयोग आर्थिक दृष्टि से किया जाता है और इसका अर्थ उसी प्रकरण में लिया जाता है। मैकन्ज़ी ने भी मूल्य की धारणा की व्याख्या करते हुए आर्थिक दृष्टिकोण को प्रथम स्थान दिया है। उसने मूल्य के दो रूपों की व्याख्या की है और कहा है कि मूल्य दो प्रकार के होते हैं—निमित्त मूल्य (Instrumental value) तथा स्वलक्ष्य मूल्य (Intrinsical value)। निमित्त मूल्यवाली वस्तु वह वस्तु होती है, जोकि किसी अन्य उद्देश्य का साधन होती है। जब हम एक रोटी के मूल्य की बात करते हैं अथवा दिन-भर के परिश्रम के मूल्य की बात करते हैं, तो यह मूल्य एक सापेक्ष तत्त्व होता है। एक रोटी का मूल्य यही है कि वह जीवित रहने का साधन है अथवा भूख की पीड़ा को मिटाने का अथवा भोजन करने के सुखद अनुभव का साधन है। दूसरे शब्दों में, रोटी का मूल्य इस तथ्य पर आधारित है कि हम जीवन को मूल्यवान मानते हैं अथवा सुख को व दुःख की अनुपस्थिति को मूल्यवान मानते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि रोटी एक निमित्त एवं गौण मूल्य है। इसके विपरीत स्वलक्ष्य मूल्य वह मूल्य है जो किसी अन्य वस्तु का साधन एवं निमित्त न होकर आत्माश्रय होता है। उसका मूल्य वह स्वयं ही होता है। हमने कांट के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए यह देखा है कि इस दृष्टि से कांट केवल शुभ संकल्प को ही स्वलक्ष्य मूल्य मानता है।

कुछ सीमा तक हम यह कह सकते हैं कि कांट का यह दृष्टिकोण सर्वथा असंगत नहीं है। हम यह जानते हैं कि संसार में शुभ संकल्प के अतिरिक्त अन्य सभी मूल्य किसी अन्य उद्देश्य का साधन बन जाने के कारण निमित्त मूल्य प्रमाणित होते हैं और उनका प्रायः दुरुपयोग भी किया जाता है। हमने अनेक उदाहरणों के द्वारा यह पहले ही प्रमाणित किया है कि अर्थ, अधिकार एवं ज्ञान भी स्वार्थसिद्धि के साधन बनते हैं और दुरुपयोग के कारण निमित्त मूल्य प्रमाणित होते हैं। शुभ संकल्प एक ऐसा मूल्य है जिसको कांट के दृष्टिकोण से साधन नहीं बनाया जा सकता और जो एक ऐसा तत्त्व है कि उसकी उपस्थिति प्रत्येक स्वलक्ष्य मूल्यवाली वस्तु में अनिवार्य है। कुछ लोग शुभ संकल्प के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों को भी स्वलक्ष्य मूल्य मानते हैं; उदाहरणस्वरूप, बुद्धिमत्ता, प्रेम, सत्य, स्वतन्त्रता, व्यवस्था, जीवन आदि को स्वलक्ष्य मूल्य स्वीकार किया जाता है। कम से कम सत्यं, शिवं, सुन्दरम् तीन ऐसे मूल्य हैं जिनको स्वलक्ष्यता की दृष्टि से समकक्ष माना

---

१. "Good is good and nothing else."

जाता है। इन सभी उदाहरणों का आशय यह है कि वे ही वस्तुएं स्वलक्ष्य रूप से मूल्यवान मानी जा सकती हैं, जो अपना मूल्य आप हों और जो किसी अन्य वस्तु को प्राप्त करने का साधन न हों।

यदि हम स्वलक्ष्य मूल्य की इस परिभाषा के अनुसार कुछ मूल्यों की व्याख्या करें, तो हमारी मूल्य की धारणाएं और भी स्पष्ट हो जाएंगी। जो लोग सुख को ही स्व-लक्ष्य मूल्य मानते हैं, वे इस बात को भूल जाते हैं कि प्रत्येक मूल्यवान वस्तु की प्राप्ति सुखद अवश्य होती है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि सुख मूल्य का एक मापदण्ड है। दूसरे शब्दों में, हम प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन इस दृष्टि से नहीं करते कि वह सुख की प्राप्ति का साधन-मात्र है। उदाहरणस्वरूप, जब हम ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो ज्ञान की प्राप्ति सुखद अवश्य होती है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि हमारी ज्ञान-प्राप्ति का उद्देश्य सुखद भावना को अनुभूत करना होता है। हम सदैव यही मानकर चलते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति में हम सुख नहीं, अपितु ज्ञान को ही लक्ष्य मानते हैं। यही कारण है कि ज्ञानो-पार्जन के लिए हम दुःखों को भी सहन करते हैं। यदि सुख स्वलक्ष्य मूल्य होता, तो हम ऐसा व्यवहार में न करते कि हम ज्ञान प्राप्त करने के लिए शरीर को कष्ट दें। सुख एक ऐसा अन्तरात्मक तत्त्व है, जो व्यक्ति-व्यक्ति में विभिन्न होता है। स्वलक्ष्य मूल्य वही होता है, जो सभी विचारशील व्यक्तियों द्वारा, समान रूप से वांछनीय स्वीकार किया जाता है। मूल्य की इस प्रकार की व्याख्या के आधार पर, हम शुभ के स्वरूप को भली भांति समझने की चेष्टा कर सकते हैं।

शुभ की व्याख्या का मूल्य की व्याख्या से इसलिए सम्बन्ध है कि प्रायः इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची माना जाता है। किन्तु फिर भी यदि इन दोनों के अर्थ का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए, तो इन शब्दों को एक-दूसरे के स्थान पर सदैव प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। उदाहरणस्वरूप, शुभका अर्थ 'शुभ अथवा अशुभ' नहीं माना जा सकता, जबकि किसी वस्तु का मूल्यांकन करते समय हम यह कह सकते हैं कि मूल्य की दृष्टि से अमुक वस्तु 'मूल्यवान अथवा मूल्यहीन' है। इसके अतिरिक्त शुभ को अनेक बार एक विशेषण के रूप में प्रयोग में लाया जाता है, जबकि शुभ का अर्थ हिन्दी भाषा में 'अच्छा' होता है और अंग्रेज़ी भाषा में दोनों को 'good' कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि अंग्रेज़ी में यह कहा जाए कि "अमुक व्यक्ति एक अच्छा अध्यापक है," तो उस वाक्य का रूप इस प्रकार होगा—"He is a good teacher." यहां पर 'good' शब्द एक विशेषण के रूप में प्रयोग में लाया जाता है और किसी विशेष क्रिया की प्रशंसा करता है। किन्तु 'मूल्य' शब्द को इस प्रकार विशेषण के रूप में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि यदि साधारण भाषा में मूल्य (Value) शब्द का अर्थ समझने की चेष्टा की जाए, तो हम उसका अर्थ दो प्रकार का मानते हैं। प्रथम तो मूल्य का अर्थ मूल्य का लक्षण अथवा गुण है और दूसरा अर्थ वे वस्तुएं हैं, जो मूल्य-रूपी गुण अथवा लक्षण रखती हैं। मूल्य के ये दो अर्थ हमें शुभ शब्द के समझने में सहायक होंगे।

शुभ का स्वरूप

शुभ की स्वरूप-व्याख्या डा० मोर ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सीपिया ऐथिका' (Principia Ethica) में की है। उसकी यह धारणा है कि यद्यपि शुभ की परिभाषा देना आचार-विज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है, तथापि जिस दृष्टि से इस शब्द को नैतिकता के क्षेत्र में प्रयोग में लाया जाता है, उसको ध्यान में रखते हुए इसकी तर्कात्मक परिभाषा नहीं दी जा सकती। उसका कारण यह है कि शुभ शब्द हमारे विचार का सरलतम विषय है। यदि परिभाषा का अर्थ एक शब्द के आशय को अन्य शब्दों में अभिव्यक्त करना है, तब तो सम्भवतया हम शुभ की परिभाषा कर सकते हैं, किन्तु इस प्रकार की परिभाषा शब्द-कोष के अतिरिक्त और किसी स्थान पर महत्त्व नहीं रखती। अतः मोर की यह धारणा है कि यदि उससे यह पूछा जाए कि शुभ क्या है, तो उसका उत्तर यह होगा कि वह परि-भाषातीत है, शुभ ही है और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। इससे उसका अभिप्राय यह है कि 'शुभ' शब्द सरलतम होने के कारण विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। जब हम शुभ को, जोकि हमारे अनुभव का आधारभूत तत्त्व है, विश्लेषणात्मक दृष्टि से समझने का प्रयत्न करते हैं, तो हम उसकी परिभाषा नहीं कर सकते। जिस पद की परिभाषा की जाती है, उसको उसके सरल तत्त्वों के प्रकरण में अभि-व्यक्त किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, मनुष्य की परिभाषा यह है कि वह एक विचार-शील प्राणी है। 'विचारशीलता' और 'प्राणीभाव' दोनों मनुष्य के ऐसे तत्त्व अथवा गुण हैं, जो उस पद की विश्लेषणात्मक व्याख्या करते हैं, किन्तु शुभ शब्द ऐसा है जिसको अन्य सरल तत्त्वों में विभक्त नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि शुभ की परिभाषा नहीं दी जा सकती। शुभ की धारणा वैसी ही सरल धारणा है जैसेकि 'पीलापन' की धारणा सरलतम है। जिस प्रकार कि हम किसी भी ऐसे व्यक्ति को, जोकि पहले से 'पीलापन' को न जानता हो, 'पीलापन' की व्याख्या नहीं कर सकते, उसी प्रकार हम 'शुभ' की भी व्याख्या नहीं कर सकते; अर्थात् हम उस व्यक्ति को जोकि 'शुभ'को पहले न जानता हो, यह नहीं समझा सकते कि शुभ क्या है। सत्य तो यह है कि हम उन धारणाओं एवं वस्तुओं की परिभाषा कर सकते हैं, जो जटिल होती हैं। हम एक 'अश्व' की परिभाषा दे सकते हैं, क्योंकि उसके अनेक गुण होते हैं, जिनकी गणना की जा सकती है। किन्तु जब हम उन सभी गुणों की गणना कर लेते हैं और 'अश्व' को सरलतम पदों में परिवर्तित कर देते हैं, तो हम उससे आगे नहीं बढ़ सकते। वे गुण ऐसे सरल होते हैं, जिनका हम विचार कर सकते हैं अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकते हैं; जो व्यक्ति उनका विचार अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कर सकता, उसको हम किसी भी परिभाषा के द्वारा उन सरलतम तत्त्वों का ज्ञान नहीं करा सकते।

मोर की धारणा के अनुसार 'शुभ' की व्याख्या अवश्य की जा सकती है और वह व्याख्या इतनी है कि शुभ एक सरलतम गुण होने के नाते एक विशेषण है। इस प्रकार जो वस्तु शुभ है एक ऐसा द्रव्य होना चाहिए, जिससे कि शुभ विशेषण को सम्बन्धित

किया जाता है और वह द्रव्य पूर्ण रूप से उस विशेषण के अन्तर्गत आ जाना चाहिए तथा शुभ का विशेषण उसके प्रति सदैव सत्य प्रमाणित होना चाहिए। यदि वह द्रव्य ऐसी वस्तु है, जिससे कि विशेषण को सम्बन्धित किया जाता है, तो वह द्रव्य अथवा वस्तु उस विशेषण से विभिन्न तत्त्व होगा और वह विभिन्न तत्त्व हमारे 'शुभ' की एक व्याख्या होगी। किन्तु यह व्याख्या 'शुभ' की पूर्ण परिभाषा नहीं कही जा सकती। जिस वस्तु को हम 'शुभ' का विशेषण देते हैं, उस वस्तु के उस 'शुभ' से अतिरिक्त अन्य विशेषण भी होंगे, जो उसपर लागू किए जा सकते हों। उदाहरणस्वरूप, वह द्रव्य अथवा वस्तु सुख से पूर्ण हो सकती है, बुद्धियुक्त हो सकती है। यदि ये दोनों विशेषण उस द्रव्य की परिभाषा के वास्तविक अंश हैं, तब यह सत्य होगा कि सुख तथा बुद्धिमत्ता भी शुभ है। बहुत-से व्यक्ति ऐसा विचार करते हैं कि जब हम यह कह देते हैं कि सुख और बुद्धिमत्ता शुभ हैं अथवा जब हम यह कहते हैं कि केवल सुख और बुद्धिमत्ता शुभ हैं, तो हम 'शुभ' की परिभाषा दे रहे होते हैं। डा० मोर का कहना है कि ऐसे तर्क-वाक्यों को कभी-कभी परिभाषा कहा जा सकता है, किन्तु यह परिभाषा एक व्याख्या-मात्र है। यदि ऐसी परिभाषा को एकमात्र परिभाषा मान लिया जाए, तो हम एक भ्रान्ति में पड़ जाएंगे।

इस प्रकार की व्याख्या को परिभाषा मान लेने में भ्रान्तियां इसलिए उत्पन्न हो जाती हैं कि सभी वस्तुएं, जिनसे 'शुभ' के विशेषण को सम्बन्धित किया जाता है, कुछ अन्य गुण भी रखती हैं। आचार-विज्ञान का यह उद्देश्य यह जानना भी है कि उन वस्तुओं के वे अन्य गुण कौन-से हैं जिनको 'शुभ' कहा जाता है। किन्तु बहुत-से दार्शनिकों ने उन अन्य गुणों को ही शुभ की परिभाषा मान लिया है। वे इस भ्रान्ति में पड़ गए हैं कि ये गुण अन्य गुण नहीं हैं, अपितु पूर्णतया शुभ ही हैं। डा० मोर इस दोष को प्राकृतिक दोष (Naturalistic fallacy) कहता है।

जैसाकि हमने ऊपर बताया है, यह दोष तभी उत्पन्न हो जाता है, जब हम जिस द्रव्य से विशेषण को सम्बन्धित करते हैं, उससे विशेषण का इस प्रकार तादात्म्य कर देते हैं कि उस द्रव्य के अन्य गुणों को उसी विशेष विशेषण की परिभाषा मान लेते हैं। उदाहरणस्वरूप, कोई व्यक्ति यह कहता है कि सुख शुभ है, दूसरा कहता है कि शुभ वह वस्तु है जिसकी इच्छा की जाती है। इन दोनों व्यक्तियों में से प्रत्येक बड़ी उत्सुकता से तर्क के द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा करता है कि दूसरे का मत अयथार्थ है। किन्तु उनकी यह चेष्टा भ्रान्ति पर निर्भर है। उनमें से एक व्यक्ति यह मानकर चलता है कि शुभ इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और फिर यह भी चेष्टा करता है कि वह उसे शुभ प्रमाणित न करे। उसकी यह चेष्टा असम्भव बात है। यदि यह सत्य है कि शुभ इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तो यदि सुख ही इच्छा का एक विषय बन सकता है, तो वह भी शुभ हो सकता है। मान लीजिए कि वह व्यक्ति यह प्रमाणित करने की चेष्टा ही करता रहता है कि इच्छा का विषय सुख नहीं है, तो ऐसा व्यक्ति हमें किस प्रकार की नैतिकता दे सकता है? वह तो केवल एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रमाणित करने की चेष्टा

कर रहा है। इच्छा ऐसी वस्तु है जो हमारे मन में घटित होती है और सुख भी ऐसी अन्य वस्तु है जो इस प्रकार घटित होती है। उपर्युक्त नैतिक दार्शनिक यह धारणा प्रस्तुत करता है कि सुख की घटना इच्छा की घटना का विषय नहीं है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस वाद-विवाद का नैतिक समस्या से क्या सम्बन्ध है। उसका विरोधी इस धारणा को लेकर उपस्थित हुआ था कि नैतिक दृष्टिकोण से सुख शुभ है, जबकि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वही विरोधी व्यक्ति इस तथ्य को सहस्रों बार प्रमाणित करने के लिए तत्पर है कि सुख इच्छा का विषय नहीं है। समस्या इस प्रकार प्रस्तुत होती जाती है कि एक मनुष्य कहता है, "एक त्रिकोण गोलाकार है," दूसरा व्यक्ति उत्तर देता है कि "एक त्रिकोण एक सीधी रेखा होता है, और मैं तुम्हारे सामने यह प्रमाणित कर दूंगा कि मैं ठीक हूं, क्योंकि एक सीधी रेखा गोलाकार नहीं होती।" पहला व्यक्ति फिर कह सकता है, "तुम्हारी बात सत्य है, किन्तु फिर भी एक त्रिकोण एक गोलाकार है, क्योंकि तुमने इस तर्क-वाक्य के विरोध में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। जो कुछ तुमने प्रमाणित किया है, वह यह है कि हम दोनों में से एक भूल कर रहा है, क्योंकि हम दोनों इस बात में सहमत हैं कि एक त्रिकोण एक-साथ एक सीधी रेखा और गोलाकार नहीं हो सकता; किन्तु हम दोनों में से भूल कौन कर रहा है,इस बात को प्रमाणित करनेका कोई साधन नहीं है, क्योंकि तुम त्रिकोण की परिभाषा एक सीधी रेखा के रूप में देते हो और मैं गोलाकार को उसकी परिभाषा मानता हूं।"

मोर की धारणा है कि यही प्राकृतिक दोष उन नैतिक सिद्धान्तों में है जो सुख को शुभ की परिभाषा मान लेते हैं अथवा शुभ से सम्बन्धित किसी अन्य तत्त्व को उसकी परिभाषा मान लेते हैं। जब एक व्यक्ति यह कहता है कि शुभ का अर्थ सुखद है और दूसरा कहता है कि शुभ का अर्थ इच्छित वस्तु है, वे सम्भवतया यह बताने की चेष्टा कर रहे होंगे कि अधिकतर लोग शुभ शब्द को सुख से सम्बन्धित करते हैं अथवा इच्छित वस्तु से सम्बन्धित करते हैं। इन दोनों व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत यह वाद-विवाद रोचक विषय तो अवश्य है, किन्तु इसे हम नैतिक विवाद नहीं कह सकते। यदि वाद-विवाद करनेवाले व्यक्ति आचार-विज्ञान के विचारक हैं, तो वे स्वयं भी ऐसा ही मानेंगे कि इस प्रकार के विवाद का विषय नैतिक नहीं है। यदि इसको नैतिक मान लिया जाए, तो उसका आशय यह होगा कि वे उसी कर्म को नैतिक स्वीकार करते हैं जिसको कि अधिक लोग नैतिक समझते हैं। ऐसे विचारक इस बात को भूल जाते हैं कि आचार-विज्ञान का उद्देश्य यह बताना नहीं है कि अधिकतर लोग किसी विशेष शब्द का अर्थ किस प्रकार करते हैं और न ही उसका उद्देश्य यह है कि वे किस प्रकार के ऐसे कर्मों को नैतिक मानते हैं, चूंकि शुभ शब्द से सम्बन्धित हैं। इसके विपरीत लोग आचार-विज्ञान के विद्वान से केवल यह जानना चाहते हैं कि शुभ क्या है।

मान लीजिए कि एक व्यक्ति कहता है कि "मैं सुख का अनुभव कर रहा हूं।" और मान लीजिए कि यह बात असत्य नहीं है और न ही उसकी भूल है। अब हमें यह देखना है कि इसका अर्थ क्या है। इसका आशय यह है कि उस व्यक्ति का मन, अर्थात् एक विशेष

मन, जोकि अन्य मनों से विभिन्न लक्षणोंवाला है, इस विशेष समय एवं अवधि में एक ऐसी विशेष निश्चित भावना का अनुभव कर रहा है, जिसको कि सुख कहते हैं। सुख को अनुभूत करने (Pleased) का अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चाहे हमारा अनुभूत सुख कम हो या अधिक हो, चाहे वह एक प्रकार का हो या दूसरे प्रकार का हो, इसमें एक बात जो पूर्णतया निश्चित है वह एक ऐसी निरपेक्ष और परिभाषातीत भावना का तत्त्व है, जोकि हर प्रकार के तथा हर विशदता के सुखद अनुभवों में समान रूप से उपस्थित रहता है। हम यह कह सकते हैं कि उसका अन्य वस्तुओं से क्या सम्बन्ध है, किन्तु हम उसकी परिभाषा नहीं दे सकते। यदि कोई व्यक्ति सुख की परिभाषा देने की चेष्टा करे और कहे कि सुख कोई अन्य प्राकृतिक विषय है, तो उसकी यह चेष्टा मूर्खतापूर्ण होगी। उदाहरणस्वरूप, यदि कोई व्यक्ति यह कहता है कि सुख का अर्थ लाल रंग की संवेदना है और इस आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सुख एक प्रकार का रंग है, तो हम निस्सन्देह उस व्यक्ति को मूर्ख कहेंगे। इस प्रकार का दोष प्राकृतिक दोष कहा गया है। यही कारण है कि डा० मोर शुभ की परिभाषाओं को प्राकृतिक दोष बतलाता है। जब हम यह भूल जाते हैं कि शुभ एक सरल परिभाषातीत तत्त्व है, तभी हम ऐसी भ्रान्त धारणाओं को स्वीकार करते हैं कि सुख ही एकमात्र शुभ है अथवा जीवन ही एकमात्र शुभ है।

यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि शुभ को परिभाषातीत स्वीकार करने का आशय यह नहीं है कि शुभ का कोई अर्थ ही नहीं, इसके विपरीत शुभ एक व्यापक तत्त्व है और वह इतना अधिक व्यापक है कि उसको किसी विशेष वस्तु तक सीमित नहीं माना जा सकता। हम मोर के इस दृष्टिकोण की तुलना उपनिषदों के व्यापक आधारभूत तत्त्व ब्रह्म के दृष्टिकोण से कर सकते हैं। मोर शुभ को ठीक उसी प्रकार परिभाषा से परे मानता है, जिस प्रकार कि उपनिषद् ब्रह्म को विश्वातीत स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में यह कहा गया है कि ब्रह्म विश्वव्यापी है, अर्थात् सत्-मात्र ब्रह्म है; किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि ब्रह्म न जल है, न वायु है, न कार्य है, न कारण है, न प्रकाश है, न अन्धकार है आदि-आदि। इस प्रकार के निषेधात्मक दृष्टिकोण का अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म शून्य है अथवा कुछ नहीं है। इसके विपरीत, इसका अभिप्राय यह है कि इन सभी वस्तुओं में ब्रह्म व्याप्त तो है, किन्तु ये वस्तुएं पृथक् रूप में अथवा सामूहिक रूप में ब्रह्म के समकक्ष नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म इनसे कुछ अधिक है। इसी प्रकार यह तो कहा जा सकता है कि जल ब्रह्म है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि केवल जल ही ब्रह्म है और इसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुएं ब्रह्म नहीं हैं। महाशय मोर भी शुभ को इसी प्रकार व्याप्त मानता है और उसकी निषेधात्मक व्याख्या देता है। शुभ की यह परिभाषा हमें प्राकृतिक दोष से बचाती है और शुभ की व्यापकता पर बल देकर यह प्रमाणित करती है कि शुभ एक स्वलक्ष्य मूल्य है।

मैकन्ज़ी, मोर की आलोचना करते हुए कहता है कि वह प्राकृतिक दोष की

अतिशयोक्ति करता है। उसका (मैकन्ज़ी का) कहना है कि हम शुभ का अर्थ विशेष वस्तुओं के प्रकरण के बिना नहीं समझ सकते। हम उसका आशय तभी समझ सकते हैं, जब हम शुभ को उन विशेष वस्तुओं से सम्बन्धित करें, जो यथार्थ रूप से शुभ कही जाती हैं। यदि हम ऐसा नहीं करते तो उसका अभिप्राय यह होगा कि हम फूलों, पक्षियों, चित्रों, संगीत तथा नक्षत्रों से चित्रित आकाश आदि का कथन किए बिना सौन्दर्य का अर्थ समझने की चेष्टा कर रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हम इन वस्तुओं में से किसी एक को पृथक् रूप से ही सौन्दर्य मान लें, तो हम उस पद का एकांगी अर्थ कर रहे होंगे। किन्तु यदि हम उनमें से किसीका भी कथन न करें, तो हम सौन्दर्य का कोई निश्चित अर्थ नहीं कर सकेंगे।

मैकन्ज़ी का कहना है कि शुभ के सम्बन्ध में यह बात अधिक सत्य है कि हम उसके अर्थ को विशेष वस्तुओं के सम्बन्ध से अधिक समझ सकते हैं। जब हम यह कहते हैं कि कोई वस्तु शुभ है, तो हम इसके दो अर्थ कर सकते हैं। हम यह कह सकते हैं कि वह किसी विशेष उद्देश्य के लिए शुभ है, अथवा यह कह सकते हैं कि वह अपने-आपमें शुभ है। पहली दृष्टि से शुभ को साधन माना गया है। मैकन्ज़ी का कहना है कि शुभ का पहला अर्थ ही अधिक मान्य है। हम प्रायः इसी दृष्टि से कहते हैं कि अमुक शुभ भोजन है, शुभ पेय है, शुभ समाचार है आदि। यही कारण है कि शुभ की व्याख्या विशेष वस्तुओं के प्रकरण में ही दी जा सकती है।

मैकन्ज़ी का यह दृष्टिकोण, वास्तव में मोर के दृष्टिकोण के विपरीत नहीं है। मोर स्वयं इस बात को स्वीकार करता है कि विशेष वस्तुओं अथवा तत्त्वों के प्रकरण में शुभ की व्याख्या तो की जा सकती है, किन्तु इस व्याख्या को परिभाषा स्वीकार कर लेना निस्सन्देह एक भूल है। जब मैकन्ज़ी यह कहता है कि प्रायः हमारा शुभ का आशय यह होता हैं कि वह एक विशेषण है अथवा परोक्ष मूल्य है, तो वह वास्तव में यही बता रहा है कि अधिकतर व्यक्ति शुभ का यह अर्थ करते हैं। यहां पर हमें मोर का यह दृष्टिकोण स्वीकार करना पड़ेगा कि वे विशेष वस्तुएं, जिनमें शुभ व्यापक है, शुभ की व्याख्या तो अवश्य करती हैं, किन्तु वे उसकी परिभाषा नहीं कर सकतीं और न हमें उन विशेष वस्तुओं को ऐसी परिभाषा स्वीकार करना चाहिए। हमने यह पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि शुभ शब्द की व्यापकता को प्रमाणित करने के लिए, मोर हमारे सामने एक निषेधात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, किन्तु शुभ की यह निषेधात्मक धारणा वास्तव में शुभ को विधेयात्मक तत्त्व प्रमाणित करने की चेष्टा करती है।

मोर ने शुभ तथा अन्य वस्तुओं के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए कहा है कि किसी वस्तु को या तो इसलिए शुभ कहा जा सकता है कि वह स्वयं शुभ है, या इसलिए कि वह किसी ऐसी अन्य वस्तु से सम्बन्धित है, जो स्वयं शुभ है। दूसरी दृष्टि के अनुसार, शुभ एक साधन है एवं परोक्ष मूल्य है; पहली दृष्टि के अनुसार, शुभ स्वलक्ष्य है। किन्तु इन दोनों दृष्टियों से यह स्पष्ट होता है कि शुभ एक सरल, परिभाषातीत और विश्लेषणा-

तीत विचार का ऐसा विषय है जिसकी परिभाषा वह स्वयं ही है।

शुभ की उपर्युक्त दो धारणाएं, शुभ को दो प्रकार का मूल्य सिद्ध करती हैं। साधन के रूप में, शुभ परोक्ष मूल्य होता है और स्वलक्ष्य शुभ होता है। जब भी हम किसी वस्तु को परोक्ष शुभ स्वीकार करते हैं, तो हम उसके कार्य-कारणों के सम्बन्धों की दृष्टि से निर्णय दे रहे होते हैं। हम इन दोनों बातों का निर्णय देते हैं कि इसका विशेष परिणाम होगा और वह परिणाम अपने-आपमें शुभ होगा; किन्तु ऐसे कारणात्मक निर्णय ढूंढ़ना, जोकि व्यापक सत्य हों, एक महान कठिन कार्य है। यह बात निश्चित है कि विभिन्न परिस्थितियों में, एक ही कर्म ऐसे परिणामों को उत्पन्न कर सकता है, जोकि हर प्रकार से विभिन्न होते हैं और जिन विभिन्नताओं पर उनका मूल्य निर्भर रहता है। अतः इस प्रकार के नैतिक निर्णय में, हम केवल सामान्य वाक्य पर ही पहुंचते हैं। जब नैतिक निर्णयों में यह निश्चित किया जाता है कि अमुक प्रकार का कर्म अमुक प्रकार के परिणाम के लिए साधन के रूप में शुभ है, तो वह निर्णय कदापि व्यापक रूप से सत्य नहीं हो सकता। ऐसे निर्णयों में से जो अधिकतर किसी एक समय के लिए सत्य होते हैं, वे अन्य समय में असत्य हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, यह निर्णय देना कि एक कर्म सामान्यतया शुभ के लिए साधन है, न केवल यह ही निश्चित करना है कि वह प्रायः कुछ न कुछ शुभ उत्पन्न करता है, अपितु यह बताना है कि वह अधिकतर इतना अधिक शुभ उत्पन्न करता है, जितना कि परिस्थितियां आज्ञा देती हैं। इस दृष्टि से शुभ साधन के रूप में सदैव सापेक्ष ही रहता है।

जब शुभ को उद्देश्य की दृष्टि से प्रयोग में लाया जाता है और उसे किसी अन्य उद्देश्य का साधन-मात्र ही नहीं समझा जाता, तब भी उसके दो अर्थ हो सकते हैं, या तो उसको केवल नैतिक दृष्टि से समझा जा सकता है या सामान्य दृष्टि से। उदाहरणस्वरूप, शुभ कविता, सम्भवतया किसी अन्य वस्तु का साधन न हो, किन्तु फिर भी उसे तभी नैतिक दृष्टि से शुभ माना जा सकता है, जबकि वह किसी शुभ का साधन हो। आचार-विज्ञान में हमारा सम्बन्ध नैतिक शुभ से है। जब शुभ का अर्थ सामान्य दृष्टि से लिया जाता है, तो उसे साधन की दृष्टि से अथवा स्वलक्ष्य दृष्टि से एक मूल्य स्वीकार किया जाता है। नैतिक दृष्टि से शुभ का अर्थ वह मूल्य है जो नैतिक उपयुक्तता अथवा परिमाण रखता हो। मैकन्ज़ी का कहना है कि नैतिक दृष्टि से उसे उदार एवं पारमार्थिक कर्म अथवा क्रिया कहा जा सकता है, अर्थात् वह शुभ का वह प्रकार है, जिसका विशेष लक्षण अन्य प्रकार के शुभों का उत्पादन अथवा प्रोत्साहन है। एक शुभ मनुष्य वह मनुष्य है, जोकि सब प्रकार के यथार्थ मूल्यों को प्रोत्साहन देता है, चाहे वे मूल्य परोक्ष हों अथवा स्वलक्ष्य। व्यक्ति को यथासम्भव मूल्यों को प्रोत्साहन देना चाहिए। उपयोगितावाद का अर्थ हम इस दृष्टि से यथार्थ रूप में कर सकते हैं। यथार्थ उपयोगितावाद का अर्थ यह नहीं है कि वह केवल एक मूल्य सुख को ही लक्ष्य बनाए, इसके विपरीत इसका अर्थ यह है कि वह हर प्रकार के मूल्यों को अपना लक्ष्य समझे। सभी मूल्यों को प्रोत्साहित करने का अर्थ स्वयं नैतिक शुभ को प्रोत्साहित करना है। इस प्रकार नैतिक दृष्टि से शुभ, साधन भी है और

साध्य भी। यही कारण है कि मोर ने शुभ की परिभाषा देते हुए कहा है, "शुभ एक ऐसा शरीर-विषयक पूर्ण है, जिसके सभी अंग स्वलक्ष्य मूल्य होते हैं।"[1]

मोर की यह धारणा शुभ को एक व्यापक और स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार करती है। डाक्टर मोर इस प्रकार जो शुभ की धारणा प्रस्तुत करता है, उसमें सम्भवतया वह उस व्यक्तिगत तत्त्व की अवहेलना करता है, जोकि मूल्यांकन में उपस्थित रहता है। मोर ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शुभ उस समय भी शुभ ही रहेगा, जबकि कोई विचारशील व्यक्ति उसका निर्वाचन न भी कर रहा हो। किन्तु मैकन्ज़ी की यह धारणा है कि शुभ में व्यक्तिगत निर्वाचन का तत्त्व सदैव उपस्थित रहता है। डा० मोर अपने दृष्टिकोण को सौन्दर्य के उदाहरण से प्रमाणित करने की चेष्टा करता है। उसका कहना है कि सौन्दर्य बिना किसी चैतन्य निर्वाचन के प्रकरण के भी शुभ ही माना जाएगा। मोर के शब्दों में, "मान लीजिए कि हम एक अत्यन्त सुन्दर विश्व की कल्पना करते हैं। वह विश्व इतना सुन्दर है, जितनी कि हम उसकी कल्पना कर सकते हैं। इसमें वे सभी वस्तुएं उपस्थित हैं, जिनकी हम प्रशंसा करते हैं······पर्वत, नदियां, समुद्र, वृक्ष, सूर्यास्त के दृश्य, नक्षत्र तथा चन्द्रमा आदि। यह कल्पना कीजिए कि ये सभी वस्तुएं अत्यन्त पर्याप्त मात्रा में उस विश्व में इस प्रकार उपस्थित हैं कि उनमें कोई भी वस्तु दूसरी वस्तु का विरोध नहीं करती, अपितु प्रत्येक वस्तु सौन्दर्य के पूर्ण की वृद्धि करती है। इसके पश्चात्, एक ऐसे अत्यन्त असुन्दर विश्व की कल्पना कीजिए जो अत्यन्त ही असुन्दर है। ऐसी कल्पना कीजिए कि वह केवल एक कूड़े का ढेर है। उसमें वे सभी वस्तुएं हैं, जो हर प्रकार से हमारे लिए घृणास्पद हैं और उस पूर्ण में कोई भी सन्तोष देनेवाली वस्तु नहीं है। इस प्रकार के दो विश्वों की हम तुलना कर सकते हैं। ऐसा करते हुए एक वस्तु, जिसकी कल्पना कि निषिद्ध है, यह है कि किसी भी व्यक्ति ने कभी उनमें से एक के सौन्दर्य का अनुभव किया है, अथवा दूसरे विश्व के असुन्दर होने के प्रति घृणा की है।" मोर का अभिप्राय यह है कि हम ऐसे दो विश्वों की कल्पना कर सकते हैं और साथ ही यह भी कल्पना कर सकते हैं कि यदि किसी व्यक्ति ने इन दोनों विश्वों का अनुभव न भी किया हो और इनकी कल्पना न भी की हो, तब भी क्या यह मानना असंगत होगा कि असुन्दर विश्व की अपेक्षा सुन्दर विश्व का ही अस्तित्व हो। क्या यह अच्छा नहीं होगा कि जितना भी हो सके, हम असुन्दर विश्व की अपेक्षा सुन्दर विश्व को उत्पन्न करने की चेष्टा करें।

मोर का इस प्रकार के उदाहरण द्वारा, सौन्दर्य को असुन्दरता की अपेक्षा श्रेष्ठ स्वीकार करने का उद्देश्य मूल्य को शाश्वत और व्यापक प्रमाणित करने की चेष्टा करना है। कुछ सीमा तक मोर का दृष्टिकोण संगत है, किन्तु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि किसी भी मूल्य को श्रेष्ठ स्वीकार करना एक मानवीय क्रिया है। जब मोर यह कहता है, "दो कल्पित विश्व मानवीय कल्पना से सम्भवतया पृथक् हो सकते हैं," उस समय वह इस बात को भूल जाता है कि वह स्वयं ऐसी कल्पना कर रहा है और वह एक विचारशील

१. "Good is an organic whole of intrinsically valuable parts."

व्यक्ति है, जोकि एक विश्व की अपेक्षा दूसरे विश्व का निर्वाचन करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कोई भी मूल्य अथवा शुभ उस समय तक निरर्थक एवं असम्भव सिद्ध होगा, जब तक वह किसी भी विचारशील व्यक्ति द्वारा निर्वाचित नहीं किया जाता। डा० मोर स्वयं इस बात को स्वीकार करता है कि शुभ एक तर्कात्मक संकल्प का विषय है और उसका निर्वाचन उपयुक्त है।

शुभ की उपर्युक्त व्याख्या हमें यह स्वीकार करने पर बाध्य करती है कि नैतिकता का लक्ष्य निस्सन्देह शुभ है और वह शुभ इतना व्यापक है कि उसमें तर्क तथा सुख दोनों महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के रूप में उपस्थित होते हैं। नैतिक शुभ मानवीय निर्वाचन पर आधारित होने के कारण सापेक्ष प्रतीत होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस सापेक्षता की उपस्थिति में, हम उच्चतम सुख किसे कह सकते हैं। यदि नैतिक शुभ का अर्थ विचारशील प्राणी के निर्वाचन द्वारा प्राप्त तुष्टि है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक दृष्टि से उच्चतम शुभ वही होगा, जो एक विचारशील प्राणी को पूर्ण तुष्टि दे। हमें अन्त में कुछ ऐसी मूल्यवान वस्तु को प्राप्त करके सम्भवतया सन्तुष्ट रहना पड़ेगा, जोकि हमारी उस आशा से कुछ कम है, जिसको लक्षित करके और जिसको सम्भव मानकर हमने अपने प्रयत्न आरम्भ किए थे, किन्तु फिर भी यह आवश्यक है कि हम उस पूर्ण शुभ की धारणा को समझने की चेष्टा करें, जिसे परम शुभ कहा जा सकता है; क्योंकि नैतिक शुभ का अर्थ इसी परम शुभ के प्रकरण में ही समझा जा सकता है। यदि उसी शुभ को परम शुभ मान लिया जाए, जोकि किसी विचारशील प्राणी को पूर्ण तुष्टि देता है, तो भी ऐसी तुष्टि का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। मनुष्य जैसे प्राणी को पूर्णतया सन्तुष्ट करना कुछ असम्भव-सा प्रतीत होता है। अंग्रेज़ी भाषा के एक विद्वान ने लिखा है कि एक चमार को भी विश्व की सम्पूर्ण सम्पत्ति पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं कर सकती। ईश्वर का विश्व इतना विशाल है कि उसमें हर समय किसी न किसी वस्तु को प्राप्त करने की आकांक्षा बनी ही रहती है। यदि हम ऐसे व्यक्ति की तुष्टि की सम्भावना पर विचार करें, तो हम यह कल्पना कर सकते हैं कि सम्भवतया सम्पूर्ण विश्व का आधिपत्य भी उसे पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं कर सकता। यदि उसे यह आधिपत्य प्राप्त भी हो जाए, तब भी वह उस समय तक पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं होगा, जब तक कि यह प्राप्ति एक परममूल्यात्मक प्राप्ति न हो। यदि वह परममूल्यात्मक प्राप्ति नहीं है, तो वह इसे अधिक श्रेष्ठ बनाने की चेष्टा करता रहेगा। इस उदाहरण से यह प्रतीत होता है कि पश्चिमीय दार्शनिकों की दृष्टि में परम शुभ वह उच्चतम मूल्य है, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् उसकी पूर्णता के कारण किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती। यही कारण है कि मैकन्ज़ी 'परम शुभ' की परिभाषा देते हुए कहता है, "मैं इसलिए 'परम शुभ' की परिभाषा देते हुए कह सकता हूं कि वह एक पूर्णतया व्यवस्थित ऐसा विश्व है, जिसको जान लिया गया है और जिसको निर्वाचित किया गया है।"

परम शुभ की यह धारणा अंशतः तत्त्वात्मक तथा अंशतः नैतिक है। इस प्रकार

के व्यवस्थित विश्व के वास्तविक अस्तित्व का प्रश्न तत्त्व-मीमांसा का प्रश्न है और इस दृष्टि से वह एक तत्त्वात्मक धारणा है। किन्तु इसको तर्कात्मक निर्वाचन का विषय मानना इसकी नैतिक धारणा स्वीकार करना है। यहां पर आचार-विज्ञान और तत्त्व-मीमांसा का समन्वय होता है और जब तक इस परम शुभ के नैतिक तत्त्वात्मक (Ethico-metaphysical) स्वरूप की पूरी व्याख्या न की जाए, तब तक कोई भी ऐसा नैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, जो मानव-मात्र के लिए निरपेक्ष रूप से आदर्श स्वीकार किया जा सके। पश्चिमीय दर्शन में परम शुभ को स्वीकार करते हुए भी उसकी तत्त्वात्मक धारणा की अवहेलना की जाती है और ऐसे परम शुभ को केवल आदर्श मानकर यह स्वीकार किया जाता है कि इस शुभ की प्राप्ति ऐसी वस्तु है, जिसकी क्रमिक अनुभूति हो सकती है। इस अवस्था में, नैतिकता सदैव एक ऐसी सापेक्ष क्रिया रह जाती है, जिसका उद्देश्य इस परममूल्यात्मक विषय की, एक विचारशील प्राणी के द्वारा, चेष्टा किया जाना है। इसलिए पश्चिमीय विचारक पूर्ण शुभ को एक ऐसा आदर्श मानते हैं, जो अनुभूति से परे होते हुए भी एक ऐसा उद्देश्य है, जोकि एक विचारशील प्राणी का यथा-सम्भव लक्ष्य है। उनकी यह धारणा है कि विशुद्ध नैतिकता की दृष्टि से यह प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता कि क्या उस परम शुभ की अनुभूति पूर्णतया हो सकती है कि नहीं। पश्चिमीय आचार-विज्ञान की यह सापेक्षता पश्चिमीय दर्शन की स्वाभाविक देन है। पश्चिमीय दर्शन का दृष्टिकोण सदैव विश्लेषणात्मक रहा है और इसी कारण पश्चिमीय दर्शन की विभिन्न शाखाएं धीरे-धीरे दर्शन से पृथक् होकर स्वतन्त्र विज्ञान बन गई हैं। पश्चिमीय दार्शनिकों की यह धारणा कि नैतिक-विज्ञान तत्त्व-मीमांसा से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र अध्ययन है, उन्हें शुभ के तत्त्वात्मक दृष्टिकोण की ओर उपेक्षा करने पर बाध्य करती है।

हमारी पश्चिमीय आचार-विज्ञान के प्रति यह आलोचना, मैकन्ज़ी द्वारा दी गई परम शुभ तथा नैतिक शुभ के परस्पर सम्बन्ध की धारणा द्वारा पुष्ट होती है। मैकन्ज़ी की दृष्टि से शुभ, शुभ का निर्वाचन तथा शुभ की प्राप्ति का प्रयत्न—तीन विभिन्न तथ्य हैं। यद्यपि वह इस बात को मानकर चलता है कि इन तीनों का पूर्ण पार्थक्य सम्भव नहीं है, तथापि वह इनकी परस्पर-विभिन्नता को व्यावहारिक दृष्टि से अनिवार्य समझता है। उसका कहना है कि एक पूर्ण विश्व की धारणा निर्वाचन तथा परम शुभ की अनुभूति के लिए, प्रयत्न के बिना निरर्थक सिद्ध होती है। यदि एक पूर्ण विश्व को बिना प्रयत्न अथवा निर्वाचन के सम्भव मान लिया जाए, तो ऐसे विश्व में नैतिकता का कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु पश्चिमीय दार्शनिकों की यह धारणा सर्वथा असंगत है और इस असंगतता का कारण उनकी विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति है। कांट से लेकर आधुनिक समय के बुद्धिवादी विचारकों तक, सभी पश्चिमीय दार्शनिक तत्त्वात्मक आधारभूत सत्ता को नैतिकता से गौण मानते चले आए हैं। अतः उनकी यह धारणा है कि किसी भी परम सत्ता का उस समय तक अस्तित्व नहीं हो सकता, जब तक कि वह सत्ता मनुष्य के व्यावहारिक जीवन

के लिए उपयोगी न हो। पश्चिमीय दर्शन का व्यावहारिकता पर तथा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति पर आवश्यकता से अधिक बल देना उसमें उपस्थित सापेक्षता और द्वैतवाद का मुख्य कारण है। हमने कांट के सम्बन्ध में पहले भी बताया है कि वह मनुष्य को तो स्वलक्ष्य मानता है, अपितु सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापी ईश्वर की सत्ता को मनुष्य की नैतिकता के फल की प्राप्ति का साधन-मात्र स्वीकार करता है। मैकन्ज़ी का यह कथन कि यदि निर्वाचन और प्रयत्न के बिना किसी पूर्ण विश्व के अस्तित्व को इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसमें नैतिकता का कोई स्थान नहीं रहता, इस बात को पुष्ट करता है कि वह परम शुभ को नैतिकता के लिए आवश्यक मानता है, न कि नैतिकता को परम शुभ के लिए।

पश्चिमीय दार्शनिकों ने सापेक्ष नैतिकता को ही एकमात्र नैनिकता स्वीकार करके और परम शुभ को एक कल्पना-मात्र मानकर, एक ऐसा नैतिक दर्शन प्रस्तुत किया है, जिसमें कर्म तथा लक्ष्य का, नैतिकता तथा शुभ का पार्थक्य हो जाता है और उसमें दर्शन तथा तर्क, तत्त्व-मीमांसा तथा परम शुभ, सभी मानव के व्यावहारिक जीवन से गौण प्रमाणित हो जाते है। इसी प्रकार उनकी परम सत् तथा परम सौन्दर्य की धारणाएं भी कोरी कल्पनाएं रह जाती हैं।

पश्चिमीय दार्शनिक यह अनुमान कदापि नहीं लगा सके कि परम शुभ की एक धारणा ऐसी भी हो सकती है जो एक पूर्ण की धारणा हो और जिसकी अनुभूति नैतिक कर्म के द्वारा इसी जीवन में भी सम्भव हो। यह धारणा किसी कपोल-कल्पित आदर्श की धारणा नहीं है, अपितु एक ऐसे वास्तविक अस्तित्वात्मक स्तर की धारणा है, जिसको प्रत्येक सामान्य मनुष्य, आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा नैतिक कर्म, यथार्थ ज्ञान और निष्ठात्मक प्रेम एवं भक्तिके द्वारा प्राप्त कर सकता है और जिसकी स्वीकृति निर्वाचन तथा प्रयत्न को बहिष्कृत नहीं करती, अपितु उनको विवेकपूर्ण तथा निःस्वार्थ बनाती है। इस विवेकपूर्ण निर्वाचन तथा निःस्वार्थ प्रयत्न के द्वारा मनुष्य व्यक्तिगत तथा सामाजिक हितों का समन्वय करता हुआ, अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन करता हुआ और मानव-मात्र के कल्याण को अग्रसर करता हुआ, एक ऐसे उच्च स्तर पर पहुंच जाता है, जिसको प्राप्त करके वह सभी द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है। यह स्तर निरपेक्ष नैतिकता का उच्चतम स्तर है और इसीको भारतीय दर्शन में मोक्ष कहा गया है। मोक्ष की धारणा एक वास्तविक परम शुभ की धारणा है और इसीके अभाव से पश्चिमीय आचार-विज्ञान में अनेक भ्रान्तियां उत्पन्न हुई हैं।

हम इस धारणा के व्यावहारिक अंग पर आगे चलकर प्रकाश डालेंगे, किंतु यहां पर इतना कह देना पर्याप्त है कि ऐसी धारणा का उद्देश्य सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करना नहीं है, अपितु उन मूल्यों को उदात्त रूप देना है। सामाजिक तथा आर्थिक मूल्य इस परम मूल्य की अपेक्षा में साधन बन जाते हैं और ये साधन व्यक्ति तथा समाज दोनों के समन्वयात्मक विकास के लिए उपयोगी प्रमाणित होते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि

मोक्ष के अतिरिक्त अन्य मूल्यों की अवहेलना की जाए। इन सभी मूल्यों का यथास्थान अपना-अपना महत्त्व है और उस महत्त्व का ज्ञान हमें तभी हो सकता है, जब हम एक ऐसे व्यापक परम मूल्य का ज्ञान रखते हों, जोकि इन मूल्यों के परस्पर-संघर्ष एवं विरोध का समन्वय कर सके और जो स्वयं इन सभीका उद्देश्य होते हुए भी और इनसे परे होते हुए भी, इनका निषेध न करे। पश्चिमीय आचार-विज्ञान में भी मूल्यों की जो सूची निर्मित की गई है, वह अन्ततोगत्वा भारतीय दर्शन में प्रतिपादित चार पुरुषार्थों के अन्तर्गत की जा सकती है। किन्तु पश्चिमीय दार्शनिक विश्लेषणात्मक विधि के अपनाने के कारण, चार मूल्यों के स्थान पर आठ मुख्य मूल्यों की सूची प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि इनका वर्गीकरण तीन मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है।

मूल्यों को सामान्यतया निम्नलिखित आठ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) शरीरात्मक मूल्य (Bodily values)
(२) आर्थिक मूल्य (Economic values)
(३) मनोरंजनात्मक मूल्य (Values of recreation)
(४) सामाजिक मूल्य (Values of association)
(५) चरित्रात्मक मूल्य (Character values)
(६) सौन्दर्यात्मक मूल्य (Aesthetic values)
(७) बौद्धिक मूल्य (Intellectual values)
(८) धार्मिक मूल्य एवं ईश्वर-विषयक मूल्य (Religious values)

इस प्रकार की सूची हमें डब्ल्यू० एम० अरबन की आचार-विज्ञान की पुस्तक में मिलती है। यह वर्गीकरण भी निस्संदेह एक व्यवस्था का द्योतक है। इसमें हम शारीरिक तथा आर्थिक मूल्यों को प्रथम स्थान देते हैं, क्योंकि शरीर को ही सभी आदर्शों का पालन करने के लिए मुख्य साधन माना गया है और शरीर के पोषण के लिए अर्थ एवं धन की आवश्यकता रहती है। अरबन का भी यही दृष्टिकोण है कि "शारीरिक तथा आर्थिक मूल्य इसलिए आधारभूत माने जाते हैं, क्योंकि वे मानवीय जीवन के लिए पूर्णतया अनिवार्य हैं, जबकि मूल्यों के अन्य वर्ग क्रमशः कम आवश्यक हैं।"[1] अरबन का यह कथन पश्चिमीय भौतिकवाद का प्रतीक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शरीर का नैतिकता में मुख्य स्थान है, किन्तु जहां पर भौतिकवाद शरीर को इतना अधिक महत्त्व देता है कि वह आध्यात्मिक जीवन के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता, वहां अरबन सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को स्वीकार तो करता है, किन्तु उनको कम आवश्यक घोषित करके उनके महत्त्व को कम कर देता है। सम्भवतया वह जीवन को अधिक महत्त्व देता है और इसलिए इसी क्रम को श्रेष्ठ मानता है।

मनोरंजनात्मक मूल्यों का स्थान भी इसी सूची के अनुसार ऊंचा स्थान है। शारीरिक, आर्थिक तथा मनोरंजनात्मक मूल्यों को समकक्ष इसलिए माना गया है कि वे

१. Urban Fundamentals of Ethics, Page 163.

सभी हमारी शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। शारीरिक व्यक्तित्व के पश्चात्, सामाजिक व्यक्तित्व को स्थान दिया गया है और सामाजिक तथा चरित्रात्मक मूल्यों को समकक्ष माना गया है। अरबन पहले तीन मूल्यों को शरीर-विषयक मूल्य (Organic values) कहता है और दूसरे दो मूल्यों को सामाजिक मूल्य कहता है। इसी प्रकार वह बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक तथा धार्मिक मूल्यों को समकक्ष मानकर उन्हें आध्यात्मिक मूल्य कहता है। उसकी दृष्टि से सौन्दर्यात्मक, बौद्धिक तथा धार्मिक मूल्य शरीर तथा सामाजिक व्यक्तित्व से सम्बन्धित होते हुए भी और उनपर निर्भर होते हुए भी व्यक्ति की उस प्रक्रिया से उत्पन्न होते हैं, जोकि इनसे परे होती है। यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि पश्चिमीय दर्शन आध्यात्मिक प्रक्रिया को शारीरिक तथा सामाजिक प्रक्रियाओं से परे तो मानता है, किन्तु आत्मा को मन तथा शरीर का आधार न मानकर शरीर को ही इन सबका आधार स्वीकार करता है। इस प्रकार आध्यात्मिक मूल्यों को उच्च स्थान देने का अर्थ केवल सैद्धान्तिक उत्सुकता को तृप्त करना ही प्रतीत होता है। पश्चिमीय दर्शन आध्यात्मिकता को एक अमूर्त तत्त्व बना देता है और शरीर को ही एक-मात्र व्यक्तित्व का आधार मानकर स्वभावतया इस भ्रान्ति को उत्पन्न कर देता है कि जीवन का मुख्य उद्देश्य आर्थिक मूल्यों के द्वारा सुख की प्राप्ति-मात्र ही है, चाहे वह सुख व्यक्तिगत हो, चाहे सामूहिक।

शरीर-विषयक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों को निम्नलिखित दो मुख्य वर्गों में भी विभक्त किया गया है, जिसमें कि (१) शारीरिक, आर्थिक तथा मनोरंजनात्मक मूल्यों को तो शरीर-विषयक माना गया है और (२) सामाजिक तथा (३) आध्यात्मिक मूल्यों को उच्चतम शरीर-विषयक (Hyper-organic) मूल्य माना गया है। इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि यह तथाकथित उच्चतम शरीर-विषयक मूल्य वास्तव में गौण मूल्य हैं, क्योंकि इन्हें शरीर-विषयक मूल्यों की प्राप्ति के लिए साधन स्वीकार किया गया है। यद्यपि अरबन यह कहता है कि आध्यात्मिक शब्द का अर्थ दिव्य दृष्टि से किया जा सकता है, किन्तु वह स्पष्ट रूप से कहता है कि धर्म तथा धार्मिक विश्वास और परम्पराएं मनुष्य के आर्थिक और सामाजिक जीवन के निमित्त मूल्य हैं। ईश्वर में विश्वास रखनेवाला व्यक्ति, सम्भवतः अपने-आपको ईश्वर द्वारा नियुक्त निमित्त मानकर, अपने व्यापार में सतत प्रयत्न इसलिए कर सकता है कि वह ईश्वर की आज्ञा का पालन कर रहा है। इस प्रकार का दृष्टिकोण एक उपयोगितावादी दृष्टिकोण अवश्य है, किन्तु वह आत्मा को तत्त्व न मानकर एक अमूर्त धारणा-मात्र स्वीकार करता है। यही कारण है। कि पश्चिम में शरीर तथा आत्मा, विश्व तथा ईश्वर, विज्ञान तथा धर्म—इनमें सदैव पार्थक्य बना रहता है और जब कभी इन दोनों के परस्पर-सम्बन्ध की व्याख्या दी जाती है, तो उसमें प्रत्यक्ष शरीर को, जोकि वैज्ञानिक ज्ञान का विषय बन सकता है, एक वास्तविक सत्ता स्वीकार किया जाता है और आत्मा तथा ईश्वर को धारणा-मात्र स्वीकार करके आध्यात्मिकता को गौण माना जाता है।

पश्चिमीय दर्शन की यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है और उसका मुख्य कारण यही है कि जिस प्रकारकी आध्यात्मिकता पश्चिम में पनपी है, उसका मूल आधार अनुभूत तत्त्वात्मक सत्ता न होकर केवल विश्वास पर आधारित ईसाई धर्म है, जो आज तक भी विज्ञान से पृथक् स्वीकार किया जा रहा है और जिसकी परम्पराएं तथा जिसके विश्वास अवैज्ञानिक प्रमाणित हो जाने के पश्चात् भी प्रगतिशील, प्रज्ञानिष्ठ विवेक तथा तर्क को दर्शन की एकमात्र विधि माननेवाले पश्चिमीय दार्शनिकों द्वारा शिरोधार्य स्वीकार किए जा रहे हैं। किन्तु उनकी यह स्वीकृति एक औपचारिक चिह्न ही प्रतीत होती है, क्योंकि वे धर्म को तर्क से सर्वथा पृथक् रखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि या तो धार्मिक विश्वासों को और धार्मिक अनुभव को विश्वासातीत मानकर, उनके अस्तित्व को पारलौकिक स्वीकार किया जाता है, या उनको केवल कल्पना ही माना जाता है। जो दार्शनिक पहली दृष्टि को अपनाते हैं, वे प्रायः धर्म तथा धार्मिक अनुभव पर किसी प्रकार की आलोचना न करते हुए, उन्हें उपयोगिता की दृष्टि से (Pragmatically) निमित्त मूल्य-मात्र ही मानते हैं। दूसरी दृष्टि को अपनानेवाले कतिपय दार्शनिक हैं, जो अपने-आपको स्वभाववादी अथवा भौतिकवादी कहते हैं और जो धर्म को जीवन में कोई स्थान नहीं देते। दोनों अवस्थाओं में, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता को परस्पर सर्वथा पृथक् माना जाता है, इसलिए पश्चिमीय नैतिकता का उच्चतम स्तर, सामाजिक कल्याण का स्तर है और उसके उच्चतम मूल्य वे मूल्य हैं, जो समाज को आर्थिक, शारीरिक तथा मानसिक तृप्ति की दृष्टि से सुखी बना सकें।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पश्चिमीय आचार-विज्ञान की मूल्य की धारणा नैतिकता की व्याख्या करने में सहायक तो अवश्य है, किन्तु उसका गम्भीर विश्लेषण हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि जब तक नैतिक मूल्यों को उस परम मूल्य से सम्बन्धित न किया जाए कि जिसकी प्राप्ति न ही केवल काल्पनिक हो, अपितु एक वास्तविक अनुभूति हो, तब तक नैतिकता का कोई ऐसा आदर्श सर्वमान्य स्वीकार नहीं किया जा सकता, जिसपर चलकर व्यक्ति सामाजिक मूल्य से संघर्ष न करता हुआ भी पूर्णता को प्राप्त कर सके। जब तक हम एक ऐसे परम मूल्य की धारणा प्रस्तुत नहीं कर सकते कि जिसमें शरीर-विषयक तथा उच्चतम शरीर-विषयक मूल्यों का सुन्दर समन्वय हो और जो व्यक्तित्व का ऐसा विकास कर सके कि उस विकास की प्राप्ति के पश्चात्, मनुष्य न ही केवल मानव-समाज को अपना शरीर समझ सके, अपितु विश्व-मात्र को अपनी आत्मा में स्थित अनुभूत करे, तब तक पश्चिमीय आचार-विज्ञान में उपस्थित निरन्तर द्वन्द्व एवं सुख तथा तर्क, तृप्ति तथा आदर्श, व्यक्तिगत हित तथा सामाजिक हित आदि में परस्पर-संघर्ष और सापेक्षता का कदापि निवारण नहीं हो सकता।

पश्चिमीय आचार-विज्ञान की इस असामंजस्य की परिस्थिति को सुलझाने का एकमात्र उपाय भारतीय दर्शन की मोक्ष की धारणा की स्वीकृति है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि पश्चिमीय दर्शन भारतीय दर्शन को अपनाकर अपने धार्मिक विचारों का

अवलम्बन न करे, क्योंकि सम्भवतया मोक्ष की धारणा ईसाई धर्म के विश्वासों के विपरीत समझी जा सकती है। वास्तव में मोक्ष की धारणा किसी भी धर्म अथवा धार्मिक विश्वासों के विपरीत नहीं है, अपितु वह किसी न किसी रूप में प्रत्येक धर्म में उपस्थित है और प्रत्येक धर्म को प्रोत्साहन देती है। भारतीय दर्शन में निस्सन्देह यह धारणा अत्यन्त स्पष्ट और व्यापक रूप से प्रतिपादित की गई है। यदि धर्म का अर्थ विशेष मत एवं विशेष धार्मिक विश्वास समझा जाए, तो उस दृष्टि से मोक्ष की धारणा को कदापि धार्मिक नहीं कहा जा सकता। यह धारणा न तो इस दृष्टि से केवल धार्मिक है, न केवल नैतिक है और न केवल सामाजिक है और न ही एक व्यक्तिगत दृष्टि है, अपितु वह एक ऐसी नैतिक तात्त्विक धारणा (Ethico-metaphysical concept) है, जिसमें कि मनुष्य का मनोवैज्ञानिक स्वभाव, उसकी बौद्धिक मान्यताएं, उसकी रचनात्मक प्रवृत्तियां और उसका मूल्यात्मक व्यक्तित्व इस प्रकार समन्वित हो जाते हैं कि उसे एक बार जीवन का लक्ष्य स्वीकार करने के पश्चात् व्यक्ति स्वत: ही नैतिकता का निरन्तर अनुसरण करता हुआ अपना तथा समाज का कल्याण कर सकता है और नैतिकता को सार्थक बना सकता है। हम इस धारणा की पूर्ण व्याख्या आगे चलकर करेंगे। यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि मोक्ष एक ऐसा परम मूल्य है कि जिसमें ऊपर दिए गए शरीर-विषयक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्य अपना-अपना उचित स्थान प्राप्त करते हैं और जो परम शुभ की उस परिभाषा को तर्कसंगत प्रमाणित करता है जिसके अनुसार परम शुभ स्वलक्ष्य मूल्यों का शरीर-विषयक पूर्ण (An organic whole of intrinsically valuable parts) माना गया है। यह धारणा नैतिक प्रयत्न को प्रोत्साहित करती है और निमित्त तथा स्वलक्ष्य मूल्यों को समान रूप से उपयोगी मानती है।

मानवीय मूल्यों का मूलप्रवृत्यात्मक आधार

ऐसे परम मूल्य की धारणा की अनुपस्थिति में यह स्वाभाविक है कि मानवीय मूल्यों का आधार उन मानवीय मूल प्रवृत्तियों एवं प्रेरकों को स्वीकार किया जाए, जोकि मनुष्य में परम्परा से उपस्थित स्वीकार किए जाते हैं। चाहे इन प्रवृत्तियों को मूल प्रवृत्तियां कहा जाए, चाहे जन्मजात प्रेरक अथवा रुचियां कहा जाए, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह प्रवृत्तियां मानव-मात्र में उपस्थित हैं और मनुष्य के व्यवहार का आवश्यक और अनिवार्य अंग हैं। अत: शरीर-विषयक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का इन जन्मजात प्रवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणस्वरूप, भोजन ढूंढ़ने की प्रवृत्ति, काम की प्रवृत्ति तथा खेलने की प्रवृत्ति निस्सन्देह हमारे शरीर के विकास से सम्बन्ध रखती हैं तथा मनोरंजन का भी साधन हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि भोजन ढूंढ़ने की प्रवृत्ति तथा कामवृत्ति, शारीरिक मूल्यों का आधार हैं। इन प्रवृत्तियों की अनिवार्य तृप्ति हमें शारीरिक मूल्यों को स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है। इसी प्रकार संचय करने की प्रवृत्ति तथा शारीरिक क्रियाशीलता की प्रवृत्ति हमें आर्थिक मूल्यों को स्वीकार करने के लिए और श्रम द्वारा

अर्थ उत्पन्न करने के लिए बाध्य करती हैं। खेल की प्रवृत्ति को निस्सन्देह मनोरंजन का आधार माना जा सकता है।

मनुष्य की सामूहिक प्रवृत्ति (Gregarious instinct) जो उसे सामाजिक प्राणी प्रमाणित करती है, उसे संस्थात्मक एवं सामाजिक मूल्यों को स्वीकार करने पर बाध्य करती है। सहानुभूति, आत्मप्रकाशन तथा आत्महीनता की प्रवृत्तियां चरित्र-सम्बन्धी मूल्यों का आधार हैं। ये तीनों प्रवृत्तियां ही मनुष्य को अपने-आपमें सद्गुण विकसित करने तथा अपने चरित्र का निर्माण करने पर बाध्य करती हैं। उत्सुकता की प्रवृत्ति को बौद्धिक मूल्यों का आधार माना जाता है और कुछ सीमा तक खेल की प्रवृत्ति को सौन्दर्यात्मक मूल्यों का प्रेरक स्वीकार किया जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिक धार्मिक प्रवृत्ति को, और कुछ दिव्य भय को धार्मिक मूल्यों का आधार मानते हैं। मूल प्रवृत्तियों का मानवीय मूल्यों से यह सम्बन्ध इस बात को प्रमाणित करता है कि मूल्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही स्वीकार किए जाते हैं, इसलिए आत्मानुभूति के आदर्श का अर्थ इन मूल्यों को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध करना है। इन मूल्यों की अनुभूति ही आत्मानुभूति है, किंतु पश्चिमीय आचार-विज्ञान यह मानकर चलता है कि पूर्ण रूप से आत्मानुभूति सम्भव नहीं हो सकती। अरबन का कहना है कि एक दृष्टि से, मनुष्य की सभी क्षमताओं का पूर्ण विकास, जिसे कि आत्मानुभूति का आवरण दे दिया जाता है, केवल आदर्श-मात्र है। वह हमें एक दिशा अवश्य दिखलाता है और मनुष्य की चैतन्य क्रियाशीलता को प्रेरित करता है। अरबन के शब्दों में, "सम्पूर्ण आत्मानुभूति अथवा आत्मा की एक ही कर्म में सहसा अनुभूति नाम की कोई वस्तु नहीं है। जीवन एक प्रक्रिया है एवं अपने स्वभाव से ही निर्वाचनों की एक शृंखला है। वह अनिवार्य रूप से एक मूल्य का दूसरे मूल्य के लिए बलिदान है।"[१]

अरबन का यह कहना तो सत्य है कि जनसाधारण के लिए सम्पूर्ण आत्मानुभूति दुर्लभ है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पूर्ण अनुभूति एक कल्पना-मात्र है। कोई भी व्यक्ति एक कर्म में पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। यह भी सत्य है कि जीवन में हम अनिवार्य रूप से एक मूल्य की प्राप्ति के लिए दूसरे मूल्य का बलिदान देते हैं, क्योंकि हम जिस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करते हैं वह एक सापेक्ष प्रक्रिया है। इससे हमें यह स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए कि सापेक्ष जीवन सदैव सापेक्ष रहता है और रहेगा। यदि यह सत्य होता तो मनुष्य कदापि शरीर-विषयक मूल्यों को, उच्चतम शरीर-विषयक मूल्यों से गौण मानकर और उन्हें परम शुभ के अधीन करके, नैतिकता का अनुसरण करते हुए कदापि अपने लक्ष्य की ओर न बढ़ सकता। जीवन सापेक्ष है और एक अपूर्णता है और नैतिकता का महत्त्व इसीमें है कि वह सापेक्ष को निरपेक्ष की ओर और अपूर्ण को पूर्ण की ओर ले जाने का

१. "There is no such thing as total self-realization, realization of the self all at once, or in one act. Life is a process, by its very nature, a series of choices. It is of necessity a sacrifice of one value for. another." —Fundamentals of Ethics, by W. M. Urban, Page 170

सतत प्रयत्न कराती है और वह पूर्ण कल्पना-मात्र ही नहीं है, अपितु वास्तविक आत्मानुभूति है। न ही केवल भारतीय योगियों ने अपने अनुभव के द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित किया है, अपितु पश्चिम में भी अनेक ऐसे योगी और सन्त हुए हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक मार्ग पर चलकर उस पूर्णता एवं निरपेक्षता का अनुभव किया, जहां पर वे ऐसे परम शुभ एवं परम आनन्द को प्राप्त करते हैं, जिसकी अपेक्षा से सभी अन्य निमित्त तथा स्वलक्ष्य मूल्य फीके पड़ जाते हैं। यही वह जीवन्मुक्ति की अवस्था है, जिसको भारतीय आचारशास्त्र और दर्शन, परम लक्ष्य मानता है। किन्तु यह भी सत्य है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति एक आकस्मिक घटना नहीं है, अपितु एक सतत नैतिक प्रयास है, जो सभी मूल्यों को उच्च स्थान देने एवं व्यवस्थित करने का स्वाभाविक परिणाम है। इस प्रकार की व्यवस्था के जो भी नियम निर्धारित किए जाएं, वे नैतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। पश्चिमीय विचारकों ने भी इस प्रकार की व्यवस्था एवं मूल्यों को क्रमबद्ध करने की आवश्यकता को स्वीकार किया है।

मूल्यों की व्यवस्था के लिए तीन नियम स्वीकार किए गए हैं जो निम्नलिखित हैं:

(१) स्वलक्ष्य मूल्य एवं अन्तरात्मक मूल्य (Intrinsic values), निमित्त मूल्यों अथवा बाह्यात्मक मूल्यों (Extrinsic values) की अपेक्षा उच्चतर हैं।

(२) शाश्वत एवं स्थायी मूल्य, क्षणिक एवं अस्थिर मूल्यों की अपेक्षा उच्चतर हैं।

(३) सृजनात्मक मूल्य (Productive values), असृजनात्मक मूल्यों की अपेक्षा उच्चतर हैं।

इन नियमों के आधार पर ही हम मूल्यों का वर्गीकरण भली भांति समझ सकते हैं। शरीर-विषयक मूल्यों में, अर्थ-सम्बन्धी मूल्य एवं आर्थिक मूल्य तथा श्रम निस्सन्देह स्वलक्ष्य मूल्य न होकर निमित्त मूल्य हैं। अर्थ एवं सम्पत्ति का मूल्य इसलिए है कि वह हमारे शारीरिक मूल्यों, सामाजिक मूल्यों तथा आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति का साधन-मात्र है। जहां तक भोजन ढूंढ़ने की प्रवृत्ति पर आधारित शारीरिक मूल्यों का सम्बन्ध है, यह सन्देह किया जा सकता है कि ये मूल्य स्वलक्ष्य हैं। उदाहरणस्वरूप, भूख की तृप्ति, जो सुख देती है अथवा कामवृत्ति की तृप्ति, जो सुखद अनुभव देती है, वह स्वलक्ष्य कहा जा सकता है, किन्तु यदि हम इस समस्या पर गम्भीर चिन्तन करें, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति इस बात को स्वीकार करता है कि हम जीवित रहने के लिए भोजन करते हैं न कि भोजन करने के लिए जीवित रहते हैं। इसी प्रकार यह भी सत्य है कि कामवृत्ति में शारीरिक तुष्टि, प्रेम का अंग होती है और प्रेम के अनुभव का एक साधन-मात्र होती है। अतः भूख और कामवृत्ति पर आधारित मूल्य भी निस्सन्देह निमित्त मूल्य ही हैं। इस दृष्टि से इन निमित्त मूल्यों को सामाजिक मूल्यों और आध्यात्मिक मूल्यों की अपेक्षा गौण ही स्वीकार करना पड़ेगा।

यदि हम दूसरे नियम को लागू करें, तो शरीर-विषयक मूल्यों की यह सापेक्षता

और न्यूनता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शारीरिक तृप्ति, चाहे वह भूख की तृप्ति हो चाहे कामवृत्ति की, आध्यात्मिक आनन्द और प्रेम की अनुभूति की अपेक्षा क्षणिक और अस्थायी होती है। विषय-भोग आदि हमें कुछ ही समय के लिए सुख देते हैं, जबकि आध्यात्मिक अनुभव हमें स्थायी आनन्द प्रदान करता है। जब तक कि हमारे जीवन में बौद्धिक सौन्दर्यात्मक तथा आदर्शात्मक सामग्री नहीं हो, तब तक हमारा जीवन नीरस रहता है और हम अपूर्णता का अनुभव करते रहते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि शारीरिक मूल्य काम तथा अर्थ हमारे जीवन की अनिवार्य उपाधियां हैं और जीवन के शुभ का साधन हैं। इस दृष्टि से वे मनुष्य की इच्छा का प्राथमिक विषय हैं, किन्तु उन्हें अपना लक्ष्य स्वयं नहीं कहा जा सकता और न ही उन्हें मनुष्य के चेतन संकल्प का स्थायी लक्ष्य माना जा सकता है।

असृजनात्मक मूल्यों की अपेक्षा सृजनात्मक मूल्यों का निर्वाचन भी मूल्यों की व्यवस्था का सिद्धान्त है। जो मूल्य केवल निमित्त होते हैं वे स्वयं समाप्त हो जाते हैं, जबकि स्वलक्ष्य मूल्य व्यक्ति तथा समाज के लिए, जिसका कि व्यक्ति एक अंग है, अधिक से अधिक प्रगत्यात्मक एवं सृजनात्मक होते हैं। ज्ञान, कला, धर्म आदि आध्यात्मिक मूल्य ऐसे हैं कि वे भौतिक वस्तुओं की भांति नष्ट नहीं होते, अपितु सदैव सृजनात्मक रहते हैं। वे सदैव प्रयोग किए जाने के पश्चात् प्रवृद्ध होते जाते हैं और विभक्त होने के दोष से रहित होते हैं। उदाहरणस्वरूप, ज्ञान अथवा विद्या को ले लीजिए। यह एक ऐसा धन है, जो व्यय करने से बढ़ता है। विद्या के विषय में कहा गया है, "न इसका राजा अपहरण कर सकता है, न इसे चोर चुरा सकता है, न कोई दूसरा व्यक्ति इसका बंटवारा कर सकता है। इसका व्यय करने से नित्यप्रति इसकी वृद्धि ही होती है, इसलिए विद्या-रूपी धन, सब धनों से श्रेष्ठ है।"[1] ज्ञान, कला तथा धर्म आदि न ही केवल व्यक्ति से ऊपर हैं, अपितु वे राजनीतिक तथा भौगोलिक सीमाओं से भी ऊपर उठ जाते हैं। वे जितने ही अधिक व्यापक होते हैं, उतने ही अधिक सृजनात्मक होते हैं।

इन सिद्धान्तों के आधार पर, हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य की श्रेष्ठता इसीमें है कि वह शारीरिक तथा निमित्त मूल्यों को उन उच्च स्तरवाले मूल्यों के अधीन करे, जो सामाजिक और चरित्रात्मक हैं और जो ज्ञान, सौन्दर्य, धर्म एवं सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की भांति व्यापक और शाश्वत हैं। जिस प्रकार वैयक्तिक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों के अधीन करना आवश्यक है, उसी प्रकार सामाजिक मूल्यों को आध्यात्मिक मूल्यों के अधीन करना भी संगत है। यह तो सत्य है कि पुरुष और पुरुष तथा पुरुष और स्त्री के वे परस्पर-सम्बन्ध, जिन्हें प्रेम, मित्रता, समुदाय आदि कहा जाता है, ऐसे मूल्य हैं जो केवल शारीरिक अथवा निमित्त मूल्यों की अपेक्षा अधिक स्थायी और अधिक सृजनात्मक हैं; किन्तु ये मूल्य भी सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अपेक्षा सीमित और कम स्थायी हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक मूल्य नहीं हैं। वे काल की सीमाओं से परे नहीं हैं जबकि सत्यं, शिवं, सुन्दरम् कालातीत

१. हितोपदेश, प्रस्तावना भाग

है, इसलिए मूल्यों के क्रम में आध्यात्मिक मूल्यों का स्थान निस्सन्देह उच्चतम स्थान है और अन्य सभी मूल्य निमित्त होने के कारण इनकी अपेक्षा गौण हैं।

पश्चिमीय आचार-विज्ञान में इन नियमों के आधार पर नैतिक जीवन का क्रम स्थापित किया जाता है। वास्तव में ये नियम व्यावहारिक हैं और सामान्य बुद्धिमत्ता पर आधारित हैं। प्रत्येक सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति अस्थायी सुख के लिए स्थायी आनन्द का त्याग नहीं करेगा और सदैव शाश्वत और सृजनात्मक मूल्यों को उच्चतम समझेगा। वास्तव में ये नियम, मूल्य के वे सिद्धान्त हैं, जो शुभ के उच्च तथा न्यून स्तरों को निर्धारित करते हैं। कोई भी नैतिक सिद्धान्त, चाहे वह सुखवादी सिद्धान्त हो चाहे तर्कवादी आदर्श हो, इन नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता। यदि हम सुख को भी मानवीय शुभ मान लें, तब भी हमारी बुद्धि हमें यह स्वीकार करने पर बाध्य करती है कि निमित्त शुभ की अपेक्षा स्वलक्ष्य शुभ, अस्थायी शुभ की अपेक्षा स्थायी सुख तथा असृजनात्मक शुभ की अपेक्षा सृजनात्मक शुभ अधिक वांछनीय है। इस प्रकार मूल्यों की धारणा में नैतिक मूल्य एक क्रमिक रूप से व्यवस्थित मूल्य हैं। इस क्रम में वे ही मूल्य उच्चतम हैं, जो हमारे हितों तथा कर्मों के समन्वय में उच्चतम स्थान रखते हैं। इस प्रकार उच्चतम शुभ वही होगा, जो पूर्ण आत्मानुभूति दे सके।

दसवां अध्याय

मानवीय अधिकारों का स्वरूप

(The Nature of Human Rights)

हमने पिछले अध्यायों में विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों का यथासम्भव विस्तार-पूर्वक अध्ययन किया है। हम यह कह सकते हैं कि ये सभी सिद्धान्त, मूल्यात्मक सिद्धान्त हैं और मूल्यों के निर्वाचन को, मूल्यों की उत्पत्ति को तथा मूल्यों के समन्वय को ही नैतिकता स्वीकार करते हैं। मूल्यों का निर्वाचन करना मानव का नैतिक कर्तव्य (Duty) है। मूल्यों को उत्पादित करना उसका अधिकार (Right) है तथा मूल्यों का समन्वय करना सद्‌गुण है। इन नैतिक सिद्धान्तों का कहां तक जीवन में अनुसरण किया जा सकता है, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें उपर्युक्त तीनों धारणाओं की पूर्ण व्याख्या करनी होगी। हमें यह बताना होगा कि नैतिक दृष्टि से मानव के क्या कर्तव्य हैं, उसके क्या अधिकार हैं और वह किन सद्‌गुणों को अपनाकर नैतिकता के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। इन तीनों धारणाओं की व्याख्या सिद्धान्त तथा व्यवहार के परस्पर-सम्बन्ध की व्याख्या है। चाहे हम नैतिकता को सापेक्ष मानें व निरपेक्ष, चाहे हम परम शुभ को काल्पनिक आदर्श मानें, चाहे उसे वास्तविक तत्त्व मानें, दोनों अवस्थाओं में कर्तव्यों, अधिकारों तथा सद्‌गुणों की व्याख्या अनिवार्य है। इन तीनों में से अधिकार की धारणा अन्य दो धारणाओं की अपेक्षा सर्वप्रथम ली जानी चाहिए, क्योंकि अधिकार मानव की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखते हैं और स्वतन्त्रता को नैतिकता का मूल आधार स्वीकार किया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जहां अधिकार है वहां कर्तव्य है और जहां स्वतन्त्रता है वहां उत्तरदायित्व है। इन दोनों के परस्पर-सम्बन्ध पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। यहां पर इतना कह देना आवश्यक है कि जब तक मनुष्य को कुछ सुविधाएं प्राप्त न हों, तब तक उससे उत्तरदायित्व की आशा रखना असम्भव है। इसलिए कांट ने कहा था कि नैतिकता में संकल्प की स्वतन्त्रता निहित है।

मनुष्य के अधिकारों की समस्या निस्सन्देह एक जटिल समस्या है और अधिकार की विभिन्न धारणाएं अनेक बार संघर्ष उत्पन्न करती हैं। नैतिक तथा वैधानिक एवं राजनीतिक अधिकारों में परस्पर-संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार कुछ अधिकार ऐसे हो सकते हैं जो तर्क की दृष्टि से संगत प्रतीत होते हैं, किन्तु जिनको कुछ लोगों द्वारा इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वे जनसाधारण के लिए व्यापक प्रतीत नहीं

होते। जब कुछ लोग सौन्दर्य के अधिकार को अधिकार घोषित करते हैं, तो कुछ क्रूर प्रवृत्ति-वाले व्यक्ति ऐसे भी हैं जो इन अधिकारों को केवल भावुकता घोषित करते हैं। नैतिक अधिकार तथा वैधानिक अधिकार के परस्पर-भेद का सर्वोत्तम उदाहरण अमरीका के एक ड्रेड स्कॉट नामक दास के विषय में, अमरीका के उच्चतम न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय है, जो यहां पर उल्लेखनीय है। अमरीका के कुछ आदर्शवादी नैतिकों ने और विशेषकर एक संस्था ने, जिसका नाम 'मित्रों की सभा' था, यह विचारधारा प्रस्तुत की कि सभी हब्शी मानव होने के नाते स्वतन्त्र हैं। अतः इस दृष्टिकोण के समर्थकों ने उन हब्शियों को छिपकर सहायता देना आरम्भ किया, जो अपने स्वामियों के घरों से भागकर उत्तरी अमरीका में भाग जाते थे। ड्रेड स्कॉट एक ऐसा दास था, जो अपने स्वामी के घर से भाग निकला था। उसके स्वामी ने एक ऐसा वैधानिक अभियोग चलाया, जोकि अमरीका के उच्चतम न्यायालय तक पहुंचा। इस न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि "ड्रेड स्कॉट को इसलिए उसके स्वामी को वापस दे दिया जाए कि भागा हुआ दास वैधानिक दृष्टि से स्वामी की सम्पत्ति है और जो लोग उसको भागने में सहायता दे रहे हैं, वे अवैधानिक रूप से दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण कर रहे हैं।" यह निर्णय निस्सन्देह उस समय के वैधानिक नियमों के अनुसार था, यद्यपि नैतिक दृष्टि से इसे कोई भी व्यक्ति संगत नहीं कहेगा। यह ऐसा अभियोग था, जिसने कि वैधानिक तथा नैतिक अधिकारों में संघर्ष उत्पन्न कर दिया और जिसका एकमात्र उपाय अमरीका के उत्तरी राज्यों तथा दक्षिणी राज्यों के बीच में युद्ध ही था।

इस प्रकार के नैतिक और वैधानिक संघर्ष यद्यपि बहुत कम देखने में आते हैं, तथापि ये हमें नैतिक अधिकार की परिभाषा करने पर बाध्य करते हैं। सामान्य मनुष्य यह मानकर चलता है कि उसके अनेक अधिकार हैं, उसे जीने का अधिकार है, उसे सम्पत्ति रखने का अधिकार है, उसे विचार और कर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार है आदि-आदि। इन अधिकारों पर बल देते हुए मनुष्य में यह भावना प्रधान रहती है कि उसके अधिकारों को भंग करने की चेष्टा एवं उसकी स्वतन्त्रता को दबाने की चेष्टा महान अपराध है और वह इस चेष्टा का हिंसा द्वारा भी मुकाबला करने के लिए तत्पर हो जाता है। अपने अधिकारों की मांग करते हुए मनुष्य प्रायः यह मानता है कि वह उस वस्तु को मूल्यवान नहीं समझता, जिसको प्राप्त करना उसका अधिकार है, अपितु वह उस सिद्धांत को असंगत समझता है, जो उसके अधिकार को मान्यता नहीं देता। जब एक श्रमजीवी अपने अधिकार की मांग करता है, उसका दृष्टिकोण यह होता है कि उसके साथ ऐसा व्यवहार किया जाए, जो सामान्य मानव से किया जाना चाहिए। श्रम को आर्थिक वस्तु नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि ऐसी धारणा मनुष्य को केवल यन्त्र समझती है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि केवल आत्मप्रकाशन एवं अहंकार के लिए ही अपने अधिकार पर बल दिया जाए। अपने अधिकार को स्वीकार कराने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि उसे मानवता के आदर्श से सम्बन्धित किया जाए और वह आदर्श यही है कि मनुष्य

को सदैव एक उद्देश्य ही माना जाए। दूसरे शब्दों में, मानवीय अधिकार एक ऐसी वस्तु है जो स्वाभाविक तथा स्वयंसिद्ध है। इसको मान्यता दिलाने के लिए तर्क-वितर्क की आवश्यकता नहीं रहती। अतः नैतिक अधिकार एक ऐसा अधिकार है, जोकि मनुष्य के नैतिक उद्देश्य से तथा मनुष्य के समाज से सम्बन्धित रहने से अनुमानित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त हमारा यह अधिकार है कि हमें नैतिक जीवन व्यतीत करने की अनिवार्य उपाधियां उपलब्ध हों, अर्थात् हमें वे मूल्य उपलब्ध हों जो सम्पूर्ण आत्मानुभूति में निहित होते हैं। हमें सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि नैतिक जीवन एक ऐसे व्यक्ति का जीवन है, जिसका स्वभाव ऐसा है कि उसके शुभ एवं उसके मूल्य को, समाज के शुभों तथा मूल्यों से पृथक् नहीं किया जा सकता। बोसांके ने अपनी पुस्तक 'राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त' (The Philosophical Theory of the State) में लिखा है, "हमारा उन साधनों को प्राप्त करने का अधिकार है, जोकि हमारे जीवन का ऐसा विकास करते हैं कि जिनके द्वारा उस समुदाय का उच्चतम शुभ प्राप्त हो सकता है, जिसका कि हम एक अंश हैं।"[१] इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मानवीय अधिकार एक ऐसा स्वाभाविक अधिकार है, जो मनुष्य तथा समाज के अभिन्न सम्बन्ध तथा दोनों के कल्याण में निहित है।

यदि नैतिक अधिकार, मनुष्य का एक समाज का सदस्य होने के नाते, नैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के साधन का दूसरा नाम है, तो यह प्रमाणित होता है कि नैतिक अधिकार उन मूल्यों को प्राप्त करने का अधिकार है, जो सम्पूर्ण आत्मानुभूति की अनिवार्य उपाधियां होती हैं। दूसरे शब्दों में, अधिकारों का मनुष्य के मूल्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः अधिकारों की सूची प्रस्तुत करते समय हमें नैतिक अधिकारों का वैधानिक अधिकारों से सम्बन्ध भी स्थापित रखना पड़ेगा। नैतिक दृष्टि से अधिकारों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है :

(१) स्वाभाविक अथवा नैतिक अधिकार (Natural or Moral rights)
(२) नागरिक अधिकार (Civil rights)
(३) राजनीतिक अधिकार (Political rights)

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि स्वाभाविक अधिकार वे अधिकार हैं, जोकि मनुष्य को एक नैतिक प्राणी होने के नाते प्राप्त होते हैं। मनुष्य की विशेषता यही है कि वह स्वभाव से सत्-असत् और शुभ-अशुभ में विवेक कर सकता है। अतः इस विवेक के आधार पर मूल्यों को अपनाने का अधिकार मानव का जन्मसिद्ध एव स्वाभाविक अधिकार स्वीकार किया जाता है। मनुष्य के नागरिक अधिकार उसके उस वातावरण की देन

१. "We have a right to the means, that are necessary to the development of our lives in the direction of the highest good of the community of which we are a part."
—B. Bosanquet ; The Philosophical Theory of the State.

हैं, जिसे सामाजिक एवं नागरिक वातावरण कहा जा सकता है। मनुष्य जन्म से ही एक सभ्य समाज का सदस्य होता है और इस सदस्यता के नाते, एक सामान्य जीवन व्यतीत करने के लिए उसके कुछ अधिकार होते हैं। ये सभी अधिकार, नागरिक अधिकार कहलाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य न ही केवल एक सभ्य समाज का सदस्य होता है, अपितु वह एक राज्य अथवा राजनीतिक संस्था का भी सदस्य होता है। इस सदस्यता के नाते राजनीतिक व्यवस्था में योग देने के लिए, जो अधिकार मनुष्य के लिए आवश्यक हैं, वे राजनीतिक अधिकार कहलाते हैं।

स्वाभाविक अथवा नैतिक अधिकार

स्वाभाविक अधिकारों का सिद्धान्त अठारहवीं शताब्दी में तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विचारकों के मतभेद का कारण था। स्वाभाविक अधिकारों के सिद्धान्तों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है : (१) स्वाभाविक अधिकार के वे सिद्धान्त, जो सामाजिक भागीदार के सिद्धान्त पर आधारित हैं, और (२) वे जो समाज के उद्देश्यात्मक सिद्धान्त पर आधारित हैं। प्रथम प्रकार के सिद्धान्त अधिकारों की व्याख्या को अधिकारों की उत्पत्ति से सम्बन्धित करते हैं और दूसरे प्रकार के सिद्धान्त उन्हें उद्देश्य एवं लक्ष्य से सम्बन्धित करते हैं।

सामाजिक भागीदारी पर आधारित स्वाभाविक अधिकारों के सिद्धान्त इस तथ्य को मानकर चलते हैं कि समाज की उत्पत्ति, सामाजिक भागीदारी की धारणा से हुई। मनुष्य ने जब यह अनुभव किया कि वह अपने जीवन की सभी आवश्यकताओं को दूसरों के सहयोग के बिना पूर्ण नहीं कर सकता, तो उसमें स्वाभाविक रूप से सहयोग की भावना उत्पन्न हुई। इसी स्वाभाविक सहयोग की भावना पर ही ऐसे समाज का निर्माण हुआ, जिसमें कि मनुष्य ने कुछ आवश्यकताओं का त्याग किया और उसके बदले में समाज के अन्य सदस्यों से कुछ आवश्यकताओं को प्राप्त किया। इस प्रकार समाज एक स्वाभाविक उत्पत्ति होने के कारण अधिकारों को जन्म देता है। वे अधिकार जो मनुष्य को इस स्वाभाविक अवस्था में प्राप्त होते हैं, वे उसके स्वाभाविक अधिकार हैं। क्योंकि ये अधिकार मनुष्य को उसकी स्वाभाविक अवस्था से प्राप्त हैं, इसलिए इन्हें समाज से स्वतन्त्र माना जाता है। फिर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि ये अधिकार समाज के ढांचे में निहित हैं और समाज की आधारभूत मान्यताएं हैं। इसका कारण यह है कि समाज का निर्माण इन अधिकारों पर चिन्तन करने के पश्चात् तथा इस विचार के पश्चात् हुआ कि इनकी रक्षा किस प्रकार की जाए। विख्यात पश्चिमीय दार्शनिक लॉक का कहना है कि नियम एवं विधान एक ऐसा सामान्य सिद्धान्त है, जोकि तर्क के द्वारा ढूंढ़ा जाता है। दूसरे शब्दों में, वे नियम जोकि हमारे स्वाभाविक अधिकारों की रक्षा करने के लिए बनाए जाते हैं, पहले से ही उपस्थित होते हैं। यदि वे पहले से उपस्थित न होते, तो वे मनुष्यों को समाज का निर्माण करने के लिए प्रेरित न करते। लॉक का कहना है कि मानव का यह स्वाभाविक

अधिकार है कि वह अपना संकल्प दूसरों द्वारा स्वीकार कराए, किन्तु उसकी यह भी स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह शान्ति की खोज करे तथा उसे जीवन में अपनाए। शान्ति की इस इच्छा को तृप्त करने के लिए अपने संकल्प को दूसरे के द्वारा स्वीकार कराने के अधिकार को त्याग देना पड़ता है। यह प्रायः देखा गया है कि मनुष्य उन सभी अधिकारों का त्याग कर देते हैं, जो मानव-मात्र की शान्ति के मार्ग में बाधक होते हैं।

विख्यात पश्चिमीय दार्शनिक लॉक भी यह स्वीकार करता है कि प्रकृति की अवस्था में ही मनुष्य को अधिकार प्राप्त होते हैं और समाज का निर्माण इन्हीं स्वाभाविक अधिकारों की सुरक्षा के लिए होता है। उसकी यह धारणा है कि समाज में प्रविष्ट होने से मनुष्य के ये अधिकार नष्ट नहीं हो जाते और वे अधिकार समाज स्वयं बनाए रखता है। लॉक इन स्वाभाविक अधिकारों को निम्नलिखित चार प्रकार के अधिकार मानता है :

(१) जीवित रहने का अधिकार

(२) स्वास्थ्य का अधिकार

(३) स्वतन्त्रता का अधिकार

(४) सम्पत्ति का अधिकार

स्वाभाविक अधिकारों का सबसे बड़ा समर्थक टॉम पेन हुआ है। उसके अनुसार भागीदारी ही समाज का आधार है। किन्तु यह भागीदारी (Contract) ऐसी भागीदारी नहीं है, जिसमें कि अधिकारों को बनाए रखने का पूरा आश्वासन दिया जाए। समाज में प्रत्येक व्यक्ति, अधिकारों के सम्बन्ध में, स्वतन्त्र तथा समान है। राजनीतिक संस्थाओं का उद्देश्य तो यही है कि उनमें मनुष्य के स्वाभाविक अधिकार सुरक्षित रहें और ये अधिकार निम्नलिखित हैं : स्वतन्त्रता (Liberty), सम्पत्ति (Property), सुरक्षा (Security) तथा हिंसा का विरोध (Resistence of oppression)।

स्वतन्त्रता का अर्थ किसी कर्म को करने की वह शक्ति है, जो किसी दूसरे को हानि नहीं पहुंचाती। पेन का कहना है कि वह अपने सिद्धान्त को सामाजिक भागीदारी के सिद्धान्त पर आधारित इसलिए नहीं करता, क्योंकि कोई भी पीढ़ी, आनेवाली पीढ़ियों को उस भागीदारी एवं सन्धि पर चलने पर बाध्य नहीं कर सकती, जोकि वह वर्तमान समय में कार्यान्वित करती है। प्रत्येक युग तथा प्रत्येक पीढ़ी को इस बात की स्वतन्त्रता देनी चाहिए कि वह अपनी परिस्थितियों के अनुसार ही सामाजिक मूल्यों को निर्धारित करे और अपना ही विधान बनाए। यद्यपि पहली पीढ़ियों द्वारा बनाए गए नियम प्रायः आनेवाली पीढ़ियों द्वारा स्वीकार किए जाते हैं, तथापि वे वर्तमान पीढ़ी द्वारा ही शक्ति प्राप्त करते हैं। पेन यद्यपि सामाजिक भागीदारी के सिद्धान्त को ऐतिहासिक दृष्टि से निर्मित नहीं मानता, किन्तु वह इस बात को स्वीकार करता है कि जो अधिकार मनुष्य समाज में प्राप्त करता है, वे उन अधिकारों पर आधारित हैं, जोकि उसे समाज से स्वतन्त्र

रहने की अवस्था में प्राप्त थे। पेन के शब्दों में, "प्रत्येक नागरिक-अधिकार का आधार, मनुष्य में पहले से स्थित कोई न कोई स्वाभाविक अधिकार है।"

स्वाभाविक अधिकारों के उपर्युक्त विभिन्न सिद्धान्त परस्पर-मतभेद रखते हुए भी, निम्नलिखित सामान्य लक्षण अभिव्यक्त करते हैं, जोकि नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के कारण उल्लेखनीय हैं :

(१) यह बात स्वीकार की गई है कि ऐतिहासिक दृष्टि से मनुष्य का अस्तित्व समाज से पूर्व था।

(२) नैतिक तथा तत्त्वात्मक दृष्टि से यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जोकि अपने सामान्य स्वभाव के कारण तथा विश्व की व्याख्या के कारण और उस कार्य के कारण, जोकि उसे इस व्यवस्थित विश्व में करना है, विशेष अधिकार रखता है।

(३) वे अधिकार, जोकि समाज द्वारा उत्पन्न नहीं किए जाते, बल्कि मनुष्य द्वारा ही समाज में लाए जाते हैं, समाज के निर्माण का कारण बनते हैं। दूसरे शब्दों में, इन्हीं अधिकारों की सुरक्षा के लिए ही समाज निर्मित होता है।

(४) यदि समाज का उद्देश्य मनुष्य को अधिकार प्राप्त कराना है और यदि वह ऐसा नहीं कर सकता, तो मनुष्य को अधिकार है कि वह विद्रोह करे। कुछ सिद्धान्त यह भी स्वीकार करते हैं कि विद्रोह करना मनुष्य का अधिकार नहीं है, क्योंकि समाज का निर्माण सम्पूर्ण समाज के अधिकारों की सुरक्षा के लिए हुआ था, न कि किसी विशेष व्यक्ति अथवा परिस्थिति के लिए उपयोगी अधिकारों की प्राप्ति के लिए।

स्वाभाविक अधिकारों के ये सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से इसलिए महत्त्व रखते हैं कि उनमें निम्नलिखित तीन तत्त्व हैं :

(१) समाज के अस्तित्व से पूर्व एक प्राकृतिक अवस्था का उपस्थित होना;
(२) समाज का निर्माण कराने के लिए एक भागीदारी के समझौते का उपस्थित होना;
(३) मनुष्य के उन अधिकारों का समाज में उपस्थित होना, जोकि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की धरोहर थे, और समाज द्वारा इन अधिकारों को बनाए रखने का उत्तरदायित्व संभालना।

यदि मनुष्य के ये अधिकार उसके मौलिक स्वभाव तथा मनुष्यता के मौलिक स्वभाव पर आधारित हैं और यदि इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि समाज का सफलता तथा उसकी प्रगति इन्हीं अधिकारों पर निर्भर रही है तो यह आवश्यक हो जाता है कि इन अधिकारों को नैतिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक माना जाए। दार्शनिक दृष्टि से स्वाभाविक अधिकारों का सिद्धान्त उपयोगी होने के कारण मान्य है। इन अधिकारों को इस दृष्टि से स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक भले ही न माना जाए कि वे जन्मजात हैं अथवा उसके भौतिक स्वभाव का अंग हैं, किन्तु यह सत्य है कि वे मनुष्य के नैतिक

उद्देश्य में निहित हैं और उसके नैतिक स्वभाव का अभिन्न अंग हैं। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि उसके नैतिक व्यक्तित्व में निहित हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये सभी अधिकार, जिनमें कि जीवन का आधारभूत अधिकार भी सम्मिलित है, अर्जित अधिकार हैं। दार्शनिक आलोचना इस बात को स्वीकार नहीं करती कि मनुष्य इतिहास के किसी भी समय में समाज से पृथक् था। इनका स्वाभाविक होना इसलिए स्वीकार किया जाता है कि वे आत्मानुभूति की अनिवार्य उपाधियां हैं और नैतिक व्यक्तित्व की धारणा से अभिन्न हैं। दूसरे शब्दों में, स्वाभाविक अधिकारों के सिद्धान्त को ऐतिहासिक आधार पर नहीं, अपितु तर्कात्मक आधार पर स्वीकार किया जा सकता है।

इस पृष्ठभूमि के आधार पर हम निम्नलिखित मानवीय अधिकारों की व्याख्या कर सकते हैं:

(१) जीवित रहने का अधिकार (Right of life)
(२) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right of freedom)
(३) सम्पत्ति का अधिकार (Right of property)
(४) भागीदारी का अधिकार (Right to the fulfilment of contracts)
(५) शिक्षा का अधिकार (Right of education)

जीवित रहने का अधिकार

जीवन प्रकृति की देन है और एक विचारशील समाज इस बात को स्वीकार करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने का अधिकार है। कोई भी व्यक्ति नैतिक उद्देश्य को तब तक प्राप्त नहीं कर सकता और न ही उसकी प्राप्ति का प्रयत्न कर सकता है, जब तक कि उसे यह विश्वास न हो कि उसका जीवन समाज में सुरक्षित है। यह तो सत्य है कि सामाजिक कल्याण के लिए जीवन को त्याग देना संगत हो सकता है, किन्तु यह भी तभी सम्भव हो सकता है, जबकि व्यक्ति का जीवन बाहरी आपत्तियों से पहले सुरक्षित रखा गया हो। समाज का यह कर्तव्य है कि सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के अभयदान दे। शिशुओं को ऐसी परिस्थितियों में रखना, जहां कि उनका जीवन सुरक्षित न हो, उन्हें जीवन के अधिकार से वंचित करना है। कुछ असभ्य समुदायों में जीवन का मूल्य नहीं होता। वास्तव में जब तक विश्व में युद्ध की प्रथा जारी रहेगी, तब तक मानव-समाज को पूर्णतया सभ्य तथा नैतिक स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि युद्ध में मनुष्य का मूलभूत जीवन का अधिकार दमित किया जाता है। दूसरे विश्वयुद्ध में अणुबम के प्रयोग के कारण, हिरोशिमा तथा नागासाकी में असंख्य शिशुओं, स्त्रियों तथा पुरुषों का क्रूरता से संहार किया गया और जीवन के अधिकार की खुलकर अवहेलना की गई। इसी अधिकार में स्वास्थ्य तथा आजीविका प्राप्त करने के अधिकार निहित हैं। किन्तु ये दोनों अधिकार नैतिक होने की अपेक्षा राजनीतिक अधिकार हैं, यद्यपि जीवन के अधिकार से इनका अभिन्न सम्बन्ध है।

स्वतन्त्रता का अधिकार

नैतिक दृष्टि से इस अधिकार का अर्थ संकल्प की स्वतन्त्रता है, क्योंकि इस स्वतन्त्रता के बिना नैतिक उत्तरदायित्व निरर्थक सिद्ध हो जाता है। हमने यह पहले ही स्वीकार किया है कि नैतिकता में संकल्प की स्वतन्त्रता निहित है। अतः प्रत्येक व्यक्ति जीवन के परम लक्ष्य की अनुभूति के लिए अपने संकल्प का प्रयोग करने में सर्वथा स्वतन्त्र होना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से स्वतन्त्रता के अधिकार को जीवन के अधिकार के पश्चात् ही स्वीकार किया गया है। उदाहरणस्वरूप, युद्ध के बन्दियों का संहार करने की प्रथा का अन्त करने के पश्चात् भी, दासता की प्रथा जारी रही और अमरीका में दासता की प्रथा का अन्त करने के लिए सशस्त्र युद्ध का प्रयोग करना पड़ा। आज भी पूंजीवादी समाज में, आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, अनेक विद्वान व्यक्ति भी अपनी स्वतन्त्रता बेच देते हैं। इसी प्रकार साम्यवादी राष्ट्रों में संकल्प तथा विचार की स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं है। ऐसे समाज में व्यक्ति को एक यन्त्र के पुर्ज़े के समान समझा जाता है। यह तो सत्य है कि व्यक्ति को हर प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती और न ही ऐसी स्वतन्त्रता को किसी भी सभ्य समाज का लक्ष्य स्वीकार किया जा सकता है। यदि सभी लोग हर प्रकार से स्वतन्त्र हो जाएं और स्वार्थसिद्धि में ही प्रवृत्त हो जाएं, तो न वे अपने स्वार्थ को प्राप्त कर सकेंगे और न ही समाज में कोई व्यवस्था रह सकेगी। स्वतन्त्रता के अधिकार का अर्थ वह अधिकार है, जिसके द्वारा किसी व्यक्ति के जीवन का उस सीमा तक स्वतन्त्र विकास हो सके, जिसमें कि सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा में बाधा न पड़े।

सम्पत्ति का अधिकार

सम्पत्ति एवं परिग्रह (Possession) का अधिकार वह अधिकार है, जिसके अनुसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को निजी सम्पत्ति रखने तथा अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उसका प्रयोग करने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। वास्तव में सम्पत्ति का अधिकार भी स्वतन्त्रता के अधिकार का एक अंग है। सम्पत्ति एवं अर्थ वास्तव में हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है; किन्तु जब तक यह साधन उपलब्ध न हो, हम नैतिक आदर्श की प्राप्ति भी नहीं कर सकते। यदि मनुष्य को अपनी सम्पत्ति के प्रयोग का अधिकार न हो, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि उसे संकल्प की स्वतन्त्रता भी नहीं है। नैतिक दृष्टि से सम्पत्ति के अधिकार का अर्थ यह है कि इस स्वतन्त्रता को जीवन के स्वतन्त्र विकास का साधन बनाया जा सकता है। इस अधिकार का सम्बन्ध इस प्रकार जीवन के अधिकार से है। भारतीय आचार-दर्शन में भी अर्थ एवं सम्पत्ति को मानसिक तृप्ति, शारीरिक विकास तथा धार्मिक उद्देश्य की प्राप्ति का साधन माना गया है।

सम्पत्ति के अधिकार को सम्भवतया समाज में आरम्भ से ही स्वीकार किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस अधिकार का समाज में दुरुपयोग हुआ है और हो भी

रहा है। मनुष्य में संचय की मूल प्रवृत्ति स्वाभाविक है और जिस व्यक्ति में यह प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक उग्र रूप में उपस्थित होती है, वह लोभवश दूसरों के अधिकार की अवहेलना करके और हर प्रकार से दूसरों का शोषण करके भी अर्थ का संचय करता है। आधुनिक युग एक आर्थिक युग है और इस युग की सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक समस्याएं आर्थिक जटिलताओं की देन हैं। यद्यपि पूंजीवादी राष्ट्रों में सम्पत्ति की स्वतन्त्रता है, तथापि वहां मानव के श्रम का शोषण होता है। साम्यवाद, सम्पत्ति के अधिकार पर आवश्यकता से अधिक बल देता है और पूंजीवाद के दोष को दूर करने की चेष्टा करता है। वह शोषक तथा शोषित के संघर्ष को मिटाने की चेष्टा में सम्पत्ति को व्यक्तिगत न मानकर, राष्ट्रीय घोषित करता है और प्रत्येक व्यक्ति को उसका उपभोग करने का अधिकार देता है; किन्तु साम्यवादी समाज में न तो व्यक्ति को विचार तथा संकल्प की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है और न ही वह अपनी इच्छा के अनुसार सम्पत्ति एवं अर्थ का संचय कर सकता है। इस प्रकार सम्पत्ति का उपभोग करने में सीमित अधिकार प्राप्त करके व्यक्ति अपनी निजी स्वतन्त्रता को खो देता है। इस प्रकार की सम्पत्ति-सम्बन्धी स्वतन्त्रता भी वास्तव में स्वतन्त्रता नहीं है। प्रजातन्त्रीय देशों में निस्सन्देह सम्पत्ति की स्वतन्त्रता उपलब्ध होती है। इस स्वतन्त्रता के दुरुपयोग का प्रतिकार ढूंढ़ना नितान्त आवश्यक है। किन्तु जो प्रतिकार साम्यवाद द्वारा स्वीकार किया गया है, वह नैतिक नहीं माना जा सकता। इसका प्रतिकार बाह्यात्मक दबाव न होकर आन्तरिक प्रेरणा तथा समाज में नैतिक क्रान्ति के द्वारा ही किया जा सकता है। भारत में गान्धीजी के पट्टशिष्य, विनोबा भावे ने भूदान-यज्ञ के नाम से जिस आन्दोलन को चलाया है, वह सम्पत्ति के अधिकार के दुरुपयोग को हटाने का एक सुन्दर उपाय है।

भागीदारी का अधिकार

भागीदारी एवं अन्य लोगों से किए गए समझौते को पूरा कराने का अधिकार, व्यक्ति तथा समाज के जीवन में विशेष महत्त्व रखता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का काम करने के लिए उससे समझौता करता है, तो उस व्यक्ति का, जिसका कि काम किया जाना है, यह अधिकार हो जाता है कि वह इस समझौते को पूरा कराए। इस अधिकार का महत्त्व आधुनिक औद्योगिक युग में और भी बढ़ जाता है। श्रमजीवी तथा उद्योगपतियों का सहयोग तभी हो सकता है, जब दोनों ओर से उस समझौते की शर्तें यथार्थ रूप से पूरी की जाएं, जिसके आधार पर श्रमजीवी श्रम करते हैं और उद्योगपति उसके बदले में उन्हें आर्थिक सुविधाएं देते हैं। इस अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए आजकल प्रत्येक प्रगतिशील राज्य में श्रम-निर्णायक (Labour tribunal) नियुक्त किए जाते हैं, जो उद्योगपतियों तथा श्रमजीवियों के परस्पर-कलह का निर्णय करते हैं और इस बात का ध्यान रखते हैं कि दोनों पक्षों के भागीदारी-सम्बन्धी अधिकार सुरक्षित रहें। इस अधिकार के विषय में यह कह देना भी आवश्यक है कि जहां प्रत्येक

व्यक्ति को अपनी भागीदारी के अधिकार को बनाए रखने की स्वतन्त्रता है, वहां जन-साधारण से यह भी आशा की जाती है कि वे इस प्रकार के समझौते करें, जो संगत और विवेक के अनुसार हों। इस प्रकार भागीदारी के अधिकार का उपयोग एक उच्च रूप से विकसित समाज में ही सम्भव हो सकता है।

शिक्षा का अधिकार

हमने अधिकारों की सूची में शिक्षा के अधिकार को अन्तिम स्थान इसलिए दिया है, क्योंकि व्यवस्थित शिक्षा की प्रणाली एक अत्यन्त उत्कृष्ट समाज में ही उपस्थित हो सकती है और किसी राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार की सुरक्षा कोई सरल कार्य नहीं है। कुछ रूढ़िवादी समाजों में तो शिक्षा को हानिकारक माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब प्रत्येक व्यक्ति जन्म से समान है, जब सभीको जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति तथा भागीदारी के अधिकार समान रूप से प्राप्त हैं, तो कोई कारण नहीं कि सब व्यक्तियों को शिक्षित होने का समान अवसर न दिया जाए। शिक्षित व्यक्ति का अधिकार उसके उत्तरदायित्व से इतना घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है कि यह कहना कठिन है कि शिक्षित होना अधिकार है अथवा कर्तव्य। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षा तर्कात्मक व्यक्तित्व के विकास के लिए अनिवार्य है। मानव के इस अधिकार को प्राप्त कराने में आधुनिक समय में भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि कोई देश अपने देशवासियों में शत-प्रतिशत साक्षरता के लक्ष्य को भी प्राप्त कर ले, तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस देश के सभी व्यक्तियों को शिक्षा का अधिकार पूर्ण रूप से प्राप्त है। उसका कारण यह है कि उच्चतम स्तर की विशेष प्रकार की शिक्षा, समृद्धिशाली देशों में भी जनसाधारण को देना सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में केवल इतना कहा जा सकता है कि एक सुव्यवस्थित राज्य में, प्रत्येक व्यक्ति के लिए, अधिक से अधिक सुविधाओं की प्राप्ति के लिए, मनुष्य के विकास के साधन उपस्थित होने चाहिए।

नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार

नागरिक अधिकारों तथा राजनीतिक अधिकारों का हमारी दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, फिर भी इन अधिकारों की संक्षिप्त व्याख्या उपयोगी सिद्ध होगी। हम यह कह सकते हैं कि मुख्य नागरिक अधिकार दो हैं: (१) भागीदारी एवं समझौते की स्वतंत्रता, तथा (२) अभियोग के लिए न्यायालय प्रयोग करने का अधिकार। इन दो अधिकारों के अतिरिक्त सभाओं, समितियों आदि समुदायों की स्थापना तथा उनकी सदस्यता का अधिकार भी मुख्य नागरिक अधिकार है। वास्तव में ये सभी अधिकार भागीदारी की स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत हैं। भागीदारी का अधिकार इतना व्यापक है कि उसमें हर प्रकार की भागीदारी सम्मिलित हो जाती है, चाहे वह आर्थिक भागीदारी हो और चाहे विवाह जैसी सामाजिक भागीदारी। आधुनिक समाज में स्वयंसेवी संस्थाओं (Voluntary

associations) को वैधानिक रूप दे दिया गया है और इनका उद्देश्य सदस्यों की अवस्था को हर प्रकार से सुधारना होता है। ये नागरिक अधिकार वास्तव में जीवित रहने तथा स्वतन्त्रता के दो स्वाभाविक अधिकारों में निहित माने जाने चाहिए।

आधुनिक प्रजातन्त्र के युग में मतदान देना तथा अधिकार का पद प्राप्त करने के दो मुख्य आधार राजनीतिक अधिकार माने जाते हैं। राजनीतिक अधिकार निस्सन्देह आधुनिक युग की देन हैं। इनकी व्यापकता का विस्तार धीरे-धीरे हुआ है। इस शताब्दी के आरम्भ में कुछ देशों में स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे, यद्यपि उन्हें नैतिक तथा सामाजिक अधिकार प्राप्त थे। किन्तु उन्हें राजनीतिक अधिकार इसलिए नहीं दिए गए थे कि उन्हें राज्य की रक्षा के लिए सशस्त्र होने के कर्तव्य के योग्य नहीं समझा जाता था। किन्तु युद्ध की आधुनिक विधियों ने मनुष्य के इस दृष्टिकोण को बदल दिया है और प्राय: विश्व के प्रत्येक देश में स्त्रियों को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं।

हमने स्वाभाविक एवं नैतिक अधिकारों की पर्याप्त व्याख्या की है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मानव के सभी अधिकार समाज के निर्माण से उत्पन्न होते हैं और उनका महत्त्व भी समाज की अपेक्षा से ही होता है। इन अधिकारों के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि इनका महत्त्व किसी व्यक्ति-विशेष के परम्परागत अधिकार होने के कारण नहीं है, अपितु एक मानवीय आदर्श होने का कारण है। जब हम किसी अधिकार को मानवीय आदर्श में निहित होने की अपेक्षा व्यक्ति-विशेष में निहित मान लेते हैं, तो वह अधिकार, अधिकार नहीं रहता। इसके विपरीत जब हम उसे मानवीय आदर्श की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, तो उसकी व्यापकता अधिक स्पष्ट होती है। इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि अधिकार का सम्बन्ध समाज से है और इसका विकास संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास पर निर्भर है। इस दृष्टि से नैतिक अधिकारों को स्वाभाविक अधिकार घोषित करने का उद्देश्य सामाजिक उद्देश्यों की अपेक्षा व्यक्तिगत उद्देश्य को अधिक महत्त्व देना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकार का महत्त्व व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए समान है। अधिकार अधिकतर व्यक्ति के हित के लिए होता है और वह व्यक्ति का ही होता है। किन्तु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि व्यक्ति का अस्तित्व पूर्णतया समाज पर निर्भर है और अधिकार पूर्णतया व्यक्ति में निहित नहीं माने जा सकते। यदि हम अधिकारों के आरम्भ के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो हम देखेंगे कि समाज के आदिकाल में व्यक्तिगत अधिकारों की अस्पष्ट भावनाएं इसलिए उत्पन्न हुई थीं, क्योंकि व्यक्ति अपने-आपको जाति का सदस्य होने के नाते अधिकारी मानता था। प्राचीनतम जातियों में आजीविका प्राप्त करने की भावना अस्पष्ट रूप से उपस्थित दिखाई देती है और यह भावना व्यक्ति के व्यक्तित्व से उत्पन्न नहीं हुई, अपितु उसके जाति के सदस्य होने के कारण उत्पन्न हुई दिखाई देती है। समाजशास्त्रियों की खोजों से यह प्रतीत होता है कि अधिकारों की भावना की उत्पत्ति व्यक्ति के कारण नहीं है, अपितु एक सामाजिक उत्पत्ति है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि अधिकार व्यक्ति में उपस्थित होते हुए भी वास्तव

में समाज से सम्बन्ध रखते हैं और व्यक्ति तथा समाज के आदान-प्रदान का मुख्य आधार हैं। समाज व्यक्ति के अधिकारों को इसलिए स्वीकार करता है कि व्यक्ति इन अधिकारों के द्वारा आत्मविकास करके समाज के विकास में सहायक हो सकता है। व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्ति के अधिकार तभी अधिकार माने जा सकते हैं, जब वह किसी समाज का सदस्य होता है। समाज तभी समाज माना जा सकता है, जब उसके सदस्यों के विकास के लिए एवं सामाजिक व्यवस्था के लिए व्यक्तियों को कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। समाज तथा व्यक्ति के इस सम्बन्ध के आधार पर ड्यूई तथा टफ्ट्स ने अधिकारों की परिभाषा इस प्रकार दी है, "अधिकार वे सुविधाएं हैं, जोकि उस समाज द्वारा स्वीकार की जाती हैं, जोकि उत्तम जीवन के प्रोत्साहन के लिए अनुकूल वातावरण बनाए रखने की आधारभूत सत्ता को अपने हाथ में रखता है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि अधिकार निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज समय-समय पर सामाजिक विकास के अनुसार आधारों की धारणा में परिवर्तित होता रहा है। यदि हम तटस्थ दृष्टि से आधारों के विकास का अध्ययन करें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि स्वाभाविक अधिकारों में भी सापेक्षता उपस्थित है। प्राचीनतम लोगों में हमें अनेक ऐसी रीतियां मिलती हैं जो जीवन के निरपेक्ष आधार की भी अवहेलना करती हैं। कुछ प्राचीन समाजों में, शिशुओं को भय-जनक परिस्थितियों में रखना, वृद्धों की हत्या करना तथा पत्नियों तथा शिशुओं के जीवन-मरण के अधिकार को अपने हाथ में रखना, न ही केवल रीतियां मानी जाती हैं, अपितु पुरुषों के मुख्य कर्तव्य स्वीकार किए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त अधिकारों की क्रियाशीलता भी विशेष परिस्थितियों के अधीन होती है और इस प्रकार अधिकार सदैव सापेक्ष प्रमाणित होते हैं। उदाहरणस्वरूप, नाग-रिकता के अधिकार तथा राजनीतिक अधिकार विशेष प्रकार की राज्य-प्रणाली तथा विशेष परिस्थितियों पर निर्भर रहते हैं। भागीदारी की स्वतन्त्रता का अधिकार भी जनता की नीति तथा समाज की भलाई के विरुद्ध नहीं हो सकता। एक पुरुष किसी स्त्री से विवाह का समझौता कर सकता है; किन्तु यदि उस समझौते में यह शर्त हो कि उनका विवाह मधुमिलन में परिवर्तित नहीं होगा, तो उन दोनों के लिए कोई भी ऐसे अधिकार नहीं रह जाते कि जिनकी रक्षा की जाए। न्यायालयों ने ऐसी परिस्थितियों में ऐसे समझौतों को अवैध घोषित किया है, क्योंकि इस प्रकार के समझौते विवाह की प्रथा के विरुद्ध हैं और जनहित के विपरीत हैं। इन उदाहरणों का अभिप्राय यह है कि ये अधिकार उन उपाधियों तथा संस्थाओं के उद्देश्यों के अन्तर्गत हैं, जिनसे कि इनका व्यावहारिक संबंध रहता है।

---

१. "Rights are claims, recognized by society acting as ultimate authority to the maintenance of conditions favourable to the best life."
—Ethics by Dewey and Tufts, Page 188.

अधिकारों की सापेक्षता का सामाजिक और नैतिक महत्त्व है। यह सापेक्षता हमें समाज की ओर हमारे कर्तव्यों के प्रति चैतन्य करती है। जो व्यक्ति यह मानकर चलता है कि अधिकार हमारी जन्मजात सम्पत्ति हैं और जो इन्हें निरपेक्ष मानता है, वह समाज की अवहेलना करके भी इन अधिकारों को प्राप्त करना न्यायसंगत मानेगा। यह तो सत्य है कि अधिकारों की रक्षा वांछनीय है; किन्तु जो समाज अधिकारों को स्वीकार करता है, हम अपने अधिकारों को उसीके विरुद्ध प्रयोग में नहीं ला सकते। यदि हम अधिकारों को सापेक्ष न मानकर चलें, तो न तो समाज की प्रगति हो सकती है और न ही व्यक्ति का विकास सम्भव हो सकता है। हमारे अधिकार चाहे नैतिक हों, चाहे नागरिक और चाहे राजनीतिक, हर अवस्था में व्यावहारिक अधिकार हैं और इस दृष्टि से वे सदैव सापेक्ष हैं। समाज तथा व्यक्ति के विकास में नवीन परिस्थितियां उत्पन्न होती रहती हैं और वे सदैव नवीन अधिकारों और नवीन उत्तरदायित्व को जन्म देती रहती हैं; अतः हम अधिकारों को कदापि निरपेक्ष और अपरिवर्तनशील नहीं मान सकते। एक ओर तो अधिकार सामाजिक परिस्थितियों और समाज पर आधारित हैं और दूसरी ओर उनका सम्बन्ध कर्तव्यों से है। जब समाज व्यक्ति को कुछ सुविधाएं देता है, तो वह उससे यह आशा रखता है कि वह व्यक्ति इन सुविधाओं का दुरुपयोग नहीं करेगा और अपने अधिकारों से लाभ उठाता हुआ समाज तथा अन्य व्यक्तियों के प्रति कर्तव्यपरायण रहेगा। अधिकारों की धारणा कर्तव्यों की धारणा के बिना अस्पष्ट तथा निरर्थक सिद्ध होती है। इससे पूर्व कि हम अधिकारों की प्राप्ति को न्यायसंगत बताने की चेष्टा करें, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम कर्तव्यों की व्याख्या करें।

ग्यारहवां अध्याय

मानवीय कर्तव्यों का स्वरूप

(The Nature of Human Duties)

मानवीय अधिकारों की व्याख्या करते हुए हमने यह धारणा प्रस्तुत की थी कि अधिकार इसलिए नैतिक महत्त्व रखते हैं कि उनके बिना न तो मनुष्य को स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है और न वह नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। इस दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि अधिकार मनुष्य के नैतिक उत्तरदायित्व का साधन हैं और वह उत्तरदायित्व ही उनका उद्देश्य है। जहां स्वतन्त्रता है, वहां नियमितता भी है और जहां अधिकार है, वहां पर उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य भी आवश्यक है। अधिकारों और कर्तव्यों का सम्बन्ध परस्पर इतना घनिष्ठ है कि वे अन्योन्याश्रित हैं। आचार-विज्ञान के सामने सबसे मुख्य प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हमारे लिए क्या करना उचित है, अर्थात् हमारा कर्तव्य क्या है। प्रत्येक व्यक्ति निस्सन्देह अपना यह कर्तव्य समझता है कि अशुभ की अपेक्षा, शुभ को ही अपनाना चाहिए। अतः वह निरन्तर शुभ का निर्वाचन करता रहता है और उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता है। ऐसा निर्वाचन करते समय जो प्रश्न हमारे सामने होता है, उसे हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :

"मुझे एक पशु होने के नाते नहीं, अपितु एक मानव तथा एक विकसित सुसंस्कृत मानव होने के नाते कैसा व्यवहार करना चाहिए ?" इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर हम मानवीय कर्तव्यों के स्वरूप की व्याख्या के द्वारा ही दे सकते हैं। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसे समाज से ही अधिकार प्राप्त होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि उसका व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि जिसके द्वारा वह उन अधिकारों का सदुपयोग करता हुआ अपना तथा समाज का निर्बाध विकास करे। उसका इस प्रकार का व्यवहार निस्सन्देह एक नियमित व्यवहार होगा एवं उसका कर्तव्य होगा। किसी भी विशेष परि-स्थिति में, जब वह इस प्रकार का नियमित व्यवहार करता है, तो वह अपने कर्तव्य का ही पालन करता है।

कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व की भावना उस समय प्रतिपादित होती है, जब मनुष्य के लिए शुभ को सुरक्षित रखने की समस्या खड़ी हो जाती है। दूसरे शब्दों में, मूल्य तथा उत्तरदायित्व में एक अभिन्न तथा स्वयंसिद्ध सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध ऐसा है कि जो विश्वव्यापी और अनिवार्य है। अतः यह धारणा कि अशुभ की अपेक्षा शुभ का ही

अनुसरण करना चाहिए, एक स्वयंसिद्ध धारणा है, जिसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। मूल्य का निर्वाचन निस्सन्देह मनुष्य का परम कर्तव्य है। इस दृष्टि से कर्तव्य का प्रसार मूल्यों के जगत् में व्याप्त है। यदि हमारे मूल्यों का जगत् ही कर्तव्यों का जगत् है, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि हम कर्तव्यों की सूची बनाने के लिए मूल्यों की सूची का आश्रय लें। यह कर्तव्य की धारणा एक व्यापक धारणा है। हम यह जानते हैं कि कर्तव्य का सम्बन्ध हमारे व्यवहार से है और व्यवहार ही हमारा पूर्ण जीवन है। चाहे हमारा व्यवहार कला के क्षेत्र में हो, चाहे सत्य की खोज के क्षेत्र में और चाहे वह क्रियाशीलता में हो, हर अवस्था में वह व्यवहार ही है। दूसरे शब्दों में, सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के परम मूल्य, मनुष्य के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक तथा भावात्मक, त्रिविध व्यवहार की अभिव्यक्ति हैं और उसीको प्रेरणा देते हैं। मनुष्य का परम कर्तव्य इन्हीं उच्चतम मूल्यों की अनुभूति करना है और न्यून स्तर के मूल्यों को इनकी प्राप्ति का निमित्त बनाना है। यह परम कर्तव्य की धारणा महत्त्व तो अवश्य रखती है, किन्तु नैतिक दृष्टि से यह आवश्यकता से अधिक व्यापक है। जिस दृष्टि से हम आचार-विज्ञान में कर्तव्यों की व्याख्या करना चाहते हैं, वह सापेक्ष दृष्टि है। उस दृष्टि से कर्तव्य को हम वह प्रवृत्ति मान सकते हैं, जिसके अनुसार, हम प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों के प्रति आदर और सम्मान रखें और मानवीय मूल्यों को मान्यता दें।

नैतिक कर्तव्य को हम नियम की धारणा से सम्बन्धित कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, कर्तव्य उसी प्रकार मान्य है, जिस प्रकार कि विधान का नियम (Law) मान्य होता है। जिस प्रकार विधान के द्वारा, दूसरे लोगों के अधिकारों को क्रियात्मक रूप से प्रोत्साहित किया जाता है और उनकी रक्षा की जाती है, उसी प्रकार कर्तव्य के द्वारा, नैतिक अधिकारों का संरक्षण होता है। इनका अन्तर केवल इतना है कि वैधानिक कर्तव्य, वैधानिक अधिकार से सम्बन्ध रखता है और नैतिक कर्तव्य, नैतिक अधिकार से। इस प्रकार किसी कर्तव्य के प्रतिपादित करने का अर्थ, किसी न किसी अधिकार को मान्यता देना है। यदि वह अधिकार राज्य से सम्बन्ध रखता है, तो हमारा कर्तव्य वैधानिक हो जाता है और यदि वह शुभ से सम्बन्ध रखता है, तो नैतिक हो जाता है। इसी प्रकार हमारा कर्तव्य व्यक्ति के प्रति भी हो सकता है और समाज के प्रति भी। नैतिक दृष्टि से कर्तव्य हर अवस्था में अधिकारों से सम्बन्धित है। अतः कर्तव्यों की व्याख्या करने से पूर्व कर्तव्यों तथा अधिकारों के सम्बन्ध पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

कर्तव्यों तथा अधिकारों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हमारे कर्तव्य अधिकारों के अनुसार ही होते हैं। किसी भी व्यक्ति के प्रति हमारा कर्तव्य, उस व्यक्ति के उचित अधिकार को देना है। हमारे समाज तथा संस्थाओं के प्रति कर्तव्य वे कर्तव्य हैं, जिनके द्वारा हम उनके उन अधिकारों को मान्यता देते हैं, जोकि एक शुभ जीवन के लिए अद्वितीय होते हैं। इस दृष्टि से आधारभूत कर्तव्यों को हम अधिकारों का सम्मान कह सकते हैं। ईसाई धर्म में जिन दस आदेशों को कर्तव्य माना गया है, वे इसी प्रकार के कर्तव्य हैं।

कर्तव्य की यह सापेक्षता हमें इस बात पर विवश करती है कि हम कर्तव्यों की सूची अधिकारों की सूची के अनुरूप बनाएं। प्रत्येक उचित अधिकार के साथ-साथ कर्तव्य इसलिए जुड़ा रहता है कि वह कर्तव्य उस अधिकार का सम्मान होता है। उदाहरण-स्वरूप, जब हम जीवित रहने के अधिकार को स्वीकार करते हैं, तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने जीवन का तथा दूसरों के जीवन का सम्मान करें और ऐसे कर्म का निषेध करें जो इस अधिकार का अनादर करता है। दूसरे शब्दों में, अहिंसात्मक जीवन व्यतीत करना प्रत्येक मानव का जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य हो जाता है। मनुष्य का यह कर्तव्य, न ही केवल उसके व्यक्तित्व तक सीमित है, अपितु वह उसके कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र तथा मानव-मात्र से सम्बन्ध रखता है। इसी प्रकार स्वतन्त्रता का अधिकार हमें इस बात पर बाध्य करता है कि हम अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को बनाए रखने की चेष्टा करें और उनकी स्वतन्त्रता की रक्षा को अपना कर्तव्य मानें। इस दृष्टि से दूसरे व्यक्तियों को, चाहे वे हमारे परिवार के व्यक्ति हों, चाहे समाज के व्यक्ति हों, चाहे विश्व के व्यक्ति हों, अपने अधीन करना अथवा उन्हें दास बनाना इस कर्तव्य का विरोध करना है।

इसी प्रकार सम्पत्ति तथा स्वतन्त्र भागीदारी के अधिकारों में भी कर्तव्य निहित हैं। जब किसी व्यक्ति को सम्पत्ति के उपयोग करने का अधिकार दिया जाता है, तो उससे यह आशा की जाती है कि वह उसका दुरुपयोग नहीं करेगा और अपने विशेष कर्तव्यों को निभाने के लिए ही उसका प्रयोग करेगा। इसी प्रकार, जो व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से समझौता करता है, उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उस समझौते के नियमों को भंग न करे। जिस व्यक्ति की सम्पत्ति का उपयोग, अपने पड़ोसियों के लिए दुःखमय सिद्ध होता है, ऐसी सम्पत्ति के उपयोग को अवैधानिक माना जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र भागीदारी का अधिकार दिया जाता है, किन्तु इस अधिकार के साथ-साथ विधान में यह कर्तव्य भी स्वीकार किया गया है कि ऐसे समझौतों के द्वारा भागीदारी स्थापित न की जाए, जोकि सार्वजनिक शुभ के विरोधी हों। इन तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि अधिकारों में कर्तव्य निहित होते हैं।

अधिकारों तथा कर्तव्यों का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि प्रत्येक कर्तव्य में अधिकार निहित रहता है। कुछ लोग इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता कि किसी भी समाज में कर्तव्य तो स्वीकार किए जाएं, किन्तु उन कर्तव्यों से सम्बन्धित अधिकार स्वीकार न किए जाएं। उदाहरणार्थ, कोई भी ऐसा समाज नहीं होगा जिसमें काम करने का कर्तव्य तो स्वीकार किया जाए, किन्तु उसके अनुरूप, उससे सम्बन्धित काम करनेका अधिकार स्वीकार न किया जाए। अन्ततोगत्वा, जहां पर इस प्रकार की असमानता एवं विषमता होती है, वहां सामाजिक तथा राजनीतिक प्रतिकूलता के कारण असन्तुलन रहता है। नैतिक क्षेत्र में, जो सबसे अधिक प्रगति हुई है, उसका

कारण अधिकारों तथा कर्तव्यों का परस्पर अन्योन्याश्रित होना ही है। नैतिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इस परस्पर-सम्बन्ध का उद्देश्य, नैतिक समरूपता अथवा अधिकारों तथा कर्तव्यों का सन्तुलन बनाए रखना है। अधिकारों तथा कर्तव्यों के इस परस्पर-सम्बन्ध की व्याख्या के पश्चात्, हम मुख्य कर्तव्यों की संक्षिप्त व्याख्या कर सकते हैं। कुछ नैतिक सिद्धान्तों में तो कर्तव्य को ही एकमात्र नैतिक अधिकार माना गया है। किन्तु ये कर्तव्य तथा अधिकार, दोनों समान रूपसे महत्त्वपूर्ण स्वीकार किए जाने चाहिए। हमने अधिकारों की व्याख्या तो ऊपर की ही है, अतः यहां पर केवल कर्तव्यों की व्याख्या करना आवश्यक है।

हम कर्तव्यों की परिभाषा करते हुए सर्वप्रथम जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे। जीवन का आदर करना, जीवन के सम्बन्ध में सबसे उत्तम आदेश है। इस कर्तव्य का सम्बन्ध जीवन-सम्बन्धी अधिकार से है। जब मनुष्य को जीवित रहने की स्वतन्त्रता है, तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह जीवन का आदर व सम्मान करे। इस कर्तव्य को ईसाई धर्म में प्रतिपादित दस आदेशों में इस प्रकार व्यक्त किया गया है : "तुम्हें किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।"[1]

यह आदेश देखने में तो निषेधात्मक प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह एक विधेयात्मक कर्तव्य को अभिव्यक्त करता है। यह हमें केवल निष्क्रिय रहने के लिए ही प्रेरित नहीं करता, अपितु यह हमें आदेश देता है कि हमें अपने तथा दूसरों के जीवन की रक्षा करनी चाहिए। मनुष्य के लिए न ही केवल दूसरे व्यक्तियों का संहार करना, इस कर्तव्य की अवहेलना करना है, अपितु आत्महत्या भी इसी नियम के अनुसार अवांछनीय तथा अनैतिक घोषित की जाती है।

इस कर्तव्य का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि हम किसी अन्य जीव का शारीरिक विनाश न करें, अपितु इससे कुछ अधिक है। इस कर्तव्य के पालन करने में, अपने जीवन की रक्षा करना तथा अपने-आपको अथवा किसी अन्य जीव को शारीरिक आघात न पहुंचाना भी सम्मिलित है। जीवन के प्रति सम्मान के कर्तव्य की यदि व्याख्या की जाए, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि केवल शारीरिक हिंसा का ही निषेध करना पर्याप्त नहीं है। इसके विपरीत, इस कर्तव्य का पालन करने का अर्थ मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, न किसी हिंसा का समर्थन करना और न किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किसी प्रकार की हिंसा करवाना है। दूसरे शब्दों में, पूर्णतया अहिंसात्मक व्यवहार करना ही जीवन के सम्मान के कर्तव्य का पालन करना है। यदि मानव-मात्र इस कर्तव्य को निभाने की पूरी चेष्टा करे, तो अनेक सांसारिक दुःखों का अन्त हो सकता है और मानव-मात्र सुख तथा शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकता है। जब तक इस विश्व में युद्ध को वांछनीय स्वीकार किया जाएगा और जब तक शस्त्रों के

१. "Thou shalt not kill."

प्रयोग से मानवीय हिंसा युद्ध में संगत स्वीकार की जाएगी, तब तक मनुष्य को पूर्णतया सभ्य कहना इसलिए असंगत होगा कि वह जीवन के सम्मान के कर्तव्य का पालन नहीं कर सकेगा। यह अहिंसात्मक कर्तव्य, देखने में तो सरल और स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु यदि व्यक्ति केवल इसी कर्तव्य का आत्मनिष्ठ होकर पालन करे, तो उसमें नैतिकता के सभी गुण स्वतः ही उपस्थित हो जाएंगे। आगे चलकर हम देखेंगे कि अन्य सभी आधारभूत कर्तव्य वास्तव में व्यापक दृष्टि से, इसी कर्तव्य के अधीन हो जाते हैं। जिस किसी भी कर्म के द्वारा हम किसी भी व्यक्ति को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानसिक अथवा शारीरिक आघात पहुंचाते हैं, तो ऐसा करते समय हम जीवन के सम्मान के कर्तव्य की अवहेलना करते हैं। किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति का अपहरण करना उसके मन को ठेस पहुंचाना है और इस प्रकार एक हिंसात्मक प्रवृत्ति है। यही कारण है कि भारतीय आचार-विज्ञान में अहिंसा को अन्य सभी धर्मों अथवा कर्तव्यों की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि माना गया है और कहा गया है कि "अहिंसा परमो धर्मः" अर्थात् "अहिंसा परम धर्म है।"

स्वतन्त्रता का सम्मान

मनुष्य का दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकार करने का कर्तव्य उतना ही मान्य है, जितना कि जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य आदरणीय है। यह कर्तव्य भी मनुष्य को ऐसे व्यवहार करने के लिए निषेध करता है जिसके द्वारा किसी अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती हो। हमारा कोई अधिकार नहीं कि हम अपने व्यवहार के द्वारा किसी अन्य व्यक्ति के जीवन के विकास में बाधाएं उत्पन्न करें। किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अवरुद्ध करने का अर्थ उसके जीवन के विकास में बाधक होना है। अतः यह कर्तव्य जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। यह हमें आदेश देता है कि हमें प्रत्येक व्यक्ति को निमित्त न मानकर, उसे स्वलक्ष्य ही मानना चाहिए। यदि हम प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही समान समझें, तो हम कदापि इस कर्तव्य की अवहेलना न करेंगे। मनुष्य को स्वतन्त्रता की दृष्टि से इसलिए समान स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा समान होती है। इसलिए स्वतन्त्रता के सम्मान एवं समदृष्टि के आदेश का प्रतिपादन, न ही केवल मूसा के दस आदेशों में उपलब्ध है, अपितु हिन्दू धर्म तथा इस्लाम में भी उपस्थित है। भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से लिखा है, "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति" अर्थात् "जो व्यक्ति सभी जीवों को अपने ही समान देखता है, वही वास्तव में दार्शनिक है।" इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हज़रत मोहम्मद ने अपने अन्तिम भाषण में अपने अनुचरों को उपदेश देते हुए कहा, "अपने नौकरों से वैसा ही व्यवहार करो, जैसाकि तुम अपने-आपसे और अपने सम्बन्धियों से करते हो। उन्हें वैसे ही वस्त्र तथा वैसा ही भोजन दो, जैसाकि तुम स्वयं ग्रहण करते हो, इत्यादि।" यह मानवीय कर्तव्य हर प्रकार की दासता, तानाशाही तथा मनुष्य के द्वारा मनुष्य का दुरुपयोग,

वेश्यावृत्ति आदि का निषेध करता है।

वास्तव में, स्वतन्त्रता के सम्मान का कर्तव्य एक ऐसा आधारभूत कर्तव्य है, जिसके बिना किसी भी प्रकार की वैयक्तिक अथवा सामाजिक प्रगति सम्भव नहीं हो सकती। विश्व के इतिहास में जब-जब किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र ने इस कर्तव्य की अवहेलना करके, अन्य व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का दमन किया है, तब-तब विश्व में युद्ध तथा क्रान्तियां घटित हुई हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य ने धीरे-धीरे इस कर्तव्य को अधिक से अधिक व्यापक कर्तव्य माना है। पश्चिम में भी कुछ ही समय पूर्व दासों को सम्पत्ति स्वीकार किया जाता था और उनकी स्वतन्त्रता का दमन नैतिक माना जाता था। आज भी दक्षिणी अफ्रीका में, वर्ण के आधार पर विषमता का व्यवहार संगत स्वीकार किया जा रहा है और काले वर्णवाले व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का दमन किया जा रहा है। यद्यपि अमरीका जैसे सुसंस्कृत देश में दासता की प्रथा का अन्त हो चुका है, तथापि वहां पर इस समय भी कुछ ऐसे स्थान हैं, जहां पर हब्शियों का प्रवेश वर्जित है। भारत में स्वतन्त्रता से पूर्व शूद्र जातियों से विषमता का व्यवहार किया जाता था, किन्तु स्वतन्त्र भारत में, विधान के द्वारा हर प्रकार की सामाजिक विषमता का अन्त कर दिया गया है। मनुष्य की स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए और उसके स्वतन्त्रता के कर्तव्य को अधिक से अधिक व्यापक बनाने के लिए 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना की गई है। वर्तमान सुसंस्कृत मानव, स्वतन्त्रता-सम्बन्धी कर्तव्य को अधिक से अधिक व्यापक बनाने की सतत चेष्टा कर रहा है। किन्तु ऐसा होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य अपने इस कर्तव्य का शत-प्रतिशत पालन कर रहा है। पूंजीवादी देशों में अब भी धन के द्वारा राजनीतिक शक्ति तथा बुद्धि मोल ली जाती है। इसी प्रकार साम्यवादी राष्ट्रों में विचार की स्वतन्त्रता का दमन किया जाता है। जब मनुष्य अपने इस कर्तव्य को पूर्णतया अपना लेगा, तब ही विश्वव्यापी शान्ति की स्थापना सम्भव हो सकती है।

चरित्र के प्रति सम्मान

अगला महत्त्वपूर्ण मानवीय कर्तव्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अन्य व्यक्ति के चरित्र का सम्मान करना चाहिए। इस कर्तव्य का पहले दो कर्तव्यों से भेद यह है कि वे दोनों कर्तव्य निषेधात्मक हैं, जबकि यह कर्तव्य विधेयात्मक है। जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य हमें हिंसा न करने का आदेश देता है और स्वतन्त्रता-सम्बन्धी कर्तव्य अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का दमन न करने का आदेश देता है। किन्तु चरित्र-सम्बन्धी कर्तव्य न ही केवल अन्य व्यक्तियों को क्षति पहुंचाने का निषेध करता है, अपितु इस बात की विधि करता है कि हमें दूसरों के व्यक्तित्व के विकास को प्रोत्साहन देना चाहिए। हमारा यह विधेयात्मक कर्तव्य हमें प्रेरणा देता है कि हम अन्य व्यक्तियों के चरित्र का आदर करके, उनके व्यक्तित्व के विकास में सहायक सिद्ध हों। यह कर्तव्य वास्तव में अन्य व्यक्तियों

की स्वतन्त्रता के दमन न करने के कर्तव्य की पुष्टि-मात्र है। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि यह हमें अन्य व्यक्तियों के चरित्र के विकास में सक्रिय योग देने की प्रेरणा देता है। जब हम किसी भी व्यक्ति के चरित्र का सम्मान करते हैं और उसके चरित्र के अनुसार उससे व्यवहार करते हैं, तभी हम उसे निमित्त न मानकर स्वलक्ष्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार की स्वीकृति एक विधेयात्मक और सक्रिय प्रयत्न है।

सम्पत्ति का सम्मान

सम्पत्ति के सम्मान का अर्थ, अन्य व्यक्ति के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार को स्वीकार करना है। यह कर्तव्य भी एक निषेधात्मक कर्तव्य है, क्योंकि यह हमें दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति का अपहरण न करने का आदेश देता है। मूसा के दस आदेशों (Ten Commandments) में जिस आदेश पर यह कर्तव्य आधारित किया जाता है, वह यह है, "तुम्हें चोरी नहीं करनी चाहिए।"[1]

इस कर्तव्य को विश्व के प्रत्येक सभ्य समाज तथा धर्म में स्वीकार किया गया है। योग-दर्शन में इसे अस्तेय, अर्थात् चोरी न करने का आध्यात्मिक अनुशासन माना गया है। आध्यात्मिक व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति शुद्ध जीवन व्यतीत करे और सत्य तथा अहिंसा का पालन करे। जैन-दर्शन भी अस्तेय को एक महाव्रत स्वीकार करता है और उसे सत्य तथा अहिंसा के व्रतों पर आधारित मानता है। यदि अहिंसा का अर्थ किसी भी व्यक्ति को मन, वचन और कर्म से मानसिक व शारीरिक क्षति न पहुंचाना है, तो यह स्पष्ट है कि दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण न करना अहिंसा का अंग है। किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का अपहरण करना, निस्सन्देह उस व्यक्ति को मानसिक तथा शारीरिक क्षति पहुंचाना है और उसके व्यक्तित्व के विकास को अवरुद्ध करना है। इस प्रकार सम्पत्ति-सम्बन्धी कर्तव्य, पहले तीन कर्तव्यों में निस्सन्देह निहित हैं। यह कर्तव्य हमें आदेश देता है कि हमें किसी अन्य व्यक्ति के कल्याण से सम्बन्धित ऐसी वस्तुओं को नहीं चुराना चाहिए जोकि उसकी सम्पत्ति हैं, चाहे वे वस्तुएं भौतिक वस्तुएं हों, चाहे समय, ख्याति आदि जैसी अमूर्त वस्तुएं। इस प्रकार यह कर्तव्य, अन्य व्यक्ति के चरित्र के सम्मान के कर्तव्य को भी प्रोत्साहन देता है। सम्पत्ति को न चुराने का आदेश केवल चोरी की निन्दा ही नहीं करता, अपितु इससे कुछ अधिक आदेश देता है। इसके अनुसार, हमें न ही केवल अन्य व्यक्तियों की सम्पत्ति का सम्मान रखना अपना कर्तव्य समझना चाहिए, अपितु अपनी तथा अन्य व्यक्तियों की सम्पत्ति के दुरुपयोग को निन्दनीय मानना चाहिए। इस प्रकार यह कर्तव्य हमें सदैव प्रयत्नशील होनेका आदेश देता है और हर प्रकार की अकर्मण्यता को निन्दनीय घोषित करता है।

आधुनिक युग में इस कर्तव्य के पालन करने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसमें

---

१. "Thou shalt not steal."

कोई सन्देह नहीं कि इस समय विश्व के प्रत्येक देश में तथा प्रत्येक राज्य में, जनसाधारण का अपनी सम्पत्ति के प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त है और प्रत्येक नागरिक से यह आशा की जाती है कि वह सम्पत्ति-सम्बन्धी कर्तव्य का पालन करेगा, किन्तु फिर भी आधुनिक सुसंस्कृत मानव यह नहीं कह सकता कि आज विश्व में सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं हो रहा। जैसाकि हमने ऊपर बताया है, सम्पत्ति-सम्बन्धी कर्तव्य का अर्थ केवल चोरी करना ही नहीं, अपितु सम्पत्ति के दुरुपयोग का अन्त करना भी है। यह एक खेद की बात है कि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सभ्य राष्ट्रों में भी इस समय सम्पत्ति का दुरुपयोग होता है और उस दुरुपयोग की रोकथाम नहीं की जाती। आज जबकि विश्व एक कुटुम्ब हो गया है और जब विश्व के सभी राष्ट्र उस कुटुम्ब के सदस्य हैं, इस अवस्था में आर्थिक विषमता का होना यह प्रमाणित करता है कि विश्व के कुछ राष्ट्र सम्पत्ति का दुरुपयोग करते हैं और अपने कर्तव्य की अवहेलना करते हैं। अमरीका जैसे समृद्ध राष्ट्र में असंख्य मात्रा में अन्न जला दिया जाता है, जबकि भारत तथा अन्य पिछड़े हुए राष्ट्रों में भूख की समस्या का समाधान नहीं हो पाता। अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य-समिति, जोकि संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक शाखा है, ऐसी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न अवश्य कर रही है, किन्तु फिर भी विशेषकर उन पश्चिमीय राष्ट्रों के लिए, जोकि ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं, यह आवश्यक है कि वे मूसा के इस आदेश की ओर ध्यान दें और विश्व में स्थायी शान्ति, सुख तथा समृद्धि स्थापित करने के लिए, अस्तेय के मानवीय कर्तव्य का दृढ़ता से पालन करें। अतः इस कर्तव्य के पालन करने का जितना महत्त्व आधुनिक युग में है, वह सम्भवतया ऐतिहासिक दृष्टि से पहले कदापि नहीं था। इसका एक कारण यह भी है कि आज के युग में जनसंख्या पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी है और यदि सम्पत्ति के उत्पादन तथा वितरण की ओर पर्याप्त ध्यान न दिया गया, तो सम्भवतया मानव-समाज अस्त-व्यस्त हो जाएगा। समाज की व्यवस्था को बनाए रखना भी एक मानवीय कर्तव्य है। अतः अब हम इस कर्तव्य की व्याख्या करेंगे।

सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान

संस्था एवं सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान रखने का कर्तव्य, समाज तथा व्यक्ति दोनों के अस्तित्व के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके सभी अधिकार उसे समाज का सदस्य होने के नाते ही प्राप्त हैं। अतः वह समाज, जोकि उसके अधिकारों का जनक है तथा रक्षक है, व्यक्ति से आशा रखता है कि वह सामाजिक संस्था के संरक्षण को अपना मुख्य कर्तव्य समझेगा। समाज के प्रति आदर एवं सम्मान की भावना वह भावना है, जोकि व्यक्ति को परम्परागत प्रथाओं को भंग करने से रोकती है, चाहे वे परम्पराएं समाज की इकाई कुटुम्ब से सम्बन्ध रखती हों, चाहे वे सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती हों तथा राज्य एवं राष्ट्र की सस्था से सम्बन्ध रखती हों। वर्तमान युग में तो यह मानवीय कर्तव्य, संयक्त राष्टसंघ

जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से भी सम्बन्ध रखता है और हमें यह आदेश देता है कि हम विश्व को ही अपना कुटुम्ब समझें। भारतीय ऋषियों ने बहुत पहले मानव-समाज के सम्मान को अनुभव किया था और यह घोषणा की थी :

"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।"

अर्थात् "उदार चरित्रवाले व्यक्तियों के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी कुटुम्ब ही है।"

प्रथम दृष्टिपात से सम्भवतया ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह मानवीय कर्तव्य, जोकि व्यक्ति को समाज का एक अंग-मात्र मानकर व्यक्तिगत हित को सामाजिक हित पर बलिदान करने का आदेश देता है, प्राचीन सभ्यता से सम्बन्ध रखता है। प्राचीनकाल में, नैतिकता का अर्थ समाज के रीति-रिवाजों में अन्धविश्वास रखना, व्यक्तिगत संकल्प की स्वतन्त्रता का दमन करना और रूढ़िवादी परम्पराओं को ईश्वरीय आदेश मानना था। किन्तु आधुनिक युग में, जबकि साम्प्रदायिक तथा रूढ़िवादी सामाजिक नैतिकता के स्थान पर वैयक्तिक तर्कात्मक नैतिकता को श्रेष्ठ मानकर, प्रत्येक व्यक्ति के संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया जाता है, सामाजिक परम्पराओं की रूढ़िवादी प्रथाओं को सम्मान देना सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम इस समस्या पर गम्भीर चिन्तन करें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि जिस प्रकार वर्तमान परिस्थितियां, सम्पत्ति के सम्मान के कर्तव्य को विशेष महत्त्व देती हैं, उसी प्रकार युग-धर्म हमें संस्था के सम्मान के कर्तव्य का निरन्तर पालन करने की प्रेरणा देता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक युग में मनुष्य व्यक्तिगत रूप से पहले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है और वह अपने ही संकल्प द्वारा नैतिकता का अनुसरण करता है, न कि अन्धविश्वास से प्रेरित होकर। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि वह आज कुटुम्ब, सम्प्रदाय, राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाज का अभिन्न अंग नहीं रहा। इसके विपरीत, जैसाकि हमने ऊपर उल्लेख किया है, वर्तमान समय में विश्व निःसन्देह एक कुटुम्ब बन गया है। वैज्ञानिक उन्नति तथा यातायात के तीव्रतम आविष्कृत साधनों के कारण आज हम कुछ ही क्षणों में विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी कोई भी विश्व की घटना ऐसी नहीं है, जिसका सम्बन्ध केवल एक राष्ट्र अथवा देश से ही हो। यही कारण है कि पिछले दो महायुद्धों में प्राण तथा सम्पत्ति की हानि, विश्व के एक या दो राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं रही, अपितु यह हानि मानव-मात्र की हानि प्रमाणित हुई है। ऐसी अवस्था में, जबकि एक राष्ट्र की उन्नति तथा अवनति का अर्थ विश्व की उन्नति तथा अवनति है, विश्व को एक कुटुम्ब स्वीकार करने की आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। यही कारण है कि पिछले विश्वयुद्ध में जितनी अधिक भयंकरता और जितनी अधिक मानवीय क्षति उपस्थित हुई, उतनी ही अधिक तीव्र और उग्र प्रेरणा ने विश्व के नेताओं को अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करने और मानव-मात्र की सुरक्षा करने के लिए प्रेरित किया। अतः वर्तमान परिस्थितियां हमें बाध्य करती हैं कि हम सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान रखने

के कर्तव्य को पूर्णतया निभाएं। इस कर्तव्य का पालन करने के लिए सर्वोत्तम नियम यह है कि कुटुम्ब के हित को व्यक्तिगत हित की अपेक्षा, समुदाय के हित को कौटुम्बिक हित की अपेक्षा, राष्ट्रीय हित को समुदाय के हित की अपेक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय हित को राष्ट्र-विशेष के हित की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ समझा जाए। हम इस नियम की व्याख्या तो आगे चलकर करेंगे, यहां केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि सामाजिक व्यवस्था को सुरक्षित रखने का कर्तव्य आज भी एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।

सत्य के प्रति सम्मान

अभी तक हमने जितने कर्तव्यों की व्याख्या की है, वे सभी ठोस तत्त्वों से और ठोस जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु सत्य के प्रति सम्मान रखने का कर्तव्य, प्रथम दृष्टि से एक अमूर्त तत्त्व से सम्बन्धित प्रतीत होता है, क्योंकि सत्य को प्रायः एक तत्त्वात्मक धारणा ही माना जाता है। किन्तु थोड़ा-सा चिन्तन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्य न ही केवल एक तत्त्वात्मक धारणा है, अपितु वह एक ऐसी नैतिक क्रियाशीलता है जो व्यक्ति तथा समाज के विकास के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। इस-लिए भारतीय दर्शन में सत्य और अहिंसा को साथ लिया जाता है और उनके आचरण को, आत्मानुभूति और सामाजिक कल्याण का एकमात्र साधन स्वीकार किया जाता है। पश्चिमीय आचार-विज्ञान में भी, सत्य के सम्मान का अर्थ, सत्य को व्यवहार का आधार मानना है। इस कर्तव्य को निम्नलिखित धार्मिक आदेश से सम्बद्ध किया जाता है, "तुम्हें झूठ नहीं बोलना चाहिए।"[१] साधारणतया यह कहा जा सकता है कि यह आदेश एक निषे-धात्मक आदेश है। किन्तु वास्तव में यह हमें क्रियाशीलता के लिए प्रेरित करता है और सत्यपरायण जीवन व्यतीत करने का आदेश देता है। इस आदेश का अर्थ यह है कि हमें अपने वचनों के अनुसार ही व्यवहार करना चाहिए; उदाहरणस्वरूप, हमें अपनी प्रतिज्ञाएं निभानी चाहिए और उन समझौतों का आदर करना चाहिए, जोकि हमने स्वयं अपने संकल्प के द्वारा अन्य व्यक्तियों से किए हैं। इसी प्रकार इस कर्तव्य का अर्थ यह भी है कि हमारे विचार तथा हमारे शब्दों में अन्तर नहीं होना चाहिए।

जो व्यक्ति अपने जीवन को सत्य के आधार पर चलाता है, उसे व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना अवश्य करना पड़ता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि सत्यपरायण व्यक्ति जीवन में सफल नहीं होता। महात्मा गांधी के जीवन-चरित से हमें इस बात की प्रेरणा मिलती है कि हम जीवन के प्रत्येक स्तर पर, सत्य पर चलते हुए सफलता प्राप्त कर सकते हैं। गांधीजी का जीवन निस्सन्देह एक सत्य का प्रयोग था। उन्होंने सत्य के कर्तव्य को, न ही केवल व्यक्तिगत और व्यवसाय-सम्बन्धी जीवन में अपनाया, अपितु राजनीतिक जीवन में भी उसका प्रयोग किया। उनके जीवन से यह प्रमाणित होता है कि अन्त में सत्य की ही विजय होती है। संस्कृत भाषा में लिखा है,

१. "Thou shalt not lie."

"सत्यमेव जयते" अर्थात् "सत्य की ही विजय होती है।" भारतीय राज्यपताका में जो अशोक-स्तम्भ का चिह्न है, उसके नीचे यही महावाक्य (सत्यमेव जयते) अंकित किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि भारत आज भी राजनीति में सत्य-सम्बन्धी कर्तव्य को सर्वश्रेष्ठ मानता है। यद्यपि राजनीति में प्रायः असत्य का आश्रय लिया जाता है, तथापि यदि हम ऐतिहासिक घटनाओं का निष्पक्ष विश्लेषण करें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि जब-जब सत्य को किसी शासक द्वारा दृढ़ता से अपनाया गया है, तब-तब सुख और समृद्धि का राज्य हुआ है। सहस्रों वर्षों के पश्चात् भी रामराज्य को इसलिए आदर्श स्वीकार किया जाता है कि रामचन्द्र ने सत्य की निष्ठा को अपनाया। अशोक महान का नाम इतिहास में इसलिए अमर हो गया कि उसने सत्य और अहिंसा को अपनाकर प्रजा के मन पर राज्य किया। इससे यह प्रमाणित होता है कि सत्यनिष्ठ राजनीति, न ही केवल सफल होती है, अपितु एक अमर आदर्श बन जाती है। अतः सत्य के कर्तव्य का पालन करना सबसे अधिक महत्त्व रखता है। उसका कारण यह है कि सत्य पर चलनेवाला व्यक्ति सदैव सद्भावना से प्रेरित होता है और निर्भयता से सदाचार का आचरण करता है।

प्रगति के प्रति सम्मान

प्रगति के प्रति सम्मान का अर्थ, विश्व-मात्र के विकास में सक्रिय सहयोग देने का कर्तव्य है। इस कर्तव्य का उद्देश्य यह है कि हम स्वार्थ का त्याग करके, सार्वजनिक सेवा को अपनाएं। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कर्तव्यों का हृदय से पालन करें। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र में यथाशक्ति अपने कर्तव्य का पालन करेगा, तभी सार्वजनिक विकास की तथा समस्त विश्व की प्रगति सम्भव हो सकती है। यह मानवीय कर्तव्य निम्नलिखित धार्मिक आदेश पर आधारित है, "तुम्हें अपने विशेष क्षेत्र में सदैव सहृदय, सर्वात्मना, सम्पूर्ण शक्ति तथा सम्पूर्ण मन से परिश्रम करना चाहिए।"[1] यह धार्मिक आदेश भगवद्गीता में भी प्रतिपादित है। जब व्यक्ति अपने इस कर्तव्य को भूल जाता है, तो वह धर्मसंकट में पड़ जाता है। जब अर्जुन प्रगति के प्रति कर्तव्य की अवहेलना करके, धर्मसंकट में पड़ जाता है और जब वह युद्धक्षेत्र से भागकर संन्यासी बनने की इच्छा प्रकट करता है, तो श्री कृष्ण उसे इस कायरता से बचने का उपदेश देते हैं और उसे बतलाते हैं कि अपने क्षेत्र में निरन्तर सक्रिय रहना और कर्तव्य के लिए जीवन तक बलिदान दे देना श्रेयस्कर है। भगवद्गीता में इस कर्तव्य को निम्नलिखित रूप से अभिव्यक्त किया गया है :

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।"

अर्थात् "अपने क्षेत्र में कर्तव्य का पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाना श्रेष्ठ है और

१. "Thou shalt labour, within thy particular province, with all thy heart and with all thy soul and with all thy strength and with all thy mind."

किसी अन्य व्यक्ति के धर्म में हस्तक्षेप करना असंगत है।" अपने कर्तव्य पर यथाशक्ति चलना और सक्रिय रहना इसलिए आवश्यक माना गया है कि सार्वजनिक उन्नति से ही संसार में सुख का साम्राज्य स्थापित होता है और यह साम्राज्य ही धर्म तथा नैतिकता का उद्देश्य होता है। यही कारण है कि जनसेवा को प्रत्येक धर्म में उच्चतम स्थान दिया गया है और मानवीय प्रेम को ही ईश्वरीय प्रेम माना गया है। यहां अबु बेन आदम की कथा का संक्षिप्त उल्लेख करना अनुचित न होगा। कहा जाता है कि अबु बेन आदम, जिसने कि अपना समस्त जीवन जनसेवा में लगा दिया था, एक बार सहसा रात्रि को जगा और उसने अपने कक्ष में एक दिव्य प्रकाश देखा। वह प्रकाश एक देवता के कारण था, जोकि अबु के कक्ष में बैठा हुआ एक स्वर्ण पुस्तक में कुछ लिख रहा था। अबु ने उस देवता के निकट जाकर पूछा, "तुम इस पुस्तक में क्या लिख रहे हो ?" देवता ने उत्तर दिया कि वह उस पुस्तक में उन व्यक्तियों के नाम लिख रहा है जो ईश्वर से प्रेम करते हैं। अबु ने उस देवता से प्रार्थना की कि कृपया मेरा नाम उन व्यक्तियों की सूची में लिख दीजिए जो मनुष्यों से प्रेम करते हैं। दूसरे दिन जब वह देवता अबु बेन आदम के कक्ष में प्रविष्ट हुआ, तो उसने उन व्यक्तियों की सूची दिखाई जो ईश्वर को प्रिय थे, अर्थात् जिनको ईश्वर प्रेम करता था। अबु यह देखकर हर्षित हुआ कि उस सूची में उसका नाम सर्वोपरि था। इस कथा का अभिप्राय यह है कि जनसेवा ही ईश्वर-आराधना है। इसलिए कहा गया है कि श्रम ही श्रद्धापूर्ण पूजा है। इसी दृष्टि को अंग्रेज़ी के कवि कॉलरिज (Coleridge) ने अपनी कृति 'द राइम ऑव ऐंशिएण्ट मैरीनर' में निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त किया है :

"वही व्यक्ति सर्वोत्तम रूप से ईश्वर की प्रार्थना करता है, जो मनुष्यों, पशुओं तथा पक्षियों से घनिष्ठ प्रेम रखता है।"[1] भारतीय दृष्टिकोण से भी प्राणी-मात्र से प्रेम करना ईश्वर-भक्ति का आवश्यक अंग माना गया है। हिन्दी के एक विख्यात कवि ने परमार्थ की सराहना करते हुए लिखा है :

"बृच्छ कबहुं नहिं फल भखै, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने सन्तन धरा सरीर।।"

भारतीय दृष्टिकोण से वही व्यक्ति संत अथवा साधु है, जो निरन्तर परमार्थ में लगा रहता है।

अनेक पश्चिमीय विद्वान भारतीय दर्शन को इसलिए अनैतिक कहते हैं कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति को वैराग्य का अनुसरण करके, व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। किन्तु भारतीय दर्शन कदापि स्वार्थ को परमार्थ की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं मानता। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी मुक्त आत्मा उस समय तक वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं करता, जब तक कि वह अपने प्रयत्नों के द्वारा, अन्य सभी व्यक्तियों को मुक्त कराने में

१. "He prayeth well who loveth well
Both man and bird and beast."

सफल नहीं होता। इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन के अनुसार भी मुक्त आत्मा, समस्त मानव-समाज की मुक्ति की चेष्टा करता रहता है। भगवद्गीता में स्वार्थी और संकीर्ण दृष्टि-कोणवाले व्यक्ति को आसुरी सम्पत्तिवाला व्यक्ति कहा गया है। इसके विपरीत दैवी सम्पत्तिवाला व्यक्ति वही है, जो अन्य लोगों की प्रगति से आनन्दित होता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार, प्रत्येक सच्चे भक्त के लिए ईश्वर-आराधना के अन्त में निम्नलिखित प्रार्थना करना आवश्यक माना गया है :

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥"

अर्थात् "हे ईश्वर! सभी लोग सुखी हों, सभी पापरहित हों, सभी आनन्द-मंगल प्राप्त करें, किसी भी व्यक्ति को, किसी भी प्रकार का दुःख प्राप्त न हो।" इस प्रकार के दृष्टिकोण-वाला भारतीय दर्शन कदापि अमानवीय और अनैतिक नहीं हो सकता। पश्चिमीय तथा भारतीय नैतिक दृष्टिकोण के उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि पूर्व तथा पश्चिम में, प्रगति के सम्मान के कर्तव्य को एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य स्वीकार किया गया है और उच्चतम नैतिकता को विशुद्ध मानववाद पर आधारित माना गया है।

ऊपर दी गई कर्तव्यों की व्याख्या आचार-विज्ञान में, विशेषकर पश्चिमीय दृष्टि-कोण से, इसलिए महत्त्व रखती है कि मानवीय जीवन अपूर्ण और सापेक्ष है और इस जीवन की सफलता इसीमें है कि व्यक्ति अपनी परिस्थितियों के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करे और यथासम्भव अपने-आपको और समाज को उस आदर्श की ओर अग्रसर करे, जोकि जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। आचार का सिद्धान्त चाहे पश्चि-मीय हो चाहे पूर्वीय, चाहे सापेक्ष हो चाहे निरपेक्ष, हर अवस्था में कर्तव्य को ही परम मूल्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन मानता है। किन्तु हमने कांट के कर्तव्य के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए यह कहा था कि प्रेरक शून्य कर्तव्य, एक अमूर्त धारणा ही सिद्ध होता है। हम कर्तव्य को कदापि निरपेक्ष नहीं मान सकते। जब कांट कर्तव्य को निरपेक्ष बनाने की चेष्टा करता है, तभी वह हमें एक बिना सामग्री का आकार प्रस्तुत करता है। कांट इस बात को भूल जाता है कि कर्तव्य का सम्बन्ध ठोस जीवन से है और ठोस जीवन सदैव सापेक्ष होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य की श्रेष्ठता इसीमें है कि वह समय और स्थान की सापेक्षताओं से परे जाकर, ऐसे आदर्श की कल्पना कर सकता है जोकि पूर्ण है। किन्तु इस पूर्णता की प्राप्ति का साधन निस्सन्देह हमारा व्यावहारिक जीवन है, जो सदैव सापेक्ष और अपूर्ण रहता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि पूर्णता और निरपेक्षता कल्पना-मात्र हैं। इसके विपरीत, हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य जैसे विचार-शील प्राणी के द्वारा पूर्णता को जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया जाना स्वयं उस आदर्श की वास्तविकता का प्रमाण है।

पश्चिमीय आचार-विज्ञान यह मानकर चलता है कि आदर्श सदैव अप्राप्य और व्यावहारिक जीवन से परे रहता है और भारतीय दर्शन आदर्श को प्राप्य और जीवन में

वास्तविक रूप से अनुभूत किए जानेवाला तत्त्व मानता है। पश्चिमीय दर्शन कर्तव्य को इसलिए महत्त्व देता है कि कर्तव्य हमें आदर्श की ओर अग्रसर करता है और इसी कारण वही हमारे जीवन का श्रेष्ठतम स्तर है। किन्तु भारतीय दर्शन कर्तव्य को इसलिए महत्त्व देता है कि कर्तव्य का निभाना ही एकमात्र ऐसा अनुशासन है जो मनुष्य को परम श्रेयस् की ओर ले जाता है और अन्त में उसका अनुभव कराता है। अतः दोनों अवस्थाओं में कर्तव्य का पालन करना नैतिक स्वीकार किया जाता है। इसके अतिरिक्त कर्तव्य का सामाजिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि समाज की उपस्थिति में ही अधिकार और कर्तव्य की समस्या खड़ी होती है। यदि समाज न हो, तो अधिकांश कर्तव्य और अधिकार निरर्थक प्रमाणित हो जाएं। उदाहरणस्वरूप, सम्पत्ति का अधिकार तथा कर्तव्य तभी महत्त्व रखता है, जब एक से अधिक व्यक्ति सम्पत्ति से सम्बन्धित हों। स्वतन्त्रता-सम्बन्धी अधिकार भी तभी महत्त्व रखता है जब व्यक्ति समाज में रहता हो और स्वतन्त्रता को समाज के विकास के लिए आवश्यक मानता हो। जहां तक जीवन-सम्बन्धी अधिकार तथा कर्तव्य का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि मानव-समाज की अनुपस्थिति में भी इनका महत्त्व रहता है। यही कारण है कि भारतीय आचार-मीमांसा ने अहिंसा को परम धर्म माना है। हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि यदि कोई व्यक्ति निर्जन वन में एकाकी रहता हो और वह सर्वथा नैतिकता से मुक्त हो। ऐसे व्यक्ति के लिए सम्पत्ति के सम्मान के कर्तव्य की भले ही आवश्यकता न हो, और न ही अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता के प्रति कर्तव्य की आवश्यकता हो, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वह समाज की अनुपस्थिति में, जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य से भी मुक्त है। उस वन में रहनेवाले अन्य प्राणियों के प्रति और विशेषकर अहिंसक प्राणियों के प्रति वह एक सामान्य मनुष्य होने के नाते, जीवन के कर्तव्य की अवहेलना नहीं कर सकता। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि एक विचारशील प्राणी में जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य निरपेक्ष रूप से उपस्थित रहता है।

हम यह जानते हैं कि जब से मनुष्य सभ्य हुआ है एवं जब से मनुष्य, मनुष्य कहलाया है, तब से ही वह समाज का एक अभिन्न अंग रहा है। एकाकी मनुष्य की धारणा निस्सन्देह कल्पना-मात्र है। अतः कर्तव्यों का महत्त्व, नैतिक और सामाजिक दृष्टि से कदापि कम नहीं हो सकता। कर्तव्यों का सम्बन्ध, अधिकारों की भांति सामाजिक संस्थाओं से रहता है और वे सामाजिक विकास में सहायक होने के कारण मूल्य रखते हैं। कर्तव्यों की विशेषता जीवन के दो मुख्य अंगों से है और वे दो मुख्य अंग निम्नलिखित हैं :

(१) जीवन का आर्थिक अंग ;

(२) जीवन का सामाजिक अंग।

आर्थिक दृष्टि से मनुष्य के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार और कर्तव्य विशेष महत्त्व रखते हैं और सामाजिक दृष्टि से मनुष्य के कुटुम्ब तथा समाज-सम्बन्धी अधिकार और कर्तव्य विशेष महत्त्व रखते हैं। हम इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व मनुष्य के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों और कर्तव्यों की व्याख्या करेंगे। जहां तक अधिकारों और

कर्तव्यों के सामाजिक अंग का प्रश्न है, उसकी हम आगे चलकर विस्तृत रूप से व्याख्या करेंगे। अधिकारों तथा कर्तव्यों का आर्थिक दृष्टिकोण आधुनिक युग में एक विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि इस युग को हम निस्सन्देह आर्थिक युग कह सकते हैं। आज हमारी सभ्यता एक प्रकार की वाणिज्य-सभ्यता बन गई है और हमारे जीवन का प्रत्येक अंग आर्थिक समस्याओं से पूर्णतया प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त यदि हम नैतिक जीवन को भी आर्थिक जीवन से अधिक श्रेष्ठ समझें, तब भी आर्थिक अधिकारों और कर्तव्यों की अवहेलना इसलिए नहीं की जा सकती कि इनके बिना न तो हम उस शरीर को हृष्ट-पुष्ट रख सकते हैं, जिसके माध्यम से हम नैतिक जीवन में क्रियाशील हो सकते हैं और न ही हम दरिद्रता से दुःखित रहकर वह मानसिक सन्तुलन रख सकते हैं, जिसके बिना नैतिक जीवन कदापि सम्भव नहीं हो सकता। हमने भारतीय आचार-मीमांसा की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए भी यह बताया था कि अर्थ को पुरुषार्थों के क्रम में इसलिए प्रथम स्थान दिया गया है कि इसकी प्राप्ति के बिना हम धर्माचरण की कल्पना नहीं कर सकते। पश्चिमीय आचार-मीमांसा भी इस तथ्य को स्वीकार करती है, विशेषकर आधुनिक परिस्थितियां हमारे आर्थिक जीवन को संस्कृति का अनिवार्य अंग बनाए हुए हैं। अरबन ने इस दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए लिखा है, "आर्थिक जीवन की नैतिकता पर जो बल दिया गया है, वह पिछली अर्धशताब्दी के नैतिक चिन्तन का एक विशेष लक्षण है···एक ओर तो आर्थिक क्रियाशीलता का इतना विपुल विकास हुआ कि उसकी अपेक्षा में मानवीय जीवन के अन्य अंगों का विकास तनिक-मात्र भी नहीं है। उत्पादन की विधियों में अनन्त वृद्धि एवं धन के कल्पनातीत संचय ने मानवीय शुभों के क्रम में सम्पत्ति-सम्बन्धी मूल्यों को विशेष उत्कृष्ट स्थान दे दिया है। दूसरी ओर उत्पादन की नवीन विधियों तथा उन विधियों से उत्पन्न पूंजीवादी व्यवस्था के विकास में वितरण, न्याय तथा सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों की ऐसी समस्याओं को जन्म दिया है, जो सर्वथा नवीन हैं।"[1] अतः हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम नैतिकता के आर्थिक जीवन-सम्बन्धी अंग

१ "Emphasis upon the ethics of the economic life is the outstanding characteristic of the moral thinking of the last half century...there has been, on the one hand, an enormous development of economic activity, out of all proportion to the growth of the other sides of human life. The tremendous speeding up of the processes of production, the unheard of accumulation of wealth, have inevitably resulted in giving the values of wealth a privileged position in the scale of human goods. On the other hand, the novel methods of production, and the development of the capitalistic system which they necessitated,......have led to entirely new problems of distributive justice and of property rights."

—Fundamentals of Ethics by W. M. Urban, Page 261.

पर प्रकाश डालें और यह बताएं कि सम्पत्ति के प्रकरण में कर्तव्यों तथा अधिकारों का क्या महत्त्व है।

प्राचीन समय में, जबकि मनुष्य का जीवन सरल था और उसकी जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताएं उदार प्रकृति के उत्पादन से ही पूरी हो जाती थीं, उसका आर्थिक जीवन आधुनिक समय की अपेक्षा स्वतन्त्र था और उसके नैतिक जीवन में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालता था। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात्, जब यन्त्रों ने मानवीय श्रम का स्थान ले लिया और जब सामाजिक नैतिकता के स्थान पर वैयक्तिक नैतिकता का महत्त्व बढ़ गया, तो यह स्वाभाविक था कि नवीन ढांचे में विशेष प्रकार के नैतिक जीवन का विकास हो। आधुनिक युग में मनुष्य की आर्थिक समस्याएं इतनी जटिल हो गई हैं कि उसके जीवन का अधिक समय जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में ही लग जाता है। जब तक मनुष्य की शारीरिक पुष्टि के लिए पर्याप्त भोजन और वस्त्र आदि की व्यवस्था न हो, तब तक वह सत्यं, शिवं, सुन्दरम् आदि उच्च आदर्शों की ओर ध्यान तक नहीं दे सकता। आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद और आर्थिक होड़ ने मनुष्य की जीवन-शैली को परिवर्तित कर दिया है। यह कहा जाता है कि आधुनिक आर्थिक अवस्था ने व्यापार और उद्योग में अनैतिकता को जन्म दिया है और सद्गुणों पर आघात किया है। यही कारण है कि आधुनिक समय में एक आर्थिक नैतिकता की आवश्यकता है। इन कारणों से आधुनिक समय में आचार-विज्ञान की दृष्टि भी यथार्थवादी हो गई है। आचार-विज्ञान सम्पत्ति के प्रति सम्मान के विषय में विशेष रुचि लेने लगा है। अतः सम्पत्ति के प्रति कर्तव्य की विशेष व्याख्या की आवश्यकता है। किन्तु ऐसी व्याख्या देने से पूर्व आर्थिक जीवन की परिभाषा देना भी वांछनीय है।

हम आधुनिक आर्थिक जीवनकी परिभाषा आधारभूत आर्थिक प्रक्रियाओं के प्रकरण में दे सकते हैं। ये प्रक्रियाएं उत्पादन (Production), वितरण (Distribution) तथा उपभोग (Consumption) हैं। उत्पादन का अर्थ जीवन की आवश्यकताओं-सम्बन्धी वस्तुओं तथा उन वस्तुओं का उत्पादन है, जो सुखमय जीवन व्यतीत करने में सहायक होती हैं। इन वस्तुओं का वितरण उन व्यक्तियों में होता है, जिनके समूह को आर्थिक समुदाय कहा जाता है। ऐसा आर्थिक समुदाय नगर, देश व विश्व तक का समुदाय माना जा सकता है। इसी आर्थिक समुदाय के द्वारा ही उत्पादित वस्तुओं का उपभोग किया जाता है। इस प्रकार के आर्थिक जीवन में सम्पत्ति-सम्बन्धी कर्तव्यों का पालन करना नितान्त आवश्यक है। यदि सम्पत्ति के सम्मान की अवहेलना की जाए और आर्थिक समुदाय का तथा उत्पादन करनेवाले वर्ग का प्रत्येक सदस्य स्वार्थी जीवन व्यतीत करने लगे, तो हमारा आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त हो सकता है। यही कारण है कि नैतिक दृष्टि से अधिकारों तथा कर्तव्यों को सम्पूर्ण आर्थिक प्रक्रिया एवं आर्थिक जीवन से सम्बद्ध माना जाता है।

उत्पादन करनेवाला व्यक्ति चाहे श्रमजीवी हो, चाहे उद्योगपति, उत्पादक

होने के नाते कुछ अधिकार रखता है और उन अधिकारों से सम्बन्धित कुछ कर्तव्यों की उससे आशा भी की जाती है। यह तो सत्य है कि जो व्यक्ति अपने श्रम के द्वारा उत्पादन करता है, उसके कुछ अधिकार होते हैं। जब इन अधिकारों की अवहेलना की जाती है तो उत्पादक तथा उपभोक्ता में संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार जब वितरण करनेवाला व्यक्ति न्यायपूर्ण वितरण नहीं करता अथवा जब उपभोक्ता उत्पादित वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक व्यय करता है, तो अनेक प्रकार की समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। अतः आर्थिक जीवन की तीनों प्रक्रियाओं में अर्थात् उत्पादन, वितरण तथा उपभोग में, नैतिक नियमों के अनुसरण करने की आवश्यकता रहती है। आर्थिक जीवन की नैतिक समस्याओं में से एक समस्या यह भी है कि क्या व्यक्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार है ? यदि ऐसा है तो वह अधिकार किस सीमा तक न्यायसंगत है ?

ऊपर दिए गए प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमें सर्वप्रथम अर्थ एवं धन तथा सम्पत्ति के परस्पर-सम्बन्ध पर प्रकाश डालना चाहिए। अंग्रेज़ी में अर्थ को वैल्थ (Wealth) कहा गया है और सम्पत्ति को प्रॉपर्टी (Property)। धन का अर्थ कोई भी ऐसी वस्तु है, जो प्रत्यक्ष रूप से किसी मानवीय आवश्यकता को पूरा कर सकती है अथवा जो किसी ऐसी वस्तु के उत्पादन के लिए प्रयोग में लाई जा सकती है, जोकि आवश्यकताओं को पूरा करती है। दूसरे शब्दों में, धन सभी उपभोग करने योग्य वस्तुओं की समष्टि है। इस प्रकार धन एक प्रकार का निमित्त मूल्य है। सम्पत्ति वास्तव में इसी प्रकार का निमित्त मूल्य है और धन के उपयोग करने के अधिकार का दूसरा नाम है। यदि धन का अर्थ वस्तुओं से आनन्द प्राप्त करना एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, तो सम्पत्ति का अर्थ वस्तुओं पर पूर्ण रूप से आधिपत्य रखना और उनके प्रयोग करने का अधिकार है।

हम यह जानते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा आदिकाल से चली आती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अर्थ, किसी एक व्यक्ति के द्वारा चल अथवा अचल धन पर निजी अधिकार है। यह अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत किया जाता है और व्यक्ति द्वारा अपनाया जाता है। आधुनिक विद्वानों का कहना है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति वास्तव में संचय करने की वह मूल प्रवृत्ति है, जोकि सामाजिक व्यक्ति में, सामाजिक माध्यम के द्वारा, सामाजिक स्वीकृति से क्रियाशील होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन समय में भी व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा उपस्थित थी और व्यक्ति को निजी सम्पत्ति रखने के लिए वैधानिक अधिकार था। रोम के विधान में व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्वीकार करने और उसकी रक्षा करने की व्यवस्था उपस्थित है। किन्तु यदि हम व्यक्तिगत सम्पत्ति के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि भिन्न-भिन्न समय पर व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार, समाज की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहा है। आधुनिक युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को प्रायः विश्व के सभी राष्ट्रों में स्वीकार किया जाता है।

सम्पत्ति के अधिकार के नैतिक आधार के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। उनमें से सबसे अधिक विख्यात सिद्धान्त श्रम-सिद्धान्त (Labour theory) कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य का श्रम ही उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन का एकमात्र आधार है। प्रकृति द्वारा जो कच्ची वस्तुएं हमें प्राप्त होती हैं, उनको मानवीय उपभोग के लिए उपलब्ध करने का साधन श्रम है। जब एक छोटा-सा शिशु भी सड़क के पेड़ से, पत्थर फेंककर, आम के फल को प्राप्त करता है और उसे अपनी सम्पत्ति घोषित करता है, तो वह वास्तव में सम्पत्ति के श्रम-सिद्धान्त को पुष्ट करता है। विख्यात पश्चिमीय दार्शनिक जॉन लॉक ने इस सिद्धान्त को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया है, "प्राचीन परिस्थितियों के अनुसार, मनुष्य उन वस्तुओं पर अपने श्रम के द्वारा सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त कर सकता है, जो किसी अन्य व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं हैं।"

सम्पत्ति के अधिकार के श्रम-सिद्धान्त को अनेक विचारकों ने स्वीकार किया है। व्यक्तिवादी विचारक तथा समाजवादी विचारक दोनों इसे स्वीकार करते हैं। व्यक्तिवादी इस सिद्धांत को अपनाकर व्यक्ति के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार को अभंगनीय (Inviolable) प्रमाणित करते हैं। किन्तु ऐसा करते समय कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है, जब व्यक्तिगत सम्पत्ति के पैतृक अधिकार की समस्या का सामना करना पड़ता है। सम्पत्ति के पैतृक अधिकार को प्रमाणित करने के लिए व्यक्तिवादी विचारकों को वैधानिक (Legal) धारणा का आश्रय लेना पड़ता है।

समाजवादी विचारक श्रम-सिद्धांत को अपनाते समय पैतृक अधिकार को स्वीकार नहीं करता, इसके विपरीत वह पैतृक अधिकार का घोर विरोध करता है और यह प्रतिपादित करता है कि धन एक सामाजिक उत्पत्ति है और वह लाभ है जो व्यक्तियों के द्वारा उत्पादित नहीं किया गया। किन्तु इस प्रकार की धारणा में भी कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। उदाहरणस्वरूप, मार्क्स, जोकि एक समाजवादी विचारक था, अपने सिद्धांत के दो आधार मानता है। एक ओर तो वह यह स्वीकार करता है कि व्यक्ति श्रम के द्वारा उन वस्तुओं को अपनी सम्पत्ति बना सकता है, जो किसी अन्य व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं हैं। दूसरी ओर वह कहता है कि उत्पादित वस्तुओं का वह आधिक्य, जोकि श्रम की शक्ति द्वारा उत्पन्न होता है, पूंजीपति द्वारा श्रमजीवियों के श्रम की चोरी के समान है। इस धारणा को प्रस्तुत करते समय, श्रमजीवियों के सम्बन्ध में तो मार्क्स सम्पत्ति के श्रम-सिद्धांत को स्वीकार करता है; किन्तु उस पूंजीपति के सम्बन्ध में, जो अपने धन को उद्योग में लगाता है और उस व्यापारी के सम्बन्ध में, जोकि उत्पादित वस्तुओं के क्रय-विक्रय में परिश्रम करता है, इसी श्रम-सिद्धांत को लागू नहीं करता। अतः हम यह कह सकते हैं कि श्रम-सिद्धांत आर्थिक दृष्टि से सर्वथा संगत प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अनेक अर्थशास्त्रियों ने मार्क्स के दृष्टिकोण को अस्वीकार किया है। यदि व्यक्तिवादी तथा समाजवादी आर्थिक दृष्टिकोण, दोनों श्रम-सिद्धांत को अपनाने में कठिनाइयों का सामना करते

हैं, तो हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि सम्पत्ति के अधिकार का एकमात्र आधार नैतिक अधिकार है। श्रम-सिद्धान्त भी एक आर्थिक सत्य न होकर नैतिक सत्य ही है। अतः हम सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार में निहित नैतिक मूल्यों की संक्षिप्त व्याख्या करेंगे और इस व्याख्या के पश्चात् ही हम सम्पत्ति के अधिकारों तथा उनसे सम्बन्धित कर्तव्यों के स्वरूप तथा उनके महत्त्व को भली प्रकार समझ सकेंगे।

सम्पत्ति निःसन्देह एक निमित्त मूल्य है और उसकी न्यायसंगतता तभी स्वीकार की जा सकती है, जब हम मूल्य का उद्देश्यात्मक दृष्टिकोण यथार्थ मान लें। इस दृष्टि से तथा उपयोगितावाद की दृष्टि से भी, हम निजी सम्पत्ति में दो मुख्य मूल्य निहित मान सकते हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(१) सुरक्षा (Security) का मूल्य

(२) आत्मानुभूति (Self-realization) का मूल्य

सम्पत्ति का श्रम-सिद्धांत भी इन दो मूल्यों को ही अधिक महत्त्व देता है। अन्य प्राणियों में सुरक्षा से अन्न संचित करने की प्रवृत्ति उपस्थित रहती है। चींटियां शीत ऋतु के लिए अन्न संचित करती हैं और गिलहरी में भी यह दूरदर्शिता उपस्थित होती है। मनुष्य में सुरक्षा की यह प्रवृत्ति बुद्धिमत्ता के कारण और भी प्रवृद्ध रूप में उपस्थित होती है। यही कारण है कि आर्थिक सुरक्षा के लिए वह निजी सम्पत्ति को मान्यता देता है और पैतृकता के रिवाजों तथा नियमों के द्वारा, अपनी सन्तति के लिए निजी सम्पत्ति को परम्परागत बनाता है। नैतिक दृष्टि से, आर्थिक सुरक्षा इसलिए आवश्यक है कि अर्थ-संकट में पड़ा हुआ व्यक्ति नैतिकता पर नहीं चल सकता। इस प्रकार निजी सम्पत्ति की प्रथा का मूल आधार आर्थिक सुरक्षा का नैतिक मूल्य है।

जहां तक आत्मानुभूति का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते हैं कि धन एवं संपत्ति के द्वारा ही व्यक्ति जीवन-सम्बन्धी उन सुविधाओं को प्राप्त कर सकता है, जो उसके आत्मविकास और आत्मानुभूति के लिए उपयोगी होती हैं। इस दृष्टिकोण को भी संपत्ति का श्रम-सिद्धान्त स्वीकार करता है। कुछ सीमा तक आत्मानुभूति के लिए सम्पत्ति को अपनाना पशु-पक्षियों में भी उपस्थित माना जा सकता है। जब कोई पक्षी किसी वृक्ष पर घोंसला बनाता है, तो वह उस घोंसले को ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण वृक्षको अपनी संपत्ति मान लेता है क्योंकि वह घोंसला उसके आत्मविकास के लिए सुविधाजनक है। इसी प्रकार जब श्रम करनेवाला व्यक्ति, अपनी संचित सम्पत्ति को अपने व्यक्तित्व का अंग मान लेता है, तो उसकी यह धारणा उसके आत्मविकास को ऊंचे स्तर पर ले जाती है। सम्पत्ति के ये दोनों मूल्यात्मक आधार एक अन्य रूप से भी अभिव्यक्त किए जा सकते हैं।

जब हम यह कहते हैं कि निजी सम्पत्ति का मूल आधार सुरक्षा का मूल्य है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि सम्पत्ति उपयोग के लिए है। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि सम्पत्ति आत्मानुभूति के मूल्य पर आधारित है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि सम्पत्ति शक्ति के लिए है। उपयोगिता का तत्त्व सम्पत्ति को आर्थिक दृष्टि से

निमित्त मूल्य प्रमाणित करता है। इसी प्रकार शक्ति का तत्त्व सम्पत्ति के अधिकार को संगत बनाता है। शक्ति प्राप्त करने का अधिकार इसलिए आवश्यक है कि शक्ति का संकल्प वास्तव में जीवन का संकल्प है और जीवन का अधिकार सर्वमान्य अधिकार है। यदि सम्पत्ति का अधिकार जीवन के उद्देश्य के लिए आवश्यक है, तो हम इस अधिकार को संगत प्रमाणित करने के लिए और उसे नैतिक बनाने के लिए कुछ परिमाण एवं औचित्य के नियम निर्धारित कर सकते हैं।

सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए समाज के मूल्यों में भाग लेने का अधिकार आवश्यक है। यदि यह सत्य है, तो इन मूल्यों की अनुभूति के लिए आर्थिक शुभ का उपभोग करना भी व्यक्ति का अधिकार है। यह अधिकार वास्तव में इसलिए मूल्यवान है कि सद्‌गुण तथा सुख अधिकतर इसीपर निर्भर रहते हैं। यह तो सत्य है कि सम्पत्ति द्वारा उत्कृष्ट मूल्य प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त नहीं किए जा सकते, किन्तु आधुनिक आर्थिक युग में, परोक्ष रूप से प्रायः सभी मूल्य धन पर आश्रित हैं। यही कारण है कि सम्पत्ति में भाग लेने के अधिकार को इतना व्यापक बनाने की चेष्टा की गई है कि सब व्यक्तियों के लिए कम से कम आय का निर्धारित करना और बेकार व्यक्तियों को भी आजीविका के लिए आय देना नैतिक आवश्यकता माना जाता है। ये दोनों मांगें इस परिमाण को अभिव्यक्त करती हैं, जिसके अनुसार यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक सदस्य को समाज के आर्थिक मूल्यों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त है।

सम्पत्ति की धारणा में निहित दूसरा नैतिक परिमाण यह है कि व्यक्तित्व को सदैव सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान मानना चाहिए। दूसरे शब्दों में, सम्पत्ति के मूल्यों की अपेक्षा व्यक्तित्व के मूल्यों को श्रेष्ठ मानना चाहिए। कांट ने इसी आदर्श को निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया था, "तुम मनुष्य को चाहे किसी अन्य व्यक्ति के रूप में, चाहे अपने-आपमें, कदापि निमित्त न बनाओ और उसे (मनुष्य को) सदैव स्वलक्ष्य स्वीकार करो।" यह सत्य है कि सम्पत्ति जीवन के विकास का एक साधन है, किन्तु उच्च स्तर के मूल्य सम्पत्ति को निमित्त ही प्रमाणित करते हैं। अतः सम्पत्ति के अधिकार को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए, क्योंकि अन्ततोगत्वा, वे व्यक्ति ही समाज के उत्थान का कारण बनते हैं, जिनमें आदर्श के प्रति अगाध प्रेम होता है और जो उत्कृष्ट मूल्यों की प्रतिमूर्ति होते हैं। अतः सम्पत्ति और व्यक्ति की तुलना में व्यक्तित्व सदैव उत्कृष्ट रहता है। यद्यपि सम्पत्ति व्यक्तित्व के विकास में सहायक अवश्य होती है, तथापि नैतिक दृष्टि से, धन अर्जित करने की प्रवृत्ति को सीमाओं के अन्दर रखना नितान्त आवश्यक है। इसी नैतिक परिमाण को लागू करने की दृष्टि से और मानव के गौरव को बनाए रखने के लिए, अनेक प्रगतिशील राज्यों में सामाजिक विधान बनाए गए हैं। श्रमजीवियों के दुरुपयोग को रोकने के लिए, श्रम के सम्बन्ध में आयु तथा लिंग की रोक आदि लगाने के नियम निर्मित किए गए हैं।

सम्पत्ति के अधिकार से सम्बन्धित तीसरा परिमाण यह है कि सम्पत्ति को संचित

करना तथा उसे प्राप्त करना उपभोग के कर्म से इसलिए सदा के लिए पृथक् नहीं करना चाहिए, क्योंकि सम्पत्ति के संचय तथा उसके उपभोग का निरन्तर घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। यह परिमाण अथवा नियम भी सम्पत्ति तथा धन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति की रोकथाम करता है। यदि सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसके उपभोग के अंग की अवहेलना की जाए, तो संभव है कि सामान्य व्यक्ति धन तथा सम्पत्ति को स्वलक्ष्य मूल्य समझ लें और इस प्रकार साधन को साध्य एवं निमित्त को लक्ष्य मानने की भूल कर बैठें। जो व्यक्ति सम्पत्ति-सम्बन्धी इस नैतिक नियम की अवहेलना करते हैं, वे या तो कृपणता के दुर्गुण का शिकार हो जाते हैं या शक्ति को ही सम्पत्ति का एकमात्र लक्ष्य मान लेते हैं।

आधुनिक समय में सम्पत्ति-सम्बन्धी तीसरे नियम का अनुसरण करने के लिए अधिक वल दिया जा रहा है। सम्पूर्ण समाज के आर्थिक जीवन में निर्णय देते समय इस नियम को अवश्य लागू किया जाता है। नैतिक विचारक तथा बुद्धिमान अर्थशास्त्री उन पूंजीवादी समुदायों की निन्दा करते हैं, जहां पर केवल उत्पादन के लिए ही उत्पादन किया जाता है और जनसाधारण के उपभोग की अवहेलना की जाती है। इस नियम का उल्लंघन करने के कारण ही, विशेषकर पश्चिमीय प्रगतिशील देशों में जिस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था स्थापित हो गई है, वह संचयात्मक मूल प्रवृत्ति पर आधारित व्यवस्था है। ऐसे समाज में व्यक्ति को सम्पत्ति के अधीन किया जाता है और उत्कृष्ट मूल्यों की अपेक्षा आर्थिक मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति समाज का एकांगी विकास ही करा सकती है। अतः नैतिक दृष्टि से यह प्रवृत्ति अवांछनीय है।

ऊपर दिए गए विवेचन के आधार पर हम सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों की न्याय-संगत व्याख्या कर सकते हैं। हमने सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में जिन तीन आदर्शों की व्याख्या की है, उनकी प्रायः आर्थिक जीवन में अवहेलना तो अवश्य की गई है, किन्तु आधुनिक समय में इन्हीं आदर्शों को अधिक से अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और इनके आधार पर सम्पत्ति के अधिकारों को परिवर्तित किया जा रहा है। सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि कम से कम आजीविका का नियम सम्पत्ति के अधिकार में सम्मिलित कर लिया गया है। इसी प्रकार उपभोक्ताओं के अधिकारों को भी व्यापार की सेवा का नियम मान लिया गया है। किन्तु सम्पत्ति के अधिकारों में सबसे अधिक परिवर्तन उस आदर्श के आधार पर किया गया है, जिसके अनुसार सम्पत्ति को व्यक्तित्व के अधीन किया जाता है। आधुनिक युग में सम्पत्ति का अधिकार इसलिए सीमित रूप से स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णतया अपनी इच्छा के अनुसार सम्पत्ति का प्रयोग करने की आज्ञा देने से अन्य व्यक्तियों के जीवन में बाधा पड़ सकती है। अतः सम्पत्ति को प्रयोग में लाने के अधिकार के साथ-साथ इस नियम का पालन करना भी आवश्यक है कि यह अधिकार अन्य व्यक्तियों के अधिकारों में बाधक सिद्ध न हो।

सम्पत्ति-सम्बन्धी नैतिक आदर्शों ने निम्नलिखित दो प्रकार के कर्तव्यों को भी

जन्म दिया है :

(१) जहां सम्पत्ति के रखने अथवा उसको भोगने का अधिकार दिया जाता है, उस अधिकार में कोई न कोई कर्म करने का कर्तव्य निहित रहता है।

(२) जहां सम्पत्ति के भोगने अथवा रखने के अधिकार में उसे सार्वजनिक शुभ के लिए प्रयोग करने का कर्तव्य निहित रहता है।

दूसरे शब्दों में, सम्पत्ति के प्रति दो मुख्य कर्तव्य, सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए कर्म करना और उपलब्ध सम्पत्ति का सदुपयोग करना है। जो व्यक्ति किसी प्रकार का कर्म नहीं करता, उसका कोई अधिकार नहीं कि वह निष्क्रिय होते हुए भी सामाजिक सम्पत्ति का उपभोग करे। इसी कर्तव्य के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जो व्यक्ति शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य रखता है और जान-बूझकर किसी व्यवसाय को नहीं अपनाता, उसे कोई अधिकार नहीं कि वह समाज से आजीविका प्राप्त करने की आशा रखे। इसी प्रकार पूंजीवादी-समाज में, जहां पर कुछ श्रम न करनेवाले पूंजीपति जीवन के सभी सुखों और सुविधाओं को प्राप्त करते हैं और अधिक से अधिक श्रम करनेवाले व्यक्ति बड़ी कठिनाई से दोनों समय का भोजन जुटा सकते हैं, सम्पत्ति के पहले कर्तव्य की अवहेलना की जाती है। इस कर्तव्य के सम्बन्ध में यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि कर्म करने का अर्थ केवल शारीरिक श्रम ही नहीं है। जो व्यक्ति मानसिक तथा बौद्धिक क्रिया के द्वारा भी समाज की सेवा करता है और उपयोगी कर्म करता है, वह भी इस कर्तव्य का पालन करनेवाला होता है। भारत में प्राचीनकाल से ही इस कर्तव्य का पालन किया गया है । यही कारण है कि वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था में ब्राह्मण-वर्ग, जिसका कर्तव्य बौद्धिक और आध्यात्मिक कर्म करना था, सामाजिक सम्पत्ति के उपभोग के अधिकार को स्वतः ही प्राप्त करता था और अन्य तीनों वर्ग उसकी आर्थिक आवश्यकताओं को सहर्ष पूरा करते थे। आधुनिक समय में ब्राह्मण-वर्ग को इस अधिकार से इसलिए वंचित किया जा रहा है कि वह अपने सम्पत्ति-सम्बन्धी कर्तव्य को नहीं निभा रहा है।

इस कर्तव्य को आधुनिक भारत में अधिक बलपूर्वक लागू करने की नितान्त आवश्यकता है। यद्यपि विनोबा भावे ने श्रमदान-आन्दोलन के द्वारा, जनसाधारण में इस कर्तव्य के प्रति प्रेरणा को जागरित किया है, तथापि इस देश में लाखों की संख्या में ऐसे व्यक्ति उपस्थित हैं, जो सर्वथा निष्क्रिय होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से दूसरों पर आश्रित हैं। उदाहरणस्वरूप, लाखों साधु ऐसे हैं, जो न तो समाज की आध्यात्मिक सेवा करते हैं और न किसी प्रकार का शारीरिक कर्म करके श्रमदान देते हैं। हर्ष की बात है कि इस दिशा में भी भारतीय नेताओं ने विशेष ध्यान दिया है, और भारतीय साधु समाज के नाम से महाराष्ट्र के विख्यात साधु सन्त तुकड़ोजी की अध्यक्षता में एक संस्था स्थापित की गई है, जिसके माध्यम से सहस्रों साधुओं ने समाज-सेवा करने और नैतिक जाग्रति उत्पन्न करने की प्रतिज्ञा की है। पूंजीवादी देशों में भी इसी प्रकार के आन्दोलन की आवश्यकता

है। जब तक विश्व के प्रगतिशील देशों में इस कर्तव्य का पूर्णतया पालन नहीं किया जाता, तब तक आर्थिक विषमताओं से उत्पन्न दुर्गुण उपस्थित रहेंगे और तब तक मनुष्य अपने-आपको पूर्णतया सभ्य कहने का अधिकारी नहीं रहेगा।

सम्पत्ति-सम्बन्धी दूसरा कर्तव्य भी नैतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। जब मनुष्य सम्पत्ति का प्रयोग करते समय समाज के हित को अपने सामने रखता है और सम्पत्ति को सार्वजनिक शुभ का निमित्त-मात्र मानता है, तभी वह स्वार्थ का त्याग करके अनासक्त होकर कर्म कर सकता है। इस प्रकार के निष्काम भाव की उत्पत्ति तभी हो सकती है, जब उदार शिक्षा के द्वारा व्यक्ति अपने-आपको और मानव-मात्र को एक स्वीकार कर लेता है। इस कर्तव्य की भावना को प्रेरित करने के लिए, आधुनिक युग में विशेष साधनों को अपनाने की आवश्यकता है। धार्मिक भावनावाले व्यक्ति के लिए तो यह स्वीकार करना सरल है कि सम्पत्ति ईश्वर की देन है और उसपर व्यक्ति का अधिकार नहीं है, क्योंकि व्यक्ति स्वयं ईश्वर द्वारा नियुक्त सम्पत्ति का रक्षक-मात्र है। भगवद्गीता में भी इसी दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया गया है और इसी आधार पर बिना फल की इच्छा के कर्म करने के सिद्धान्त को सर्वोत्तम माना गया है। किन्तु विश्व के अधिकतर देशों में, धार्मिक भावना का ह्रास हो रहा है और भौतिकवाद तथा जड़-वाद के दुष्प्रभाव के कारण ईश्वर के आधिपत्य को स्वीकार करने में संकोच किया जा रहा है। इस अवस्था में सामाजिक श्रेयस् को सर्वोपरि स्वीकार करने की भावना को प्रेरित करना एक आवश्यक अपितु कठिन कार्य अवश्य है।

कुछ सीमा तक पिछले दो महायुद्धों ने और उनमें घटित असंख्य व्यक्तियों के संहार ने, मानव-मात्र की एकता तथा भ्रातृत्व की भावना को अवश्य प्रेरित किया है। किन्तु यह प्रेरणा प्रेम की अपेक्षा घृणा से और विधि की अपेक्षा निषेध की भावना से उत्पन्न हुई है। इस अवस्था में आवश्यकता इस बात की है कि वैज्ञानिक अनुसंधान और दार्शनिक खोज के आधार पर मानव-मानव के भेद को हटाकर, उसकी समानताओं को अधिक से अधिक स्पष्ट किया जाए और उसकी प्रेम की भावना को जागरित किया जाए। यह तभी हो सकता है जब अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक संस्थाओं के माध्यम से पूर्व तथा पश्चिम के दार्शनिक दृष्टिकोणों का यथार्थ रूप जनसाधारण के सामने रखा जाए। हम आगे चल-कर इस कर्तव्य की विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे और यह बताएंगे कि भारतीय नैतिक आदर्श किस सीमा तक इस दिशा में योग दे सकते हैं। यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि केवल आर्थिक दृष्टिकोण सम्पत्ति के इस कर्तव्य को किसी भी अवस्था में प्रेरित नहीं कर सकता।

बारहवां अध्याय

नैतिक सद्‌गुण

(Moral Virtues)

हमने अधिकार तथा उनसे सम्बन्धित कर्तव्यों का विवेचन करते हुए कहा है कि अधिकारों तथा कर्तव्यों के परस्पर-सम्बन्ध का ज्ञान होना नैतिक दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व रखता है। न तो हम किसी व्यक्ति को केवल अधिकार देकर उसके व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं और न ही बार-बार कर्तव्य की दुहाई देकर किसीको नैतिक बना सकते हैं। अधिकारों तथा कर्तव्यों का उद्देश्य नैतिकता का निर्माण और सच्चरित्रता का संचार है। यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है, जब मनुष्य के स्वभाव में नैतिकता स्वच्छन्द रूप में परिस्फुटित हो उठे और जब उसे सदाचारी बनने के लिए न तो बाहरी आदेशों की आवश्यकता हो और न ही वह किसी प्रकार के अधिकारों की उपेक्षा करता हुआ, नैतिक जीवन में पिछड़ा हुआ रह जाए। नैतिक व्यक्ति वही है, जो सर्वगुणसम्पन्न है, जिसकी आदतें इस प्रकार स्थिर हैं कि नैतिक कर्तव्यका पालन करना उसका स्वच्छन्द व्यवहार बन जाता है। सद्‌गुणसम्पन्न एवं धार्मिक जीवन ही सम्पूर्ण जीवन है। जिस व्यक्ति में सद्‌गुण स्थित हो जाते हैं, उसके लिए सदाचार उसके व्यक्तित्व का आन्तरिक अंग बन जाता है और वह स्थितप्रज्ञ बन जाने के कारण अधिकार और कर्तव्य से इस प्रकार ऊपर उठ जाता है कि उसका जीवन स्वयं इन दोनों का सुन्दर समन्वय बन जाता है। अतः नैतिक जीवन की यथार्थ व्याख्या के लिए सद्‌गुणों की व्याख्या करना और उनका नैतिक जीवन में उचित स्थान निर्दिष्ट करना नितान्त आवश्यक है। इससे पूर्व कि हम मुख्य सद्‌गुणों की व्याख्या करें, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम सद्‌गुण एवं धर्म शब्द की व्याख्या करें।

सद्‌गुण शब्द के दो प्रकार के अर्थ किए जाते हैं। विस्तृत दृष्टिकोण से, सद्‌गुण को मानवीय चरित्र की कोई भी उत्कृष्ट अवस्था एवं मानवीय श्रेष्ठता कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से सद्‌गुण (Virtue) का अर्थ शक्तिमत्ता (Strength) है। अतः हम सद्‌गुण को वह गुण मानते हैं जोकि किसी भी प्रकार की श्रेष्टता होती है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक ओषधि में गुण है, तो हमारा कहने का अभिप्राय यह होता है कि उसमें एक विशिष्ट प्रभाव है। इसी दृष्टि से हम शूरवीरता, साहस आदि को सद्‌गुण कहते हैं। यूनानी दार्शनिकों ने भी सद्‌गुण की ऐसी ही व्याख्या की थी और मानवीय

चरित्र के गुणों को मूल्य माना था। यही कारण है कि उन्होंने नैतिक उद्देश्य को सद्गुण की प्राप्ति ही माना और क्षणिक सुख को अस्वीकार किया। यदि सद्गुण मानवीय श्रेष्ठता है और सद्गुण ही नैतिक लक्ष्य है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मानुभूति अथवा पूर्णता, जोकि सद्गुणों की एकमात्र अभिव्यक्ति है, मानवीय आचार का परम उद्देश्य है। इस व्यापक दृष्टिकोण के अनुसार ही सद्गुण अथवा सच्चरित्र को परम शुभ माना जाता है।

सद्गुण का अर्थ संकुचित दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है और इसके अनुसार सद्गुण को कर्तव्य से सम्बद्ध किया जाता है। इस दृष्टि से सद्गुण चरित्र के वे अंग तथा आदतें हैं, जोकि व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए तथा अपने अनेक प्रकार के अधिकारों का उपयोग करते हुए ग्रहण करता है। इस दृष्टि से सद्गुण उत्कृष्टता का वह आकार है, जो शुभ संकल्प में अभिव्यक्त होता है और जिसको कांट ने स्वलक्ष्य मूल्य माना है। इस दृष्टिकोण से सद्गुण का, मानवीय व्यवहार का, बाहरी अंग से वैसा ही सम्बन्ध रहता है, जिस प्रकार कि निहित शक्ति का गत्यात्मक गति से। सद्गुणात्मक प्रवृत्तियां कर्तव्यों को निभाने की स्थिर आदतें-मात्र हैं। किन्तु ये आदतें निमित्त रूप से ही मूल्य प्रमाणित होती हैं। इसलिए सद्गुण की यह परिभाषा शूरवीरता, संयम, पवित्रता आदि सबको निमित्त मूल्य बना देती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह दृष्टिकोण भी एक यथार्थ दृष्टिकोण है। वास्तव में सद्गुण की परिभाषा के दोनों दृष्टिकोण इस बात में सहमत हैं कि सद्गुण का अर्थ चरित्र की उत्कृष्टता है। सद्गुण का आचरण करने से निस्सन्देह व्यक्तित्व का उत्थान होता है। अतः सद्गुण ही सच्चरित्रता का एकमात्र आधार है। दूसरे शब्दों में, वह शुभ की ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक अभिव्यक्ति है। शुभ की यह अभिव्यक्ति जोकि सर्वथा मानवीय चरित्र में उपस्थित होती है, मनुष्य की श्रेष्ठता का एकमात्र चिह्न है। सद्गुण की उपस्थिति पशुओं में नहीं हो सकती, क्योंकि उनमें न तो ज्ञान होता है और न वे शुभ को लक्ष्य बनाकर सद्गुण का क्रियात्मक जीवन में अनुसरण कर सकते हैं। सुकरात ने सद्गुण को इसी दृष्टि से ज्ञान माना है और कहा है कि कोई भी व्यक्ति अज्ञानवश सद्गुण का आचरण नहीं कर सकता। इसी प्रकार अरस्तू ने सद्गुण को सविकल्पक निर्वाचन की आदत कहा है, क्योंकि ऐसी आदत केवल मानवीय चरित्र का ही अंग हो सकती है।

इससे पूर्व कि हम उन चार मुख्य सद्गुणों की व्याख्या करें, जोकि विख्यात दार्शनिक प्लेटो के द्वारा स्वीकार किए गए हैं, यह कह देना आवश्यक है कि सद्गुणों का सम्बन्ध समाज की अवस्था तथा समाज के उद्देश्य से होता है और इसलिए सद्गुणों को समाज के प्रकरण में सापेक्ष माना गया है। सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि समाज की विभिन्न अवस्थाओं में, विभिन्न समय पर, विभिन्न सद्गुणों को वांछनीय और विकास के योग्य माना गया है। यद्यपि कर्तव्य भी सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं, तथापि सद्गुण कर्तव्यों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील हैं। इसका कारण यह है कि

कर्तव्य प्रायः जीवन की सभी सम्भव उपाधियों में लागू होनेवाले व्यवहार-सम्बन्धी सामान्य नियम होते हैं और सद्‌गुणों का विकास वातावरण पर अधिक आश्रित रहता है। किन्तु गम्भीर चिन्तन करने पर हम यह कह सकते हैं कि सद्‌गुण भी हमारी आशा से अधिक स्थायी और व्यापक हो सकते हैं। यद्यपि यूनानी समय के साहस का सद्‌गुण, केवल युद्ध-क्षेत्र में वीरता से सम्बन्धित था और यद्यपि आधुनिक जीवन में, इस वीरता को सराहनीय मानने के लिए सामान्य जीवन में कोई भी इस प्रकार की परिस्थिति नहीं है, जो साहस को उतना ही महत्त्व दे सके जितना कि यूनानी समय में उसे प्राप्त था, तथापि साहस से सम्बन्धित मानसिक अवस्था आज भी उसी प्रकार उपयोगी है, जिस प्रकार कि वह पहले थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि सद्‌गुणों के अभ्यास के लिए आवश्यक निश्चित परिस्थितियां परिवर्तित होती रहती हैं, किन्तु सद्‌गुणों से सम्बन्धित मानसिक आदत का स्वरूप निश्चित रूप से वही रहता है।

यह मानसिक आदत भी समाज की परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ काफी सीमा तक बदलती रहती है। उदाहरणस्वरूप, जिस प्रकार का साहस युद्धक्षेत्र में वीरता दिखाने के लिए आवश्यक माना जाता था, वह उस साहस से विभिन्न है जो आज के युग में वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, विद्वान तथा उदार व्यक्ति के लिए सफलता प्राप्त करने की दृष्टि से आवश्यक होता है। साहस का यह पहलू ऐसा है, जिसका अध्ययन करना प्रत्येक पीढ़ी के विद्वानों के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। जिस प्रकार सामाजिक विकास तथा भौतिक और सामाजिक वातावरण का परिवर्तन, अधिकारों और कर्तव्यों को सापेक्ष सिद्ध करता है, इसी प्रकार समय के व्यतीत होने पर शारीरिक वीरता सम्प्रदाय के प्रति भक्ति, मातृप्रेम आदि सद्‌गुण भी समय के साथ-साथ महत्त्व की दृष्टि से परिवर्तित होते रहते हैं। ये सद्‌गुण अपने प्राचीन रूप में प्राकृतिक निर्वाचन के कारण सराहनीय थे। क्योंकि वे आज तक भी उपस्थित हैं, इसलिए हम यह कह सकते हैं कि उनका सुरक्षित रह जाने का अब भी एक मूल्य है। यह तो ठीक है कि जिस वस्तु का सुरक्षित रहने का मूल्य है, वह मूल्य एक स्तर पर कुछ और, दूसरे स्तर पर कुछ और होगा। इसी प्रकार उसका महत्त्व भी विभिन्न स्तरों पर विभिन्न हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, आधुनिक जीवन के प्रकरण में शारीरिक साहस का मूल्य कोई अर्थ नहीं रखता और अंध-विश्वास पर आधारित श्रद्धा भी एक विरोधी तत्त्व है। इसी प्रकार यह स्वीकार किया जाता है कि बचत का आर्थिक सद्‌गुण, जोकि पूंजीवादी सभ्यता के आरम्भ में महत्त्व रखता था, धीरे-धीरे इस महत्त्व को खो रहा है। उसका कारण यह है कि आधुनिक समय के सुव्यवस्थित आर्थिक समाज में उधार की प्रथा को अधिक व्यापक बनाया जा रहा है। इसी प्रकार आधुनिक परिस्थितियों में सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धा रखने की अपेक्षा सत्य तथा मानवता जैसे आदर्शों के प्रति श्रद्धा रखना अधिक वांछनीय माना जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज भी जनसाधारण का बहुमत सद्‌गुण की सूक्ष्म अभिव्यक्ति की अपेक्षा अंधविश्वास से प्रेरित शारीरिक वीरता की अद्वितीय अभिव्यक्ति को अधिक सराहनीय

मानेगा। किन्तु यह भी सत्य है कि ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ जनसाधारण अधिक सभ्य सद्गुणों को पहले की अपेक्षा अधिक सम्मान देने लगा है।

सद्गुणों की सापेक्षता एवं परिवर्तनशीलता, समाज की विभिन्न उपयोगिताओं से भी सम्बन्धित है। जो क्रिया प्राचीनकाल में उपयोगी मानी जाती थी, उसे उस समय सद्गुण स्वीकार किया जाता था और जो आधुनिक समय में उपयोगी मानी जाती है, उसे वर्तमान में सद्गुण स्वीकार किया जाता है। जबकि प्राचीनकाल में सामान्य रूप से 'अच्छे मनुष्य' को सद्गुणसम्पन्न माना जाता था, आधुनिक समय में अच्छे वायुयान-चालक, अच्छे व्यापारी अथवा अच्छे आकाश-यात्री (Cosmonaut) को सद्गुणसम्पन्न व्यक्ति माना जाता है। इसका कारण यह है कि आधुनिक परिस्थितिओं में सामान्य ज्ञान की अपेक्षा विशेषज्ञता को अधिक उपयोगी माना जाता है। यही कारण है कि आधुनिक समाज में विभिन्न व्यवस्थाओं में विभिन्न आचार के नियमों को स्थापित किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, चिकित्सात्मक आचार-विज्ञान (Medical ethics) एवं चिकित्सात्मक नैतिकता सदाचार के उन नियमों को प्रतिपादित करती है, जो चिकित्सकों पर लागू होते हैं। ऐसे आचार-विज्ञान के अनुसार हर प्रकार से किसी व्यक्ति के जीवन को लम्बा करना चिकित्सक का कर्तव्य माना जाता है। इसी प्रकार वैधानिक आचार-विज्ञान (Legal ethics) के अनुसार एक वकील का कर्तव्य न्यायालय से न्याय प्राप्त कराना है। पश्चिमीय आचार-विज्ञान आधुनिक वैज्ञानिक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर और सद्गुण की सापेक्षता के कारण विभिन्न श्रेणियों में विभक्त हो रहा है और सदाचार को समाज के प्रकरण में सापेक्ष सिद्ध कर रहा है। पश्चिमीय आचार-विज्ञान का यह लक्षण भारतीय आचार-विज्ञान की निरपेक्षता के लक्षण से सर्वथा विपरीत है। हम अंतिम अध्याय में भारतीय तथा पश्चिमीय आचार-विज्ञान के इस भेद की व्याख्या करेंगे और यह देखेंगे कि कहां तक इन दोनों की यह विषमता समन्वय की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होती है। क्योंकि यदि पूर्वीय और पश्चिमीय आचार-विज्ञान समन्वित हो सकते हैं, तो उन्हें एक-दूसरे का पूरक होना चाहिए। वास्तव में यह सत्य है कि आचार के ये दो दृष्टिकोण एक-दूसरे के प्रतिकूल नहीं हैं, अपितु समन्वयात्मक हैं।

पश्चिमीय दर्शन में सद्गुण की सापेक्षता की धारणा का मुख्य कारण यह है कि सद्गुण को कर्तव्य से सम्बन्धित ही माना जाता है। जब तक सद्गुण को केवल कर्तव्य से सम्बन्धित समझा जाएगा, तब तक वह कर्तव्य से अधिक न होने के कारण सापेक्ष ही रहेगा। एक चिकित्सक के सद्गुण वे नहीं हो सकते, जोकि एक कलाकार के हों और न ही एक पुजारी के सद्गुण वे हो सकते हैं, जोकि किसी वैज्ञानिक के हों। न ही केवल इतना, अपितु पुरुषों और स्त्रियों के सद्गुणों में भी भेद होता है। जिन सद्गुणों के आधार पर हम पुरुषों की प्रशंसा करते हैं, वे संभवतया स्त्रियों में प्रशंसनीय नहीं हो सकते। इन सभी विषमताओं का कारण यह है कि विभिन्न व्यक्तियों एवं समाज के अंगों का विभिन्न उपयोग होता है और उनके भिन्न कर्तव्य होते हैं। यही कारण है कि विभिन्न समाजों में

श्रौर विभिन्न देशों में सद्गुण की धारणा पृथक्-पृथक् होती है। जो कर्म एक स्थान पर अनैतिक और अवांछनीय माना जाता है, वह दूसरे स्थान पर प्रशंसनीय और सद्गुण माना जाता है। उदाहरणस्वरूप, मॉनटेग का कहना है, "विश्व में कोई भी वस्तु विधान तथा रीति-रिवाज की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील नहीं है। एक वस्तु एक स्थान पर अत्यन्त घृणास्पद होती है और दूसरे स्थान पर प्रशंसनीय होती है, जैसे कि लैसीडिमोनिया में चोरी करने की चतुराई की प्रशंसा की जाती थी।" उपर्युक्त सद्गुण-सम्बन्धी सापेक्षता के होते हुए भी, और सद्गुण की धारणाओं में समय और स्थान के अनुसार परिवर्तन होते हुए भी कुछ गम्भीर चिन्तकों ने यह बतलाने की चेष्टा की है कि कुछ मानवीय सद्गुण ऐसे भी हैं, जोकि व्यापक हैं। ऐसे सद्गुण विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न रूप अवश्य ही धारण कर लेते हैं, किन्तु फिर भी उनमें स्थायित्व और समानता अवश्य रहते हैं। यदि हम ऐसे सद्गुणों को उनकी ऐतिहासिक तथा वातावरण-सम्बन्धी पृष्ठभूमि से पृथक् करें, तो हम अवश्य उनमें एक ऐसा व्यापक तत्त्व पाएंगे, जोकि आकस्मिक उपाधियों के होते हुए भी स्थिर है और जो वास्तव में उनका मूल आकार है। यदि हम इस अपरिवर्तनशील मूल आकार को ढूंढ़ लें, तो हम अवश्य कुछ ऐसे व्यापक सद्गुण की सूची प्राप्त कर सकते हैं, जिनमें निरपेक्ष मूल्यों के लक्षण हैं और जो स्थायी तथा स्वलक्ष्य हैं। ऐसे ही स्थायी, स्वलक्ष्य और निरपेक्ष मूल्यों पर आधारित चार सद्गुणों को पश्चिमीय दर्शन के विख्यात दार्शनिक प्लेटो ने चार मुख्य सद्गुण (Four cordinal virtues) कहा है।

इन चार मुख्य सद्गुणों को अरस्तू ने भी अपनाया है। इन सद्गुणों की विशेषता यह है कि ये सरलतम हैं और इनमें व्यापकता है। ये सद्गुण निम्नलिखित हैं :

(१) विवेक (Wisdom or Prudence)
(२) साहस (Courage)
(३) संयम (Temperance)
(४) न्याय (Justice)

ये चारों सद्गुण निस्सन्देह सर्वमान्य हैं और आज तक भी विश्व में इनको वही मान्यता दी जाती है, जोकि इन्हें प्राचीनकाल में प्राप्त थी। यद्यपि कुछ आलोचकों ने इन सद्गुणों की निरपेक्षता के प्रति आपत्ति की है, तथापि सरलता की दृष्टि से यह सूची स्वीकार करने योग्य है। यह भी कहा जाता है कि प्रथम सद्गुण विवेक के अन्तर्गत, अन्य सभी सद्गुण सापेक्ष हैं। एक दृष्टि से विवेक की व्यापकता को स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक सद्गुण पर आधारित क्रिया वही होती है जो विवेकपूर्ण होती है। यही कारण है कि सुकरात ने सद्गुण को ज्ञान माना था। यद्यपि इन त्रुटियों को दूर करने के उद्देश्य से अरस्तू ने एक अधिक व्यापक सूची बनाई थी, तथापि आधुनिक परिस्थितियों के अनुसार वे सद्गुण व्यापक नहीं माने जा सकते। इसलिए प्लेटो की सूची को ही नैतिक दृष्टि से अधिक महत्त्व प्राप्त है।

इन चारों सद्गुणों को स्वतन्त्र और मुख्य माना गया है, क्योंकि इनमें विषमता

होते हुए भी समानता का तत्त्व उपस्थित है। आधारभूत एवं मुख्य सद्गुण वास्तव में उन मानवीय गुणों तथा संस्कारों की अभिव्यक्ति हैं, जोकि नीचे के स्तर के मूल्यों की अपेक्षा ऊंचे स्तर के मूल्यों के निर्वाचन की क्रिया के द्वारा विकसित होते हैं। उदाहरणस्वरूप, साहस को ले लीजिए। वह एक ऐसा संकल्प का गुण है, जोकि भय अथवा शारीरिक दुःख की उपस्थिति में भी मनुष्य को दृढ़ता देता है। यह सद्गुण सदैव स्वलक्ष्य होने के कारण प्रशंसनीय होता है और इसके मूल्य का स्तर उतना ही ऊंचा होता है, जितना कि वे मूल्य ऊंचे होते हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए भय अथवा दुःख का सामना किया जाता है। इसी प्रकार न्याय, व्यक्तिगत पक्षपात और हित की उपस्थिति में तटस्थता धारण करने का दृढ़ संकल्प है। इसमें अन्य व्यक्तियों अथवा सामाजिक हितों की उपस्थिति में संकल्प की दृढ़ता का तत्त्व उपस्थित रहता है। इसी प्रकार विवेक का अर्थ सत्य को जानने के लिए और कर्म को ज्ञान पर आधारित करने के लिए दृढ़ निश्चय है। विवेक का यह अर्थ नैतिक दृष्टिकोण पर आधारित है। अतः विवेक सापेक्ष मूल्यों का वह ज्ञान है जोकि हमें इस योग्य करता है कि हम सभी वस्तुओं को सुव्यवस्थित क्रम में रख सकें। विवेक का अर्थ साधन तथा उद्देश्य का ज्ञान भी है।

इस दृष्टि से कुछ अन्य गुणों को भी सद्गुण माना जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, बचत का आर्थिक सद्गुण, काम से सम्बन्धित ब्रह्मचर्य का सद्गुण तथा सामाजिक दृष्टि से निष्ठा का सद्गुण भी चार मुख्य सद्गुणों के सदृश हैं। किन्तु यदि इन सद्गुणों की व्याख्या की जाए, तो इन सभीको चार मुख्य सद्गुणों के अन्तर्गत माना जा सकता है। इनमें वही समान तत्त्व उपस्थित रहता है, जो चार मूल सद्गुणों में है। उदाहरणस्वरूप, बचत में विवेक के अतिरिक्त संकल्प का वह स्थायित्व है जो व्यक्ति को वर्तमान आर्थिक सुख की अपेक्षा भविष्य के आर्थिक शुभ का निर्वाचन करने के लिए प्रेरित करता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य एक प्रकार का संयम है, किन्तु इसका मूल तत्त्व भी संकल्प का वह स्थायित्व है जो व्यक्ति को वर्तमान शारीरिक कामवृत्ति की तृप्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट मूल्यों का निर्वाचन करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार सभी मूल्यों को चार मुख्य मूल्यों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

ये चारों मूल सद्गुण या तो व्यक्तिगत विकास के मूल्य हैं या सामाजिक कल्याण को प्रेरित करनेवाले हैं। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि इनको हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। वास्तव में व्यक्ति कदापि समाज से पृथक् नहीं हो सकता और जो सद्गुण व्यक्ति के विकास के लिए है, वही सामाजिक विकास के लिए भी उपयोगी होता है। अतः एक दृष्टि से, चारों सद्गुण सामाजिक सद्गुण हैं। किन्तु साहस और संयम दो सद्गुण ऐसे हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव डालते हैं और विवेक तथा न्याय ऐसे सद्गुण हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध सामाजिक शुभ से है। यदि हम साहस का अर्थ, दुःख के भय का सामना करना एवं दुःख सहन करने की वीरता समझें, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि साहस व्यक्तिगत जीवन में हमें लोभ का विरोध करने की प्रेरणा

देता है। इसी प्रकार संयम भी हमें व्यक्तिगत जीवन के प्रलोभन से दूर रहने की प्रेरणा देता है। ये दोनों सद्‌गुण हमें जीवन में स्थिरता लाने की प्रेरणा देते हैं। हमारे जीवन में दो प्रकार के मुख्य प्रलोभन उपस्थित रहते हैं। एक तो वह प्रलोभन है, जो हमें दुःख से दूर भागने की प्रेरणा देता है। दूसरा वह प्रलोभन है, जो हमें सुख की ओर आकर्षित करता है। जो व्यक्ति पहले प्रकार के प्रलोभन से प्रभावित होता है, वह पलायनवादी कहलाता है और जो विषय-भोग आदि में संलग्न हो जाता है, उसे सुखवादी कहते हैं। इन दोनों अवगुणों से बचने का एकमात्र उपाय साहस और संयम के द्वारा, बुद्धि की स्थिरता बनाए रखना है। जो व्यक्ति स्थिर बुद्धिवाला है, उसीमें ये दोनों सद्‌गुण उपस्थित रहते हैं। भगवद्‌गीता में स्थितप्रज्ञ एवं स्थिर बुद्धिवाले व्यक्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है :

> "दुःखेष्वनुद्विग्नमनः सुखेषु विगतस्पृहः।
> वीतरागभयक्रोधो स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥"

अर्थात् "जो व्यक्ति दुःख में घबराहट अनुभव नहीं करता और जो सुख में आवश्यकता से अधिक प्रसन्नता का अनुभव नहीं करता और जो भय, क्रोध आदि में संतुलित रहता है, वही व्यक्ति स्थितप्रज्ञ योगी कहलाता है।" भारतीय तथा पश्चिमीय आचारशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन से, हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि बुद्धि की स्थिरता ही व्यक्तिगत सद्‌गुणों का लक्ष्य है और वही नैतिकता का उच्चतम आदर्श है। जिस प्रकार प्लेटो ने साहस और संयम के साथ-साथ विवेक को अनिवार्य सद्‌गुण बताया है, उसी प्रकार भगवद्‌गीता में भी ज्ञान को संतुलित जीवन के लिए आधार माना गया है। कोई भी व्यक्ति तब तक संतुलित व्यक्तित्ववाला नहीं कहा जा सकता, जब तक कि वह साहस और संयम के साथ-साथ विवेक न रखता हो। जो व्यक्ति इन तीनों सद्‌गुणों का अनुसरण करता है, वह निस्संदेह न्याय का भी अनुसरण करेगा। इस प्रकार यद्यपि हम साहस और संयम को व्यक्तिगत जीवन के आधारभूत सद्‌गुण मानते हैं, तथापि सम्पूर्ण वैयक्तिक विकास के लिए विवेक तथा न्याय के सद्‌गुण भी उपयोगी होते हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि साहस और संयम, प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत विकास के आधार हैं और विवेक तथा न्याय उसपर परोक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं।

इसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि विवेक तथा न्याय व्यक्ति के उस व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं, जोकि वह अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में करता है। इन दो सद्‌गुणों में भी न्याय का सद्‌गुण अधिक महत्त्व रखता है और विवेक न्याय का साधन-मात्र है। न्याय का सद्‌गुण बहुत व्यापक है। इसमें वे सभी सद्‌गुण समाविष्ट हो जाते हैं, जो व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार को शुभ बनाने के लिए आवश्यक होते हैं। उदाहरणस्वरूप, भागीदारी को निभाना, विधान के अनुसार सभी कर्तव्यों का पालन करना, सत्यपरायण रहना, दृढ़प्रतिज्ञ रहना आदि सभी सद्‌गुण न्याय के सद्‌गुण में समाविष्ट होते हैं। यदि हम इन सद्‌गुणों का विश्लेषण करें, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन

सभीका पालन करने के लिए भी साहस, संयम तथा विवेक की नितान्त आवश्यकता रहती है। अतः यद्यपि न्याय को ही एकमात्र सामाजिक सद्गुण स्वीकार किया जाता है, तथापि अन्य तीनों मूल सद्गुण भी इसमें समन्वित रहते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि चारों मूल सद्गुण व्यक्ति तथा समाज के विकास के लिए समान महत्त्व रखते हैं।

सद्गुणों का नैतिक महत्त्व

अरस्तू ने प्लेटो के दृष्टिकोण पर आधारित सद्गुणों की व्याख्या करते हुए मनुष्य की आत्मा के तीन अंग स्वीकार किए हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(१) आत्मा का वनस्पतिभावात्मक अंग (Vegetari aspect of the soul)

(२) आत्मा का पशुभावात्मक अंग (Animal aspect of the soul)

(३) आत्मा का तर्कात्मक अंग (Rational aspect of the soul)

नैतिकता का उद्देश्य मनुष्य के तर्कात्मक अंग को अधिक प्रभावशाली बनाना और उसके अन्य दोनों अंगों को तर्क के अधीन करना है। मनुष्य के व्यक्तित्व के दो प्रथम स्तर उसे स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित करते हैं और उसे प्रलोभन से आकर्षित होने पर बाध्य करते हैं। नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए एक ओर उन प्रेरणाओं का नियंत्रण करना आवश्यक है, जोकि मनुष्य के वनस्पतिभावात्मक अंग से तथा पशुभावात्मक अंग से उत्पन्न होती हैं और दूसरी ओर तर्कात्मक अंग को इस प्रकार विकसित करना है कि वह मनुष्य को उसके चरम लक्ष्य की ओर ले जाए। सद्गुणों का उद्देश्य यही द्विविध उद्देश्य है। सद्गुण नैतिक जीवन की वह प्रक्रिया है, जोकि मनुष्य की प्रवृत्तियों को व्यवस्थित करती है। वह उसकी स्वच्छन्द प्रेरणाओं, भावनाओं तथा इच्छाओं को तर्कात्मक क्रिया प्रदान करती है।

पश्चिमीय आचार-विज्ञान के अनुसार सद्गुणों को दो विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जाता है :

(१) व्यावहारिक सद्गुण (Practical virtues)

(२) सैद्धान्तिक सद्गुण (Theoretical virtues)

व्यावहारिक सद्गुण वे सद्गुण हैं, जोकि उन उच्च स्तरवाले सद्गुणों के निर्वाचन में संकल्प को स्थायित्व देते हैं, जोकि न्यून स्तरवाली प्रवृत्तियों को तिरस्कृत करने में सहायता देते हैं। ये व्यावहारिक सद्गुण साहस, संयम, ब्रह्मचर्य आदि हैं। इस दृष्टि से व्यावहारिक सद्गुण वह सद्गुण है, जोकि तर्क के आधार पर दो अत्यन्त विरोधी दृष्टियों में मध्यम मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। अरस्तू ने भी व्यावहारिक सद्गुण की यही परिभाषा स्वीकारकी है और सद्गुणको 'दो अत्यन्त विरोधी तत्त्वोंका स्वर्ण मिश्रण'[१] कहा है। उदाहरणस्वरूप, साहस, कायरता तथा आवेश में आने की प्रवृत्ति के दो विरोधी तत्त्वों के बीच का तत्त्व है एवं उनका सुन्दर समन्वय है। अतः व्यावहारिक दृष्टि से,

१. The golden mean between the two extremes.

सद्गुण का अर्थ तर्क के आधार पर समन्वय करने की प्रवृत्ति है। व्यावहारिक सद्गुण हमें वनस्पतिभावात्मक तथा पशुभावात्मक प्रेरणाओं को तर्कात्मक व्यक्तित्व के नियन्त्रण में लाने के लिए सहायक होते हैं। इसके विपरीत सैद्धान्तिक सद्गुण वे सद्गुण हैं, जो हमारे व्यक्तित्व के विशुद्ध तर्कात्मक विकास के लिए सहायक होते हैं। उदाहरणस्वरूप, विवेक तथा अन्य ऐसे सभी सद्गुण, जोकि बौद्धिक सौन्दर्यात्मक तथा आध्यात्मिक स्वलक्ष्य मूल्यों से समन्वित हैं, सैद्धान्तिक सद्गुण हैं। ये सद्गुण व्यावहारिक सद्गुणों की अपेक्षा ऊंचे स्तर पर होते हैं और क्षणिक सुख की अपेक्षा उत्कृष्ट आनन्द को देनेवाले हैं।

पश्चिमीय आचारशास्त्रियों की धारणा है कि सैद्धान्तिक सद्गुणों एवं आध्यात्मिक मूल्यों को व्यावहारिक सद्गुणों की अपेक्षा अधिक वांछनीय स्वीकार करने की प्रवृत्ति प्लेटो और अरस्तू के समय में भले ही संगत मानी गई हो, किन्तु वर्तमान युग में, जबकि उपयोगितावादी वातावरण हमारी तर्क की धारणा पर प्रभुत्व जमाए हुए है, सैद्धान्तिक सद्गुणों को सर्वश्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। यदि कोई श्रेष्ठ सैद्धान्तिक सद्गुण हैं, वे आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित न होकर उपयोगिता पर आधारित, जीवन के उच्चतम मूल्यों से समन्वित वैज्ञानिक सद्गुण हैं। वर्तमान समय में आध्यात्मिक मूल्यों को श्रेष्ठ तो अवश्य माना जाता है, किन्तु यह स्वीकार नहीं किया जाता कि जो व्यक्ति इन मूल्यों को अपनानेवाले हैं, वे उन साधारण व्यक्तियों से श्रेष्ठ हैं जोकि व्यावहारिक सद्गुणों का अनुसरण करते हैं। पश्चिमीय आचारशास्त्र में यह प्रवृत्ति प्रजातन्त्रीय दृष्टिकोण पर आधारित है और सैद्धान्तिक सद्गुणों को अव्यावहारिक घोषित करती है। यहां पर इस पश्चिमीय दृष्टिकोण की भारतीय दृष्टिकोण से तुलना करना अनुचित न होगा। हमने पहले भी बताया है कि भारतीय आचारशास्त्र की दृष्टि से अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष चारों मूल्यों को मनुष्य के जीवन के विकास के लिए आवश्यक माना जाता है। इन चारों मूल्यों में से, अर्थ और काम को धर्म की अपेक्षा गौण माना जाता है और धर्म, अर्थ और काम को मोक्ष की अपेक्षा गौण स्वीकार किया जाता है। मोक्ष उच्चतम आध्यात्मिक मूल्य है और धर्म एवं नैतिकता उसका साधन है।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि अर्थ और काम, जिनमें कि साहस और संयम की आवश्यकता रहती है, अवांछनीय मूल्य हैं। इसके विपरीत, इन दो मूल्यों को प्रथम स्थान इसलिए दिया गया है कि इन पुरुषार्थों की प्राप्ति के बिना धर्म एवं नैतिकता का अनुसरण करना असम्भव है और धर्म के बिना मोक्ष का चरम लक्ष्य कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता। पुरुषार्थों पर आधारित यह प्राचीन नैतिक सिद्धान्त निस्सन्देह व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक सद्गुणों एवं नैतिकता का सुन्दर समन्वय है। इसके विपरीत, अरस्तू का व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक सद्गुणों का वर्गीकरण, विश्लेषणात्मक होने के कारण पार्थक्य तथा द्वैतवाद को जन्म देनेवाला है। हमें यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि पश्चिम में सिद्धान्त और व्यवहार के पार्थक्य ने व्यवहार पर अधिक बल देकर, वैज्ञानिक प्रगति और भौतिक विकास को इतना प्रश्रय दिया है कि आज मनुष्य प्रकृति पर शक्ति की दृष्टि से विजयी हो रहा है।

किन्तु इसके साथ-साथ ग्राध्यात्मिक मूल्यों को केवल सैद्धान्तिक घोषित करके ग्रौर उन्हें व्यावहारिक जीवन से पृथक् मानकर, उनकी इतनी ग्रवहेलना की गई है कि पश्चिमीय जीवन में व्यक्तित्व का ग्राध्यात्मिक विकास ग्राज तक भी पिछड़ा हुग्रा रह गया है।

इसका ग्रभिप्राय यह नहीं कि भारतीय जीवन में व्यक्तित्व का समन्वित विकास हुग्रा है। इसके विपरीत, राजनीतिक तथा ऐतिहासिक दुर्घटनाग्रों के कारण भारत में भी जहां तक जनसाधारण के जीवन का सम्बन्ध है, सिद्धान्त ग्रौर व्यवहार में एक बड़ी खाई उत्पन्न हो गई है। भारतीय ग्रध्यात्मवादियों ने मोक्ष के पुरुषार्थ पर ग्रावश्यकता से ग्रधिक बल देकर ग्रौर निवृत्ति-मार्ग को ही उसका एकमात्र साधन मानकर भौतिक तथा व्यावहारिक मूल्यों का इतना तिरस्कार किया है कि कुछ सीमा तक भारतीय दृष्टिकोण में निराशावाद उत्पन्न हो गया है। यही कारण है कि जब तक भारत परतन्त्र रहा, तब तक उसकी भौतिक ग्रौर वैज्ञानिक प्रगति ग्रवरुद्ध रही। किन्तु इसके साथ ही साथ भारत के कोने-कोने में, हर युग में ऐसी महान ग्रात्माग्रों ने जन्म लिया, जिन्होंने कि ग्राज तक भारतीय ग्रध्यात्मवाद की पूंजी को न ही केवल सुरक्षित रखा है, ग्रपितु उन्होंने एक समन्वित ग्रादर्श जीवन व्यतीत करके प्रमाणित किया है कि व्यावहारिक जीवन में ग्राध्यात्मिक मूल्यों को लागू किया जा सकता है। भारतीय ग्रध्यात्मवाद की यह ग्रद्वितीय प्रगति ग्रौर पश्चिमीय भौतिकवाद द्वारा उत्पन्न ग्रसीम शक्ति का सुन्दर समन्वय ग्रौर सामंजस्य मानव-समाज के कल्याण का एकमात्र साधन प्रमाणित हो सकते हैं। इस प्रकार के तुलनात्मक ग्रध्ययन के पश्चात् ही, हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि मूल्यों का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक वर्गीकरण यह नहीं बताता कि सद्गुण ग्रथवा मूल्य, मूल रूप से किसी प्रकार की विभिन्नता उत्पन्न करता है। इसके विपरीत सद्गुण विभिन्न होते हुए भी सामूहिक व्यवहार उत्पन्न करते हैं ग्रौर यही समरूपता चरित्र-निर्माण का दूसरा नाम है।

यदि हम प्राचीनकाल के लोगों के व्यवहार पर दृष्टि डालें, तो हम यह ग्रनुभव करेंगे कि वे भी शक्ति, वीरता, विश्वासपात्रता, सत्यपरायणता ग्रादि मूल्यों की सराहना इसलिए करते थे कि ये मूल्य स्वलक्ष्य सद्गुण हैं ग्रौर चरित्र-निर्माण की ग्राधारशिला हैं। इसलिए ऐसे सद्गुणों को चरित्र-सम्बन्धी मूल्य भी कहा जाता है। ये चरित्र-सम्बन्धी मूल्य एवं सद्गुण उन लोगों को प्रत्यक्ष तुष्टि प्रदान करते हैं, जिनमें कि ये मूल्य उपस्थित होते हैं। न ही केवल इतना, ग्रपितु जो व्यक्ति चरित्र-सम्बन्धी मूल्यों को दूसरों में उपस्थित देखता भी है, वह भी ग्रानन्दित होता है ग्रौर तुष्टि का ग्रनुभव करता है। इस ग्रानन्द का कारण यह है कि ये सद्गुण स्वलक्ष्य होते हैं। जिस प्रकार कि हम किसी कलाकारकी दक्षता की प्रशंसा इसलिए करते हैं कि उसकी कला में स्वलक्ष्य मूल्य है, इसी प्रकार हम पौरुषयुक्त साहस तथा ग्रात्मत्याग की प्रशंसा इसलिए करते हैं कि वह सद्गुण कला की भांति स्वलक्ष्य होता है। ऐसा करते समय हम उन परिणामों की ग्रोर ध्यान नहीं देते, जो उस सद्गुण द्वारा प्रेरित कर्म की उत्पत्ति होते हैं। इसलिए चरित्र की उत्कृष्टता को ही सद्गुणों के विकास का ग्रात्मिक लक्ष्य स्वीकार किया जाता है।

अरबन ने इसी दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए यह कहा है कि सद्गुण चरित्र की उत्कृष्टता को उत्पन्न करने के साधन अवश्य हैं, किन्तु वे सम्पूर्ण चरित्र नहीं हैं। वे तो आत्मानुभूति के साधन हैं जबकि आत्मानुभूति न ही केवल स्वलक्ष्य शुभ है, अपितु वह परम शुभ है। अरबन के शब्दों में, "वास्तव में हम सद्गुणों को इसलिए स्वलक्ष्य मूल्य देते हैं, क्योंकि वे आत्मानुभूति के विभिन्न प्रकार हैं और आत्मानुभूति न ही केवल एक अन्तरात्मक मूल्य है, अपितु वह उच्चतम शुभ है। इसलिए ऐसे मूल्यों को एक दृष्टि से अन्तिम और आधारभूत माना जाता है, क्योंकि इन (मूल्यों) का रखना, उस वस्तु का रखना है, जो अपने-आपमें शुभ है। ये मूल्य न ही केवल अच्छे जीवन के साधन हैं, अपितु शुभ जीवन की वास्तविक सामग्री का अंग हैं अथवा जीवन के शुभ के स्वरूप एवं स्वभाव की अभिव्यक्ति हैं।"[१] इससे यह स्पष्ट है कि इन सद्गुणों का नैतिक मूल्य केवल इतना है कि वे नैतिक दृष्टि से मनुष्य के चरित्र का मूल्यांकन करने में सहायता देते हैं।

कुछ लोग सद्गुण की स्वलक्ष्यता का विरोध करते हैं और कहते हैं कि सद्गुणों का अनुसरण करना निरर्थक है। उदाहरणस्वरूप, विश्वयुद्ध के दौरान में एक राजनीतिज्ञ ने यह घोषणा की थी कि युद्ध की विजय पहले ही प्राप्त हो चुकी है और कि उन मनुष्यों के नैतिक गुणों में उसकी संगतता प्रमाणित हो चुकी है। इस प्रकार की घोषणाएं सन्देह उत्पन्न करनेवाली होती हैं, क्योंकि ज्यों-ज्यों युद्ध का समय व्यतीत हुआ, यह स्पष्ट हो गया कि ऐसी घोषणा सद्गुणों की भ्रान्त अभिव्यक्ति थी। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि चरित्र स्वलक्ष्य नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धैर्य, माता-पिता का आत्मत्याग, साहस तथा युद्ध में नागरिकों की विश्वासपात्रता ऐसे सद्गुण हैं, जोकि जीवन के लिए निमित्त मूल्य हैं। क्योंकि नैतिक नियम जीवन के लिए होते हैं और जीवन नैतिक नियमों के लिए नहीं होता, इसलिए हम कह सकते हैं कि सद्गुण जीवन के लिए अस्तित्व रखता है न कि जीवन सद्गुण के लिए। यदि हम सद्गुणोंका गम्भीर विश्लेषण करें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि इनकी उत्पत्ति और इनको आदर्श स्वीकार करने का कारण सार्वजनिक प्रवृत्ति को निरपेक्ष मूल्य स्वीकार करना है। यह सार्वजनिक वृत्ति मनुष्य के नैतिक स्वभाव पर ही आश्रित है। अतः सद्गुणों का महत्त्व यही है कि वे नैतिक मूल्यांकन का मुख्य साधन हैं।

हमने अधिकारों और कर्तव्यों के नैतिक महत्त्व की व्याख्या पहले ही की है और बताया है कि ये दोनों सामाजिक दृष्टि से सापेक्ष हैं। ज्यों-ज्यों सामाजिक विकास होता

---

१. "The real reason that we value virtues for their own sake is that they are forms of self-realization and self-realization is not only an intrinsic good, but the highest good. Such values, then, are in a sense final and ultimate, since the possession of them is the possess ion of what is good in itself."

—Fundamentals of Ethics by W. M. Urban, Page 340.

है, अधिकारों और कर्तव्यों का स्वरूप स्वतः ही परिवर्तित होता चला जाता है। अधिकारों और कर्तव्यों का संघर्ष राजनीतिक और वैधानिक समस्याएं उत्पन्न करता है। इसलिए प्रत्येक समाज में व्यवस्था, विधान और अनुशासन की आवश्यकता रहती है। यह आवश्यकता इस बात का प्रमाण है कि मानवीय समाज नैतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। जब तक समाज में अधिकारों और कर्तव्यों का संघर्ष रहेगा, जब तक पुलिस, सेना और न्यायालयों को समाज और राजनीति का अनिवार्य अंग माना जाएगा और जब तक राष्ट्रों की परस्पर सन्धियां भंग होती रहेंगी और युद्ध की सम्भावना रहेगी, तब तक मानव-समाज को पूर्णतया सभ्य और नैतिक कहना असंगत होगा। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की नैतिकता को जबतक बाह्यात्मक उपाधियों पर निर्भर रखा जाएगा, तब तक नैतिक प्रशिक्षण की आवश्यकता रहेगी। अतः चरित्र-निर्माण की प्रशिक्षा प्रत्येक समाज के लिए हर युग में आवश्यक और अनिवार्य रहेगी। चरित्र के प्रशिक्षण का अर्थ, मनुष्यों में सद्गुणोंके प्रति इतना आदर और प्रेम उत्पन्न करना है कि सच्चरित्र मानव-मात्र में स्वतः ही परिस्फुटित हो जाए। इस प्रकार सद्गुण, जोकि मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखते हैं, सज्जनता तथा सच्चरित्रता का मूल आधार है और चरित्र-निर्माण का शाश्वत स्रोत हैं।

जिस व्यक्ति में सद्गुण स्वभाव में परिवर्तित हो जाते हैं, वह बिना किसी बाहरी आदेश के सद्व्यवहार पर चलनेवाला हो जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि किस प्रकार से किसी व्यक्ति में सद्गुणों को स्वभाव में परिवर्तित किया जाए। इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त कठिन है। इसका कारण यह है कि सद्गुण कोई सैद्धान्तिक धारणा नहीं है, अपितु एक ऐसा तत्त्व है जो वास्तविक जीवन से सम्बन्ध रखता है। सद्गुण का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है, किन्तु केवल ज्ञान ही सद्गुण को किसी व्यक्ति में विकसित नहीं कर सकता। अरस्तू ने यथार्थ ही कहा था कि सद्गुण एक सविकल्पक निर्वाचन का अभ्यास है। अरस्तू की इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि चरित्र में सद्गुण को विकसित करना सरल कार्य नहीं है। ऐसा करने के लिए सर्वप्रथम दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है। इसलिए यह माना जा सकता है कि तपश्चर्या और कड़ा अनुशासन सद्गुणों के विकास के लिए अनिवार्य हैं। कड़े अनुशासन से मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है और जब एक बार किसी व्यक्ति का चरित्र एक विशेष रूप धारण कर लेता है, तो उस रूप का परिवर्तित होना कठिन हो जाता है। इस परिवर्तन के लिए कठोर नियमों पर चलने तथा तपस्या की आवश्यकता रहती है। यही कारण है कि मन तथा ज्ञानेन्द्रियों पर संयम रखना प्रत्येक धर्म तथा दर्शन में सर्वोपरि माना गया है। कड़ा अनुशासन निस्सन्देह व्यक्ति के चरित्र को एक विशेष मार्ग पर चलाता है।

इसके अतिरिक्त चरित्र-निर्माण के लिए न ही केवल कड़े अनुशासन की आवश्यकता है, अपितु उसमें ऐसे उदाहरणों की भी आवश्यकता है, जिनमें कि कुछ व्यक्ति व्यावहारिक रूप से सद्गुणों का आचरण करते हों। अंग्रेजी भाषा में कहा गया है, "व्यावहारिक

उदाहरण केवल धारणा प्रस्तुत करने की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है।"[१] इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार लोग बुरी आदतों का अनुकरण करते हैं और वे आदतें एक छूत के रोगकी भांति तुरन्त फैल जाती हैं, उसी प्रकार सद्गुण भी मनुष्यों द्वारा अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण ग्रहण किए जाते हैं। 'खरबूज़े को देखकर खरबूज़ा रंग बदलता है' का कथन सद्गुण के विषय में चरितार्थ होता है। प्रायः लोग यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जब बहुमत दुराचारियों का हो, तो वहां सदाचारियों की अल्पसंख्या समाज में नैतिक क्रान्ति उत्पन्न नहीं कर सकती। किन्तु ऐसी धारणा सर्वथा भ्रान्त धारणा है। यदि एक व्यक्ति भी दृढ़प्रतिज्ञ होकर सदाचार का जीवन व्यतीत करता है, तो भी असंख्य अन्य व्यक्ति उससे प्रेरित होकर सदाचारी बन जाते हैं। भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम का इतिहास इस बात का साक्षी है कि महात्मा गांधी जैसे सूक्ष्म शरीरवाला एक ही व्यक्ति, कोटि-कोटि मनुष्यों में सत्य और अहिंसा के प्रति प्रेम उत्पन्न कर सकता है और उन्हें सत्याग्रह का पालन करने पर प्रेरित कर सकता है। महात्मा गांधीके जीवन का उदाहरण एक ऐसा शाश्वत नैतिक स्रोत है, जिससे असंख्य व्यक्तियों ने नैतिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्राप्त की है और आगे आनेवाली पीढ़ियों में भी असंख्य व्यक्ति ऐसी प्रेरणा प्राप्त करते रहेंगे।

न ही केवल महापुरुष सदाचारी जीवन का प्रेरणात्मक उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं, अपितु सामान्य व्यक्ति भी सद्गुण-रूपी रोग को छूत के रोग की भांति कोने-कोने में प्रसारित कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए एक वास्तविक उदाहरण देना आवश्यक है। अमरीका के एक विख्यात उद्योग-धन्धे का मैनेजर रेलगाड़ी के इंजन निर्मित करके यूरोप के किसी राज्य से बेचने के लिए पत्र-व्यवहार कर रहा था। उस पत्र-व्यवहार में जो वार्ता चल रही थी, उसमें राज्य-विशेष के अधिकारी यह चाहते थे कि उनको कम से कम मूल्य पर रेलवे के इंजन प्राप्त हो जाएं, चाहे उनके उत्पादन में घटिया प्रकार की सामग्री भी क्यों न लगाई जाए। क्योंकि इस विशेष उद्योग-धन्धे की सत्यपरायणता और उच्च कोटि की सामग्री का प्रयोग करने की ख्याति थी, इसलिए वह मैनेजर उस राज्य के लिए रेल के इंजन निर्मित करने के लिए हिचकिचा रहा था। अन्त में यह निश्चित हुआ कि समझौता करने के लिए मैनेजर यूरोप के उस राज्य में स्वयं जाए। अतः वह मैनेजर वायुयान के द्वारा यूरोप को रवाना हुआ। मार्ग में वह एक दिन के लिए लन्दन नगर में अपने एक मित्र के पास ठहरा। संध्या के समय वह जब बाज़ार में घूमने के लिए गया, तो उसने एक कपड़े की दुकान पर सुन्दर-सा एक सूट का कपड़ा देखा। क्योंकि कपड़े का दाम बहुत कम था, इसलिए उस मैनेजर ने उसे तुरन्त खरीद लिया। उसने अपने मित्र से पूछा कि लन्दन में सबसे अच्छे दर्ज़ी की दुकान कौन-सी है। मित्र से पता मालूम करके वह उस अच्छे दर्ज़ी की दुकान पर गया। दुकान के स्वामी ने उसका स्वागत किया और उससे पूछा कि वह उसकी क्या सेवा कर सकता

१. "Example is better than precept."

है । मैनेजर ने वह सुन्दर-सा सूट का कपड़ा उसे दिया और उससे प्रार्थना की कि उस कपड़े का सूट शीघ्र तैयार किया जाए । दर्ज़ी ने उस कपड़े का अच्छी प्रकार निरीक्षण करने के पश्चात् तुरन्त ही कहा, "श्रीमन्, हमारे यहां इस कपड़े का सूट तैयार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह नकली कपड़ा है ।" मैनेजर ने कहा, "आप इस कपड़े का सूट तैयार कर दीजिए और सिलाई का पूरा मूल्य ले लीजिए।" दर्ज़ी ने उत्तर दिया, "इस प्रकार के नकली कपड़े के वस्त्रों पर हम अपनी विख्यात दुकान की छाप नहीं लगा सकते।" मैनेजर ने सूट तैयार करने के लिए पुनः प्रार्थना की, "आप भले ही मेरे सूट पर अपनी दुकान का चिह्न मत लगाइए।" दर्ज़ी ने तुरन्त उत्तर दिया, "श्रीमन्, मैं अपने कारीगरों के सच्चे परिश्रम को नकली कपड़े पर व्यय नहीं करना चाहता।" यह सुनकर वह मैनेजर झुंझला-सा गया और उस कपड़े को उठाकर दर्ज़ी की दुकान से बाहर निकला। किन्तु इस घटना से उसकी सत्यपरायणता प्रेरित हुई और वह विचार करने लगा, 'यदि एक सत्यपरायण दर्ज़ी नकली कपड़े पर अपने नाम का चिह्न लगाना अपमान समझता है, तो हमारे लिए भी घटिया प्रकार की सामग्री से रेलवे इंजनों का निर्मित करना और उन-पर अपनी कम्पनी की छाप लगाना अपमानजनक है।' ऐसा विचार करके उसने अपना दौरा स्थगित कर लिया और वापस अमरीका जाकर उस राज्य-विशेष को लिख दिया कि उनकी कम्पनी घटिया सामग्री का प्रयोग करके किसी भी अवस्था में रेलवे इंजन निर्मित नहीं कर सकती।"

इस उदाहरण का अभिप्राय यह है कि नैतिक शिक्षा के लिए किसी बल के प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक मनुष्य का अन्तःकरण सद्गुण ग्रहण करने के लिए सदैव तत्पर रहता है। अतः जब वह किसी अन्य व्यक्ति को सद्गुण का अनुसरण करते हुए देखता है, वह तुरन्त उसे स्वयं अपनाता है और स्वयं अपनी भूल पर पश्चात्ताप भी करता है। यही कारण है कि चरित्र की प्रशिक्षा सैद्धान्तिक ज्ञान अथवा उपदेश द्वारा नहीं दी जा सकती, अपितु साक्षात् व्यावहारिक उदाहरण के द्वारा दी जा सकती है।

इसी प्रकार संयम का अनुसरण करने से नैतिकता का स्वतः ही विकास होता है। संयम का अर्थ वह आध्यात्मिक अनुशासन है, जो मनुष्य के अन्तःकरण को प्रेरित करता है और उसकी सुप्त नैतिक शक्ति को पुनः जागरित कर देता है। पूर्व तथा पश्चिम में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट धर्मों में संयम को आध्यात्मिक विकास का अनिवार्य साधन माना गया है। संयम हमारा ध्यान आन्तरिक जीवन की ओर ले जाता है और हमारे व्यक्तित्व का कायाकल्प कर देता है। भारत में तो संयम को जीवन का मूल आधार माना गया है और कहा गया है कि "संयमः खलु जीवनम्" अर्थात् "संयम ही जीवन है।" जब किसी समाज में थोड़े-से व्यक्ति भी आदर्शों को अपने जीवन में उतारते हैं और संयम का अनुसरण करके पूर्णत्व को प्राप्त करते हैं, वे जीवन्मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करके, न ही केवल स्वयं परम आनन्द का अनुभव करते हैं, अपितु सच्ची समाजसेवा के द्वारा अन्य प्राणियों का लाभ भी करते हैं। जिस समाज में इस प्रकार नैतिकता का विकास होता है और जिसमें प्रत्येक

व्यक्ति सद्गुणों की प्रतिमूर्ति बन जाता है, तो उस समाज के लिए न तो किसी प्रकार के बाहरी अनुशासन की आवश्यकता रहती है और न उसे किसी प्रकार की नैतिक प्रशिक्षा से लाभ होता है। अतः सद्गुणों के विकास का व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए भारी महत्त्व है। किन्तु अभी तक विश्व में किसी भी ऐसे समाज की स्थापना नहीं हो सकी, जो सर्वगुणसम्पन्न हो, और जिसमें राजकीय अनुशासन और व्यवस्था की आवश्यकता न हो।

इसलिए प्रत्येक समाज में नैतिकता की प्रगति के लिए नैतिक प्रशिक्षण की आवश्यकता रहती है और नैतिक सुधारकों का क्षेत्र बना रहता है। सद्गुणों के विकास के लिए जिन दो विधियों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे सामान्यतया उपयोगी रहती हैं। इनमें से संयम की विधि विशेष महत्त्व रखती है। जैसाकि हमने ऊपर कहा है, संयमी व्यक्ति वही है, जो अपनी इच्छाओं और भावनाओं को बुद्धि के अधीन करके समन्वित जीवन व्यतीत करता है। ऐसा व्यक्ति एक पूर्ण व्यक्ति होता है, किन्तु वह पूर्ण तभी हो सकता है, जब वह किसी लक्ष्य को एवं उद्देश्य को सामने रखता है। पश्चिम के विख्यात साहित्यकार गेटे ने सत्य कहा है कि एक मनुष्य को या तो अपने-आपमें पूर्ण होना चाहिए या उसे पूर्ण में सम्मिलित हो जाना चाहिए। इस प्रकार सद्गुणों का विकास चरम लक्ष्य की ओर संकेत करता है और वह चरम लक्ष्य निःसंदेह पूर्ण ही है। ब्रैडले ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "तुम उस समय तक पूर्ण नहीं हो सकते, जब तक कि तुम एक पूर्णमें सम्मिलित नहीं हो जाते।"[१] अतः चरित्र का सम्पूर्ण विकास तभी हो सकता है, जब हम किसी महान उद्देश्य की ओर दूसरों के सहयोग से प्रवृत्त हो जाएं। उस महान उद्देश्य के प्रति नितान्त श्रद्धा तथा भक्ति का होना आवश्यक है। यदि चरित्र का विकास हमें पूर्णवाद को अपनाने के लिए बाध्य करता है, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि सद्गुणों का ग्रहण करना निरपेक्ष पूर्ण की ओर अग्रसर होना है।

अधिकारों, कर्तव्यों और सद्गुणों की उद्देश्यात्मक व्याख्या हमें अन्त में एक ऐसे निरपेक्ष चरम लक्ष्य की धारणा को स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है, जो ऐसा पूर्ण और ऐसा तत्त्वात्मक स्तर हो, जिसकी वास्तविक अनुभूति व्यक्ति को नैतिकता की उस पराकाष्ठा तक पहुंचा दे, जिसको प्राप्त करके वह द्वैत से उठकर अद्वैत पर, अनेकतत्व से उठकर एकत्व पर एवं सापेक्षता से उठकर निरपेक्षता पर पहुंच जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसी धारणा नैतिकता की उच्चतम धारणा है और मोक्ष की धारणा है।

इससे यह प्रमाणित होता है कि मोक्ष की नैतिक तत्त्वात्मक (Ethico-metaphysical) धारणा नैतिकता के सभी सिद्धान्तों के समन्वय की धारणा है। कांट का 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' का सिद्धान्त इसलिए अमूर्त सिद्ध होता है कि वह किसी पूर्ण की प्राप्ति को लक्ष्य नहीं बनाता और इस प्रकार मनुष्य को नैतिक प्रशिक्षण नहीं देता, एवं उसके चरित्र का निर्माण नहीं कर पाता। मोक्ष की धारणा कांट के सिद्धांत की इस त्रुटि को दूर करती है, क्योंकि वह आत्मा की पूर्णता में विश्वास रखती है और मनुष्य को असत् से

१. "You cannot be a whole, unless you join a whole."

सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाती है। इसी प्रकार सुखवाद की धारणा भी केवल इच्छाओं की कृति को उद्देश्य मानकर मनुष्य के पूर्णत्व की ओर ध्यान नहीं देती।

मोक्ष-प्राप्ति के जितने भी साधन भारतीय दर्शन में प्रस्तुत किए गए हैं, उन सब-में नैतिक जीवन व्यतीत करने का विधान है। यह विधान संयम द्वारा व्यक्ति में सद्-गुणों को स्थायी रूप देता है। किन्तु हम यह जानते हैं कि वर्तमान समय में इने-गिने व्यक्ति ही मोक्ष को जीवन का लक्ष्य बनाते हैं। अधिकतर मनुष्य तो सुखवादी जीवन को ही नैतिक जीवन स्वीकार करते हैं। किन्तु जब व्यावहारिक जीवन में सुख की खोज में भी संघर्ष उत्पन्न होता है, जब एक व्यक्ति का सुख दूसरे व्यक्ति के दुःख का कारण बन जाता है और जब कोई स्वार्थी व्यक्ति समाज के नियमों का उल्लंघन करता है और सद्गुणों की अपेक्षा हर प्रकार के अवगुणों का अनुसरण करने लगता है, तो सामाजिक और नैतिक न्याय की समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में, यह प्रश्न उठता है कि क्या सामा-जिक नियमों के उल्लंघन करनेवाले व्यक्ति को किसी प्रकार का दण्ड दिया जाए या न दिया जाए। यदि दण्ड को नैतिक मान भी लिया जाए, तो यह प्रश्न होता है कि दण्ड की संगतता किस तर्क पर आधारित है। ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, हमें दण्ड के मुख्य सिद्धान्तों (Main theories of punishment) का विश्लेषण करना होगा और यह बताना होगा कि इनमें से कौन-सा सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से महत्त्व रखता है। अतः हम अगले अध्याय में दण्ड के सिद्धान्तों की पूरी व्याख्या करेंगे और इसके साथ ही साथ सामा-जिक न्याय की व्याख्या भी करेंगे। दण्ड के सिद्धान्तों के पश्चात् ही हम मृत्युदण्ड तथा आत्महत्या जैसी समस्याओं का समाधान करने की चेष्टा कर सकते हैं।

तेरहवां अध्याय

दण्ड के सिद्धांतों का नैतिक महत्त्व

(Ethical Significance of the Theories of Punishment)

हमने पिछले अध्याय में सद्गुणों के नैतिक महत्त्व का सिंहावलोकन किया है और इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि सद्गुण व्यक्तित्व के नैतिक विकास के लिए एवं उसके पूर्णत्व के लिए अनिवार्य अवश्य हैं, किन्तु उनके अभाव के कारण समाज में चरित्र के प्रशिक्षण की आवश्यकता है। यदि यह सत्य है कि सामाजिक अवगुणों को दूर करने के लिए और सद्गुणों के प्रसार के लिए समाज में नैतिक शिक्षा की अपेक्षा है, तो यह प्रश्न उठता है कि क्या यह प्रशिक्षा स्वतः ही मनुष्य के अन्तस् से परिस्फुटित हो सकती है अथवा उसको प्रेरित करने के लिए कुछ ऐसे सामाजिक विधान की भी आवश्यकता है, जिसके द्वारा नैतिक विकास को प्रोत्साहन दिया जाए। यह प्रश्न हमें नैतिक न्याय के क्षेत्र में प्रवेश करने पर बाध्य करता है और हमें यह जानने के लिए प्रेरित करता है कि जिस प्रकार एक नवजात शिशु को सुख और दुःख का अनुभव एवं पारितोषिक और दण्ड की व्यवस्था अच्छी आदतों के निर्मित करने में सहायक सिद्ध होती है, क्या उसी प्रकार समाज के नैतिक विकास में भी शुभ कर्म की प्रशंसा और अशुभ कर्म की निन्दा सहायक हो सकती है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीनकाल से ही मनुष्य न्याय तथा दण्ड के द्वारा, नैतिकता का विकास करता चला आया है। इसका कारण यह है कि नैतिकता निस्सन्देह एक सामाजिक तत्त्व है और सर्वथा सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। मनुष्य भी स्वभाव से सामाजिक प्राणी है और उसकी यह सामाजिक प्रवृत्ति उसे इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वह समाज में एक सम्मानित व्यक्ति कहलाए और इस सम्मान के लिए हर प्रकार का त्याग करे। जब उसे सदाचार के लिए समाज में सम्मान प्राप्त होता है और दुराचार के लिए अपमान का सामना करना पड़ता है, तो उसकी यह प्रवृत्ति अधिक तीव्रता से प्रेरित होती है और वह स्वतः ही अपने-आपमें सदगुणों का विकास करता है। प्राचीनकाल में तो सामाजिक बहिष्कार को मृत्यु के दण्ड से भी अधिक भयंकर माना जाता था। आधुनिक युग में जबकि व्यक्ति को हर प्रकार की स्वतन्त्रता है और जबकि सम्प्रदाय और धर्म के आधार पर सामाजिक बन्धनों को खुलकर तोड़ा जा रहा है, सम्भवतया ऐसा विचार किया जा सकता है कि नैतिक विकास के लिए भय और दण्ड का कोई भी स्थान नहीं है। किन्तु ऐसी धारणा भी एकपक्षीय धारणा है। यदि हम इस

समस्या पर गम्भीर चिन्तन करें, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि कुछ सीमा तक यह कथन आज भी हमारे जीवन में चरितार्थ होता है कि "विधान का भय ज्ञान का प्रथम चरण है।"[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज जो भय मनुष्य को नैतिकता की ओर आकर्षित करता है, वह किसी अन्धविश्वास पर आधारित नहीं है। आज मनुष्य सामाजिक बहिष्कार से इसलिए भयभीत नहीं होता कि वह अपनी आवश्यकताओं के लिए, अपने सम्प्रदाय पर निर्भर न होकर यन्त्रों पर निर्भर है। आज यदि कोई रूढ़िवादी समाज किसी व्यक्ति को अन्तर्जातीय विवाह करने पर उसका हुक्का-पानी बन्द भी कर दे, तो भी वह व्यक्ति सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है, जबकि प्राचीनकाल में इस प्रकार का बहिष्कार मृत्युदण्ड से भी भयंकर माना जाता था। वर्तमान प्रगतिशील युग में ऐसे बहिष्कार का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का दण्ड अज्ञान, संकुचितहृदयता और रूढ़िवाद पर आधारित है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति इस प्रकार के रूढ़िवाद का विरोध करता है, उसे शिक्षित समाज सम्मानित करता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि परम्पराओं के विरोध को ही नैतिकता स्वीकार कर लिया जाए। मानव-समाज में कुछ ऐसी शाश्वत परम्पराएं भी हैं, जो जाति-सम्प्रदाय और देश की सीमाओं से ऊपर उठ जाती हैं और जिनका उल्लंघन करना प्रत्येक सामान्य मानव के लिए सर्वत्र वर्जित माना जाता है। हमने जिन मानवीय अधिकारों और कर्तव्यों का उल्लेख पहले किया है, वे ऐसी ही व्यापक मानवीय परम्पराएं हैं। आज भी यदि विश्व के किसी भी भाग में, इन कर्तव्यों और अधिकारों का उल्लंघन किया जाता है,तो प्रत्येक सामान्य मनुष्य उस उल्लंघन पर खेद प्रकट करता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार का उल्लंघन मानव-मानव में भेद उत्पन्न करता है और सदैव अन्याय पर आधारित होता है। यदि मनुष्य आज रूढ़िवाद से भयभीत नहीं है, वह अन्याय से अवश्य भयभीत होता है। यदि मनुष्य सद्गुणों से प्रेम करता है, तो उसे अवगुणों से घृणा करनी होगी। यदि वह न्याय को वांछनीय स्वीकार करता है और उससे आकर्षित होता है तो उसे अन्याय को अवांछनीय मानकर अन्याय के प्रति विकर्षण और तिरस्कार का व्यवहार करना होगा। इससे यह प्रमाणित होता है कि समाज में आज भी भय का स्थान है।

मनुष्य की अन्याय के प्रति विरोध की भावना न्याय की मांग के रूप में अभिव्यक्त होती है। इस भावना में दो पक्ष हैं। एक तो वह पक्ष है, जोकि उसके क्रोध एवं उसकी बदला लेने की भावना को अभिव्यक्त करता है। उसका यह पक्ष न्याय की मांग करने का मूलप्रवृत्त्यात्मक आधार है। इस भावना से प्रेरित होकर न्याय की मांग करने-वाला व्यक्ति यह चाहता है कि जिस व्यक्ति अथवा समूह ने उससे अन्याय किया है, वह उससे वैसा ही व्यवहार करे, अर्थात् वैसा ही अन्याय करे, जैसाकि उस व्यक्ति के साथ किया गया है। इस प्रकार की न्याय की मांग प्राचीनतम समाज में उपस्थित थी। यह

१. "Fear of the law is the beginning of wisdom."

भावना संस्कृत में इस प्रकार व्यक्त की गई है, "शठे शाठ्यं समाचरेत्," अर्थात् "दुष्ट व्यक्ति से दुष्टता का ही व्यवहार करना चाहिए।" न्याय की इस धारणा को असभ्य न्याय (Wild justice) कहा जाता है और इसकी अभिव्यक्ति 'हत्या का प्रतिशोध हत्या' के कथन में होती है। न्याय की नैतिक धारणा का विकास काफी समय के पश्चात् हुआ है। असभ्य न्याय को प्रतिशोधात्मक (Retributive) न्याय का नाम दिया जाता है। दण्ड के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए हमें इस प्रकार के न्याय की धारणा का पुनर्विश्लेषण करना होगा। यह न्याय वितरणात्मक (Distridative) न्याय से विभिन्न है, क्योंकि वितरणात्मक न्याय का सम्बन्ध जीवन की सुविधाओं के वितरण से है। न्याय की परिभाषा देने के लिए हमें इन दोनों पक्षों की ओर ध्यान देना होगा। न्याय का दूसरा पक्ष वितरणात्मक पक्ष है।

न्याय की परिभाषा देते हुए अरबन ने लिखा है, "रोम के विधान के अनुसार, न्याय का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति को 'उसका उचित भाग देना है।' इस अभिव्यक्ति में छिपी हुई भावना, आधुनिक भाषा में, उस समय अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब हम एक मनुष्य के विषय में कहते हैं 'वह उसी वस्तु को प्राप्त करता है जोकि उसका भाग है।' "[1] यदि हम इस अभिव्यक्ति का विश्लेषण करें तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि इसमें न्याय के दोनों तत्त्व उपस्थित हैं। जब हम यह कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को उसका भाग देना न्याय है, तो यह स्पष्ट है कि हम जीवन की सुविधाओं के वितरण को न्यायसंगत मानते हैं और इस प्रकार न्याय के वितरणात्मक पक्ष की रक्षा करते हैं। इसके साथ ही साथ प्रत्येक व्यक्ति को उसका भाग देने का अर्थ उसको उसका अधिकार देना है। इस प्रकार इसमें न्याय का सम्बन्ध अधिकारों से है। हम यह कह सकते हैं कि न्याय व्यक्तियों की यथार्थ आकांक्षाओं की तृप्ति है। दूसरे शब्दों में, वह उसके उचित अधिकारों की स्वीकृति है। यदि कोई व्यक्ति सतत परिश्रम करता है और फिर भी जीवन-निर्वाह के योग्य धन प्राप्त नहीं कर सकता, तो वह ऐसा विचार करता है कि विश्व में न्याय नहीं है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति आवारा और अकर्मण्य हो और उसे संसार की सभी सुविधाएं प्राप्त हों, तो भी हम ऐसा अनुभव करते हैं कि संसार में अन्याय है।

न्याय की व्याख्या करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके नैतिक आशय और वैधानिक (Legal) आशय के भेद को स्पष्ट करें। नैतिक दृष्टि से न्याय का अर्थ सद्गुण एवं नैतिक शुभ है और विधान की दृष्टि से इसका अर्थ, बिना किसी पक्षपात के

---

१. "Justice, according to Roman law is 'giving everyone his due.' The feeling that underlies this expression is even better expressed in our modern slang, when we speak of a man 'getting what is coming to him.' In this expression are incuded several deas, which are inseparable from the notion of justice."

—**Fundamentals of Ethics by W. M. Urban, Page 210.**

नियमों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति न्यायशील है, तो हम 'न्याय' शब्द को नैतिक दृष्टि से प्रयोग में ला रहे होते हैं। इसके विपरीत जब हम यह कहते हैं कि अमुक नियम अथवा अमुक राज्य न्यायसंगत है, तो हम न्याय का अर्थ वैधानिक दृष्टि से कर रहे होते हैं। जब हम न्याय के इन दो अर्थों को स्पष्ट नहीं करते, तो इस शब्द के प्रयोग में अस्पष्टता एवं भ्रम उत्पन्न हो जाता है। किन्तु न्याय के इन दोनों दृष्टिकोणों का स्पष्ट किया जाना आवश्यक है। अतः सिजविक जैसे विद्वानों ने इस समस्या पर प्रकाश डाला है। जब हम न्याय को संगतता एवं पक्षपातरहित व्यवहार कहते हैं, उसमें भी या तो हम शुभ एवं सद्‌गुणों के वितरण का प्रकरण दे रहे होते हैं अथवा अशुभ एवं अवगुणों के वितरण का। जब हम न्याय के द्वारा उन व्यक्तियों के प्रति निर्णय देते हैं जिन्होंने अशुभ का आचरण किया है, तो हमारा वह निर्णय दण्ड का निर्णय होता है। जब हम न्याय के द्वारा शुभ का वितरण करते हैं, तो हमारा वह न्याय पारितोषिक एवं अच्छा फल देनेवाला न्याय होता है। पहले प्रकार का न्याय समाज को सुधारने का (Corrective) न्याय होता है और दूसरी प्रकार का न्याय वितरणात्मक होता है। अनेक बार न्याय शब्द का प्रयोग सुधारने की दृष्टि से किया जाता है। अतः यह कहा जाता है कि न्याय करने का अर्थ दण्ड देने की व्यवस्था है। इससे पूर्व कि हम दण्ड के सिद्धान्तों की व्याख्या करें, जोकि न्याय के सुधारात्मक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है, वितरणात्मक न्याय की व्याख्या करना आवश्यक है।

अरबन का कहना है कि विधानात्मक न्याय तथा नैतिक न्याय में अन्तर यह है कि पहले प्रकार का न्याय आदर्श न्याय नहीं है, जबकि हम नैतिक न्याय को आदर्शात्मक कह सकते हैं। नैतिक न्याय, राजनीतिक विधान की अपेक्षा उत्कृष्ट विधान को ही आदेश मानता है। इसका कारण यह है कि मानवता के उचित अधिकारों तथा राजनीतिक विधान एवं उस विधान द्वारा सुरक्षित संस्थाओं में परस्पर संघर्ष है। हम यह जानते हैं कि विधान का नैतिकता से प्रायः संघर्ष उत्पन्न होता है। इसी संघर्ष के कारण ही संसार में अनेक युद्ध लड़े जाते हैं। हमने इस प्रकार के एक संघर्ष का उदाहरण अधिकारों के सम्बन्ध में दिया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि वैधानिक न्याय केवल औपचारिक है और औपचारिक रूप से ही प्रत्येक मनुष्य के अधिकार को स्वीकार करता है। विधान इस दृष्टि से एक प्रकार का रूढ़िवादी न्याय प्रस्तुत करता है और अपनी सीमाओं से बाहर नहीं जाता। उसका नैतिकता से न्यूनतम सम्बन्ध होता है और वह सम्बन्ध भी इसलिए होता है कि उस नैतिकता की न्यूनतम मात्रा के बिना समाज का स्वास्थ्य सुरक्षित नहीं रह सकता। इस प्रकार वैधानिक न्याय केवल इतना प्रतिपादित करता है कि मनुष्य केवल अपना भाग प्राप्त कर सकता है और उसके कुछ मूलभूत स्वाभाविक अधिकार सुरक्षित रखे जा सकते हैं। इस सुरक्षा में विधान के सामने सभी व्यक्ति समान हैं। इस प्रकार जब भी विधान को लागू किया जाता है और उसका अर्थ किया जाता है, तो उसमें स्वतन्त्रता के अधिकार तथा उस

स्वतंत्रता की सुरक्षा को असंगत घोषित करने की धारणा उपस्थित रहती है। इस प्रकार नैतिक न्याय में औपचारिकता तथा वैयक्तिक भावना की प्रधानता रहती है। इसी दृष्टि से विख्यात नैतिक विचारक सिजविक ने वैधानिक न्याय को संकीर्ण न्याय (Conservative justice) कहा है। न्याय की यह धारणा नैतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है, क्योंकि वह एक अमूर्त धारणा है। इसी विचार को पुष्ट करते हुए अरबन ने लिखा है, "विधान की संकीर्णता की भावना अनेक बार उसे न ही केवल कठोर, अपितु मूर्खतापूर्ण प्रमाणित करती है। विधान अनेक मानवीय मूल्यों की अवहेलना तो करता है, किन्तु वह जिन मूल्यों को स्वीकार करता है, उन्हें आवश्यकता से अधिक दृढ़ता से लोहे के हाथ से जकड़कर रखता हैं।"[1]

इसका अभिप्राय यह है कि वैधानिक न्याय केवल स्वतंत्रता के अधिकार पर ही बल देता है और इस बात की अवहेलना करता है कि व्यावहारिक जीवन में इस अधिकार की कुछ सीमाएं होती हैं। यदि इन सीमाओं को स्वीकार न किया जाए, तो नैतिकता का पालन नहीं हो सकता और मनुष्य के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास भी नहीं हो सकता। उदाहरणस्वरूप, यदि जीवन के अधिकार में स्वतंत्रता निहित है, तो इस स्वतंत्रता का उस समय तक कुछ अर्थ नहीं रहता, यदि जीवन के कुछ साधन उपलब्ध न हों। अतः जीवन के अधिकार का अर्थ जीने की औपचारिक स्वतन्त्रता-मात्र नहीं है, अपितु इससे कुछ अधिक है। नैतिक न्याय जीने की कोरी स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है और उन साधनों और सुविधाओं की अवहेलना करता है, जोकि जीवन को बनाए रखने के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य हैं। इसी प्रकार अन्य अधिकारों में भी, केवल औपचारिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करना जीवन के विकास के लिए पर्याप्त नहीं है।

नैतिक न्यायमें अथवा आदर्शात्मक न्याय में जो वितरणात्मक तत्त्व है, वह वैधानिक न्याय की औपचारिकता में नहीं है। वैधानिक न्याय का आदर्श प्रत्येक व्यक्ति को सीमित रूप में कुछ अधिकारों को प्राप्त करने का अवसर देना अवश्य है। इस दृष्टि से पक्षपात से रहित होने की चेष्टा एवं वैधानिक समानता देने के लिए, वैधानिक न्याय को अनिवार्य रूप से शुभ जीवन की कुछ उपाधियों को न्यायसंगत रूप से वितरित करने की चेष्टा करनी पड़ती है। किन्तु वितरणात्मक न्याय इससे कुछ अधिक होता है। इस न्याय में शुभ जीवन की अत्यावश्यक उपाधियों के अतिरिक्त अन्य मूल्यों के वितरण की आवश्यकता रहती है। अतः वितरणात्मक न्याय, एक उच्च प्रकार का एवं आदर्श न्याय है और यही न्याय नैतिकता का मूल आधार है। वितरणात्मक न्याय की इस व्याख्या के पश्चात् हम दण्ड के सिद्धान्तों के आशय को भली भांति समझ सकते हैं और इस निष्कर्ष

१. "The conservative spirit of law makes it seem at times not only callous but also stupid. Law may seem to be blind to many human values, but those which it does see, it sees very clearly and in the main holds on to with a grip of iron."

—Fundamentals of Ethics by Urban, Page 219.

पर पहुंच सकते हैं कि वैधानिक न्याय कहां तक नैतिक न्याय से सम्बन्धित है और वह नैतिक उत्तरदायित्व में क्या महत्त्व रखता है।

दंड

दंड की धारणा निःसंदेह एक सामाजिक धारणा है। किन्तु इसका आधार न्याय का स्वाभाविक सिद्धान्त है। न्याय के स्वाभाविक सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य स्वाभाविक रूप से यह भावना रखता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मों का फल अवश्य मिलना चाहिए। इस धारणा के विपरीत, जो प्राचीन धार्मिक धारणा है, उसके अनुसार अन्याय करनेवाला व्यक्ति स्वतः ही उसका फल प्राप्त करता है। क्योंकि जब वह किसी व्यक्ति से अन्याय करता है, तो उसे आत्महीनता का अवश्य अनुभव होता है। ऐसा करते समय वह मानवता के स्तर से च्युत हो जाता है। इस प्रकार वह व्यक्ति अन्याय करते समय अपने दुःख का कारण स्वयं बन जाता है। कुछ सीमा तक तो यह सत्य है कि अनैतिक कर्म करनेवाला व्यक्ति अवश्य आत्महीनता के भाव के कारण मानसिक दुःख का अनुभव करता है। यदि इस तथ्य को व्यापक भी मान लिया जाए, तो भी अन्य व्यक्ति उसके इस आन्तरिक दुःख को नहीं देख सकते और वे ऐसा समझते हैं कि उस व्यक्ति को अनैतिकता का दंड नहीं मिला। यदि यह सत्य है कि मनुष्य में किसी प्रकार के जन्मजात संस्कार नहीं होते और उसके चरित्र का निर्माण सर्वथा बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर रहता है, तो यह सत्य होगा कि कुछ व्यक्ति जो आरम्भ से अन्याय और अनैतिकता को अपना लेते हैं, वे कदापि अनैतिक कर्म करने के पश्चात् आत्महीनता की भावना का अनुभव न करते होंगे। यदि इसके विपरीत यह स्वीकार कर लिया जाए कि कुछ व्यक्ति जन्मजात संस्कारों के अनुसार स्वभाव से ही नैतिक और कुछ स्वभाव से ही अनैतिक होते हैं, तब भी यह बात स्पष्ट है कि कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य हैं, जो अनैतिक कर्म करने पर अन्तःकरण की ग्लानि का अनुभव नहीं करते। उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं में, निष्पक्ष तर्क हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए बाध्य करता है कि प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार अवश्य फल प्राप्त होना चाहिए। यह दृष्टिकोण हमें दंड की समस्या को समझने की प्रेरणा देता है।

नैतिक दृष्टि से भी सज्जनता को प्रोत्साहन देना और दुष्टता का दमन करना समाज के कल्याण के लिए आवश्यक है। चाहे हम धर्म में विश्वास रखते हों या न रखते हों, हमारी बुद्धि हमें यह स्वीकार करने के लिए बाध्य करती है कि धर्मात्मा एवं नैतिक व्यक्ति मानव-मात्र की प्रगति के लिए संघर्ष करता है और दुर्गुणों का अनुसरण करनेवाला व्यक्ति सदाचार के आदर्श का विरोधी है। इसलिए सामान्य व्यक्ति की यह इच्छा रहती है कि वह सदाचारी व्यक्ति की सहायता करे और दुराचारी व्यक्ति का विरोध करे। पश्चिमीय आचार-विज्ञान सदाचार तथा दुराचार की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को स्वीकार करता है। भारतीय आचारशास्त्र में आदिकाल से ही इन दो प्रवृत्तियों को

स्वीकार किया गया है। सदाचार की प्रवृत्ति को दैवी सम्पत् और दुराचार की प्रवृत्ति को आसुरी सम्पत् कहा गया है। भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत् की जो व्याख्या दी गई है, उसका उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है। दैवी संपत्-वाले व्यक्ति में अहिंसा, सत्य, क्रोध से मुक्ति, त्याग, शान्ति, दया, अन्य प्राणियों के प्रति प्रेम, सौजन्य, क्षमा, साहस, पवित्रता आदि गुण स्वभाव से ही उपस्थित होते हैं। इसके विपरीत आसुरी सम्पत्वाले व्यक्ति में दम्भ, अभिमान, क्रोध, कठोरता, अज्ञान आदि जैसे अवगुण स्वभाव से उपस्थित होते हैं। आसुरी सम्पत्वाला व्यक्ति ध्वंस करनेवाला, लोभी, पाखंडी और दूसरों के दुःख में प्रसन्नता अनुभव करता है। वह अनेक चिन्ताओं में मग्न रहता है और इच्छाओं की तृप्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझता है। वह अन्यायपूर्ण विधियों से धन एकत्र करता है और इच्छाओं की निरंकुश तृप्ति में लगा रहता है। इसके विपरीत, दैवी सम्पत्वाला व्यक्ति सदैव दूसरों की भलाई में प्रवृत्त रहता है।

यदि यह सत्य है कि नैतिक व्यक्ति, जनहित और जनकल्याण के लिए जीवन व्यतीत करता है और अनैतिक व्यक्ति स्वार्थ के लिए दूसरों को हानि पहुंचाता है, तो तर्क हमें इस बात पर प्रेरित करता है कि दैवी सम्पत् के प्रोत्साहन के लिए और आसुरी संपत् के दमन के लिए किसी न किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। मैकन्ज़ी ने भी इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुए कहा है कि अनैतिक एवं दुष्ट व्यक्ति का जीवन में सफल होना और धर्मपरायण व्यक्ति का असफल होना सर्वथा असंगत है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रायः सद्गुणों का आचरण करनेवाला व्यक्ति पहले दुःख और अन्त में सुख का अनुभव करता है; किन्तु फिर भी एक सामान्य व्यक्ति की यही भावना रहती है कि नैतिक व्यक्ति का प्रोत्साहन और अनैतिक व्यक्ति का विरोध सर्वथा वांछनीय है। प्राचीनकाल में भले ही ऐसी भावना प्रतिशोध की प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई हो, किन्तु आधुनिक समाज में अनैतिकता की रोकथाम की प्रवृत्ति निःसन्देह मनुष्य के तर्कात्मक स्वभाव पर आधारित है। हमारे इस दृष्टिकोण की पुष्टि तभी हो सकती है, जब हम दण्ड के विभिन्न सिद्धान्तों की पूरी व्याख्या करें।

दण्ड के सिद्धान्त

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि सदाचार के लिए प्रशंसा और दुराचार के लिए निन्दा की प्रवृत्ति से ही समाज में दण्ड की प्रथा आरम्भ हुई। प्राचीनकाल से ही समाजिक नियमों को भंग करने पर व्यक्ति को दण्ड दिए जाने की प्रथा का अनुसरण किया जा रहा है। आधुनिक समाज में भी अपराध करनेवाले व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है। कुछ रूढ़िवादी समाजों में अब तक भी किसी सामाजिक नियम को भंग करनेवाले व्यक्ति को सम्प्रदाय से बहिष्कृत कर दिया जाता है। किन्तु शिक्षा की उन्नति के साथ-साथ ऐसे दण्डों की प्रथा भी समाप्त होती चली जा रही है। कुछ ही वर्ष पूर्व

विद्यालयों में छात्रों को पढ़ाई न करने पर दण्ड दिया जाता था। किन्तु आजकल यह प्रथा भी लुप्त हो गई है। अब केवल अपराध करनेवाले व्यक्तियों को ही राज्य-शासन द्वारा विभिन्न प्रकार का दण्ड दिया जाता है। अपराध के क्षेत्र में अभी तक सबसे अधिक उन्नत देशों में भी दण्ड की प्रथा का अन्त नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि यदि किसी समाज में अपराध एवं अनैतिक कर्म करने की रोकथाम के लिए दण्ड की व्यवस्था न की जाए, तो समाज का ढांचा ही छिन्न-भिन्न हो जाए। इसलिए दण्ड की प्रथा भले ही परिवर्तित हो गई हो, किन्तु उसका आज भी संसार के कोने-कोने में महत्त्व है। न ही केवल अपराध के क्षेत्र में, अपितु समाज में भी आज तक परिवर्तित रूप में दण्ड की प्रथा प्रचलित है। यदि सम्प्रदायवादिता और संकुचित हृदयता के अभाव से बहिष्कार (हुक्का-पानी बन्द) की प्रथा आज सभ्य समाज में नहीं है, फिर भी विभिन्न व्यवसायों के संघों में संस्थाओं के नियमों को भंग किए जाने पर व्यक्ति को जुर्माने आदि का दण्ड अवश्य दिया जाता है। अतः दण्ड की प्रथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र में आज भी प्रचलित है। इसका कारण यही है कि दण्ड, समाज की किसी न किसी आवश्यकता को पूरा कर रहा है। यह प्रकृति का नियम है कि जब कोई भी प्रथा समाज के लिए उपयोगी सिद्ध न हो, तो वह स्वयं ही लुप्त हो जाती है। दण्ड की उपयोगिता को सामने रखते हुए, विचारकों ने विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। दण्ड के तीन मुख्य सिद्धान्त माने गए हैं, जोकि दण्ड के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हैं। ये तीन सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

(१) निरोधात्मक अथवा रोकथाम (Preventive or deterrent) का सिद्धान्त ;

(२) प्रशिक्षणात्मक अथवा सुधारात्मक (Educative or reformative) सिद्धान्त ;

(३) प्रतिशोधात्मक (Retributive) सिद्धान्त।

अब हम इन सिद्धान्तों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे और यह जानने की चेष्टा करेंगे कि इनमें से कौन-सा सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से महत्त्व रखता है।

निरोधात्मक अथवा रोकथाम का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार, दंड का उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा अन्य कोई भी व्यक्ति अपराध करने का साहस न करे। जब एक व्यक्ति को उसके अपराध के लिए दंड दिया जाता है, तो अन्य व्यक्ति इससे भयभीत होकर, भविष्य में सद्व्यवहार करते हैं और इस प्रकार समाज में अपराध की रोकथाम होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार दंड देनेवाला निर्णायक निम्नलिखित नियम का अनुसरण करता हुआ निर्णय देता है, "तुम्हें भेड़ों को चुराने के लिए दंड नहीं दिया जा रहा, अपितु इसलिए दंड दिया जा रहा है कि भविष्य में भेड़ों की चोरी न हो।" दंड का यह दृष्टिकोण निःसंदेह नैतिकता के विरुद्ध है। इसके अनुसार, मनुष्य को स्वलक्ष्य न मानकर एक साधन-मात्र स्वीकार किया

जाता है। एक विकसित नैतिक चेतना के अनुसार, मनुष्य को सदैव स्वलक्ष्य ही स्वीकार किया जाएगा। यदि मनुष्य को अन्य व्यक्तियों की शिक्षा के लिए साधन-मात्र माना जाए, तो दंड की प्रथा को नैतिक दृष्टि से समाप्त ही करना पड़ेगा। नैतिक न्याय के अतिरिक्त, तर्क की दृष्टि से भी दंड के इस सिद्धान्त को असंगत ही स्वीकार किया जाएगा। यदि किसी व्यक्ति को उसके अपराध के लिए दंड नहीं दिया जाता, तो इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि मनुष्य को उसके कर्म का फल नहीं दिया जा रहा। इस प्रकार की दृष्टि में तर्कात्मक न्यायशीलता नहीं है। निर्णायक को निर्णय देते समय किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करना चाहिए और अपनी भावनाओं के आधार पर निर्णय नहीं देना चाहिए। विधान भी निर्णायक को तटस्थ रहने का आदेश देता है। कुछ सीमा तक यह सत्य है कि नैतिक दृष्टि से हर प्रकार की भावनाओं से मुक्त होना आवश्यक है। न्याय तभी व्यापक माना जा सकता है, जब उसे व्यक्तिगत हितों से पृथक् रखा जाए। यही कारण है कि कांट ने 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' की धारणा को उच्चतम नैतिक नियम स्वीकार किया है। प्रायः सभी प्रगतिशील राज्यों में, न्यायाधीशों के लिए विशेष व्यवहार के नियम निर्धारित किए जाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णायकों को जनसाधारण से अधिक सम्पर्क रखने की आज्ञा भी नहीं दी जाती, क्योंकि ऐसे सम्पर्क से निर्णायक पर किसी पक्ष का प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहती है। अतः नैतिक तथा वैधानिक दृष्टियों से रोकथाम पर आधारित दंड का सिद्धान्त, न्यायसंगत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जहां तक राजनीति का सम्बन्ध है, एकतंत्रवादी राज्य में इस प्रकार के दंड के सिद्धांत को प्रोत्साहन दिया जा सकता है, किन्तु एक प्रजातन्त्रीय राज्य में ऐसे सिद्धान्त को अवैधानिक ही स्वीकार किया जाएगा। यदि विधान की दृष्टि से सभी व्यक्ति समान हैं, तो यह कहना कि अपराधी की अपेक्षा समाज तथा सम्प्रदाय श्रेष्ठ है, स्वतन्त्रता तथा समानता के अधिकारों को पददलित करना है। जिस राज्य में व्यक्ति के अधिकार को समुदाय के लिए पददलित किया जाता है, उसे न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। यदि अपराध का दण्ड समाज को व्यक्ति से अधिक सम्मानित स्वीकार करने पर आधारित है, तो व्यक्ति को मतदान की स्वतन्त्रता भी नहीं देनी चाहिए। यही कारण है कि एक-तन्त्रीय राज्यों में, एकदलीय शासन ही होता है। इसका परिणाम यह होता है कि मत-दाता को किसी प्रकार का विकल्प प्राप्त नहीं होता और उसे बलपूर्वक एक ही दल का पक्ष लेना पड़ता है। ऐसे राज्यों में अनेक व्यक्तियों को विचार की स्वतन्त्रता के लिए मार दिया जाता है। साम्यवादी एकतन्त्रवाद और प्रजातन्त्रवाद में यही भेद है। साम्यवाद समुदाय को इतना महत्त्व देता है कि वह व्यक्ति को तुच्छ मानता है, इसके विपरीत प्रजातन्त्रवाद में प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त होते हैं और किसी समु-दाय एवं समाज को उसके अधिकारों को पददलित करने का अवसर नहीं दिया जाता। अतः प्रजातन्त्र की दृष्टि से रोकथाम पर आधारित दंड का सिद्धान्त सर्वथा असंगत

प्रमाणित होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी दण्ड का यह सिद्धांत वांछनीय स्वीकार नहीं किया जा सकता। वर्तमान मनोविज्ञान के क्षेत्र में, वैज्ञानिक खोज के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि मनुष्य का प्रत्येक असामान्य व्यवहार एक प्रकार का रोग है। उस रोग की रोकथाम बलपूर्वक दण्ड से नहीं की जा सकती, अपितु अपराधी से सहानुभूति करके समझाने-बुझाने से की जा सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान एक नवीन विधि को अपनाकर अपराध के मानसिक कारण को ढूंढ़ने की चेष्टा करता है और अन्त में उस कारण को दूर करके अपराधी को सामान्य स्तर पर लाकर उसे अपराध के मानसिक रोग से मुक्त करता है।

प्रशिक्षणात्मक अथवा सुधारात्मक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य अन्य लोगों के लिए उदाहरण प्रस्तुत करना नहीं है, अपितु अपराध करनेवाले व्यक्ति को सुधारना है। जैसाकि हमने पहले कहा है, अपराध मनुष्य का एक असाधारण व्यवहार है, जो सम्भवतया विशेष परिस्थितियों के कारण अथवा भावावेश में उत्पन्न होता है। यदि अपराधी से सहानुभूति दर्शाई जाए और उसे समझा-बुझाकर उचित मार्ग पर चलाए जाने की चेष्टा की जाए, तो वह भविष्य में अपराध नहीं करेगा। आधुनिक युग में सुधारात्मक दृष्टिकोण और भी अधिक प्रभावशाली हो रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि दण्ड का सुधारात्मक सिद्धान्त आधुनिक मानववादी भावनाओं के अनुकूल है। न ही केवल अपराध के क्षेत्र में, अपितु बालकों की शिक्षा में भी दण्ड की प्रथा को अवांछनीय घोषित किया गया है। इसका दूसरा कारण यह है कि मनोविश्लेषण के अनुसन्धान ने अपराध को एक ऐसा मानसिक रोग सिद्ध कर दिया है कि जिसका प्रतिकार अपराधी से क्रूरता का व्यवहार करने की अपेक्षा सहानुभूति करना है। मनोविज्ञान की यह धारणा है कि मूल प्रवृत्तियों के दमन से दमित इच्छाएं अचेतन में स्थित हो जाती हैं और वे मनुष्य के व्यवहार को असामान्य बना देती हैं। इसका उल्लेख हमने आचार-विज्ञान की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि देते हुए पहले भी किया है। यहां पर इस बात का दोहराना आवश्यक है कि जब दमित इच्छाएं एवं प्रवृत्तियां मार्गान्तरीकरण (Redirection) अथवा शोध के द्वारा तृप्त नहीं हो सकतीं, वे अपराध जैसे असामान्य व्यवहार को उत्पन्न करती हैं।

विशेषकर बाल-अपराध के क्षेत्र में जितना अनुसन्धान हुआ है, वह इस बात का साक्षी है कि बाल्यकाल के अपराधों का कारण मूल प्रवृत्तियों का दमन ही है। जब किसी बालक की आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति पर आघात पहुंचता है, तो वह मारपीट और लड़ाई-झगड़े के द्वारा इस प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार का व्यवहार समाज-विरोधी माना जाता है और ऐसे बालक पर प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। यह प्रतिबन्ध उसके दमन पर और भी बुरा प्रभाव डालते हैं और उसकी दमित इच्छाएं उग्र रूप धारण करके

बुरी आदतों में या अपराध में अभिव्यक्त होती हैं। ऐसे अपराधियों को किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड देना अथवा प्रौढ़ अपराधियों की भांति जेल में कड़ा कार्य कराना, उनकी मानसिक दशा के लिए हानिकारक सिद्ध होता है और उन्हें जेल से मुक्त हो जाने के पश्चात् पक्का अपराधी बनने के लिए बाध्य करता है। अतः मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा है कि बाल-अपराध न तो अनैतिक व्यवहार है और न ही समाज-विरोधी कर्म है, अपितु निश्चित रूप से एक मानसिक रोग है। ऐसे अपराधियों को दण्ड देने की अपेक्षा मानसिक चिकित्सा तथा समाज-उपयोगी कार्य करने की प्रशिक्षा के द्वारा सुधारना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण को सभी प्रगतिशील देशों में स्वीकार किया गया है और बाल-अपराध की रोकथाम के लिए जेलों को सुधारालयों में परिवर्तित कर दिया गया है। जहां तक विद्यालयों का सम्बन्ध है, बालकों को आत्मप्रकाशन आदि मूल प्रवृत्तियों की तृप्ति के लिए अधिक से अधिक अवसर दिया जाना बाल-अपराध की रोकथाम का सर्वोत्तम उपाय है। न ही केवल इतना, अपितु बालक के व्यक्तित्व के सामान्य विकास के लिए माता-पिता का सहयोग भी आवश्यक है। जब माता-पिता बालक का आदर नहीं करते और उसकी आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति को पनपने का अवसर नहीं देते, तो बालक ज़िद्दी बन जाता है। माता-पिता मनोविज्ञान के नियमों को न जानने के कारण ऐसे बालक से कठोरता का व्यवहार करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वह बालक अधिक से अधिक हठी बन जाता है और असामान्य व्यवहार करने लगता है। ऐसे बालक को सुधारने का एकमात्र उपाय प्रेम और सहानुभूति के द्वारा उसकी आत्मचेतना को प्रेरित करना और उसकी आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति को पनपने का सुअवसर देना है।

न ही केवल बाल-अपराध को मानसिक रोग स्वीकार किया गया है, अपितु अनेक प्रौढ़ अपराधियों के मनोविश्लेषण से यह भी सिद्ध हुआ है कि अनेक प्रौढ़ अपराधी भी मानसिक रोगी होते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि सभी अपराधियों को निर्दोष मान लिया जाए और उन्हें किसी प्रकार का दण्ड न दिया जाए; किन्तु यह सत्य है कि अपराधियों की अधिक संख्या ऐसी है, जिनको कड़ा दण्ड देने की अपेक्षा सहानुभूति, प्रेम तथा समाज-उपयोगी कार्यों की प्रशिक्षा के द्वारा सुधारा जा सकता है। हमारे देश में भी दण्ड के सुधारात्मक सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है और जेलों में अनेक छोटे-छोटे उद्योग प्रचलित किए गए हैं। अनेक अपराधी जेल में अत्यन्त उपयोगी कार्य करते हैं और उद्योग सीखकर जेल से मुक्त होने के पश्चात् अपनी आजीविका प्राप्त करने के योग्य बन जाते हैं। भारतीय जेलों में, उस अपराधी की जेल में रहने की अवधि में कमी कर दी जाती है, जो निरन्तर सद्व्यवहार करता है। इस प्रकार जेलों में अनेक सुधार किए गए हैं और जेलों को प्रायः सुधारालयों में परिवर्तित कर दिया गया है। यह सभी सुधार प्रमाणित करते हैं कि दण्ड का सुधारात्मक सिद्धान्त अधिक वांछनीय माना जाता है और इस सिद्धांत को अपनाने से वास्तव में अपराधी के हृदय का परिवर्तन भी किया जा सकता है। किन्तु यदि इस सिद्धान्त को ही दण्ड का एकमात्र आधार मान लिया जाए और हर प्रकार के

अपराधी को जेल में सुविधाएं ही सुविधाएं दी जाएं, ता सम्भवतया अपराधों की संख्या बढ़ जाए। अपराधी को जब तक यह महसूस नहीं हो जाता कि उसने अपराध करके अपने साथ और समाज के साथ अन्याय किया है, अर्थात् जब तक उसमें आत्मचेतना उत्पन्न नहीं हो जाती, तब तक दण्ड के सुधारात्मक सिद्धान्त का उद्देश्य कदापि पूरा नहीं हो सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार की आत्मचेतना समाज में धीरे-धीरे पनप सकती है और पनप रही है। किन्तु यह सत्य है कि मनुष्य का व्यक्तित्व अत्यन्त जटिल है और व्यक्ति-व्यक्ति की भावनाएं विभिन्न होती हैं। विश्व के सभी मनुष्य एक ही रात में बुद्ध, ईसा और गांधी नहीं बन सकते। यद्यपि सद्गुण अनुकरण के द्वारा ग्रहण किया जाता है, तथापि नैतिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है, जो तुरन्त अन्तिम अवस्था तक नहीं पहुंच सकती। आसुरी प्रवृत्तिवाले व्यक्तियों के स्वभाव को परिवर्तित करना सहज कार्य नहीं है। महात्मा गांधी की यह धारणा थी कि प्रत्येक सामान्य मानव के हृदय को सद्-भावना के द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है। उन्होंने इसी सिद्धान्त को अपनाकर अहिंसात्मक मार्ग पर चलकर भारत को ब्रिटेन के साम्राज्यवाद से मुक्त कराया। किन्तु वे भी यह जानते थे कि समस्त समाज के हृदय को परिवर्तित करने के लिए धैर्य और समय की आवश्यकता है। यही कारण है कि उनकी यह अन्तिम इच्छा थी कि कांग्रेस जैसी सुव्यवस्थित संस्था राजनीति की अपेक्षा समाज-सुधार में प्रवृत्त हो जाए।

सुधारात्मक सिद्धान्त दण्ड के उद्देश्य की पर्याप्त व्याख्या करता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि दण्ड का सुधारात्मक दृष्टिकोण ही एकमात्र यथार्थ दृष्टिकोण है। इसके विपरीत हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कुछ अनिवार्य परिस्थितियों में, दण्ड की रोकथाम के सिद्धान्त को अपनाना समाज की प्रगति के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य हो जाता है। यद्यपि निरोधात्मक सिद्धान्त प्रजातन्त्रीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध है, तथापि जिस समाज में नैतिकता की पूर्णतया अवहेलना की जा रही हो, जहां पर व्यापार में असत्य और चोरबाज़ारी का साम्राज्य हो और जहां राज्य-अधिकारियों में रिश्वत लेना धर्म स्वीकार कर लिया गया हो, उस अवस्था में निरोधात्मक सिद्धान्त को अप-नाना ही आवश्यक होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक विकसित और सुव्यवस्थित समाज में सुधारात्मक सिद्धान्त ही अपनाया जाएगा। जब कोई समाज पूर्णतया सुसंस्कृत हो जाता है, वहां किसी प्रकार के दण्ड की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु हम यह पहले ही कह चुके हैं कि एक पूर्ण सुसंस्कृत समाज की धारणा, निरपेक्ष धारणा होने के कारण कल्पना-मात्र है। जब तक समाज सापेक्ष रूप से नैतिक है, जब तक उसमें शिक्षा की आव-श्यकता है, तब तक अपराध और अनैतिकता के लिए दण्ड निर्धारित करना आवश्यक है। ऐसी अवस्था में धीरे-धीरे दण्ड का सुधारात्मक सिद्धान्त निरोधात्मक सिद्धान्त का स्थान ले सकता है।

प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का आशय यह है कि अपराधी को यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि उसने जो अपराध किया है, वह न ही केवल दूसरों के लिए हानिकारक है, अपितु स्वयं उसके लिए भी अत्यन्त दुःख का कारण है। दूसरे शब्दों में, यह सिद्धांत अपराधी को यह चेतावनी देता है कि 'जैसी करनी वैसी भरनी।' यहां पर प्रतिशोध का अर्थ 'हत्या का बदला हत्या' नहीं है, अपितु समाज के विधान की शक्ति की स्वीकृति है। यदि किसी समाज में चोरी, मारपीट आदि जैसे अपराधों की रोकथाम के लिए नियम तो बनाए गए हों, किन्तु अपराधियों को अपराध करने के पश्चात् किसी प्रकार का दण्ड न दिया जाए, तो समाज के ऐसे नियम निरर्थक निर्देश-मात्र ही होंगे। ऐसे नियमों में किसी प्रकार के आदेश का संकेत नहीं होगा और समाज अस्तव्यस्त हो जाएगा। ईसाई धर्म में प्रतिशोध को पाप माना गया है और इसलिए दण्ड के प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त की आलोचना की जाती है। किन्तु ऐसी आलोचना इसलिए असंगत है कि ईसाई धर्म के अनुसार व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना को अवांछनीय स्वीकार किया गया है, जबकि न्यायालय के द्वारा प्रतिशोध पर आधारित दिया गया दण्ड ऐसी व्यक्तिगत भावना से मुक्त होता है। न्यायालय तो अपराधी को उसके कर्म का फल देता है और उसे यह महसूस कराने की चेष्टा करता है कि दुष्कर्म का फल दुःख है। दण्ड का यह सिद्धान्त वास्तव में दण्ड के मुख्य उद्देश्य को अभिव्यक्त करता है और विधान की सत्ता को निरपेक्ष सत्ता घोषित करता है। यदि दण्ड का उद्देश्य विधान की शक्ति को अभिव्यक्त करना है, तो यह अंशतः निरोधात्मक सिद्धान्त के द्वारा और अंशतः सुधारात्मक सिद्धान्त के द्वारा भी सिद्ध होता है। किन्तु जब तक अपराधी को यह महसूस नहीं हो जाए कि दण्ड वास्तव में विधान का प्रतिशोध है, तब तक न तो अपराधी के हृदय का परिवर्तन हो सकता है और न अन्य व्यक्ति विधान के प्रति सम्मान रखकर अपराध न करने के लिए प्रतिज्ञा कर सकते हैं। जब दण्ड को विधान का प्रतिशोध स्वीकार किया जाता है, तब स्वतः ही अन्य व्यक्ति अपराध करने से डरते हैं और अपराधी के हृदय का परिवर्तन हो जाता है। प्रतिशोध का सिद्धान्त तभी अधिक प्रभावशाली हो सकता है, जब अपराधी दण्ड को अपने कर्म का स्वाभाविक परिणाम समझ ले और पश्चात्ताप करे। इस प्रकार पश्चात्ताप उसे प्रायश्चित्त की ओर ले जाता है और उसका स्वतः ही सुधार हो जाता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दण्ड का प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त अन्य दोनों सिद्धान्तों की अपेक्षा इसलिए अधिक संगत है कि उसमें पहले दो सिद्धान्तों का स्वतः ही समन्वय हो जाता है।

दण्ड के विभिन्न सिद्धान्त यह प्रमाणित करते हैं कि मनुष्य स्वयं अपने कर्म के प्रति उत्तरदायित्व रखता है। मनुष्य के कर्म उसके संकल्प पर ही निर्भर हैं न कि बाहरी परिस्थितियों पर। इसलिए मनुष्य जो कर्म करता है, उसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व उसीपर होता है। सामान्य व्यक्ति के प्रकरण में तो यह बात शत-प्रतिशत यथार्थ मानी जा सकती है, किन्तु किसी विपरीत मस्तिष्कवाले सामान्य व्यक्ति के कर्मों को संकल्प पर

आधारित नहीं माना जा सकता । उसका असामान्य व्यवहार दण्डनीय स्वीकार नहीं किया सकता । पागल व्यक्ति के कर्म वास्तव में उसके चरित्र की अभिव्यक्ति नहीं होते, अपितु उसके मानसिक रोग का परिणाम होते हैं । उसका व्यवहार नैतिक निर्णय के अन्तर्गत इसलिए नहीं हो सकता कि वह संकल्प की स्वतन्त्रता से वंचित होता है और उसका प्रत्येक कर्म स्वच्छन्द और असम्बद्ध होता है । जब मनुष्य अपने-आपपर नियंत्रण नहीं रख सकता, उसमें संकल्प की स्वतन्त्रता नहीं होती और इसलिए उसका नैतिक उत्तरदायित्व भी नहीं हो सकता । इस दृष्टि से शराब के नशे में चूर व्यक्ति को हम उसके असामान्य व्यवहार के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी तो नहीं ठहरा सकते; किंतु यह अवश्य कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति उस नशे की अवस्था का स्वयं उत्तरदायी है, क्योंकि शराब पीना एक सविकल्पक कर्म है । नैतिक उत्तरदायित्व की इस व्याख्या के आधार पर हम मृत्युदण्ड तथा आत्महत्या की समस्याओं पर विचार कर सकते हैं ।

मृत्युदण्ड

जो व्यक्ति किसी मनुष्य की हत्या करता है, उसे न्यायालय विधान के अनुसार मृत्यु का दण्ड देता है । कुछ प्रगतिशील देशों में मृत्युदण्ड की प्रथा का अन्त कर दिया गया है, जबकि अन्य राज्यों में आज भी यह प्रथा उपस्थित है । प्रश्न यह उठता है कि मृत्युदण्ड नैतिक दृष्टि से कहां तक संगत है । विधान की दृष्टि से तो इस दंड को इसलिए स्वीकार किया जा सकता है कि यह हत्या के अपराध की रोकथाम करता है और समाज को विधान के प्रति सम्मान रखने में मदद देता है । यदि हम सुधारात्मक सिद्धान्त के आधार पर इस प्रथा का विश्लेषण करें, तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मृत्युदण्ड अनैतिक और असंगत है । यदि दण्ड का उद्देश्य अपराधी के हृदय का परिवर्तन करना एवं उसे सुधारना है, तो मृत्युदंड प्राप्त करने के पश्चात् यह कदापि संभव नहीं हो सकता । यही कारण है कि सुधारवादी दृष्टिकोण को अपनानेवाले व्यक्ति मृत्युदंड का विरोध करते हैं । यह तो सत्य है कि जो मनुष्य दूसरे की हत्या करता है अर्थात् दूसरे व्यक्ति के जीवित रहने के अधिकार को स्वीकार नहीं करता, उसे भी जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं; किन्तु हत्या का प्रतिशोध हत्या मानना असभ्यता के नियम को स्वीकार करना है । यदि प्रतिशोध का अर्थ अपराधी को यह महसूस कराना है कि हत्या का अपराध वास्तव में विधान का अपमान है और यदि उसे इस अनुभूति के द्वारा उसके हृदय के परिवर्तन के लिए पश्चात्ताप कराना है, तो भी मृत्युदंड इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता । अतः न तो सुधारात्मक सिद्धान्त और न प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त मृत्युदंड को संगत स्वीकार करता है ।

केवल निरोधात्मक सिद्धान्त के आधार पर मृत्युदंड की पुष्टि की जा सकती है । जब हत्या करनेवाले व्यक्ति को फांसी पर लटका दिया जाता है, तो अन्य व्यक्ति इस घटना से भयभीत होकर अवश्य हत्या करने से संकोच करते हैं । किन्तु निरोधात्मक

सिद्धान्त केवल ऐसे समाज में लागू किया जा सकता है, जो सर्वथा असभ्य हो और जिसमें कोमलहृदयता और प्रेम की भावना का सर्वथा अभाव हो। यह सिद्धान्त दो हज़ार वर्ष पूर्व के समाज में भले ही वांछनीय स्वीकार किया गया हो, किन्तु वर्तमान समय में इस सिद्धान्त के आधार पर मृत्युदंड को संगत मानना मनुष्य के सांस्कृतिक विकास का अपमान करना है। यदि मनुष्य एक विचारशील प्राणी है और यदि शिक्षा के द्वारा उसकी तर्कात्मक प्रवृत्ति को प्रेरित किया जा सकता है, तो कोई कारण नहीं कि एक हत्यारे के मन को परिवर्तित करने के लिंए, उसे मृत्युदंड न देकर, उसके हृदय को परिवर्तित न किया जाए। यह एक भ्रान्त धारणा है कि मृत्युदंड को समाप्त करने से हत्या के अपराध में वृद्धि हो जाएगी। जिन देशों में इस प्रथा का अन्त कर दिया गया है, वहां पर इस अपराध में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई। विश्व के विख्यात विचारक और राजनीतिज्ञ यह अनुभव कर रहे हैं कि मृत्युदंड को मानव-समाज में समाप्त कर दिया जाए। अतः यह संभव है कि निकट भविष्य में विश्व के सभी राज्यों में मृत्युदंड का अन्त हो जाएगा। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक हमें कोई अधिकार नहीं कि हम मानव-समाज को सभ्य, सुसंस्कृत और नैतिक दृष्टि से पशुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ मानें।

आत्महत्या

मृत्युदंड की भांति आत्महत्या भी एक नैतिक समस्या है। यदि किसी व्यक्ति को दूसरे के जीवन का अन्त करने का कोई अधिकार नहीं, तो उसे आत्महत्या के द्वारा अपने जीवन को समाप्त करने का अधिकार है, यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। जीवन एक प्रकृति की देन है और उसका सदुपयोग करना ही मानव-मात्र का परम कर्तव्य है। यदि कोई व्यक्ति इस कर्तव्य से विमुख होने के लिए आत्महत्या करता है, तो उसे अपराधी ही स्वीकार किया जाएगा। यही कारण है कि विधान की दृष्टि में भी आत्महत्या को एक अपराध माना गया है। कुछ लोगों का कहना है कि जब कोई व्यक्ति ऐसी दुःखद परिस्थितियों में जीवन व्यतीत कर रहा हो कि उन परिस्थितियों से निकलने का कोई भी उपाय सामने न हो, तो आत्महत्या के द्वारा दुःख से छुटकारा पाना उस व्यक्ति के लिए वांछनीय स्वीकार करना चाहिए। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति क्षय-रोग की अन्तिम अवस्था में ग्रस्त है और उसकी मृत्यु निश्चित है; यदि वह दु.ख से मुक्त होने के लिए आत्महत्या करता है, तो उसके इस कर्म को अनैतिक नहीं कहना चाहिए। चिकित्सा-आचार के नियमों के अनुसार, ऐसे व्यक्ति को शान्तिपूर्वक मरने देना संगत समझा जाता है। किन्तु गम्भीर विचार करने पर हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्महत्या को कदापि नैतिक नहीं माना जा सकता।

प्रायः यह देखा गया है कि जिस प्रकार की परिस्थितियों से भयभीत होकर एक व्यक्ति आत्महत्या कर बैठता है, वैसी ही परिस्थितियों में एक दूसरा साहसी व्यक्ति जीवन से संघर्ष करता हुआ परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है। परिस्थितियों के

कारण जीवन को त्याग देना निस्सन्देह कायरता और पलायनवादिता है। दुःखद से दुःखद परिस्थितियों में भी साहसी व्यक्ति दृढ़ संकल्प से विजयी हो सकता है। महान व्यक्तियों के जीवन में सदैव ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हुई हैं, जिनमें कि एक साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति आत्महत्या के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता; किन्तु महापुरुषों ने सदैव ऐसी परिस्थितियों का डटकर सामना किया है, और वे जीवन में सफल रहे हैं। आत्महत्या का संकल्प निस्सन्देह व्यक्ति की दुर्बलता और निराशावाद का प्रतीक है। जब तक मनुष्य में जीने की शक्ति है, उस समय तक परिस्थितियों से संघर्ष करते रहना ही उच्चतम और सराहनीय आदर्श है।

रोग की अवस्था में भी, निराश होकर आत्महत्या करना कायरता का चिह्न है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान ने चिकित्सा के क्षेत्र में यह सिद्ध कर दिया है कि मानसिक शक्ति और दृढ़ संकल्प जीवन को लम्बा कर सकते हैं और भयंकर से भयंकर रोग के कीटाणुओं से सफलतापूर्वक संघर्ष कर सकते हैं। इस अवस्था में रोग के कारण आत्महत्या का संकल्प करना निस्सन्देह नैतिकता से च्युत होना है। साहस, वीरता और धैर्य से शारीरिक व मानसिक दुःख का सहन करना एक ऐसा आध्यात्मिक व्यायाम है, जो मनुष्य में दिव्य शक्ति उत्पन्न कर देता है। संकल्पशक्ति सहसा आकाश से उतरकर व्यक्ति में उपस्थित नहीं हो जाती, अपितु वह हर प्रकार के दुःख को सहन करने से धीरे-धीरे पनपती है। कोई भी व्यक्ति जन्म से शूरवीर तथा हर प्रकार की परिस्थितियों में सफलता प्राप्त करनेवाला नहीं होता। कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी विजय प्राप्त करनेवाले व्यक्ति का रहस्य यह होता है कि उसने जीवनकाल में दुःखों को सहन करके आध्यात्मिक प्रशिक्षा प्राप्त की होती है। यही कारण है कि प्रत्येक अध्यात्मवादी सिद्धान्त में तपश्चर्या को अनन्त शक्ति प्राप्त करने का साधन माना गया है। शारीरिक पीड़ा को सहन न करके मृत्यु का आश्रय लेना मन और आत्मा की दुर्बलता प्रकट करना है। अतः रोग की अवस्था में भी न ही केवल नैतिक दृष्टि से, अपितु जीवन को बनाए रखने की दृष्टि से भी आत्महत्या का संकल्प सर्वथा अवांछनीय और अनैतिक है।

जहां तक सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों से त्रस्त होकर आत्महत्या करने का प्रश्न है, कोई भी सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति ऐसे कर्म को नैतिक स्वीकार नहीं करेगा। यद्यपि दुःखांत प्रेम की कहानियां रोचक होती हैं, तथापि कोई भी व्यक्ति आत्महत्या करनेवाले प्रेमी के कर्म को नैतिक नहीं कहता। जीवन एक विस्तृत क्षेत्र है और उसके द्वारा अनेक मूल्यों की अनुभूति की जा सकती है। इस विस्तृत जीवन में उतार-चढ़ाव, जय-पराजय, सफलता और असफलता सदैव अनुभूत किए जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति केवल एक ही घटना में असफलता प्राप्त करके जीवन को समाप्त करने का संकल्प कर लेता है, तो वह भविष्य में आनेवाले अनेक ऐसे स्वर्ण अवसरों की ओर से आंखें मूंद लेता है, जिनके प्राप्त करने पर उसके और उससे सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों के जीवन का विकास हो सकता है। आत्महत्या का संकल्प करनेवाला व्यक्ति मानव की श्रेष्ठता

और मानव-जीवन के उदात्त मूल्यों—सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का अपमान करके बुद्धिहीनता का प्रदर्शन करता है। मानवीय मूल्यों, कला-कौशल, संगीत-विज्ञान आदि जैसी मानवीय सफलताओं और सुविधाओं से विमुख होकर आत्महत्या का संकल्प करना संकुचित-हृदयता, मानसिक दुर्बलता, विचारशून्यता और कल्पनाशक्ति के अभाव का चिह्न है। अतः आत्महत्या नैतिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टि से सर्वथा असंगत और अवांछनीय है।

आत्महत्या के सम्बन्ध में धार्मिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डालना भी नितान्त आवश्यक है। जहां तक पश्चिमीय आचार-विज्ञान का सम्बन्ध है, धार्मिक दृष्टिकोण किसी प्रकार की आत्महत्या को प्रश्रय नहीं देता। भारत में कुछ परिस्थितियों में आत्महत्या को धार्मिक स्वीकृति दी जाती थी। उदाहरणस्वरूप, मध्यकाल में सती की प्रथा को धार्मिक माना जाता था। यदि हम वेदों तथा पुराणों का गम्भीर अध्ययन करें, तो हमें कहीं भी सती-प्रथा का चिह्न नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल में विदेशियों के आक्रमणों के कारण, स्त्रियों ने अपनी पवित्रता की रक्षा करने के लिए हंसते-हंसते मृतक पति की चिता पर भस्म हो जाने को दुराचार के जीवन से श्रेष्ठ समझा। इस प्रकार मृत्यु का आलिंगन करना निस्सन्देह साहस और वीरता का द्योतक है; किन्तु यदि हम निरपेक्ष नैतिकता के मापदण्ड से इस कर्म का मूल्यांकन करें, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि यह उदात्त आत्म-हत्या नैतिक नहीं कही जा सकती। यही कारण है कि आगे चलकर सती-प्रथा का अत्यन्त दुरुपयोग हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी तक सहस्रों निर्दोष युवतियों को बलपूर्वक जीवित जला दिया गया। राजा राममोहन राय जैसे सुधारकों के अथक प्रयत्नों से इस अनैतिक प्रथा को अवैध बना दिया गया। वास्तव में यह प्रथा एक आकस्मिक परम्परा-सी बन गई थी और इसे किसी प्रकार की धार्मिक स्वीकृति प्राप्त नहीं थी।

भारतीय धार्मिक सिद्धान्तों में केवल जैन धर्म ही ऐसा सिद्धान्त है, जो एक प्रकार की आत्महत्या को मोक्ष का साधन मानता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैनवाद तपस्या के द्वारा कर्म-बन्धन से मुक्त होने को धार्मिक स्वीकार करता है। इस तपश्चर्या में अन्न का त्याग एक मुख्य साधन माना जाता है। जैन धर्म का जो अनुयायी मृत्यु से पूर्व अन्न तथा जल का त्याग कर देता है और इस प्रकार अपनी शारीरिक शक्ति को धीरे-धीरे क्षीण करके मृत्यु को प्राप्त होता है, उसे महान तपस्वी स्वीकार किया जाता है। ऐसी तपस्या को जैनवाद में संथारा कहा जाता है। आज भी अनेक जैन साधु संथारा ग्रहण करते हैं और लाखों जैन श्रावक ऐसे अवसरों पर संथारा ग्रहण करनेवाले साधु के दर्शनों के लिए दूर-दूर से एकत्र होते हैं और अपने-आपको धन्य मानते हैं। यही कारण है कि अनेक पश्चिमीय दार्शनिक जैनवाद की आलोचना करते हुए उसे निराशावादी और अनैतिक सिद्धांत घोषित करते हैं।

उनकी यह धारणा अशंतः सत्य और अशंतः असत्य है। जहां तक मोक्ष का सम्बन्ध है, प्राण और शरीर को लक्ष्य न मानकर साधन ही स्वीकार किया जाता है। मोक्षप्राप्ति का

अर्थ अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति को प्राप्त करना है। जो व्यक्ति इस मार्ग पर चलता है, उसके लिए शारीरिक और जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताएं कोई अर्थ नहीं रखतीं। आध्यात्मिक अनुशासन एवं तपश्चर्या के द्वारा जब एक साधक जीवनमुक्ति की अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो एक अलौकिक शक्ति के कारण, उसे भी भौतिक भोजन की आवश्यकता नहीं रहती और वह न ही केवल ज्ञानेन्द्रियों और मन पर नियंत्रण कर लेता है, अपितु प्राणों को त्यागना व न त्यागना भी उसकी इच्छाशक्ति के अधीन हो जाता है। ऐसी अवस्था को प्राप्त करनेवाला योगी, जरा-मरण आदि से ऊपर उठ जाता है और उसके लिए शारीरिक मृत्यु का अर्थ वास्तविक रूप में अमरत्व को एवं सर्वज्ञता को प्राप्त करना हो जाता है। किन्तु ऐसे जीवन्मुक्त व्यक्ति संसार में बहुत कम होते हैं। यदि वास्तव में कोई जैन साधु जीवन्मुक्त हो चुका हो और योग की अवस्था में प्राण त्यागने की क्षमता रखता हो, तब तो उसमें अलौकिक शक्तियां भी उपस्थित होंगी और वह सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी होगा। ऐसे व्यक्ति के लिए प्राणों का त्यागना आत्महत्या नहीं कहा जा सकता। आधुनिक युग में, विशेषकर जैन मत के अनुसार, आमरण व्रत रखनेवालों में ऐसी अलौकिक शक्ति की उपस्थिति नहीं होती। इसलिए जिस अपूर्ण रीति से जैन लोग संथारा करते हैं, उसमें यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर अधिक होता है। इस प्रकार की मृत्यु में, मरनेवाले व्यक्ति की ख्याति भले ही हो जाती हो, किन्तु न तो हम इसे जीवन्मुक्ति कह सकते हैं और न ऐसे कर्म को नैतिक माना जा सकता है। यही कारण है कि पश्चिमीय विद्वान जैनवाद को निराशावादी सिद्धान्त मानते हैं और यह घोषित करते हैं कि जैनवाद के अनुसार, जीवन के स्थान पर मृत्यु और विकास के स्थान पर स्थिति को ही आदर्श माना जाता है। मिसेज़ स्टीवेन्सन ने अपनी पुस्तक 'जैनवाद का हृदय' (The Heart of Jainism) में जैन सिद्धान्त की पूरी व्याख्या करने के पश्चात् और उसके सूक्ष्म आचार-विज्ञान के विश्लेषण के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि जैनवाद का हृदय रिक्त है और उसमें अहिंसा होते हुए भी भ्रातृभाव और अनुकम्पा की कमी है। यद्यपि मिसेज़ स्टीवेन्सन की यह आलोचना उसके ईसाई-सम्बन्धी पक्षपात पर आधारित दृष्टिकोण को प्रकट करती है, तथापि यह सत्य है कि आज भी जैन सिद्धान्तों को व्यावहारिक बनाने के लिए परिवर्तित करने की आवश्यकता है।

युद्ध और नैतिकता

दण्ड के सिद्धान्तों से सम्बन्धित वर्तमान अध्याय को समाप्त करने से पूर्व युद्ध की समस्या की नैतिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक है। मनुष्य ने सहस्रों वर्षों की अवधि में जिस सभ्यता का विकास किया है, वह वर्तमान युग में मानवीय संस्कृति की पराकाष्ठा प्रतीत होती है। मानव-समाज आज इतना सुसंस्कृत और विकसित हो चुका है कि मनुष्य में पाशवी प्रवृत्तियों का अस्तित्व दिखाई ही नहीं देता। कला, विज्ञान, साहित्य, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजनीति के क्षेत्र में मानव ने एक अद्वितीय प्रगति

की है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह प्रकृति पर पूर्ण विजय शीघ्र ही प्राप्त करनेवाला है। मनुष्य का रहन-सहन, उसकी वेश-भूषा, उसका भोजन, उसका सौंदर्य-प्रेम, संक्षेप में उसकी सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की अनुभूति निस्सन्देह उसे सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुंचा चुकी है। किन्तु खेद की बात यह है कि यह उदार, सभ्य, विचारशील सामाजिक प्राणी ऐसी अद्वितीय उन्नति के पश्चात् भी अपनी लड़ाई की प्रवृत्ति को न तो आज तक परिवर्तित कर सका है और न उसका शोध कर सका है। जब मनुष्य की लड़ने की प्रवृत्ति प्रेरित हो जाती है, तो उसके सभी सद्‌गुण हवा हो जाते हैं, उसकी नैतिकता का अन्त हो जाता है और वह न्यूनतम पाशवी स्तर पर उतर आता है। उसकी यही प्रवृत्ति आज भी विश्व में सैनिक संघर्षों का कारण बनी हुई है। आज भी हमारे उन्नत समाज में लड़ने की प्रवृत्ति का लोप नहीं हुआ। अंग्रेज़ी भाषा के विख्यात साहित्यिक और दार्शनिक फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) ने अपने निबन्ध 'युद्ध' (War) में मनुष्य की लड़ने की प्रवृत्ति का सुन्दर विवेचन दिया है।

उसके इस विवेचन का उल्लेख करना नैतिक दृष्टि से उपयोगी होगा। बेकन के शब्दों में, "मनुष्य में लड़ने की प्रवृत्ति एक प्रधान मूल प्रवृत्ति है। यदि उनके पास लड़ने का कोई कारण भी न हो, तो भी वे शब्दों को लेकर अथवा स्त्रियों के लिए युद्ध करेंगे अथवा वे इसलिए एक-दूसरे से युद्ध करेंगे कि उनके मार्ग एक-दूसरे से विपरीत हैं।"[१] बेकन के ये शब्द वर्तमान युग में भी शत-प्रतिशत यथार्थ प्रमाणित होते हैं। आज भी मानव अपनी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को अहिंसात्मक रीति से सुलझाने में असमर्थ प्रमाणित हो रहा है। पिछले दो महायुद्धों में, असंख्य निर्दोष मनुष्यों का निर्दयता से संहार हुआ है और अनन्त सम्पत्ति को नष्ट किया गया है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की लड़ने की प्रवृत्ति ने जनसंहार और सम्पत्ति के क्षय के द्वारा मानव के जीवन तथा संपत्ति-सम्बन्धी मूल अधिकारों का दमन किया है। असंख्य बालकों को अनाथ और स्त्रियों को विधवा बनाने का श्रेय भी इन्हीं युद्धों को प्राप्त है। अतः यह स्पष्ट है कि युद्ध मनुष्य की बर्बरता और अनैतिकता का प्रतीक है। इस तथ्य में मतभेद नहीं हो सकता कि युद्ध नैतिक दृष्टि से सर्वथा असंगत और अवांछनीय है।

युद्ध की अवांछनीयता तथा असंगतता को स्वीकार करते हुए विश्व के राजनीतिज्ञों ने बीसवीं शताब्दी में ही अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना की है। पहले महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रों की सभा (League of Nations) की स्थापना की गई थी और दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात्, संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations Organisation) की नींव डाली गई। यद्यपि पहली संस्था विश्वशान्ति के उद्देश्य में असफल रही, तथापि

१. "To fight is a radical instinct in man. If men have nothing else to fight over, they would fight over words or women; or they would fight because they have found each other walking in opposite direction."

दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था काफी समय तक शान्ति स्थापित करने और अन्तर्राष्ट्रीय भावना को जागरित करने में सफल हुई है और हो रही है। ऐसी संस्था के प्रति सम्मान रखना विश्व के प्रत्येक नागरिक का प्रथम कर्तव्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जितनी सफलता संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अभी तक प्राप्त की है, वह आज तक किसी भी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने प्राप्त नहीं की। इसकी सफलता के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें से मुख्य कारण यह भी है कि आज विश्व का जनसाधारण यह जानता है कि अणुबम जैसे विध्वंसक शस्त्रों की उपस्थिति में युद्ध का अर्थ सर्वनाश भी है। इस अवस्था में मानव-मात्र को एक सूत्र में बांधना और व्यक्ति तथा समाज के अभिन्न सम्बन्ध पर बल देना ही युद्ध से निवृत्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। इसलिए अगले अध्याय में हम समाज तथा व्यक्ति (Society and individual) के परस्पर-सम्बन्ध के विषय को लेकर नैतिकता की विभिन्न समस्याओं पर पुनः प्रकाश डालेंगे। ऐसे अध्ययन के पश्चात् ही हम नैतिक सिद्धान्तों के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध की व्याख्या भी कर सकते हैं और यह जान सकते हैं कि व्यक्ति का अपने समाज में क्या विशेष स्थान है और उसका क्या कर्तव्य है।

चौदहवां अध्याय

व्यक्ति तथा समाज

(Individual and Society)

यद्यपि नैतिक जीवन की धारणा मनुष्य की विचारशीलता का परिणाम है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि नैतिक आदर्शों का प्रतिपादन सामाजिक आवश्यकता का परिणाम है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज के प्रति जो उत्तरदायित्व रखता है, वह वैधानिक उत्तरदायित्य न होकर एक सामाजिक उत्तरदायित्व है। मनुष्य के कर्तव्य तथा अधिकार सामाजिक दृष्टि से ही महत्त्व रखते हैं और समाज से ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार सद्गुण भी समाज से ही सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि वे व्यक्तिगत चरित्र के विकास का आधार हैं, तथापि उनका उद्देश्य व्यक्ति को समाज के कल्याण के लिए संतुलित जीवन व्यतीत करने की योग्यता प्रदान करना है। न ही केवल इतना, अपितु समस्त नैतिक जीवन और नैतिक सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज के समन्वय का साधन हैं। नैतिक सिद्धान्तों में प्रतिपादित आदेश ऐसे आदेश हैं, जिनका पालन करने से व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण होता है। प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक समय तक प्रत्येक देश में एवं सुसंस्कृत समाज में जितने भी नैतिक नियम एवं सद्व्यवहार के सिद्धान्त लागू किए गए हैं, उन सभीका उद्देश्य व्यक्ति को समाज के प्रति और समाज को व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी बनाना था।

यदि हम सामाजिक तथा नैतिक विकास के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो हम यह देखेंगे कि आरम्भ में जिस प्रकार की नैतिकता एवं नैतिक निर्णय का विकास हुआ, वह पूर्णतया सामाजिक नैतिकता थी। प्राचीन समय में जबकि लोग उपजातियों एवं कबीलों में रहते थे, अपने-आपको समुदाय का अंग मानते थे। उनकी नैतिकता सर्वथा सामुदायिक नैतिकता थी। व्यक्ति समुदाय की परम्पराओं के प्रति इतना आदर रखता था कि वह इनके भंग करने की अपेक्षा मृत्यु को प्राप्त करना अधिक वांछनीय समझता था। उस समय मनुष्य असभ्य अवश्य था, किन्तु समुदाय के प्रति उसकी अनन्य श्रद्धा थी। वह अपने घर, अपनी पत्नी तथा अपने भोजन का त्याग कर सकता था, किन्तु समुदाय के नियमों को भंग नहीं कर सकता था। यही सामुदायिक नैतिकता धीरे-धीरे रीति-रिवाज में परिवर्तित हो गई। विद्वानों का कहना है कि इन रीति-रिवाजों में से वे रीति-रिवाज, जोकि समाज के कल्याण के लिए उपयोगी थे, स्थिर होते गए और अनुपयोगी रीति-रिवाज

धीरे-धीरे लुप्त हो गए। किन्तु रीति-रिवाज की नैतिकता का स्तर भी एक बीच का स्तर था। उसके पश्चात् नैतिकता का आधार विधान बन गया। व्यवहार के नियंत्रण के लिए रीति-रिवाज के स्थान पर विधान को ही स्वीकार किया गया है। रीति-रिवाज के स्तर पर यह आदेश था कि कोई व्यक्ति समाज के नियमों का उल्लंघन नहीं करता। क्योंकि ऐसे उल्लंघन का अर्थ समाज से पृथक् होना था और व्यक्ति समाज से अभिन्न था। विधान के स्तर पर सत्-असत् का भेद अधिक स्पष्ट हो गया और आदेश का यह अर्थ हो गया कि किसी भी व्यक्ति के लिए अमुक अनैतिक कार्य करना असंगत है। विधान के द्वारा सद्-व्यवहार को आदेश माना गया और उसके भंग करने का अर्थ शारीरिक दण्ड माना गया। किन्तु इस विधान के स्तर से भी ऊपर नैतिक नियम एवं नैतिक विधान के स्तर को स्वीकार किया गया। देश के वैधानिक नियम का सम्बन्ध समाज-कल्याण से सम्बन्धित बाह्यात्मक कर्म से था, जबकि नैतिक विधान का सम्बन्ध व्यक्ति के उद्देश्यों, प्रेरकों तथा चरित्र से स्थापित किया गया। नैतिक नियमों के पालन करने से समाज का विकास होता है। ईसाई धर्म के दस आदेश इसी प्रकार के नैतिक नियमों का उदाहरण हैं। उदाहरण-स्वरूप, "तुम लोभ नहीं करोगे"[१]; "तुम चोरी नहीं करोगे"[२] आदि। ज्यों-ज्यों नैतिक चेतना का विकास होता गया, नैतिक निर्णय में बाह्यात्मक कर्म तथा मन के आन्तरिक भाव दोनों पर नैतिक निर्णय देते समय बल दिया गया। नैतिक नियमों एवं आदेशों में भी परस्पर संघर्ष हुआ और इस प्रकार नैतिक संघर्ष की अवस्था उत्पन्न हुई।

यह अवस्था विकसित समाज में ही उत्पन्न हुई। प्राचीन समाज में तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य सभ्य समाज की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता था, किन्तु जब रीति-रिवाज के स्थान पर नैतिक नियम को अपनाया गया और जब मनुष्य के समाज में अनेक स्थान निर्धारित हुए, तभी नैतिक संघर्ष की अवस्था उत्पन्न हुई। एक सभ्य समाज में मनुष्य को पिता के नाते, सैनिक के नाते तथा न्यायाधीश के नाते अनेक अवस्थाओं में यह निर्णय देना पड़ा कि विशेष अवसर पर क्या सत् है और क्या असत् है। जब प्राचीन सभ्य समाज में इस प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हुईं, तो अन्तःकरण को ही प्रमाण स्वीकार किया गया। उदाहरणस्वरूप, जब दुष्यन्त ने महर्षि कण्व के आश्रम में अपने-आपको शकुन्तला के प्रति आकर्षित होने की अवस्था में पाया, तो उसको यह सन्देह हुआ कि क्या एक क्षत्रिय होने के नाते वह ऋषि-कन्या शकुन्तला से विवाह कर सकेगा। उसके मन में यह सन्देह इसलिए उत्पन्न हुआ कि वह क्षत्रिय होने के कारण ब्राह्मण की कन्या से विवाह नहीं कर सकता था। उसने इस सन्देह का निर्णय अपने अन्तःकरण के आधार पर दिया। कालिदास ने दुष्यंत के मन की इस अवस्था का वर्णन देते हुए और अन्तःकरण का महत्त्व बतलाते हुए अपने विख्यात नाटक 'शकुन्तला' में लिखा है :

---

१. "Thou shalt not covet."
२. "Thou shalt not steal."

"सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु,
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।"

अर्थात् "सन्दिग्ध स्थलों में सज्जनों का अन्तःकरण ही प्रमाण हाता है।" दुष्यंत के अन्तःकरण ने उसे यथार्थ मार्ग बतलाया और अन्त में शकुन्तला एक अप्सरा की पुत्री सिद्ध हुई। किन्तु आधुनिक समाज में इस प्रकार के संघर्ष का समाधान अन्तःकरण की अपेक्षा तर्क द्वारा ही किया जाता है और तर्क को ही नैतिक निर्णय का एकमात्र आधार माना जाता है। दूसरे शब्दों में, नैतिक निर्णय का जन्म सामाजिक वातावरण में एवं समुदाय में हुआ और सामाजिक कल्याण ही उसका आधार माना गया। किन्तु नैतिकता के विकास में यह निर्णय परम्परा से, प्राकृतिक नियम से, नैतिक नियम से गुज़रता हुआ अन्त में तर्कात्मक नियम पर ही आधारित माना गया। इस प्रकार सामाजिक नैतिकता एवं परम्परागत नैतिकता धीरे-धीरे वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता में परिवर्तित हो गईं। नैतिकता एवं नैतिक निर्णय के विकास का यह इतिहास व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है और हमें यह बताता है कि नैतिकता किस प्रकार बाह्यात्मक स्तर से अन्तरात्मक स्तर तक पहुंची है। यद्यपि वैयक्तिक नैतिकता का अर्थ यह नहीं कि नैतिक आदर्श सामाजिक कल्याण की अवहेलना करता है, तथापि इस परिवर्तन ने व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को एक नवीन रूप दिया है। इस नवीन व्यष्टि-समष्टि के सम्बन्ध की व्याख्या करने से पूर्व उन उपाधियों एवं परिस्थितियों का उल्लेख करना नितान्त आवश्यक है, जोकि सामाजिक नैतिकता को वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता में परिवर्तित करने में सहायक सिद्ध हुई हैं। ऐसी उपाधियों के अध्ययन के पश्चात् ही हम व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध तथा उस सम्बन्ध से उत्पन्न नैतिक समस्याओं को भली भांति समझ सकेंगे। इन परिस्थितियों का अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि नैतिकता का यह परिवर्तन अथवा विकास व्यक्ति तथा समाज, दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध हुआ है। जिन उपाधियों एवं परिस्थितियों ने सामाजिक नैतिकता को वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता में परिवर्तित होने के लिए योग दिया है, वे निम्नलिखित हैं :

(१) आर्थिक परिस्थितियां
(२) राजनीतिक परिस्थितियां
(३) युद्ध
(४) वैज्ञानिक उन्नति
(५) कला और साहित्य

आर्थिक परिस्थितियां

प्राचीन समय में जब मनुष्य का मुख्य व्यवसाय कृषि था, अथवा वह शिकार के द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करता था, उसके लिए समूह में रहना आवश्यक था। ऐसी

परिस्थितियों में सामुदायिक नैतिकता का प्रभुत्व होना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य था। किसी प्रकार के यन्त्रोंकी अनुपस्थिति में मनुष्यों का परस्पर-सहयोग आवश्यक था और समुदाय की आर्थिक दशा केवल समुदाय पर ही निर्भर थी। व्यक्ति को ऐसा अवसर ही प्राप्त नहीं होता था कि वह अपने-आपको समुदाय की अपेक्षा अधिक महत्त्व दे। इसलिए वैयक्तिक नैतिकता को पनपने का कोई अवसर प्राप्त न था। औद्योगिक विकास तथा औद्योगिक क्रांति के पश्चात्, जबकि अपने व्यक्तित्व की विशेषता के कारण प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक होड़ में प्रवृत्त हो गया, तो सामुदायिक रीति-रिवाजों को भंग करके वैयक्तिक नैतिकता का अनुसरण करना आवश्यक हो गया। आधुनिक युग में जबकि मनुष्य की अपेक्षा यन्त्र अधिक सफलता से उत्पादन कर सकता है, व्यक्ति को समाज के सहयोग की इतनी आवश्यकता नहीं रही है, जितनी कि प्राचीनकाल में थी। इसके विपरीत एक बुद्धिमान व्यक्ति के लिए, समाज से पृथक् होकर बुद्धि के बल पर नवीन योजनाओं का प्रतिपादन करके यन्त्रों की सहायता से पूंजी का स्वामी बनना एक सरल बात हो गई है। आधुनिक युग निस्संदेह आर्थिक सभ्यता का युग है और धन की सहायता से सभी सांसारिक कार्यों में सफलता प्राप्त हो सकती है। इसलिए प्राचीन सामुदायिक नैतिकता का लोप होता चला जा रहा है, और वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता को प्रोत्साहन मिल रहा है। यह सत्य है कि आर्थिक कारणों से लोग ग्रामों को छोड़कर बड़े-बड़े नगरों में निवास कर रहे हैं और ग्राम्य जीवन की सरलता, स्वच्छता, सहानुभूति तथा प्रेम का सर्वत्र अभाव हो रहा है। यही कारण है कि नगरों में एक व्यक्ति, जो नीचे की मंज़िल पर रहता है, यह नहीं जानता कि उसी घर में ऊपर की मंज़िल पर रहनेवाले व्यक्ति का क्या नाम है। इस प्रकार आधुनिक आर्थिक परिस्थितियां मनुष्य को अधिक से अधिक वैयक्तिक बना रही हैं। यही कारण है कि आर्थिक परिवर्तनों ने, सामुदायिक नैतिकता की अपेक्षा वैयक्तिक नैतिकता को अधिक प्रश्रय दिया है।

राजनीतिक परिस्थितियां

जब हम वर्तमान युग की राजनीतिक परिस्थितियों और राजनीतिक प्रथाओं की, प्राचीन काल की राजनीतिक परिस्थितियों और प्रथाओं से तुलना करते हैं, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विश्व के प्रत्येक राष्ट्र ने राजनीतिक परिवर्तनों में भी सामुदायिक नैतिकता को भंग करके तर्कात्मक नैतिकता को प्रोत्साहन दिया है। प्राचीन समय में जबकि प्रजातन्त्र के स्थान पर एकछत्र राज्य था और राजा को ही समुदाय का एकमात्र नेता और नियन्ता माना जाता था, कोई भी व्यक्ति न तो स्वतन्त्र विचार कर सकता था और न परम्पराओं को असंगत कह सकता था। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अभाव से न तो सामाजिक स्वतन्त्रता थी और न किसी व्यक्ति में समाज के रुढ़िवाद को भंग करने का साहस था। किन्तु राजनीतिक क्रांति के कारण, जब मनुष्य की स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकृत किया गया और जब रूसो जैसे क्रांतिकारी विद्वानों ने समानता

(Equality), स्वतन्त्रता (Liberty) और भ्रातृत्व (Fraternity) का उद्घोष किया, तो मानव-समाज में एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई और रूढ़िवादी प्रथाओं को भंग करके व्यक्ति के सम्मान को वृद्धि दी गई। राजनीतिक स्वतन्त्रता ने सामाजिक और नैतिक स्वतन्त्रता का मार्गदर्शन किया।

राजतन्त्र के स्थान पर प्रजातन्त्र के स्थापित होने से प्रत्येक व्यक्ति को उच्चतम पद प्राप्त करने का अवसर मिला और इस प्रकार व्यक्तित्व को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्रीय शासन में यह आवश्यक है कि प्रजा मतदान के द्वारा किसी योग्य व्यक्ति को बिना जाति-धर्म और लिंग के भेदभाव के प्रतिनिधि निर्वाचित करे। इसलिए प्रजातन्त्र ने जातिवाद तथा उससे सम्बन्धित अन्य रुढ़िवादी परम्पराओं पर आघात किया है और इस प्रकार सामुदायिक नैतिकता का अन्त करने में सहायता दी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रजातन्त्र के अतिरिक्त अन्य नवीन राजनीतिक संस्थाओं ने समाज एवं समूह को महत्त्व अवश्य दिया है। साम्यवाद में तो व्यक्ति को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है और समाज को ही निरपेक्ष रूप से सत्ता प्रदान की गई है। किन्तु साम्यवाद जैसी क्रांतिकारी राजनीतिक शैली में, धार्मिक तथा सामाजिक बन्धनों को सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान समय की राजनीतिक परिस्थितियों ने सामुदायिक नैतिकता के अन्त करने में विशेष योग दिया है।

युद्ध

यदि हम विश्व के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि युद्ध ने सदैव सामुदायिक नैतिकता को वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता में परिवर्तित करने में सहायता दी है। सर्वप्रथम हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्राचीन काल में जब युद्ध होता था, तो उसमें एक व्यक्ति के आधिपत्य की आवश्यकता रहती थी। युद्ध का अर्थ सेनाओं का संघर्ष है और सेना के नेतृत्व के लिए एक सेनापति अथवा राजा की आवश्यकता रहती है। यही कारण है कि इतिहास में जब-जब भी अशान्ति उत्पन्न हुई है, उसी समय व्यवस्था को बनाए रखने के लिए शक्तिशाली एकछत्र राज्य की स्थापना अनिवार्य रूप से हुई है। न ही केवल प्राचीन काल में, अपितु वर्तमान समय में भी युद्ध के समय, युद्ध में भाग लेनेवाले प्रत्येक राज्य को दलबन्दी त्यागकर एक ही नेता के हाथ में राष्ट्र की बागडोर संभाल देनी पड़ती है। ऐसे समय में प्रजातन्त्रीय शासन में भी सबसे योग्य और दृढ़ संकल्पवाले व्यक्ति को ही नेता निर्वाचित किया जाता है। इस प्रकार युद्ध वैयक्तिक उत्थान को प्रश्रय देता है।

जब दो राष्ट्रों में परस्पर युद्ध होता है, तो विजेता तथा पराजित संस्कृतियों का परस्पर आदान-प्रदान होता है। इस आदान-प्रदान में सामाजिक तथा नैतिक धारणाओं का परिवर्तित होना स्वाभाविक हो जाता है। यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर

आधुनिक समय तक, वे देश ही नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रगतिशील प्रमाणित हुए हैं, जिनको अनेक बार युद्धों में प्रवृत्त होना पड़ा है। जो देश प्राकृतिक एवं भौगोलिक विशेषताओं के कारण सुरक्षित रहे हैं और युद्ध के द्वारा अन्य देशों के सम्पर्क में कम आए हैं, उन देशों में आज तक भी रूढ़िवाद और प्राचीन सामाजिक परम्पराएं उपस्थित हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे देशों में, प्राचीन संस्कृति के उत्कृष्ट तत्त्व भी सुरक्षित रहे हैं। उदाहरणस्वरूप, भारतीय संस्कृति की निरन्तरता और सुरक्षा का मुख्य कारण यही है कि यूरोपीय देशों की तुलना में, भारत में विदेशों से कम युद्ध हुए हैं। भारत की भौगोलिक स्थिति ने निस्सन्देह उसकी प्राचीन सभ्यता को बनाए रखा है। इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि इस बीसवीं शताब्दी में जबकि प्रगतिशील देश, अन्य नक्षत्रों तक पहुंचने की चेष्टा कर रहे हैं और विश्व का मानव एक सूत्र में बंधकर, मानवता को ही एकमात्र समुदाय प्रमाणित करने की चेष्टा कर रहा है, भारत में आज भी जाति-उपजाति का परस्पर पार्थक्य और अन्तर्जातीय विवाह करने पर बहिष्कार और प्रतिबन्ध जैसी रूढ़िवादी प्रथाएं प्रचलित हैं। पिछले दो विश्वयुद्धों ने भी यह प्रमाणित किया है कि सामुदायिक नैतिकता को भंग करने में और तर्कात्मक नैतिकता को प्रश्रय देने में युद्ध ने विशेष योग दिया है।

वैज्ञानिक उन्नति

विश्व की घटनाओं की व्यवस्थित, विधियुक्त तथा पूर्ण व्याख्या करना विज्ञान का उद्देश्य है। दूसरे शब्दों में, विज्ञान प्रकृति एवं विश्व का ऐसा व्यवस्थित और यथार्थ ज्ञान है, जो घटनाओं में कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित करके प्रकृति के रहस्य की व्याख्या करता है। आधुनिक युग को विज्ञान का युग इसलिए कहा गया है कि इस युग में तटस्थ वैज्ञानिक खोज ने अन्धविश्वास और रूढ़िवाद का अन्त कर दिया है। विज्ञान की यह अद्वितीय उन्नति मनुष्य की बौद्धिक शक्ति तथा उसकी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता का प्रतीक है। समय था कि जब मनुष्य भूत-प्रेत आदि को रोग का कारण मानता था। किन्तु वैज्ञानिक खोज ने मनुष्य के शत्रु और प्रत्येक रोग के मूल कारण कीटाणु को खोज निकाला और प्रत्येक भयंकर रोग से सुरक्षित रहने के अनेक उपाय ढूंढ़ निकाले। ओषधि-विज्ञान तथा चिकित्सा-विज्ञान की उन्नति ने न ही केवल मानव-मात्र की अनेक रोगों से रक्षा की है, अपितु उसने रोगों के प्रति अन्धविश्वास और रूढ़िवाद का भी अन्त किया है। इस प्रकार इस दिशा में विज्ञान ने तर्क पर आधारित धारणाओं को प्रश्रय दिया है।

इसी प्रकार विज्ञानके अन्य क्षेत्रोंमें, विशेषकर भौतिक-विज्ञानके क्षेत्रमें जो आविष्कार हुए हैं, उनके द्वारा मनुष्य ने असीम शक्ति संचित कर ली है और वह प्रकृति पर विजयी हो रहा है। यातायात-सम्बन्धी आविष्कारों ने इस पृथ्वी को ही नहीं, अपितु अन्य नक्षत्रों को भी इतना निकटवर्ती बना दिया है कि आज मनुष्य अंतरिक्ष में अत्यन्त तीव्र गति से यात्रा करने के योग्य हो गया है। इस प्रकार के आविष्कारों ने देशीय भौगोलिक

सीमाओं का अन्त कर दिया है। इसी कारण आज विश्व के विभिन्न समाज एक ही मानव-समाज में परिवर्तित हो रहे हैं और पूर्वीय तथा पश्चिमीय संस्कृतियां अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान के कारण समन्वित होकर, एक विश्व-संस्कृति की सम्भावना को सिद्ध कर रही हैं। इस आदान-प्रदान में संकुचित साम्प्रदायिक रूढ़िवादी धारणाएं स्वतः ही लुप्त होती जा रही हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण मनुष्य को निष्पक्ष बनाता है और उसे अन्धविश्वास से मुक्त करता है। यही कारण है कि जितने प्रगतिशील देश विज्ञान में अग्रसर हैं, उनमें रूढ़िवादी धारणाओं का अन्त हो रहा है और सामुदायिक नैतिकता वैयक्तिक नैतिकता में परिवर्तित हो रही है।

इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक अनुसन्धान, जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम तथा अपनी बुद्धि के द्वारा आविष्कार कर सकता है और ख्याति प्राप्त कर सकता है, वैयक्तिक विकास को सम्भव बनाता है। वैज्ञानिक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह सम्प्रदाय, राष्ट्र तथा धर्म आदि की सीमाओं से ऊपर उठकर केवल यथार्थता प्राप्त करने के लिए ही सत्य की खोज करे। इस प्रकार, विज्ञान का अध्ययन और अनुसन्धान सामुदायिक नैतिकता और रूढ़िवादी परम्पराओं का घोर विरोध करता है। वैज्ञानिक उन्नति दिन-प्रतिदिन प्रकृति के अनेक रहस्यों का अनावरण करके मनुष्य को रूढ़िवाद से यथार्थवाद, अन्धविश्वास से तर्कवाद तथा सम्प्रदायवाद से मानववाद की ओर अग्रसर कर रही है। इस प्रकार यह स्वाभाविक है कि वैज्ञानिक उन्नति सामुदायिक नैतिकता की अपेक्षा वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता को प्रश्रय दे।

कला और साहित्य

कला तथा साहित्य मनुष्य की संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। कला निस्संदेह मनुष्य की बौद्धिक तथा आध्यात्मिक क्षमता की सौंदर्य में अभिव्यक्ति है। कलाकार अपनी सौंदर्यात्मक प्रवृत्ति को चित्र, मूर्ति, कविता आदि में अभिव्यक्त करके, आत्मानुभूति प्राप्त करके, अपने व्यक्तित्व का उच्चतम विकास करता है। कला मनुष्य को उदात्त बनाती है और उसे परम आनन्द का अनुभव कराती है। एक ओर तो कलाकार अपनी कृति में अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करता है और दूसरी ओर वह कला में ध्यानमग्न होने से आत्मविस्मृति के द्वारा, अपना विश्व की आधारभूत सत्ता से तादात्म्य करता है। इस प्रकार कला उसे साम्प्रदायिक, सामाजिक तथा भौगोलिक सीमाओं से ऊपर उठाकर एक विशेष उदात्त एवं उत्कृष्ट वैयक्तिक स्तर पर पहुंचाती है। अतः कला स्वभाव से मनुष्य को सामुदायिक नैतिकता से पृथक् करके, वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता की ओर ले जाती है।

जहां तक साहित्य का संबंध है, हम यह कह सकते हैं कि कला की भांति इसका उद्देश्य भी व्यक्तित्व का विकास है। इसके अतिरिक्त साहित्य एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा उच्च आदर्शों को जनसाधारण तक पहुंचाया जा सकता है और सामाजिक दोषों

तथा रूढ़िवाद का अंत किया जा सकता है। विश्व के इतिहास में जब-जब भी क्रांति उत्पन्न हुई है, वह किसी न किसी महान साहित्यिक की नवीन विचारधारा के आधार पर ही हुई है। यूरोप में फ्रांस की क्रांति का आधार रूसो की विचारधारा थी और रूस की क्रांति का आधार कार्ल मार्क्स का दर्शन था। प्राचीन भारत में भी महावीर और बुद्ध जैसे दार्शनिकों ने महान क्रांतियां उत्पन्न कीं। अतः साहित्य मनुष्य की नैतिक धारणाओं के परिवर्तन का मुख्य कारण है और अन्धविश्वास तथा रूढ़िवाद का अंत करनेवाला है।

अंग्रेज़ी के एक विख्यात लेखक ने साहित्य का उद्देश्य बतलाते हुए कहा है कि कोई भी साहित्य, उस समय तक शाश्वत नहीं माना जा सकता, जब तक कि वह हमें सहनशीलता और आनंद प्रदान न करे। उसके शब्दों में, "पुस्तकों का उद्देश्य यह है कि वे हमें जीवन की सहनशीलता और आनंद प्राप्त करने की शिक्षा दें।"[१] यदि साहित्य का उद्देश्य हमें आनंदमय जीवन व्यतीत करने का मार्ग दिखाना है, तो यह स्पष्ट है कि वह कला की भांति हमें सम्प्रदाय और भौगोलिक सीमाओं से ऊपर उठाकर, एक उत्कृष्ट व्यक्तित्व की ओर ले जाता है। साहित्यिक वही है, जो अपने समय के सामाजिक दोषों को नाटक, काव्य और कथा के द्वारा जनसाधारण तक पहुंचाकर, उसमें आत्मचेतना और क्रांति की ऐसी भावना उत्पन्न कर देता है कि वह रूढ़िवादी और समुदायवादी बंधनों को तोड़कर वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता की ओर अग्रसर होता है।

हमने सामुदायिक एवं सामाजिक नैतिकता के वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता में परिवर्तित होने की उपाधियों का जो उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय यह नहीं कि वैयक्तिक अथवा तर्कात्मक नैतिकता सामाजिक कर्तव्यों की अवहेलना करती है। इसके विपरीत, तर्कात्मक नैतिकता का उद्देश्य मनुष्य में ऐसी आत्मचेतना उत्पन्न करना है कि वह न तो सम्प्रदाय के विधान को और न अपनी अन्तरात्मक मूल प्रवृत्ति की प्रेरणा को बिना विवेक के नैतिक आदेश स्वीकार करे। इसके विपरीत तर्कात्मक एवं वैयक्तिक नैतिकता मनुष्य के अधिकारों तथा उसके कर्तव्यों का संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है और व्यक्ति को समाज में उचित स्थान देकर व्यक्ति तथा समाज का समन्वयात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। इससे पूर्व कि हम व्यक्ति तथा समाज के इस विशेष सम्बन्ध पर अधिक प्रकाश डालने के लिए कुछ सामाजिक संस्थाओं का उल्लेख करें, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता के कुछ ऐसे विशेष लक्षणों की व्याख्या करें, जोकि इस नैतिकता को सामुदायिक नैतिकता से पृथक् और श्रेष्ठ प्रमाणित करते हैं।

वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता का प्रथम विशेष लक्षण यह है कि इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विशेष स्थान है, जबकि सामुदायिक नैतिकता में व्यक्ति को बलपूर्वक समुदाय के सामने झुकना पड़ता है और अपनी इच्छा के विरुद्ध भी परम्पराओं

१. "Books should teach us how to endure life and how to enjoy it."

एवं नैतिक प्रथाओं का पालन करना पड़ता है। इस प्रकार सामुदायिक नैतिकता में बाहरी दबाव होता है, जबकि वैयक्तिक नैतिकता मनुष्य के अन्तस् से परिस्फुटित होती है। इस दृष्टि से सामुदायिक नैतिकता का अनुसरण एक प्रकार की विवशता होती है, जबकि वैयक्तिक नैतिकता में मनुष्य की इच्छा एवं संकल्प उसके कर्म का आधार होता है।

सामुदायिक नैतिकता में मनुष्य अपने-आपको बिना किसी विवेक और तर्क के अन्धविश्वास के द्वारा समुदाय के प्रति समर्पित कर देता है, जबकि वैयक्तिक नैतिकता में वह तर्क और विवेक का प्रयोग करता है और कर्म के प्रत्येक पक्ष पर विचार करके ही नैतिक मार्ग का अनुसरण करता है। वैयक्तिक नैतिकता के इसी लक्षण को हम एक दूसरे रूप में भी प्रस्तुत कर सकते हैं। हम कह सकते हैं कि सामुदायिक नैतिकता मूल-प्रवृत्त्यात्मक है, जबकि वैयक्तिक नैतिकता तर्क तथा विवेक का प्रयोग करती है।

वैयक्तिक नैतिकता तर्क पर आधारित होने के कारण व्यक्ति-व्यक्ति में, व्यक्ति-समाज में, तथा समाज-समाज में भी न्याय करती है। इसके विपरीत सामुदायिक नैतिकता एक संकुचित दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है और उस दृष्टिकोण के अतिरिक्त, अन्य सभी दृष्टिकोणों को अस्वीकार करती है। दूसरे शब्दों में, वैयक्तिक नैतिकता विशाल और उदार है, जबकि सामुदायिक नैतिकता संकुचित और संकीर्ण दृष्टिकोण रखती है।

चौथे स्थान पर हम यह कह सकते हैं कि वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता गत्यात्मक और प्रगतिशील है, जबकि सामुदायिक नैतिकता स्थायी और अचल होने के कारण विकसित नहीं होती। सामुदायिक परम्पराएं अपरिवर्तनशील मानी जाती हैं और उन्हें राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन के पश्चात् भी वांछनीय माना जाता है। इसके विपरीत वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती हैं और इस प्रकार सदैव गतिमान और विकासशील प्रमाणित होती हैं।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि सामुदायिक नैतिकता में व्यक्ति के समुदाय-सम्बन्धी कर्तव्यों पर ही बल दिया जाता है, जबकि वैयक्तिक नैतिकता में मनुष्य के कर्तव्यों तथा अधिकारों–दोनों को समान महत्त्व दिया जाता है और व्यक्ति तथा समाज के सन्तुलित विकास को ही चरम लक्ष्य माना जाता है। इस प्रकार वैयक्तिक एवं तर्कात्मक नैतिकता सामुदायिक नैतिकता की अपेक्षा अधिक विशाल, अधिक प्रगतिशील, अधिक समन्वयात्मक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक उपयोगी सिद्ध होती है।

व्यक्ति तथा समाज का परस्पर-सम्बन्ध ऐसा है कि वे दोनों अन्योन्याश्रित हैं। यदि व्यक्ति समाजका अभिन्न अंग है और ऐसा सामाजिक प्राणी है कि वह एकाकी सामान्य जीवन व्यतीत नहीं कर सकता, तो यह भी सत्य है कि समाज व्यक्तियों के समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यक्ति ही समाज की आधारशिला है, और समाज का विशाल भवन उतना ही दृढ़ होता है, जितना कि उस समाज का एक-एक व्यक्ति दृढ़ और

शक्तिशाली होता है। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति सच्चाई से अपने कर्तव्यों का पालन करे, तो कोई संदेह नहीं कि समूचा समाज स्वतः ही ऐसे नैतिक स्तर पर पहुंच जाए, जहां किसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं रहती। किन्तु व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास, उसके सद्गुणों का निर्माण और उसके चरित्र का गठन तभी हो सकता है, जब समाज में अन्याय न हो और जब प्रत्येक व्यक्ति को चरित्र-निर्माण के लिए सभी सुविधाएं समान रूप से प्राप्त हों। इस प्रकार व्यक्ति समाज को और समाज व्यक्ति को आगे बढ़ा सकता है। यह तभी हो सकता है, जब प्रत्येक व्यक्ति उन सामाजिक संस्थाओं के उद्देश्य को भली भांति जानता हो जिनका कि वह सदस्य है। एक व्यक्ति एक ही समय में एक से अधिक सामाजिक संस्थाओं का सदस्य हो सकता है। यदि वह प्रत्येक सामाजिक संस्था के उद्देश्य तथा उसकी उपयोगिता को भली भांति समझता हो, तो वह अपने व्यवहार के द्वारा व्यक्ति और समाज के हितों को सुरक्षित रख सकता है और इस प्रकार वैयक्तिक तथा सामुदायिक नैतिकता में सन्तुलन रखता हुआ सार्वजनिक कल्याण की ओर अग्रसर हो सकता है।

वर्तमान युग में मनुष्य जिन सामाजिक संस्थाओं एवं समुदायों का अनिवार्य रूप से सदस्य होता है, उनको मुख्यतया हम निम्नलिखित क्रम से सूचिबद्ध कर सकते हैं :

(१) कुटुम्ब (Family)
(२) व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय (Occupational community)
(३) नागरिक सम्प्रदाय (The civic community)
(४) धार्मिक संस्था (The church)
(५) राज्य-संस्था (The state)
(६) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं (International organizations)

अब हम इन विभिन्न समुदायों एवं संस्थाओं की पृथक्-पृथक् संक्षिप्त आलोचनात्मक व्याख्या करेंगे, ताकि हम व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध में इनका महत्त्व जान सकें।

कुटुम्ब

कुटुम्ब अथवा गृहस्थ सामाजिक इकाई है, क्योंकि यह एक ऐसी मूल संस्था है, जिसके आधार पर अन्य सभी सामाजिक संस्थाएं स्थित हैं। कुटुम्ब एक स्वाभाविक इकाई है, जिसमें कि परिवार के सभी सदस्य स्वाभाविक प्रेम के सूत्र में बंधे हुए होते हैं। यह सामाजिक इकाई निस्संदेह इतनी प्राचीन है, जितनी कि मनुष्य की सभ्यता है। छोटे से छोटा परिवार अथवा कुटुम्ब दो व्यक्तियों का होता है, जो विवाह द्वारा पति-पत्नी के रूप में सम्बन्धित होते हैं। विश्व के प्रत्येक देश में परिवार एवं कुटुम्ब की प्रथा एक ही रूप में उपस्थित है। परिवार में ज्यों-ज्यों संतान की उत्पत्ति के कारण वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों इसके प्रौढ़ सदस्यों का उत्तरदायित्व भी बढ़ता चला जाता है। पति-पत्नी

पिता-माता में परिवर्तित हो जाते हैं और शिशुओं की हर प्रकार की रक्षा करना उनका परम कर्तव्य हो जाता है। यों तो पति-पत्नी के सम्बन्ध में भी कर्तव्य और अधिकार की समस्या खड़ी होती है—जब तक जीवन के दोनों साथी एक-दूसरे का सम्मान न करें, तब तक परिवार सफलतापूर्वक नहीं चल सकता। सन्तान की उपस्थिति में कर्तव्य और अधिकार की समस्या और भी जटिल हो जाती है। परिवार में पति और पत्नी का सम्बन्ध तो समानता का होता है, किन्तु सन्तान का माता-पिता से सम्बन्ध असमानता का होता है। माता-पिता निस्संदेह आयु और अनुभव के कारण बालकों की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं और बालकों की उचित शिक्षा तथा उनके चरित्र का निर्माण उन्हींके हाथों में होता है। यह सत्य है कि बालकों पर माता-पिता का नियन्त्रण उनके भविष्य के लिए लाभदायक होता है, किंतु बाल-मनोविज्ञान के क्षेत्र में जो खोज की गई है, उसके आधार पर शैशवावस्था से ही बालकों के मन पर दबाव न डालना और उनकी मूल प्रवृत्तियों का दमन न करना उनके सर्वांगीण विकास के लिए नितांत आवश्यक माना गया है।

जहां तक बालकों के चरित्र के निर्माण का सम्बन्ध है, मनोविज्ञान का कहना है कि जब तक शिशु बारह या चौदह वर्ष की आयु प्राप्त न कर ले, तब तक उसे उच्च नैतिक शिक्षा देना, सत्य, अहिंसा जैसी अमूर्त धारणाओं का ज्ञान कराना उचित नहीं है। किन्तु यदि शैशवावस्था में ही नैतिक सिद्धान्तों का परिचय दिया जाए और बालक को स्वच्छन्द व्यवहार करने का अवसर न दिया जाए, तो ऐसे बालक प्रौढ़ावस्था में अनैतिक बन जाते हैं। इस प्रकार नैतिक दृष्टि से किशोरावस्था में ही बालकों को सद्गुणों और नैतिक आदर्शों का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करना चाहिए। बालकों की नैतिक प्रशिक्षा में अनुकरण की प्रवृत्ति विशेष महत्त्व रखती है। अतः इस प्रवृत्ति की व्याख्या करना नितान्त आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक अनुसंधान ने अनुकरण के निम्नलिखित स्तर निर्धारित किए हैं :

(१) सहजानुकरण (Reflex imitation)

(२) स्वच्छन्दानुकरण (Spontaneous imitation)

(३) सविकल्पक अनुकरण (Voluntary imitation)

(४) नाट्यानुकरण (Dramatic imitation)

(५) आदर्शानुकरण (Ideal imitation)

सहजानुकरण का अर्थ सहज प्रवृत्ति (Reflex) का अनुकरण है। यह अनुकरण यंत्रवत् और जन्मजात होता है। इसलिए नवजात शिशु में इस प्रकार के अनुकरण की प्रवृत्ति उपस्थित रहती है। उदाहरणस्वरूप, जब नवजात शिशु भूख के कारण रोता-चिल्लाता है, तो उसका यह चिल्लाना सहज क्रिया होती है। किन्तु जब वह किसी अन्य शिशु के रुदन को सुनकर बिना भूख के ही रोने लगता है, तो उसकी यह क्रिया सहजानुकरण पर आधारित होती है। प्रायः यह देखा गया है प्रसूतिगृह में, जहां अनेक नवजात

शिशु एकसाथ उपस्थित होते हैं, वहां एक शिशु के रोने पर अन्य सभी रोना आरम्भ कर देते हैं। उनका यह एकसाथ रोना सहजानुकरण के कारण होता है। स्वच्छन्दानुकरण में शिशु किसी बड़े बालक अथवा व्यक्ति की क्रिया का आकस्मिक अनुकरण करता है। ऐसा करते समय शिशु उस अनुकरण का अर्थ नहीं समझता और न ही उस अनुकरण में उसका कोई उद्देश्य होता है। यह 'अनुकरण केवल अनुकरण के लिए'[1] ही होता है। उदाहरणस्वरूप, जब एक वर्ष अथवा उससे कम आयुवाला शिशु किसी व्यक्ति को सिर हिलाते देखता है, तो वह स्वतः ही अपना सिर हिलाने लगता है। उसकी यह क्रिया स्वच्छन्दानुकरण पर आधारित होती है। प्रायः एक या डेढ़ वर्ष की आयु तक बालक स्वच्छन्दानुकरण के स्तर तक ही रहता है। स्वच्छन्दानुकरण शिशु को चलने की क्रिया सीखने में सहायता देता है। जब तक बालक में थोड़ी-सी तर्कशक्ति उत्पन्न नहीं होती, तब तक वह सविकल्पक अनुकरण नहीं कर सकता।

सविकल्पक अनुकरण में शिशु अपने संकल्प के द्वारा किसी कर्म का अनुकरण करता है। दूसरे शब्दों में, जो अनुकरण जान-बूझकर किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है, वह सविकल्पक अनुकरण होता है। यह अनुकरण कम से कम तीन वर्ष की आयुवाले शिशु में विकसित होता है। इसी अनुकरण के आधार पर ही शिशु अक्षर लिखना और पढ़ना आदि सीखता है। इसी प्रकार साइकल चलाना, नृत्य सीखना आदि सभी सविकल्पक अनुकरण पर आधारित क्रियाएं हैं। अनुकरण का चौथा स्तर नाट्यानुकरण है। जैसाकि इस अनुकरण के नाम से स्पष्ट है, इस अनुकरण में अनुकरण करनेवाला व्यक्ति किसी क्रिया का अभिनय करता है। उदाहरणस्वरूप, जब शिशु व्यापारी बन जाते हैं अथवा रेल बनाकर चलते हैं, ऐसे खेलों में वे नाट्यानुकरण का प्रयोग करते हैं। अनेक बार बालक सेना की नकल करते हैं अथवा एक बालक अध्यापक बन बैठता है और अन्य छात्रों का अभिनय करते हैं। नाट्यानुकरण में संकल्प के साथ-साथ कल्पनाशक्ति का भी प्रयोग होता है। नाट्यानुकरण की अवस्था प्रायः पांच वर्ष से बारह वर्ष तक रहती है। बारह वर्ष की आयु के पश्चात् बालक आदर्शानुकरण का प्रयोग करने लगता है। इस प्रकार के अनुकरण करने में बालक न ही केवल जान-बूझकर किसी क्रिया का अनुकरण करता है, अपितु वह किसी व्यक्ति-विशेष के चरित्र को लेकर और उसे अपना आदर्श मानकर उसीके अनुसार अपने जीवन का मार्गदर्शन करता है। उदाहरणस्वरूप, जो बालक सैनिक जीवन को पसन्द करता है, वह किसी आदर्श सेनापति का जीवन-चरित्र पढ़कर उसका अनुकरण करने लगता है। किन्तु इस प्रकार के अनुकरण करने की अवस्था वास्तव में किशोरावस्था है। जब तक बालक बारह वर्ष की अवस्था तक न पहुंच जाए, तब तक वह न तो आदर्श का अर्थ समझ सकता है और न किसी महापुरुष के जीवन का अनुसरण कर सकता है। यही कारण है कि आदर्शानुकरण का प्रायः किशोरावस्था में ही उपयोग किया जाता है। जब बालक अथवा बालिकाएं किशोरावस्था

१. 'Imitation for the sake of imitation.'

को प्राप्त होती हैं, तो उस समय उन्हें अनेक महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ने चाहिए। अनुकरण की इस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को सामने रखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि माता-पिता अपने बालकों के विकास के लिए नैतिक प्रशिक्षण देते समय उनकी आयु तथा उनकी कोमलता का विशेष ध्यान रखें। कुटुम्ब एवं परिवार की समस्याएं इतनी जटिल और महत्त्वपूर्ण हैं कि हमें आगे चलकर एक सफल परिवार के लक्षणों पर पुनः प्रकाश डालना पड़ेगा। अतः हम सामाजिक इकाई, परिवार एवं कुटुम्ब से सम्बन्धित विवाह आदि के नैतिक महत्त्व की व्याख्या करने से पूर्व अन्य सामाजिक संस्थाओं की व्याख्या करेंगे।

व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय

व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय का अर्थ वह समुदाय है, जिसका सदस्य होने के नाते व्यक्ति अपनी आजीविका प्राप्त करता है। वह समुदाय एवं सामाजिक संस्था एक कार्यालय हो सकता है, उद्योग हो सकता है, विद्यालय, महाविद्यालय अथवा विश्व-विद्यालय आदि हो सकता है। व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय के परस्पर-सम्बन्ध ऐसे होते हैं जो पारिवारिक सम्बन्धों से सर्वथा विभिन्न होते हैं। वे न तो परस्पर-प्रेम पर आधारित होते हैं और न ही समानता के सम्बन्ध होते हैं। इसके विपरीत, वे भागीदारी एवं समझौते पर आधारित होते हैं और उनमें एक व्यक्ति दूसरे के अधीन होता है। यह तो सत्य है कि परिवार में भी शिशु माता-पिता के अधीन माने जाते हैं, किन्तु इस प्रकार की अधीनता विकसित रूप में नहीं होती। वह तो एक प्रकार की ऐसी विवशता होती है, जिसका कि शिशु अपने स्वाभाविक रक्षकों के प्रति अनुभव करते हैं। आजीविका-सम्बन्धी एवं औद्योगिक अधीनता कुछ विशेष बाहरी उद्देश्य को लेकर चलती है। इसमें अधीन व्यक्ति की सुरक्षा तो अवश्य की जाती है, किन्तु वह सुरक्षा अन्तरात्मक अनुबन्ध पर आधारित न होकर बाह्यात्मक लक्ष्य से सम्बन्धित होती है।

व्यवसाय-सम्बन्धी संस्था की सदस्यता के कारण अनेक नैतिक समस्याएं खड़ी होती हैं। सर्वप्रथम आर्थिक समुदाय-सम्बन्धी समस्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सुरक्षा और उससे उसके परिश्रम के अनुसार पर्याप्त आजीविका प्राप्त कराने के लिए न्याय दिलाना है। यदि व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुसार उचित आजीविका प्राप्त न हो और आर्थिक समुदाय में उसे सम्मान प्राप्त न हो, तो उस समुदाय की अधीनता एक प्रकार की दासता प्रमाणित हो सकती है। जहां आर्थिक समुदाय में, मनुष्य के जीवन तथा उसके स्वतन्त्रता-सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा आवश्यक है, वहां यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी आजीविका प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न और परिश्रम करे। इस प्रकार प्रत्येक सभ्य समाज में, व्यक्ति के लिए परिश्रम करना एक सामाजिक कर्तव्य हो जाता है। जिस समाज में व्यक्ति इस कर्तव्य की अवहेलना करता है और बिना परिश्रम के उसे जीवन-सम्बन्धी सुविधाएं प्राप्त होती हैं, ऐसे समाज में अन्याय और

अनैतिकता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब समाज में, किसी वर्ग-विशेष को बिना परिश्रम के आर्थिक सुविधाएं प्राप्त हुई हैं, तभी महान क्रान्तियां और परिवर्तन हुए हैं। फ्रांस की अठारहवीं शताब्दी की क्रान्ति से पूर्व, फ्रांस के समाज में आर्थिक विषमता के कारण अनेक अत्याचार होते थे। एक ओर तो धनवान जागीरदार भोग-विलास का जीवन व्यतीत कर रहे थे और दूसरी ओर निर्धन लोग भूख के कारण मृत्यु को प्राप्त हो रहे थे। यही आर्थिक विषमता की दशा रूस में ज़ार के राज्य के समय थी। दोनों देशों में आर्थिक विषमताओं के कारण ऐसी भयंकर क्रान्तियां हुई, जिनमें असंख्य शिशुओं, प्रौढ़ों और वृद्धों का रक्तपात हुआ। फ्रांस की क्रान्ति का परिणाम प्रजातन्त्र की उत्पत्ति और रूस की क्रान्ति का परिणाम साम्यवाद की स्थापना हुआ। आज तक ये दोनों राजनीतिक प्रणालियां विश्व में प्रचलित हैं। इन दोनों की परस्पर-तुलना तो हम इस अध्याय में आगे चलकर करेंगे, यहां पर केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि आर्थिक विषमता मनुष्य में न्याय की भावना जागरित करती है और इस प्रकार उसे हिंसात्मक क्रान्ति के लिए प्रेरणा देती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्ति और समाज के सन्तुलित विकास के लिए मनुष्य के आर्थिक जीवन में सन्तुलन होना आवश्यक है। यह सन्तुलन केवल आर्थिक समता के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता, अपितु स्वामी तथा श्रमिक, उद्योगपति तथा कर्मचारी के परस्पर-स्नेह, प्रेम और भ्रातृभाव से ही उत्पन्न हो सकता है।

पश्चिमीय जगत् में, कुछ विचारक तो इस दृष्टि का समर्थन करते हैं और उस आर्थिक संस्कृति का विरोध करते हैं, जिसमें स्नेह और मानवता की अपेक्षा धन और स्वार्थ को श्रेष्ठ समझा जाता है। किन्तु कुछ विचारक ऐसे भी हैं, जोकि आर्थिक समुदाय को स्वाभाविक स्नेह पर आधारित न करके केवल व्यापारिक सम्बन्ध पर ही आधारित करना श्रेष्ठ मानते हैं। इसलिए वे विशुद्ध आर्थिक भागीदारी को पैतृक सम्बन्ध की भांति स्वाभाविक बनाने से संकोच करते हैं। इसी समस्या पर विचार करते हुए मैकन्ज़ी ने लिखा है, "जब स्वाभाविक स्नेह का कोई आधार नहीं होता, तो पैतृक सम्बन्ध तुरन्त अत्याचार में परिवर्तित हो जाता है। सम्भवतया सर्वोत्तम उपाय यह है कि व्यापारिक सम्बन्धों को विशुद्ध भागीदारी ही स्वीकार किया जाए।"[1] इस प्रकार की धारणा, जोकि अर्थ को मानवता से श्रेष्ठ स्वीकार करती है, और जो संस्कृति को सम्पत्ति से गौण बनाती है, भले ही आर्थिक और औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दे रही हो, किन्तु वह वर्तमान सामाजिक जीवन में स्वार्थ और रूखेपन का मुख्य कारण है। आर्थिक विकास पर आवश्यकता से अधिक बल निस्सन्देह सामाजिक सन्तुलन के लिए हानिकारक

१. "A paternal relationship easily passes into tyranny when there is no basis of natural affection. It is probably best that business relationships should be made a matter of pure contract."
—A Manual of Ethics by J. S. Mackenzie, Page 296.

है। आर्थिक समुदाय में मानवता और संस्कृति की ओर तटस्थता कदापि व्यक्ति और समाज के परस्पर-सम्बन्ध को सुधार नहीं सकती।

नागरिक सम्प्रदाय

प्रत्येक व्यक्ति, विशेषकर वर्तमान युग में, निश्चित रूप से किसी न किसी नागरिक समुदाय का सदस्य होता है। यहां पर नागरिक समुदाय का अर्थ कोई भी ऐसी संस्थ है, जिसमें कि व्यक्ति को नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते हैं, चाहे वह समुदाय गांव तक सीमित हो अथवा नगर तक। यह समुदाय निस्सन्देह अनेक पारिवारिक समुदायों और आर्थिक समुदायों की समष्टि होता है। ऐसे समुदाय में व्यक्ति के अधिकार तथा कर्तव्य होते हैं। उदाहरणस्वरूप, ग्राम-पंचायत, नगरपालिका आदि नागरिक समुदाय हैं। ऐसी संस्थाओं का सम्बन्ध ग्राम तथा नगर के जीवन का सर्वाङ्गीण विकास होता है। एक आदर्श नागरिक होने के नाते, प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह नागरिक समुदाय में सक्रिय भाग ले। नागरिकों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने नागरिक समुदाय में स्वास्थ्य, शिक्षा तथा खाद्य-सम्बन्धी समस्याओं की ओर ध्यान दें और यह देखें कि उनके समुदाय में प्रत्येक नागरिक को जीवन की इन तीनों आवश्यकताओं के लिए सभी सुविधाएं प्राप्त हैं। यदि कोई नागरिक यह देखता है कि उसके समुदाय में शिशु-शिक्षा के लिए उचित प्रबन्ध नहीं है अथवा गलियों आदि में स्वास्थ्य-विधि के नियमों को नहीं अपनाया जाता, अथवा व्यापारी-वर्ग खाद्य-पदार्थों में मिलावट कर रहा है, तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इन दोषों की रोकथाम के उपाय जुटाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नागरिक समुदाय के विकास के लिए पंचायत, नगरपालिका आदि स्थानीय स्वायत्त शासन जैसी संस्थाएं प्रत्येक प्रगतिशील देश में उपस्थित हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति इन संस्थाओं का सदस्य होने के कारण इनमें सक्रिय भाग लेने से समाज-कल्याण में योग दे सकता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति इन संस्थाओं का निर्वाचित प्रतिनिधि बनकर ही अपने इस कर्तव्य का पालन करे। ऐसा करना तो राजनीति में भाग लेना है। इसके विपरीत, अपने तथा अपने पड़ोसियों के नागरिक अधिकारों के प्रति सजग और सतर्क रहना-मात्र ही नागरिक समुदाय के विकास के लिए पर्याप्त है।

धार्मिक संस्था

आचार-विज्ञान तथा धर्म का सम्बन्ध बतलाते हुए हमने पहले अध्याय में ही यह स्वीकार किया है कि धार्मिक प्रवृत्ति मनुष्य की एक जन्मजात और अनिवार्य प्रवृत्ति है। यही कारण है कि संस्कृति के आरम्भ से ही मनुष्य में धार्मिक भावना उपस्थित रही है और आज तक उपस्थित है। मनुष्य की वैज्ञानिक प्रगति, उसकी प्रकृति पर विजय और उसके चमत्कारक आविष्कार, उसे भौतिक दृष्टि से शक्तिशाली और महान बनाने

में अवश्य सहायक सिद्ध हुए हैं। किन्तु यह समस्त भौतिक उन्नति, जो उसकी बाह्यात्मक परिस्थितियों को व्यवस्थित करने में सफल हुई है, आज तक मनुष्य को अन्तरात्मक स्थायित्व एवं आध्यात्मिक शक्ति प्रदान नहीं कर सकी। जब तक मानव-समाज की भौतिक और आध्यात्मिक शक्ति सन्तुलित रूप से विकसित नहीं होती, जब तक इनके विकास में विषमता रहती है, तब तक समाज का सर्वाङ्गीण विकास नहीं हो सकता। धार्मिक संस्था—चाहे वह गिरजाघर हो, चाहे मन्दिर, चाहे मस्जिद हो, चाहे गुरुद्वारा—मानव समाज के आध्यात्मिक विकास का एकमात्र केन्द्र होती है।

इसके अतिरिक्त धार्मिक संस्था की सदस्यता के कारण समुदाय-विशेष के व्यक्ति अधिक घनिष्ठता से एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। धार्मिक संस्था का मुख्य उद्देश्य मानवीय सम्बन्धों में उच्चतम नैतिक आदर्श को अभिव्यक्त करना है। प्रत्येक धर्म के एवं धार्मिक समुदाय के आधारभूत नियम सदैव सर्वमान्य और व्यापक नैतिक नियम होते हैं। जैसाकि हमने पहले भी संकेत किया है, सत्यपरायणता, अनुकम्पा, भ्रातृभाव जैसे सद्गुणों का विकास धार्मिक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। यदि मानव-मात्र का ही नहीं, अपितु प्राणी-मात्र का कल्याण प्रत्येक प्रगतिशील धर्म का उद्देश्य है, तो यह सत्य है कि धार्मिक संस्था की सदस्यता समाज-कल्याण के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। यह दुःख की बात है कि धार्मिक संस्थाओं के इस उद्देश्य की अवहेलना करके और संकुचितहृदयता को अपनाकर, मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति का अनुचित लाभ उठाया गया है और धर्म-संस्थाओं के नाम पर, घृणा के बीज बोए गए हैं। किन्तु मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति का यह दुरुपयोग इस बात को सिद्ध नहीं करता कि एक आदर्श धार्मिक संस्था का उद्देश्य समाज-विरोधी और अनैतिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना है। इसके विपरीत, धार्मिक संस्था एक ऐसी सामाजिक संस्था है, जो मनुष्य में सेवा-भाव और त्याग की भावना उत्पन्न करके, उसे एक आदर्श नागरिक बनाने में सहायता देती है। वर्तमान युग में धर्म के तुलनात्मक अध्ययन के कारण विभिन्न धार्मिक संस्थाओं की समानता दिन-प्रतिदिन स्वीकार की जा रही है और यह अनुभव किया जा रहा है कि धर्म मानव-समाज की विभिन्नता का कारण न होकर उसकी एकता का मूल आधार है।

राज्य-संस्था

राज्य-संस्था भी अन्य सामाजिक संस्थाओं की भांति, मानव-समाज की एक प्राचीनतम संस्था है। राज्यसत्ता मानवीय समाज के सभी अन्य सम्बन्धों का आदि से नियन्त्रण करती चली आई है। जिस समय विश्व में राजतन्त्र की प्रधानता थी, तो राजा को ही धार्मिक और सामाजिक नेता माना जाता था। मध्यकाल तक यूरोप जैसे प्रगतिशील महाद्वीप में भी, राजा के अधिकारों को ईश्वरीय अधिकार स्वीकार किया जाता था। इंगलैंड जैसे सुसंस्कृत और प्रगतिशील राष्ट्र में आज तक भी राजा को गिरजाघर की धार्मिक संस्था का अधिपति तथा धर्म का रक्षक (Defender of the

faith) स्वीकार किया जाता है। प्रजातन्त्रीय शासन में, यद्यपि धर्मनिरपेक्षता (Secularism) की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाता है, तथापि प्रत्येक व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना प्रत्येक प्रजातन्त्र का मुख्य कर्तव्य समझा जाता है। राज्य की संस्था अनेक ऐसे कार्यों को अपने हाथ में लेती है, जो व्यक्तिगत रूप में नहीं किए जा सकते। उदाहरणस्वरूप, राष्ट्र की सुरक्षा, यातायात के साधन जैसे कार्य केवल राज्य के द्वारा ही सुचारु रूप से चलाए जा सकते हैं। प्रत्येक राष्ट्र में राज्य-संस्था ही ऐसे सार्वजनिक और आवश्यक कार्यों को अपने हाथ में लेती है। प्रत्येक नागरिक अपने राज्य का नागरिक होता है और उसका कर्तव्य राज्य के आदेशों का पालन करना होता है। आधुनिक समय की राज्य-संस्था और प्राचीन समय की राज्य-संस्था में भेद यह है कि वर्तमान राज्य-संस्थाएं राजतन्त्रीय न होकर, प्रजातन्त्रीय हैं। प्राचीन समय में, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की लोकोक्ति चरितार्थ होती थी, किन्तु वर्तमान समय में राज्यसत्ता न तो परम्परा के आधार पर और न शारीरिक बल के आधार पर एक या अनेक व्यक्तियों में केन्द्रित की जाती है, इसके विपरीत, जनमत के द्वारा ही सत्ता का उत्तरदायित्व एक या एक से अधिक प्रतिनिधियों को सौंप दिया जाता है। चाहे राज्य-संस्था प्रजातन्त्रवादी हो चाहे साम्यवादी, चाहे उसका आधार पूंजीवाद हो या समाजवाद, हर अवस्था में प्रजा के द्वारा प्रतिनिधियों का निर्वाचित होना नितान्त आवश्यक है। वर्तमान राज्य-संस्थाओं का यह विशेष लक्षण व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध को और भी घनिष्ठ प्रमाणित करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने राजनीतिक मत का सदुपयोग करके और योग्य सदस्य को निर्वाचित करके राज्य-संस्था की सफलता में योग दे सकता है। इसी प्रकार राज्य-संस्था के निर्वाचित अधिकारी, राज्यसत्ता का सदुपयोग करके मतदाताओं के व्यक्तिगत विकास में सहायक हो सकते हैं। अतः राज्य-संस्था व्यक्ति के अधिकारों और कर्तव्यों के आधार पर ही सफल हो सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं

जब तक मनुष्य वैज्ञानिक आविष्कारों के अभाव के कारण मन्थर गति से यात्रा कर सकता था, तब तक वह इस विशाल विश्व के विभिन्न प्रदेशों में, विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में, विभिन्न समूहों में एवं विभिन्न राष्ट्रों में रहता था और प्रत्येक राष्ट्र अपने-आपमें पूर्ण और स्वतन्त्र स्वीकार किया जाता था। इस अवस्था में, नागरिकता की सीमा अधिक से अधिक राष्ट्रीयता तक व्यापक थी। किन्तु राष्ट्रीयता की भावना ने बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक इतनी उग्रता धारण की थी कि राष्ट्रीयता के नाम पर असंख्य मनुष्यों का संहार किया गया और राष्ट्रीयता की सुरक्षा के लिए दो भयंकर विनाशकारी विश्वयुद्ध हुए। किन्तु चाहे युद्धों में सफलता प्राप्त करने के लिए चाहे प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए, इसी काल में विज्ञान ने अणुशक्ति का आविष्कार करके और तीव्र से तीव्र गतिवाले वायुयानों तथा यातायात के अन्य साधनों का निर्माण

करके, विश्व को एक छोटा-सा कुटुम्ब बना दिया है। आज विज्ञान ने सभी भौगोलिक सीमाओं का अन्त कर दिया है। इसी कारण आज प्रत्येक राष्ट्र की आर्थिक समस्या, सामाजिक समस्या तथा राजनीतिक समस्या केवल उसी राष्ट्र तक सीमित नहीं है, अपितु विश्व के सभी राष्ट्रों पर प्रभाव डालती है। यह तथ्य आज विश्व के जनसाधारण को विदित है कि किसी भी राष्ट्र पर, किसी अन्य राष्ट्र का आक्रमण केवल प्रादेशिक आपत्ति नहीं, अपितु एक अन्तर्राष्ट्रीय आपत्ति है। इसका कारण यही है कि आधुनिक परिस्थितियों ने मानव-मात्र को एक अन्तर्राष्ट्रीयता के सूत्र में बांध दिया है। अतः मनुष्य आज एक नगर का, एक राज्य का अथवा एक राष्ट्र का ही अंग नहीं है, अपितु वह विश्वव्यापी मानव-समाज का अभिन्न अंग है और उसका उत्तरदायित्व स्थानीय और राष्ट्रीय न होकर एक अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है। सौभाग्यवश संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा उससे सम्बन्धित अन्य सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं अपने-अपने क्षेत्र में सक्रिय सेवा करके विश्व के नागरिकों में अन्तर्राष्ट्रीयता और भातृ-भाव की भावना का सतत संचार कर रही हैं। अतः प्रत्येक सामान्य नागरिक के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सम्बन्धित रहना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य होगया है।

यह तो सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रसार के होते हुए भी मानव-समाज किसी विश्व-राज्य के अधीन नहीं है। आज भी उच्चतम राज्यसत्ता निस्सन्देह राष्ट्रीय राज्यसत्ता है। यदि ऐसा न हो तो 'अन्तर्राष्ट्रीय संस्था' नाम का कुछ अर्थ ही नहीं हो सकता। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भावना की प्रगति को दृष्टिगोचर करते हुए और अन्तरिक्ष की यात्रा की सफलता को सामने रखते हुए, एक सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुंच सकता है कि निकट भविष्य में मानव-मात्र की प्रगति के लिए और मानवीय संस्कृति की सुरक्षा के लिए, विश्य-राज्य का स्थापित होना आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य हो जाएगा। इसी दृष्टि को सामने रखते हुए हमने सामाजिक संस्थाओं की व्याख्या में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को भी स्थान दिया है। यह सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीयता का ज्ञान जनसाधारण तक धीरे-धीरे पहुंच रहा है। किन्तु यह भी सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के बिना, विश्व का मानव आज एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। अतः यह आवश्यक है कि व्यक्ति तथा समाज के विकास के लिए तथा उनके परस्पर-सम्बन्ध के स्पष्टीकरण के लिए, प्रत्येक मनुष्य संस्कृत के निम्नलिखित कथन को अपने जीवन में उतारे, "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्," अर्थात् "उदार चरित्रवाले व्यक्ति वे ही हैं, जो सम्पूर्ण विश्व को अपना कुटुम्ब स्वीकार करते हैं।" भारतीय ऋषियों, साहित्यिकों, दार्शनिकों, कवियों तथा राजनीतिज्ञों ने प्राचीन-काल से लेकर वर्तमान समय तक, मानवता के इसी आदर्श को सदैव अपनाया है और अपना रहे हैं। भारत का इतिहास इसी उदारता का इतिहास है। यदि भारत विश्व के सामने कोई आदर्श प्रस्तुत कर सकता है, तो वह भ्रातृभाव, मानवता तथा प्रेम का आदर्श है। यही कारण है कि आज भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, जहां कहीं हिंसा और संघर्ष उत्पन्न

होता है, वहां भारतीय संस्कृति के प्रतीक, विश्वप्रिय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ पण्डित जवाहरलाल नेहरू इसी आदर्श का अनुसरण करते हुए, अहिंसा और सत्य पर आधारित नीति के द्वारा, विकट समस्याओं का समाधान करते हैं और विश्व को घोर संकट में पड़ने से बचा लेते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की सदस्यता आज प्रत्येक राष्ट्र के लिए निस्सन्देह अनिवार्य है। किन्तु इस सदस्यता का उत्तरदायित्व न ही केवल राष्ट्र, अपितु प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर है। प्रत्येक नागरिक अपने-अपने ढंग से, अपनी शक्ति के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीयता, सद्भावना तथा शान्ति का प्रसार कर सकता है और ऐसा करना उसका परम कर्तव्य है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सम्बन्ध में, हमने अभी तक कर्तव्य और उत्तरदायित्व की ही व्याख्या की है। इस प्रकरण में यह कहना नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक राष्ट्र और राष्ट्र का नागरिक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से मूलभूत अधिकारों को प्राप्त करने की आशा रखता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का आधार मूलभूत मानवीय अधिकार हैं और संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा उससे सम्बन्धित अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं इन अधिकारों की रक्षा के लिए सतत प्रयास कर रही हैं। किन्तु यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि ये अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं सभी देशों में इन अधिकारों की रक्षा करने में सफल रही हैं। जब तक दक्षिण अफ्रीका में वर्ण के आधार पर मानवीय अधिकारों का दमन किया जाएगा और जब तक विश्व के पिछड़े हुए राष्ट्रों में दीनता और भूख रहेगी, तब तक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को पूर्णतया सफल स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु इस पूर्ण सफलता के लिए विश्व के प्रत्येक नागरिक को अपने कर्तव्यों का पालन करके निरन्तर प्रयत्न करना होगा। तभी व्यक्ति तथा समाज एकसाथ नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ सकेंगे। नैतिक प्रगति एक ऐसा विषय है, जिसकी व्याख्या हमें अवश्य करनी चाहिए। किन्तु इससे पूर्व, मनुष्य के उचित स्थान के अनुसार, उसके जीवन-सम्बन्धी कर्तव्य को एक बार फिर आंकना आवश्यक है।

पन्द्रहवां अध्याय

व्यक्ति का समाज में स्थान तथा तदनुकूल कर्तव्य

(Individual's Station and his Duties)

पिछले अध्याय में हमने व्यक्ति तथा समाज के परस्पर अभिन्न सम्बन्ध पर तथा उन सामाजिक संस्थाओं पर प्रकाश डाला है, जिनका कि एक सामान्य व्यक्ति वर्तमान युग में सदस्य है। इस व्याख्या का उद्देश्य नैतिक आदर्श का व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध बतलाना है। जो नैतिक आदर्श ठोस जीवन में लागू नहीं किया जा सकता, अर्थात् जो एक अमूर्त आदर्श है, उसे आचार-विज्ञान में स्वीकार नहीं किया जा सकता। हमने कांट के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए यह बताया था कि उसका 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' आवश्यकता से अधिक व्यापक और अमूर्त नैतिक आदर्श प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार आचार-विज्ञान में ऐसे नैतिक आदर्श को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, जो आवश्यकता से अधिक ठोस हो और व्यक्ति-विशेष के सुख के आधार पर सामूहिक सुख के आदर्श को ही परम शुभ मानता हो। ऐसा आदर्श व्यक्ति की निजी भावनाओं पर अधिक बल देता है और कोई ऐसा ठोस उपाय नहीं बताता, जिसके द्वारा व्यक्ति और समाज का समन्वयात्मक विकास सम्भव हो सके। सुखवाद की इस त्रुटि पर आलोचना करते हुए ब्रैडले ने लिखा है, "हमने यह देखा कि सुख की इकाइयों की अधिक से अधिक संख्या की धारणा, एक एकत्रीकरण-मात्र की धारणा है। यदि हम इस धारणा से नैतिकता की आशा करें, तो वह एक प्रकार का ऐसा सामान्य प्रस्तुत करती है, जिसकी हमें आवश्यकता है। विशेषों के एकत्रीकरण-मात्र से ऐसे सुख की रचना करने की चेष्टा, जोकि हमें एक सामान्य दे सके, एक निरर्थक चेष्टा है और ऐसी अवांछनीय उत्पत्ति है, जिसमें कि आत्मविनाश निहित है, क्योंकि इसमें निजी सामान्यता पर निरन्तर बल दिया गया है और उसके साथ ही साथ (इसकी पूर्ति में) इसमें वास्तविक विशेषता और सान्तता भी निहित है।"[1]

---

१. "The greatest sum of units of pleasure we found to be the idea of a mere collection, whereas, if we wanted morality, it was something like a universal that we wanted. Happiness, as the effort to construct that universal by the addition of particulars, gave us a futile and bastard product, which carried its self-destruction within it,

ब्रैडले के इस कथन का आशय यह है कि यदि अधिक से अधिक व्यक्तियों के सुख को ही व्यापक नैतिक आदर्श मान लिया जाए, तो उसकी यह व्यापकता वास्तव में एक आडम्बर है। सुख की प्राप्ति को आदर्श स्वीकार करने का अर्थ, व्यक्तिगत सुख को प्रश्रय देना है और व्यक्तिगत सुख में हमें कहीं भी वह व्यापकता अथवा सामान्यता नहीं मिलती, जोकि एक नैतिक आदर्श का मूल तत्त्व है। दूसरे शब्दों में, यदि कांट का सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक व्यापक और सामान्य है, क्योंकि वह व्यक्तिगत हित को तनिक-मात्र भी स्थान नहीं देता, तो सुखवादी सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक वैयक्तिक प्रमाणित होता है, क्योंकि उसमें ऐसा सामान्य मूल तत्त्व उपस्थित नहीं है, जो व्यक्ति को निजी स्तर से ऊपर उठाकर नैतिकता के उत्कृष्ट स्तर पर पहुंचा दे। कांट का अमूर्त तर्कवाद भी व्यक्ति की पूर्णतया अवहेलना करके, व्यक्ति और समाज के घनिष्ठ सम्बन्ध की व्याख्या नहीं कर सकता। इसी प्रकार सुखवादी सिद्धान्त भी पक्षपाती दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और हमें यह नहीं बताता कि किस उद्देश्य को लेकर एवं किस कर्तव्य को सामने रखते हुए, इच्छाओं की तृप्ति करनी चाहिए। इन दोनों सिद्धान्तों में जो आंशिक सत्य है, उसका स्पष्टीकरण तभी हो सकता है जब हम व्यक्ति के समाज में स्थान तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यों की निष्पक्ष व्याख्या करें। इस विवेचन से यह तो स्पष्ट है कि जिस कर्तव्य को हम नैतिक प्रमाणित करना चाहते हैं, वह कर्तव्य निजी स्तर से श्रेष्ठ होना चाहिए। ऐसा स्तर ही हमें आत्मानुभूति को उद्देश्य स्वीकार करने में सहायक हो सकता है। क्योंकि आत्मानुभूति का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमें कि विशेष निजी हितों तथा अमूर्त व्यापक आदर्श का समन्वय होता है, इसलिए इसी सिद्धान्त में हमें एक ऐसे व्यापक कर्तव्य की झलक प्राप्त होती है, जिसको कि ठोस जीवन पर लागू किया जा सकता है। केवल ब्रैडले ही एक ऐसा दार्शनिक है, जिसने कि कर्तव्य की इस प्रकार व्यापक और तर्कात्मक धारणा प्रस्तुत की है, अतः हम इस अध्याय में ब्रैडले के दृष्टिकोण के आधार पर ही व्यक्ति का समाज में स्थान तथा तदनुकूल कर्तव्यों की व्याख्या करेंगे। किन्तु ऐसी व्याख्या में ब्रैडले के दृष्टिकोण में निहित त्रुटियों की आलोचना करना और उसका प्रतिकार बताना भी नितान्त आवश्यक है।

ब्रैडले यह मानकर चलता है कि आत्मा के जिस स्तर की अनुभूति को हम नैतिकता का उद्देश्य स्वीकार करते हैं, वह स्तर न तो इतना अधिक व्यापक है कि उसे अमूर्त स्वीकार कर लिया जाए और न वह इतना अधिक विशेष है कि उसे विशिष्ट भावों का एकत्रीकरण-मात्र स्वीकार कर लिया जाए। जिस आत्मा की अनुभूति को हम आदर्श स्वीकार करते हैं, वह निस्सन्देह ऐसे शुभ संकल्प पर आधारित व्यक्तित्व का स्तर है, जोकि व्यक्ति-विशेष से श्रेष्ठ है और निजी हितों से ऊपर उठ जाता है। किन्तु ऐसा

---

in the continual assertion of its own universality, together with its unceasing particularity and finitude."

—Ethical Studies by F. H. Bradley, Page 160.

स्तर निस्सन्देह ठोस जीवन से सम्बन्ध रखनेवाला स्तर है। एक ओर तो वह इतना व्यापक है कि वह व्यक्ति-विशेष के निर्वाचन अथवा निजी दृष्टिकोण से ऊपर उठ जाता है और दूसरी ओर वह इतना ठोस है कि वह प्रत्येक व्यक्ति का ऐसा कर्तव्य बन जाता है जिसका अनुसरण करना सामान्य व्यक्ति के सफल जीवन के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि नैतिक कर्तव्य वह कर्तव्य है, जो व्यक्ति से श्रेष्ठ है, व्यापक है, ठोस है तथा शरीर-विषयक (Organic) है। कर्तव्य के इन लक्षणों की संक्षिप्त व्याख्या करना इसलिए आवश्यक है कि यदि आत्मानुभूति को सर्वोत्कृष्ट नैतिक आदर्श मान लिया जाए, तो उस आदर्श का जीवन में लागू होना इन्हीं मूल तत्त्वों पर निर्भर रहता है।

यदि हम आत्मानुभूति को नैतिक आदर्श स्वीकार करें, तो इसका अभिप्राय यह हो जाता है कि हमें ऐसे शुभ संकल्प को लक्ष्य बनाना है, जोकि हमारे निजी व्यक्तित्व से उत्कृष्ट है। यदि हम अपने निजी व्यक्तित्व को ही आत्मानुभूति का लक्ष्य मान लेते हैं, तो हमारा नैतिक आदर्श केवल व्यक्ति की स्वार्थ-सिद्धि तक ही सीमित रह जाता है और वह सामान्य नहीं बन सकता। यदि नैतिक आदर्श एक सामान्य नियम है, तो उसे व्यक्तिगत हित से उत्कृष्ट भी होना पड़ेगा। उत्कृष्ट शुभ संकल्प को लक्ष्य बनाने का अर्थ यही है कि नैतिक आदर्श अन्तरात्मक भाव न होकर एक सामान्य बाह्यात्मक तत्त्व है। अतः आदर्श का उत्कृष्ट होना, उसकी व्यापकता तथा सामान्यता को प्रमाणित करता है और सामान्यता एवं व्यापकता उसकी उत्कृष्टता को प्रमाणित करती है। जब हम यह कहते हैं कि नैतिक आदर्श सामान्य है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह किसी विशेष भाव अथवा प्रवृत्ति को अभिव्यक्त नहीं करता, अपितु सभी विशेषों से ऊपर उठ जाता है। नैतिक आदर्श का तीसरा लक्षण यह है कि वह अमूर्त न होकर ठोस है। यदि नतिक आदर्श केवल अमूर्त हो और वास्तविक अस्तित्व न रखता हो, तो उसकी अनुभूति कदापि सम्भव नहीं हो सकती। जब हम यह कहते हैं कि नैतिक आदर्श ठोस है, हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह व्यापक और सामान्य होते हुए भी विशेषों में ही अभिव्यक्त होता है। वह केवल विशेषों के द्वारा ही अनुभूत होता है और सान्त व्यक्तियों के जीवन का वास्तविक संकल्प होता है। यदि वह जीवन का वास्तविक संकल्प न हो तो उसके शुभ होने का और नैतिक होने का कोई अर्थ नहीं रहता। इस प्रकार ठोस और जीवन से वास्तविक रूप से सम्बन्धित होने के कारण नैतिक आदर्श एक ऐसा पूर्ण है जोकि सम्पूर्ण आत्मा में एवं व्यक्तित्व में ओतप्रोत रहता है। यह एक ऐसा पूर्ण है अथवा पूर्ण आत्मा है, जो शरीर के साथ-साथ जीवित रहती है, जो शरीर को जीवित शरीर बनाती है और जो स्वयं शरीर के बिना उसी प्रकार असत्य है एवं अमूर्त है, जिस प्रकार कि शरीर उसके बिना असत्य और अमूर्त होता है। इस प्रकार नैतिक आदर्श एवं कर्तव्य का चौथा लक्षण यह है कि वह एक नैतिक शरीर है। उसमें न ही केवल चैतन्य आत्मानुभूति है, जोकि संकल्प पर आधारित होती है, अपितु वह सम्पूर्ण शरीर की ऐसी आत्मानुभूति और

वास्तविकता है जोकि जीवन के प्रत्येक कर्म में ओतप्रोत रहती है। इस प्रकार, नैतिक आदर्श के शरीर-विषयक होने का अर्थ यह है कि वह व्यक्ति में उपस्थित होता हुआ भी व्यक्ति से ऊपर उठ जाता है और ऐसे जीवन में समाविष्ट हो जाता है, जोकि केवल व्यक्तिगत जीवन नहीं होता, अपितु ऐसा जीवन होता है, जिसमें कि एक उदात्त और व्यापक व्यक्तित्व की झलक होती है।

नैतिक आदर्श की ऊपर दी गई व्याख्या प्रथम दृष्टिपात पर संगत प्रतीत नहीं होती, किन्तु यदि व्यक्तित्व और आत्मानुभूति का पूर्ण विश्लेषण किया जाए, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि जिस व्यक्तित्व की अनुभूति को हम उच्चतम नैतिक आदर्श स्वीकार कर सकते हैं, वह किसी व्यक्ति-विशेष का निजी शरीर अथवा व्यक्तित्व नहीं है और न ही यह सम्भव है कि कोई भी व्यक्ति ऐसा है जिसको कि हम उसके वातावरण से सर्वथा पृथक् कर सकते हैं। यदि यह सत्य है, तो व्यक्तिगत आत्मानुभूति का अर्थ व्यक्ति और समाज, विषमता और समता तथा एकत्व और अनेकत्व का सुन्दर समन्वय ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

जिस व्यापक शुभ संकल्प को आत्मानुभूति लक्ष्य बनाती है, वह वास्तव में व्यक्ति का उस नैतिक पूर्ण एवं शरीर से तादात्म्य है, जिसका कि यह स्वयं अंग है। इस नैतिक पूर्ण एवं शरीर की आत्मानुभूति, उसके आत्मचेतन सदस्यों के संकल्प के द्वारा ही फलीभूत होती है। इसे पूर्ण शरीर एवं समाज की आत्मानुभूति इसलिए कहा जाता है कि उसके प्रत्येक अंग और अंगों के द्वारा किए गए कर्म में एक ही संकल्प निहित रहता है। ब्रैडले इस प्रकार सामाजिक पूर्ण को एक व्यक्तित्व प्रदान करता है और प्रत्येक व्यक्ति को उस पूर्ण का अंग स्वीकार करता है। जब व्यक्ति एक शरीर के अंग की भांति अपने स्थान को समझ लेता है और उस स्थान के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करता है, तो वह स्वतः ही सुख का अनुभव भी करता है। इस प्रकार समाज-रूपी समष्टि को एक शरीर स्वीकार करके एवं एक क्रम मानकर और व्यक्ति को उस क्रम का अभिन्न अंग मानकर आत्मानुभूति का सिद्धान्त, कर्तव्य तथा सुख का समन्वित रूप प्रस्तुत करता है। यह समन्वय कल्पनात्मक नहीं है, अपितु एक तथ्यात्मक सत्य है।

व्यक्ति को सामाजिक शरीर का अंग स्वीकार करना, निस्सन्देह उसकी तथ्यात्मक व्याख्या करना है। हमने पिछले अध्याय में यह देखा है कि प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्य रूप से विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का सदस्य होता है। उसकी यह सदस्यता प्रमाणित करती है कि वह अपने-आपमें पृथक् अस्तित्व नहीं रखता। हम यह नहीं कह सकते कि किसी व्यक्ति में उसके व्यक्तिगत अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके विपरीत, हमें यह मानना पड़ेगा कि व्यक्ति का व्यक्तित्व, इन सामाजिक सम्बन्धों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कुछ लोग ऐसी धारणा प्रस्तुत करते हैं कि व्यक्ति अपने-आपमें वास्तविक हैं और उनके सामाजिक सम्बन्धों की वास्तविकता, उनकी व्यक्तिगत वास्तविकता पर आधारित है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्ति ही सामाजिक सम्बन्धों

को वास्तविक बनाते हैं और वे सामाजिक सम्बन्धों के कारण वास्तविक नहीं होते। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति सामाजिक संस्थाओं से बाहर रहकर भी वास्तविक हो सकते हैं। इस प्रकार पूर्ण का अस्तित्व वास्तविक न होकर, अंगों का जोड़-मात्र रह जाता है और उसके अंग पूर्ण से बाहर रहकर भी, उतने ही वास्तविक होते हैं, जितने कि वे उसके अन्दर रहकर वास्तविक होते हैं। किन्तु अंग एवं विशेषों को इस प्रकार आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना तथ्यों की अवहेलना करना है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान ने, विशेषकर पूर्णात्मक मनोविज्ञान (Gestalt psychology) ने यह प्रमाणित कर दिया है कि पूर्ण अपने अंगों का जोड़-मात्र नहीं है, इसके विपरीत वह इन अंगों से अधिक वास्तविक है और इन्हें नवीन अर्थ देता है। पूर्ण की इस विशेषता को पूर्णात्मक एवं आकारात्मक गुण (Form quality) कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप, हम एक ही रंग के लकड़ी के टुकड़ों से विभिन्न प्रकार के आकार बना सकते हैं और विभिन्न रंगों के लकड़ी के टुकड़ों से एक ही प्रकार के नमूने बना सकते हैं। इसी प्रकार हम एक ही रंग के कपड़े से अनेक प्रकार की वेशभूषाएं निर्मित कर सकते हैं। इन उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि किसी वस्तु के आकार की वास्तविकता उसके अंगों से सम्बन्धित होते हुए भी, एक ऐसी पूर्णात्मक वास्तविकता है, जिसका अपना महत्त्व है। पूर्ण में समन्वित विशेष अंग इसी पूर्ण की वास्तविकता से ही अपना महत्त्व प्राप्त करते हैं। ब्रैडले की व्यक्ति और समाज की शरीर-विषयक धारणा, पूर्णात्मक मनोविज्ञान के अनुसन्धान से पुष्ट होती है। अतः ब्रैडले का यह स्वीकार करना कि व्यक्ति उसी प्रकार अपनी क्रिया करता है, जिस प्रकार कि एक अंग पूर्ण के सम्बन्ध में क्रिया करता है, कोरी कल्पना नहीं है, अपितु एक वास्तविक धारणा है। यही कारण है कि ब्रैडले बलशाली शब्दों में, आत्मानुभूति के सिद्धान्त को शरीर-विषयक आधार पर अभिव्यक्त करते हुए कहता है, "यह वास्तविक है और मेरे लिए वास्तविक है। इसको स्वीकार करते हुए मैं अपने-आपको स्वीकार करता हूं, क्योंकि मैं स्वयं इस क्रम के हृदय की धड़कन-मात्र हूं।··· उस अनुभूत लक्ष्य में, जो मुझसे श्रेष्ठ है, किन्तु जो वर्तमान में अस्तित्व रखता है, हम एक निरन्तर प्रक्रिया प्राप्त करते हैं। उसमें हमें अपना उद्देश्य प्राप्त होता है। उसमें आत्मानुभूति प्राप्त होती है, उसमें कर्तव्य और सुख एक हो जाते हैं—हां, हम उस समय अपने-आपको प्राप्त करते हैं, जब हम अपने स्थान और अपने कर्तव्यों को एवं समाज-रूपी शरीर के एक अंग के रूप में, अपने कर्तव्य को ढूंढ़ लेते हैं।"[१]

१. "It is real and real for me. It is in its affirmation that I affirm myself, for I am but as a heart beat.......In the realized idea, which, superior to me, and yet here and now in and by me, affirms itself in a continuous process, we have found the end, we have found self-realization, duty, and happiness in one—yes, we have found ourselves, when we have found our station and its duties, our function as an organ in the social organism." —Ibid., Page 163.

इस प्रकार आत्मानुभूति का सिद्धान्त एक यथार्थता की अभिव्यक्ति है। वह व्यक्तिवाद का निस्सन्देह विरोध करता है, क्योंकि व्यक्तिवाद व्यक्ति को एक अमूर्त वास्तविकता प्रमाणित करने की चेष्टा करता है। व्यक्ति और समाज की अभिन्नता का सम्बन्ध तत्त्वात्मक विषय नहीं है, अपितु तथ्यों पर आधारित व्याख्या है। व्यक्ति को जो व्यक्तित्व प्राप्त होता है, वह उस समुदाय और समाज के कारण ही होता है, जिसका कि वह अंग होता है, जिसमें वह निवास करता है और जिसके वातावरण में वह जीवन प्राप्त करता है। इस प्रकार वह समाज एवं समुदाय, जोकि व्यक्ति को अस्तित्व देते हैं, केवल नाम-मात्र ही नहीं हैं, अपितु वास्तविकता है।

हम इस दृष्टिकोण को पुष्ट करने के लिए कोई भी ठोस उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं। मान लीजिए कि हम एक भारतीय मनुष्य के अस्तित्व के विषय में विचार करते हैं। यह भारतीय मनुष्य उस समय तक न तो भारतीय और न ही मनुष्य कहा जा सकता है, जब तक कि वह अन्य भारतीय मनुष्यों की भांति भारतीयता के तथा मनुष्यता के लक्षण नहीं रखता। यदि ऐसे मनुष्य को उन सभी सामान्य सामान्यताओं से पृथक् कर दिया जाए, जोकि अन्य भारतीय मनुष्यों में हैं, तो हम यह नहीं बता सकते कि वह मनुष्य क्या है। वास्तव में भारतीय मनुष्य की विशेषता यही है कि वह एक विशेष सामाजिक और सांस्कृतिक वातातरण में उत्पन्न हुआ है और एक विशेष सामाजिक पूर्ण का सदस्य है। यदि उसको इस पूर्ण से, इस वातावरण से तथा इन सामान्य सामाजिक लक्षणों से सर्वथा पृथक् कर दिया जाए, तो न तो उसका कोई अस्तित्व रह जाता है और न व्यक्तित्व। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्ति-व्यक्ति में और व्यक्ति-समाज में भौतिक भेद हैं, किन्तु इन भेदों के होते हुए भी उनमें समानता होती है और उस समानता के आधार पर ही, व्यक्ति को विशेष प्रकार का व्यक्ति कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति और समाज अनेकत्व और एकत्व को अभिव्यक्त करते हैं। कोई भी विशेष मनुष्य, जोकि अपने समुदाय से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता और जिसमें समुदाय के मूल तत्त्व नहीं हैं, एक मिथ्या कल्पना-मात्र है। हम इस दृष्टिकोण को केवल बौद्धिक विवेचन के द्वारा ही नहीं, अपितु तथ्यों के आधार पर प्रमाणित कर सकते हैं। मान लीजिए कि हम एक भारतीय शिशु के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हैं। उस भारतीय शिशु का जन्म होते ही उसे व्यक्तित्व प्राप्त होता है। किन्तु यह व्यक्तित्व अन्य सभी मनुष्यों से पार्थक्य का व्यक्तित्व नहीं है। यह तो सत्य है कि जन्म के समय उसपर शिक्षा तथा सामाजिक वातावरण का प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु फिर भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान इस बात को मानकर चलता है कि नवजात शिशु का व्यक्तित्व, उन जन्मजात प्रवृत्तियों पर आधारित होता है, जो उसे अपने माता-पिता से प्राप्त होती हैं। उसके माता-पिता को स्वयं ये प्रवृत्तियां उनके पूर्वजों से उपलब्ध होती हैं। इसके अतिरिक्त एक भारतीय शिशु, केवल एक कुटुम्ब का सदस्य ही नहीं होता, अपितु वह भारतीय राष्ट का भी सदस्य होता है। उसमें वे सब लक्षण उपस्थित होते हैं, जोकि

अन्य सभी भारतीय शिशुओं में होते हैं और जो इन्हें अन्य राष्ट्र के शिशुओं से पृथक् करते हैं। अतः उस शिशु का अस्तित्व अन्य शिशुओं के समान है। वह मात्र पृथक् व्यक्ति नहीं है।

यदि परम्परागत प्रवृत्तियों का अधिक विश्लेषण किया जाए, और इनके आरम्भ को ढूंढ़ने की चेष्टा की जाए, तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि सभी सामाजिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियां, जो शिशु को अपने माता-पिता से, और माता-पिता को उनके पूर्वजों से प्राप्त होती हैं, वास्तव में मनुष्य के सामाजिक स्वभाव की देन हैं। जब शिशु जन्म लेता है, तो वह शून्य में जन्म नहीं लेता, अपितु एक जीवित विश्व में और एक ऐसे पूर्ण में जन्म लेता है, जिसका कि वह एक अंग है। उसकी विशेषता एवं उसका व्यक्तित्व वास्तव में उसी पूर्ण एवं सामाजिक क्रम की देन है। शिशु आरम्भ में अपने व्यक्तित्व को कदापि पृथक् नहीं मानता। वह तो अपने में और अन्य व्यक्तियों में भेद भी नहीं कर सकता। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि शिशु अपने विश्व के साथ-साथ विकसित होता है और जब वह इस योग्य हो जाता है कि वह अपने-आपमें और बाह्य जगत् में पार्थक्य कर सके, तो उस समय तक उसकी आत्मचेतना इतनी विकसित हो चुकी होती है कि वह अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व से एवं सामाजिक वातावरण से पूर्णतया प्रभावित हो जाता है। उसका व्यक्तित्व विशेष होते हुए भी उस सामान्य और व्यापक जीवन की अभिव्यक्ति होता है, जिसका कि वह शिशु एक अभिन्न अंग है। ब्रैडले के शब्दों में, "वह अपने जीवन को पूर्ण के जीवन में प्राप्त करता है। वह उसको अपने-आपमें अनुभूत करता है, 'वह सम्पूर्ण क्रम की नाड़ी की धड़कन है और स्वयं पूर्ण क्रम है'।"[1]

व्यक्ति तथा पूर्ण का यह सम्बन्ध, जोकि व्यक्ति के स्थान तथा उसके कर्तव्यों को उदात्त आदर्श बनाता है, निस्सन्देह उपनिषदों की आत्मा तथा ब्रह्म एवं व्यक्ति तथा विश्व की धारणा के सदृश है। उपनिषदों के अनुसार, व्यक्तिगत आत्मा पूर्ण ब्रह्म का प्रतिनिधि माना गया है। व्यक्तिगत आत्मा इसलिए पूर्ण है कि वह विश्वव्यापी तथा विश्वातीत सत्ता पूर्ण ब्रह्म का अंश है। इस व्यक्तिगत आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य स्वतः ही पूर्ण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यहां पर अंश और अंशी का सम्बन्ध समन्वयात्मक सम्बन्ध है, जिसमें विषमता में समता और अनेकत्व में एकत्व अभिव्यक्त होता है। ब्रैडले की व्यक्ति तथा समष्टि की धारणा भी इसी समन्वयात्मक दृष्टिकोण पर आधारित है। उसकी दृष्टि से व्यक्तिगत नैतिकता उस विश्वव्यापी नैतिकता से परिस्फुटित होती है, जोकि एक निरपेक्ष अन्तर्दृष्टि में निवास करती है। ब्रैडले ने इस विश्वव्यापी नैतिकता को 'इथॉस' (Ethos) कहा है, जिसका पर्यायवाची वैदिक दर्शन में 'ऋत' है। वेदों में ऋत की धारणा विशेष महत्त्व रखती है। ऋत वह शाश्वत

---

१. "He has found his life in the life of the whole, he lives that in himself, 'he is a pulse beat of the whole system and himself the whole system'." —Ibid., Page 172.

नैतिक नियम है, जो विश्व तथा विश्व की सभी प्रवृत्तियों का आधार माना गया है। इसलिए वैदिक साहित्य में प्रत्येक देवता को ऋत का रक्षक माना गया है और समाज के प्रत्येक सदस्य को ऋत का पालन करने की प्रेरणा दी गई है। ब्रैडले के अनुसार भी प्रत्येक समाज के नैतिक नियम, विश्वव्यापी नैतिकता की अभिव्यक्ति हैं। इसलिए जब व्यक्ति सामाजिक, नैतिक नियमों का अनुसरण करता है, तो वह धीरे-धीरे इस विश्व-व्यापी आधारभूत नैतिकता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसीमें अपने जीवन को समाविष्ट कर देता है। इसी दृष्टि से ही यह कहा गया है कि नैतिक होने का अर्थ अपने देश की नैतिक परम्पराओं के अनुसार जीवन व्यतीत करना है।[1]

यह कथन देखने में तो सरल है, किन्तु वास्तव में यह सभी नैतिक सिद्धान्तों का सार है। जब व्यक्ति को विश्व में अपने स्थान का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि देश, काल और परम्परा के अनुसार उसका क्या कर्तव्य एवं धर्म है, तब वह स्वतः ही नैतिक जीवन व्यतीत करता है और परम्पराओं का अनुसरण करता हुआ, नैतिक दृष्टि से व्यक्तित्व का विकास करता चला जाता है। ब्रैडले ने भी इस बात को माना है कि व्यक्तित्व का यह विकास एवं आत्मानुभूति, एक क्रमिक प्रक्रिया है। भगवद्गीता के अनुसार, आत्मानुभूति के मार्ग में अग्रसर होने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने स्थान के अनुसार कर्तव्य करने की आज्ञा दी गई है। क्योंकि भारतीय दर्शन के अनुसार व्यक्तित्व की पूर्णता एवं आत्मानुभूति एक क्रमिक प्रक्रिया है और जन्म-जन्मान्तर के पश्चात् उपलब्ध होती है, इसलिए अपने कर्तव्य के पालन करने का आदेश देते हुए भगवद्गीता के आचारशास्त्र ने इतने तक कह दिया है कि अपने कर्तव्य का पालन करते हुए मृत्यु को प्राप्त करना भी मनुष्य के लिए श्रेयस्कर है। इसका कारण यह है कि जब एक व्यक्ति सामाजिक हित के लिए अपने धर्म पर चलता है, तो वह निस्सन्देह व्यक्तिगत स्तर से ऊपर उठकर अपने-आपको सामुदायिक स्तर में अनुभूत करता है। अतः किसी व्यक्ति को जानने के लिए हमें यह नहीं देखना चाहिए कि वह कुटुम्ब, समाज तथा राष्ट्र से पृथक् क्या है। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वह किसी राष्ट्र से सम्बन्ध रखता है, किसी कुल में उत्पन्न हुआ है और किसी विशेष समाज में अपना जीवन व्यतीत करता है।

ऊपर दिए गए विवेचन का निष्कर्ष यह है कि मनुष्य का उसके स्थान के अनुसार कर्तव्य, उसके कुटुम्ब, उसके समाज, उसके राष्ट्र तथा वर्तमान युग में अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं द्वारा निर्धारित होता है। इन संस्थाओं की परम्पराओं से प्रभावित होने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य का अन्तरात्मक अंग बाह्यात्मक तथ्यों से समन्वित होने के कारण, एक ठोस व्यापक रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार व्यक्ति के स्थान तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यों का आदर्श, न तो इतना अधिक अन्तरात्मक होता है कि वह कांट के शुभ संकल्प की भांति शून्य, शुष्क और अमूर्त प्रमाणित हो और न इतना अधिक

१. Ibid., Page 173.

सांसारिक होता है कि वह सुखवाद की भांति निरुद्देश्य तृप्ति सिद्ध हो, अपितु वह व्यक्ति तथा सामाजिक संस्थाओं को एक सजीव सम्बन्ध में बांधकर इस प्रकार अन्योन्याश्रित प्रमाणित करता है कि व्यक्ति का कर्तव्य, एक ओर तो व्यापक होने के कारण सम्पूर्ण समाज के विकास में योग देता है और दूसरी ओर व्यक्ति का भी विकास करता है, क्योंकि उसका विकास समाज के विकास से सम्बद्ध होता है । इस आदर्श के अन्तर्गत व्यक्ति समाज के साथ एकत्व प्राप्त करता है, क्योंकि यह सत्य है कि मनुष्य मूलतया एक सामाजिक प्राणी है। उसकी वास्तविकता समाज की वास्तविकता पर निर्भर है। वह आत्मानुभूति केवल इसलिए कर सकता है कि सामाजिक प्राणी होने के कारण ही उसे आत्मानुभूति की प्रेरणा प्राप्त होती है। मात्र व्यक्ति निस्सन्देह एक मिथ्या कल्पना है। ऐसी कल्पना के आधार पर, जोकि व्यक्ति और समाज को पृथक् करती है, कदापि नैतिकता को व्यवहार में नहीं उतारा जा सकता।

हमने ब्रैडले के दृष्टिकोण की जो आलोचनात्मक व्याख्या ऊपर दी है, उससे यह प्रमाणित होता है कि यदि पश्चिमीय नैतिक सिद्धान्तों में कोई भी सापेक्षवादी सिद्धांत व्यावहारिक सिद्ध हो सकता है, तो वह व्यक्ति के स्थान के अनुसार कर्तव्यों का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से नैतिकता की सापेक्षता को सिद्ध करता है, किन्तु इसके साथ ही साथ यह इस बात को भी स्पष्ट करता है कि नैतिकता एक वास्तविक तथ्य है और जीवन के विकास के साथ-साथ उसका विकास और वृद्धि होती है। नैतिकता का यह विकास मनुष्य को सदैव प्रेरणा देता है कि वह धीरे-धीरे नैतिकता के न्यून स्तर से उच्च स्तर पर, उच्च से उच्चतर और उच्चतर से उच्चतम स्तर पर पहुंचने की निरन्तर चेष्टा करता रहे । इस प्रकार का आदर्श कांट के 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' की अपेक्षा किन कारणों से श्रेष्ठ है, यह बात सरलता से समझी जा सकती है।

सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि जहां कांट का सिद्धान्त अमूर्त है और व्यक्तिगत धारणा पर आधारित है, वहां जो सामान्य नियम 'व्यक्ति का स्थान तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यों' में उपलब्ध होता है, वह ठोस है और व्यक्तिगत मत पर आधारित नहीं है। यद्यपि अपने-अपने कर्तव्य का निर्वाचन कुछ सीमा तक व्यक्तिगत इच्छा पर भी निर्भर होता है, तथापि यह सत्य है कि हमारे सामाजिक स्थान से सम्बन्धित कर्तव्य सर्वदा व्यक्तिगत मत अथवा इच्छा पर निर्भर नहीं होते। ऐसे कर्तव्य के सम्बन्ध में, देश-काल और परिस्थितियां, हमारी अनिच्छा के होते हुए भी हमें विशेष मार्ग अपनाने के लिए बाध्य करती हैं। भगवद्गीता में अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पालन करने का आदेश दिया गया है । यही कारण है कि अर्जुन को अपने सम्बन्धियों के प्रति आसक्ति की भावना को त्यागकर उनके विरुद्ध युद्ध करने को तत्पर किया गया है। इस प्रकार का कर्तव्य हमें व्यक्तिगत परिस्थितियों से ऊपर उठाकर, एक अधिक व्यापक और पूर्ण शरीर-विषयक जीवन व्यतीत करने पर बाध्य करता है। यह पूर्ण किसी प्रकार की अमूर्त धारणा-मात्र नहीं है,

अपितु ऐसी व्यवस्था और क्रम है, जिसमें जीवन के अनेक पहलू एक ही दृष्टिकोण के अन्तर्गत किए जाते हैं। इस व्यवस्था में विशेष कर्मों को जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों से सम्बद्ध किया जाता है और जीवन के अनेक दृष्टिकोणों को एक ही चरम लक्ष्य के अधीन किया जाता है। इस प्रकार अंश और पूर्ण का एक यथार्थ सम्बन्ध सदैव क्रियाशील रहता है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंग सम्पूर्ण शरीर के लिए कार्य करते हैं, उसी प्रकार जीवन के विभिन्न कर्म और कर्मों के विभिन्न दृष्टिकोण जीवन के चरम लक्ष्य से प्रभावित होकर क्रियाशील होते हैं, और जीवन का सम्पूर्ण लक्ष्य सभी कर्मों में ओतप्रोत हो जाता है। व्यक्ति का जीवन सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के लिए क्रियाशील होता है और व्यक्ति तथा समष्टि एक-दूसरे में ओतप्रोत होते हैं। व्यक्तिगत संकल्प अपने-आपको पूर्ण सामाजिक व्यक्तित्व में अनुभूत करता है और व्यक्ति स्वयं सामाजिक पूर्ण में परिवर्तित हो जाता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति और समाज की परस्पर विभिन्नता इस आदर्श का पालन करने से स्वतः ही समाप्त हो जाती है।

इस आदर्श की दूसरी विशेषता यह है कि व्यक्ति के स्थान के अनुसार, कर्तव्यों के पालन करने का आदर्श, न ही केवल एक व्यावहारिक और ठोस आदर्श है, अपितु वह बाह्यात्मक भी है। जब हम यह कहते हैं कि यह आदर्श बाह्यात्मक है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह न तो मात्र विषयगत (Objective) है और न मात्र अन्तरात्मक (Subjective) है। इसमें न तो व्यक्ति के अन्तरात्मक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल है और न जीवन के बाह्यात्मक अंग पर। इसमें कर्ता तथा विषय का वह यथार्थ तादात्म्य उपस्थित है, जिसके एकमात्र माध्यम से हमारी इच्छाओं की उचित तृप्ति होती है। इसमें हमारे जीवन का अन्तरात्मक अंग अवश्य उपस्थित होता है, किन्तु वह अन्तरात्मक अंग ही सर्वेसर्वा नहीं है, वह तो पूर्ण का एक अंग-मात्र एवं तत्त्व है और इसे दूसरे तत्त्व से सर्वथा पृथक् नहीं करना चाहिए। केवल अन्तरात्मक अंग को सम्पूर्ण व्यक्तित्व से पृथक् करना नैतिकता का एकपक्षीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। यद्यपि हमारे जीवन का अन्तरात्मक अंग एक निश्चित तथ्य है और उसका सम्पूर्ण से भेद किया जा सकता है, तथापि यह नहीं भूलना चाहिए कि यह तत्त्व, सम्पूर्ण जीवन पर निर्भर है और उस सम्पूर्ण का अभिन्न अंग है। सम्पूर्ण जीवन के दो नैतिक अंग हैं, एक बाह्यात्मक और दूसरा अन्तरात्मक। बाह्यात्मक अंग में वे सब सामाजिक संस्थाएं और व्यवस्थाएं हैं, जिनकी हमने पहले व्याख्या की है। परिवार से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तक जो व्यवस्था है, वह नैतिक जगत् का बाह्यात्मक अंग है। उसे हम नैतिक जगत् एवं नैतिक जीवन का शरीर कह सकते हैं। किन्तु इस नैतिक शरीर की आधारभूत आत्मा का होना भी आवश्यक है। ये सभी संस्थाएं आत्मा के बिना उसी प्रकार जीवित नहीं रह सकतीं, जिस प्रकार कि व्यक्तिगत शरीर आत्मा के बिना। नैतिक शरीर की आत्मा उसके विभिन्न अंगों का संकल्प है। वह संकल्प वास्तव में सम्पूर्ण शरीर का संकल्प है, जोकि विभिन्न अंगों में उपस्थित रहकर, सम्पूर्ण शरीर को जीवित बनाता है और सम्पूर्ण शरीर के उद्देश्य एवं लक्ष्य की

ओर अग्रसर होता है। यह संकल्प प्रत्येक अंग में व्यक्तिगत संकल्प के रूप में आत्मा के द्वारा ज्ञात एवं अनुभूत होता है। हम इस तथ्य को उदाहरण के द्वारा और भी स्पष्ट कर सकते हैं। कोई भी राष्ट्र उस समय तक शक्तिशाली नहीं हो सकता, जब तक कि उस राष्ट्र के विभिन्न समुदाय शक्तिशाली और सजीव न हों, और वे समुदाय तब तक शक्तिशाली और सजीव नहीं हो सकते, जब तक कि उनके विभिन्न सदस्य स्वयं ऐसे न हों। इसी प्रकार जब तक विश्व के विभिन्न राष्ट्र, प्रेम और भ्रातृभाव की भावना से प्रेरित न हों, तब तक कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था फलीभूत नहीं हो सकती। व्यक्ति के स्थान के अनुसार कर्तव्य का सिद्धान्त इस दृष्टि से नैतिक जीवन के अन्तरात्मक और बाह्यात्मक अंगों में समन्वय उत्पन्न करता है कि वह परिवार से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तक को नैतिक जीवन का शरीर स्वीकार करता है और व्यक्ति तथा उन संस्थाओं में उपस्थित संकल्प को नैतिकता का अन्तरात्मक अंग एवं प्रेरणा स्वीकार करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि नैतिक जगत् का बाह्यात्मक अंग उस समय तक सजग और सजीव नहीं हो सकता, जब तक कि उसमें संकल्प न हो। उसमें संकल्प उपस्थित होने का अर्थ यह है कि वह संकल्प व्यक्तियों के द्वारा होता है और इन व्यक्तियों का नैतिक जगत्, केवल उनकी संकल्प की सामग्री पर आधारित नहीं होता, अपितु उसमें सामुदायिक सामग्री के संकल्प करने की चेतना उपस्थित होती है। इस प्रकार यह आदर्श व्यक्ति तथा समाज, संकल्प तथा इच्छाओं की तृप्ति एवं आकार तथा सामग्री, व्यक्तिगत नैतिकता तथा सामाजिक शुभ—दोनों का समन्वय करता है।

इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति का नैतिक व्यक्तित्व केवल उस तक ही सीमित नहीं है। मेरा नैतिक व्यक्तित्व मात्र मेरा नहीं है। वह ऐसा अन्तरात्मक तत्त्व नहीं है, जो केवल मेरी व्यक्तिगत सम्पत्ति हो। इसके अतिरिक्त वह केवल अन्तरात्मक इसलिए नहीं है कि वह केवल आत्मा हो, क्योंकि वह एक ऐसी आत्मा है, जो किसी शरीर में जीवन उत्पन्न करके उसमें जीवित रहती है और उस समय तक आत्मा नहीं रह सकती, जब तक कि उसका कोई शरीर न हो।[1] इस प्रकार व्यक्तिगत संकल्प सामाजिक परम्पराओं को सजग और सजीव बनाता है। विषयगत नैतिक शरीर वह व्यवस्थित नैतिक जगत् है, जोकि नैतिक संकल्प, वास्तविकता एवं अभिव्यक्ति प्रदान करता है। मेरे कर्तव्य वे अन्तरात्मक क्रियाशीलता हैं, जोकि इस बाह्यात्मक शरीर को स्फूर्ति तथा जीवन प्रदान करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति अपने-आपको नैतिक शरीर के संकल्प से एक बना देता है और इस एकत्व में आत्मा तथा शरीर के समन्वय का अनुभव करता है। अतः हम यह देखते हैं कि जब व्यक्ति कर्म करता है, तो उसका वह कर्म निरुद्देश्य नहीं होता, वह कर्म उस रिक्त स्थान के अनुसार होता है, जिस स्थान की पूर्ति वह व्यक्ति करता है। प्रत्येक व्यक्ति निस्सन्देह अपने-अपने रिक्त स्थान की पूर्ति करता है। उस पूर्ति का उद्देश्य यह है कि व्यक्तिगत आत्मा को सम्पूर्ण जीवन का साधन और सम्पूर्ण नैतिक

१. Ibid., Page 180.

शरीर की आत्मा की क्रियाशीलता बना देना चाहिए। इस प्रकार व्यक्तित्व अपने-आपको एक ठोस वास्तविकता में अभिव्यक्त करता है।

व्यक्ति के स्थान के अनुसार कर्तव्यों का आदर्श न ही केवल ठोस और बाह्यात्मक है, अपितु वह हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अनुभूति के अन्तर्गत ले लेता है। इस आदर्श में कर्तव्य तथा अनुभवात्मक व्यक्तित्व का परस्पर-विरोध नहीं रहता। इसकी अनुभूति में व्यक्ति का कोई भी अंग ऐसा नहीं रहता, जो आत्मानुभूति में समाविष्ट न हो। 'कर्तव्य के प्रति कर्तव्य' में आदर्श सदैव हमसे दूर रहता है और हम लक्ष्य के निकट कभी नहीं पहुंच सकते। इसमें हमारा विषय-भोग आदि के व्यक्तित्व का अंग सदैव ऐसे तर्कात्मक अंग से विरोध करता रहता है, जिसका उद्देश्य सभी इच्छाओं का दमन करना है। इस दृष्टि से कर्तव्य एक अनन्त प्रक्रिया हो जाता है और उसमें सदा के लिए निषेध उपस्थित रहता है।

यह दोष स्थान के अनुसार कर्तव्यों के आदर्श में उपस्थित नहीं रहता। इसमें व्यक्ति नैतिक दृष्टि से, इस प्रकार आत्मानुभूति करता है जिसके अनुसार उसे वास्तविक सन्तोष और तृप्ति प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, कर्तव्य का पालन करते समय व्यक्ति के मन में केवल दमन और निषेध की भावना नहीं रहती और न ही वह इस बात से सन्तुष्ट रहता है कि वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका। इसके विपरीत वह अपने-आपमें सन्तुष्ट और प्रसन्न होता है। जो व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करता है, हम उसके विषय में यह तो कह सकते हैं कि वह कर्तव्य के पालन करने में और भी उन्नति कर सकता है, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वह अनैतिक है अथवा उसे अपने-आपको अनैतिक मानना चाहिए। इसका कारण यह है कि जब कोई व्यक्ति स्थान के अनुसार कर्तव्यों के आदर्श का अनुसरण करता है, तो उसे यह ज्ञात होता है कि वह अपने स्थान पर रहकर, अन्य व्यक्तियों से अपना तादात्म्य कर रहा है। वह शुभ का अनुसरण करते हुए जब अपने-आपको शुभ मानता है, तो उस तादात्म्य के कारण अन्य सभी व्यक्तियों को शुभ ही स्वीकार करता है। यह आदर्श हमें यह बताता है कि प्रत्येक व्यक्ति दोषपूर्ण होते हुए भी उस समय तक शुभ है, जब तक कि वह अपना कर्तव्य कर रहा है। यदि कोई व्यक्ति वास्तव में अपने स्थान के अनुसार कर्तव्य कर रहा है, तो वह निस्सन्देह एक विधेयात्मक कर्म कर रहा होता है। उसे यह ज्ञान होता है कि प्रत्येक व्यक्ति एक ऐसे क्रम का सदस्य है, जो उसे वास्तविकता प्रदान करता है। उसका यह ज्ञान उसको उस क्रम से तादात्म्य करने के लिए और भी अधिक प्रेरणा देता है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि यह आदर्श मनुष्य की अपूर्णता को नैतिकता के लिए सहायक प्रमाणित करता है और यह सिद्ध करता है कि विश्व में शुभ संकल्प अपूर्ण साधनों के होते हुए भी उन्हींके द्वारा ही आत्मानुभूति प्रदान करता है।

स्थान के अनुसार कर्तव्यों का उपर्युक्त विवेचन एक क्रमिक नैतिकता के सिद्धान्त की पुष्टि करता है। व्यक्ति कर्तव्यों का पालन करता हुआ धीरे-धीरे अपूर्णताओं से ऊपर उठता चला जाता है। परिवार अथवा कुटुम्ब में व्यक्ति अपने स्वार्थ को त्यागकर,

व्यक्तिगत तृप्ति की अपेक्षा, परिवार के सुख को अधिक श्रेष्ठ मानता है और अपने-आपको अनुभूत करता है। इसके पश्चात् वह अपने-आपका समुदाय से तादात्म्य करके एक व्यापक क्षेत्र में आत्मानुभूति प्राप्त करता है। समुदाय के स्तर से ऊपर उठकर वह राष्ट्रीय स्तर तक पहुंचता है और राष्ट्रीय स्तर से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आत्मानुभूति करता है। इस प्रकार व्यक्ति धीरे-धीरे त्याग की भावना से प्रेरित होकर, व्यक्तिगत कर्तव्य का पालन करता हुआ, विश्व के व्यापक उद्देश्य की पूर्ति करता है। यज्ञ और त्याग की भावना को भारतीय दर्शन में इसलिए उच्चतम स्थान दिया गया है। वैदिक दृष्टि के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति के लिए यज्ञ करना इसलिए आवश्यक माना गया है कि यज्ञ के द्वारा ही हम स्वार्थ को त्यागकर समाज की वास्तविक सेवा कर सकते हैं। इसलिए उपनिषद् कहता है कि अन्य लोगों को भोजन खिलाकर ही स्वयं भोजन करना चाहिए। भगवद्गीता के अनुसार, जो व्यक्ति केवल अपने लिए ही भोजन बनाता है और जो दूसरों के लिए त्याग नहीं करता, वह चोर है एवं अनैतिक है।

स्थान के अनुसार कर्तव्यों का सिद्धान्त क्रमिक नैतिकता को पुष्ट करके पश्चिमीय आचार-विज्ञान की सापेक्षता के लक्षण को और भी स्पष्ट कर देता है। वास्तव में यह सत्य है कि जहां तक मनुष्य की सांसारिक सफलताओं का सम्बन्ध है, नैतिकता सापेक्ष है। किन्तु इस सापेक्षता का अर्थ यह नहीं कि वह वास्तविक नहीं है। जब व्यक्ति, व्यक्तिगत स्तर से कुटुम्ब के स्तर पर, कुटुम्ब से समुदाय और समुदाय से राष्ट्र तथा उसके पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुंचता है, तो वह प्रत्येक स्तर पर नैतिकता को वास्तविक प्रमाणित करता चला जाता है। दूसरे शब्दों में, यह सापेक्ष क्रमिक नैतिकता एक विकासशील प्रक्रिया है, जिसमें अतीत तथा वर्तमान प्रयत्नों के द्वारा व्यक्ति ऊंचे से ऊंचे स्तर पर बैठता चला जाता है। इस प्रकार यह नैतिक आदर्श कोरी कल्पना न होकर, एक व्यावहारिक आदर्श है। इसमें व्यक्ति का उत्कृष्ट व्यक्तित्व अतीत तथा वर्तमान के संकल्प की सहायता से अभिव्यक्त होता है। हमारे पूर्वजों ने अपना खून तथा पसीना बहाकर जो नैतिक स्तर तथा परम्पराएं प्राप्त की हैं, वे हमें केवल कृपा और प्रेम के द्वारा उपलब्ध होती हैं। वे वास्तव में हमारी निष्ठा हैं और हमारी पवित्र धरोहर हैं। इन परम्पराओं पर आश्रित नैतिकता एवं नैतिक कर्तव्य, व्यक्ति को उसके अपने स्वभाव के सत्य के रूप में प्राप्त होती है। वह उसकी शक्ति है और ऐसी विधि है जोकि व्यक्तिगत मत की संकुचितहृदयता से अधिक श्रेष्ठ और अधिक शक्तिशाली है।

सोलहवां अध्याय

परिवार तथा उससे सम्बन्धित कर्तव्यों का महत्त्व

(Family and the Importance of its Duties)

नैतिकता की दृष्टि से सामाजिक संस्थाओं तथा व्यक्ति के स्थानानुसार कर्तव्यों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमने पिछले दो अध्यायों में इस तथ्य की विस्तृत व्याख्या की है। कोई भी आचार-विज्ञान का अध्ययन उस समय तक उपयोगी नहीं माना जा सकता, जब तक कि व्यक्ति तथा समाज के नैतिक आदान-प्रदान एवं अधिकारों तथा कर्तव्यों की स्पष्टतापूर्वक व्याख्या न की जाए। ऐसी व्याख्या ही हमें नैतिक सिद्धान्त तथा व्यावहारिक जीवन को परस्पर समन्वित करने में सहायक हो सकती है। अनेक विद्वानों ने पश्चिमीय आचार-विज्ञान पर ग्रन्थ लिखे हैं और उन्होंने अत्यन्त सावधानी से, चातुर्य से तथा सूक्ष्म विश्लेषण से नैतिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। दुर्भाग्यवश ऐसे विद्वानों में से बहुमत उन लेखकों का है, जो नैतिक समस्याओं का केवल सैद्धान्तिक अध्ययन ही करते हैं और व्यावहारिक नैतिक जीवन को वैज्ञानिक विषय न मानकर, एक व्यक्तिगत समस्या घोषित करते हैं। आगे चलकर हमें कम से कम संक्षिप्त रूप में इस प्रश्न का उत्तर अवश्य देना पड़ेगा कि आचार-विज्ञान कहां तक व्यक्तिगत नैतिक समस्याओं में सहायक हो सकता है। इस अध्याय में हमें केवल यह सिद्ध करना है कि यद्यपि सभी सामाजिक संस्थाओं का सूक्ष्म अध्ययन नैतिकता की व्यावहारिक समस्याओं पर पूर्ण प्रकाश डालता है, तथापि इन सब संस्थाओं की आधारभूत संस्था कुटुम्ब, परिवार एवं गृहस्थ है। परिवार को सामाजिक इकाई माना गया है और वह वास्तव में अन्य सभी सामाजिक संस्थाओं की आधारशिला है। यदि प्रत्येक परिवार आदर्श और नैतिक जीवन-व्यतीत करने लगे, तो समाज की सभी जटिल नैतिक समस्याएं स्वतः ही सुलझ सकती हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य का सामाजिक जीवन, व्यावहारिक दृष्टि से, केवल उस समय प्रारम्भ होता है, जबकि वह विवाह के द्वारा एक अन्य व्यक्ति को अपना जीवन-साथी बनाता है। विवाह ही मनुष्य के व्यवस्थित सामाजिक जीवन की प्रथम सीढ़ी है। इसके अतिरिक्त कुटुम्ब एवं परिवार निस्सन्देह अन्य सभी सामाजिक संस्थाओं की आरसी एवं प्रतिबिम्ब है। इन कारणों से परिवार तथा उससे सम्बन्धित नैतिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का अध्ययन आचार-विज्ञान में विशेष महत्त्व रखता है। इस अध्याय में हम इसी दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए चिन्तन करेंगे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विवाहित जीवन की सफलता व्यक्ति तथा समाज दोनों के विकास के लिए आवश्यक है। एक ओर तो पुरुष तथा स्त्री का यह सम्बन्ध दम्पति के व्यक्तिगत विकास को प्रोत्साहन देता है और दूसरी ओर यही सम्बन्ध उनकी सन्तान की उत्पत्ति के पश्चात् सम्पूर्ण परिवार के विकास का आधार होता है। संस्कृत भाषा में, पति-पत्नी को दम्पति इसलिए कहा गया है कि यह शब्द 'दम्' तथा 'पति' दो शब्दों का समास है। 'दम्' शब्द का अर्थ 'घर' अथवा 'निवास-स्थान' है। इस शब्द का अंग्रेज़ी पर्याय-वाची 'डोम' (Dome) है। 'पति' शब्द का अर्थ स्वामी है। क्योंकि पति-पत्नी दोनों घर के स्वामी होते हैं, इसलिए इन्हें 'दम्पति' कहा गया है। गृहस्थ का सम्पूर्ण कार्यभार पति-पत्नी पर निर्भर होता है। अतः वे दोनों गृहस्थ-रूपी भवन के आधार-स्तम्भ हैं। इससे पूर्व कि हम पति-पत्नी के विशेष सम्बन्ध अर्थात् उनके कामवृत्त्यात्मक जीवन पर प्रकाश डालें, एक बार पुनः यह कह देना आवश्यक है कि व्यक्ति का विकास उसके विवाहित जीवन पर आधारित होता है; क्योंकि यदि उसके विवाहित जीवन में स्थायित्व होगा, तो उसके सामान्य जीवन में भी स्थायित्व रहेगा। इसी प्रकार समुदाय का कल्याण तथा उसकी प्रगति पारिवारिक जीवन की व्यवस्था पर निर्भर रहते हैं।

आधुनिक समय में कामवृत्ति के सम्बन्ध में जो मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान हुआ है, उसके अनुसार इस मूल प्रवृत्ति का दमन, व्यक्तित्व के विकास में अत्यन्त बाधक होता है। विवाहित जीवन में, सामाजिक नियमों के अनुसार, इस प्रवृत्ति की तुष्टि होती है और काम की मूल प्रवृत्ति, प्रेम के स्थायी भाव में परिवर्तित हो जाती है। यद्यपि विवाहित जीवन का आधार कामवृत्ति माना जा सकता है, तथापि इसका अभिप्राय यह नहीं कि कामवृत्ति की तृप्ति-मात्र ही विवाहित जीवन का उद्देश्य है। इसके विपरीत, यह वृत्ति उस पवित्र और व्यापक प्रेम का आधार है, जो व्यक्ति के जीवन में विभिन्न 'स्तरों पर विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है। मनोविश्लेषण के क्षेत्र में, विशेषकर फ्रायड तथा उसके अनुयायियों ने यह प्रमाणित किया है कि कामवृत्ति, शिशु के जन्म से ही उसमें उप-स्थित होती है और उसके समस्त मानसिक तथा शारीरिक विकास का मूल आधार होती है। व्यक्ति के असामान्य व्यवहार, उसकी साधारण भूलों तथा अपूर्णताओं का कारण इस मूल प्रवृत्ति का दमन तथा काम-सम्बन्धी अतृप्त इच्छाओं की अचेतन मन में उप-स्थिति है। इस सम्बन्ध में हमने आचार-विज्ञान की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि देते हुए दमित इच्छाओं की व्याख्या पहले ही की है। यहां पर काम-सम्बन्धी दमित इच्छाओं के दुष्प्रभाव को बतलाने का उद्देश्य यह है कि मानव-समाज में विवाह की प्रथा, इस दुष्प्रभाव से बचने का एक उपाय माना जा सकता है।

यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक देश में और प्रत्येक समाज में आदिकाल से ही विवाह को स्त्री तथा पुरुष के सुखी जीवन के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य माना गया है। यद्यपि ईसाई धर्म तथा अन्य मोक्षमार्ग से सम्बन्ध रखनेवाले मत-मतान्तरों में ब्रह्मचर्य को आध्यात्मिक विकास का मुख्य साधन माना गया है, तथापि यह सत्य है

कि गृहस्थ आश्रम में कामवृत्ति का प्रेम में परिवर्तित होना और मानवीय प्रेम का अनुभव करना ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति के लिए अवश्य सहायक है। अतः विवाह को मनोवैज्ञानिक, नैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना स्वीकार किया जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि मानसिक स्वास्थ्य के लिए, प्रौढ़ावस्था में स्त्री और पुरुष की कामवृत्ति के दमन को रोकने के लिए ही नहीं, अपितु उनको एक पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए भी विवाह की प्रथा लाभदायक सिद्ध हुई है। फ्रायड के अनुसन्धान से सहस्रों वर्ष पूर्व भारतीय ऋषियों ने यह प्रतिपादित किया था कि मनुष्य के व्यक्तित्व के सामान्य विकास के लिए विवाहित जीवन व्यतीत करना आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से यह कहा गया है कि मनुष्य का व्यक्तित्व उस समय तक अपूर्ण रहता है, जब तक कि वह विवाह नहीं करता। इस दृष्टि से विवाहित जीवन मनुष्य की मानसिक असामान्यताओं का प्रतिकार है और उसके मानसिक सन्तुलन का आधार है। किशोरावस्था के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि कामवृत्ति व्यक्तित्व के गठन का एवं चरित्र-निर्माण का आधार होती है। इस अवस्था में, जबकि यह मूल प्रवृत्ति परिपक्व हो जाती है और इसके कारण शारीरिक परिवर्तन होते हैं, ठीक उसी समय किशोर बालक अथवा बालिका में, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक परिवर्तन भी होते हैं। कामवृत्ति के कारण ही किशोर व्यक्ति में बौद्धिक तथा संवेगात्मक अनुभव को विशेष प्रेरणा मिलती है। किशोरावस्था ऐसी अवस्था है, जिससे एक उग्र आत्मचेतना उत्पन्न होती है। व्यक्ति एक ऐसे स्तर पर पहुंचता है, जोकि शैशवावस्था में नहीं था। यही कारण है कि इस परिपक्वता की प्राप्ति के समय, अनेक प्राचीन सभ्य समाजों में विशेष रीति-रिवाजों का अनुसरण किया जाता था। यह रीति-रिवाज वास्तव में कामवृत्ति के मनोवैज्ञानिक महत्त्व की अभिव्यक्ति है। वर्तमान समय में यद्यपि ऐसे रीति-रिवाजों को प्रोत्साहन नहीं मिलता, तथापि प्रेम तथा विवाह आदि को मनुष्य के व्यक्तित्व के गठन का आधार माना जाता है।

कामवृत्ति तथा उससे प्रेरित संवेगात्मक जीवन के सम्बन्ध में, स्त्री तथा पुरुष की मानसिक अवस्था में भेद बतलाना भी आवश्यक है। यह भेद न ही केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, अपितु नैतिक दृष्टि से भी इसका अध्ययन लाभदायक है। यह सत्य है कि स्त्री और पुरुष सामान्यतया प्रेम के सम्बन्ध में, विभिन्न दृष्टिकोण को अपनाते हैं। इसी विभिन्नता को प्राचीनकाल में अभिव्यक्त करते हुए कहा जाता था कि पुरुष के लिए प्रेम जीवन की एक घटना-मात्र है, जबकि स्त्री के लिए वह एक सम्पूर्ण जीवन है। यद्यपि इस दृष्टिकोण को हम शत-प्रतिशत ठीक नहीं मान सकते, तथापि यह सत्य है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए काम-सम्बन्धी जीवन अधिक महत्त्व रखता है। इसका एक कारण यह भी है कि स्त्री के सम्बन्ध में प्रेम का परिणाम शिशु की उत्पत्ति होता है और वह शिशु स्त्री के लिए उसके पति का प्रतिनिधि

बन जाता है। स्त्री और पुरुष की कामवृत्ति-सम्बन्धी धारणाएं, मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दृष्टि से विभिन्न होती हैं। पहले प्रकार की विभिन्नता को अभिव्यक्त करते हुए मेरी ऐंटिन ने कहा है कि एक स्त्री के लिए जीवन का कामवृत्यात्मक अंग इतना अधिक मूल-भूत और गम्भीर है कि उसे सरलता से हंसी-मज़ाक का विषय नहीं बनाया जा सकता, जबकि पुरुष जोकि इस जीवन को केवल बाहरी समझता है, जीवन के इस अंग को गम्भीर नहीं समझता। नैतिक दृष्टि से स्त्री के लिए कामवृत्ति के सम्बन्ध में पवित्रता का पालन करना पुरुष की अपेक्षा अधिक आवश्यक है। यही कारण है कि प्राचीनकाल से पुरुषों की अपेक्षा स्त्री के लिए विवाहित जीवन में पति के प्रति अगाध श्रद्धा रखना आवश्यक माना गया है। यह निस्सन्देह एक दुःख की बात है कि स्त्री से पवित्रता की यह आशा रखना यहां तक स्वीकार किया गया है कि उसे अनेक सभ्य समाजों में दासी-मात्र माना गया है। वर्तमान युग में, जबकि स्त्री और पुरुष की समता पर अधिक बल दिया जाता है, कामवृत्ति से सम्बन्धित अधिकारों तथा कर्तव्यों को भी पति-पत्नी पर समान रूप से लागू करना चाहिए। किन्तु यह विषमता तभी दूर की जा सकती है और मानवीय स्वभाव में तभी परिवर्तन आ सकता है, जब सामाजिक संस्थाओं को पूर्णतया बदल दिया जाए। यह बात आज भी मान्य है कि परिवार का भविष्य माता की सत्यपरायणता पर निर्भर रहता है। यही कारण है कि आज तक भी स्त्री के जीवन का सन्तुलन एवं उसका गठन उसके कामवृत्ति-सम्बन्धी जीवन पर निर्भर रहता है। स्त्री के काम-सम्बन्धी जीवन के अस्तव्यस्त होने का अर्थ, उसके व्यक्तित्व का बिखरना होता है, जबकि पुरुष के लिए ऐसा नहीं होता। अभी तक हमने कामवृत्ति का व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध बतलाया है। किन्तु इस मूल प्रवृत्ति के आधार पर विवाह के द्वारा जो दो व्यक्तियों का आजीवन सम्बन्ध होता है, उसे हम केवल दो व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं रख सकते। कुछ लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि विवाह पूर्णतया गुप्त और व्यक्तिगत प्रथा है, क्योंकि काम-वृत्ति का कर्म एक गुप्त कर्म है; इसलिए यह विचार किया जाता है कि कामवृत्ति का जीवन ऐसा जीवन है, जोकि दो व्यक्तियों तक ही सीमित रहता है। किन्तु ऐसी धारणा तथ्यों के विरुद्ध है और अवास्तविक है। यों तो व्यक्ति का कोई भी कर्म ऐसा नहीं, जिसका प्रभाव केवल एक ही मनुष्य तक सीमित हो और यह बात आज भी सत्य है कि कोई भी व्यक्ति इस संसार में केवल अपने लिए ही जीवित नहीं रहता। कामवृत्ति-सम्बन्धी व्यवहार निस्सन्देह ऐसा व्यवहार है, जो परिवार की नैतिकता से सम्बन्धित है। यह देखा गया है कि व्यक्ति की काम-सम्बन्धी नैतिकता, उसकी पारिवारिक नैतिकता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है और वह नैतिकता ही परिवार को विशेष रूप प्रदान करती है। अरबन ने इसी कारण परिवार की कामवृत्ति के आधार पर परिभाषा दी है और कहा है, "परिवार वह कामवृत्ति है, जोकि सामाजिक व्यक्ति में, सामाजिक माध्यम से और सामाजिक अनुमति से क्रियाशील होती है।"[1] परिवार की यह परिभाषा निस्संदेह

१. Fundamentals of Ethics by Urban, Page 295.

एक तथ्यात्मक परिभाषा है, क्योंकि विवाह की प्रथा एक सामाजिक नैतिकता की प्रथा है। मनुष्य और पशु में अन्तर इसी बात का है कि मनुष्य की कामवृत्ति की तृप्ति एक व्यवस्थित रूप से होती है, जबकि पशुओं के जीवन में, जोकि सामाजिक प्रथाओं से शून्य होते हैं, किसी प्रकार के कामवृत्ति-सम्बन्धी नियम नहीं होते। मनुष्य के काम की यह व्यवस्थित प्रवृत्ति समाज की अनुमति से दो विषम लिंगों का स्थायी एकत्व उत्पन्न करती है। यदि हम विवाह के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो हम यह देखेंगे कि पति-पत्नी के स्थायी सम्बन्ध का विकास धीरे-धीरे हुआ है। आरम्भ में ही कामवृत्ति-सम्बन्धी नैतिकता को भंग करने को अनुचित माना जाता था, किन्तु वर्तमान युग में विवाह एक स्त्री और एक पुरुष में एक ऐसा नैतिक समझौता माना जाता है, जिसमें कि स्थायित्व की आशा अवश्य रहती है। कामवृत्ति-सम्बन्धी नैतिकता, अनेक सामाजिक अनुभवों एवं प्रयोगों के पश्चात् धीरे-धीरे विकसित हुई है। प्राचीनकाल में अनेकपत्नीव्रत अथवा अनेकपतिव्रत अवैध नहीं माना जाता था, किन्तु वर्तमान युग में प्रत्येक सभ्य देश में अनेक विवाह की प्रथा तथा भाई-बहिन के विवाह की प्रथा आदि निषिद्ध माने जाते है।

इतिहास के अध्ययन से हम यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि परिवार तथा विवाह का आरम्भ किस समय और किन परिस्थितियों में हुआ। अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य का प्राचीनतम कामवृत्ति पर आधारित सम्बन्ध पशुओं की भांति आकस्मिक था। किन्तु यह अनुमान किसी ऐतिहासिक साक्षी द्वारा पुष्ट नहीं किया जा सकता। सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन से यह पता चलता है कि किसी न किसी रूप में विवाह की संस्था सभ्यता के प्रत्येक स्तर पर उपस्थित थी। आदिकाल में परिवार का रूप मातृप्रधान था। सम्भवतया इसका कारण यह था कि पुरुष को आजीविका के लिए भ्रमण करना पड़ता था और माता ही स्थायी रूप से गृहस्थ का भार संभालती थी। किन्तु धीरे-धीरे परिवार में माता के आधिपत्य के स्थान पर पिता का आधिपत्य हो गया। सम्भवतया पितृप्रधान परिवार की संस्था का कारण पुरुष की शारीरिक श्रेष्ठता थी। इसके अतिरिक्त युद्ध की प्रथा में जब विजेता सम्पत्ति पर अधिकार जमा लेता था, तो वह उन स्त्रियों और शिशुओं को भी सम्पत्ति ही मान लेता था, जिनका युद्ध में पुरुषों की भांति वध नहीं किया जाता था। युद्ध की प्रथा ने स्त्रियों को सम्पत्ति के समान स्वीकार करके मातृप्रधान परिवार की प्रथा को धक्का पहुंचाया। धीरे-धीरे अनेकपत्नीविवाह की संस्था भी समाप्त हो गई। सम्भवतया इस संस्था का अन्त करने में आर्थिक परिस्थितियों ने योग दिया। एक से अधिक पत्नी के कारण, विस्तृत परिवार के लिए आजीविका प्राप्त करना एक व्यक्ति के लिए कठिन हो गया। इस कारण के अतिरिक्त अन्य मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तत्त्वों ने भी एकपत्नी-विवाह को प्रोत्साहन दिया। अनेकपत्नीविवाह के समय मुख्य पत्नी तथा गौण पत्नियों में धीरे-धीरे भेद उत्पन्न हुआ और मुख्य पत्नी को उच्च उपाधि तथा सम्मान दिया जाने लगा। पुरुष भी, परिवार के अन्य स्त्री सदस्यों की अपेक्षा, मुख्य पत्नी की ओर अधिक

ध्यान देने लगा। इस प्रकार जब एक पत्नी का अन्य पत्नियों की अपेक्षा महत्त्व बढ़ा और उसको विशेष अधिकार तथा विशेष कर्तव्य दिए गए, तो एकपत्नी की प्रथा को प्रोत्साहन मिला। इसके फलस्वरूप अनेकपत्नीविवाह का धीरे-धीरे अन्त हो गया और एकपत्नीविवाह ही आदर्श सामाजिक प्रथा स्वीकार की जाने लगी। इस प्रकार एक-पत्नीविवाह की उत्पत्ति, न ही केवल एक आर्थिक उत्पत्ति थी, अपितु वह एक नैतिक और आध्यात्मिक प्रथा थी।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि आरम्भ में परिवार एक आर्थिक संस्था था। किन्तु धीरे-धीरे वह एक नैतिक और आध्यात्मिक संस्था प्रमाणित हुई। समाजशास्त्रियों का कहना है कि प्राचीनकाल में, अधिकतर जातियों में, पति-पत्नी का इकट्ठा रहना, वास्तव में एक आर्थिक प्रबन्ध ही था, क्योंकि विवाह के पश्चात् भी पति-पत्नी का अन्य व्यक्तियों से कामवृत्ति का सम्बन्ध निषिद्ध नहीं था। परिवार का नैतिक तथा आध्यात्मिक आधार आदि में नहीं था, धीरे-धीरे व्यक्तित्व के विकास के कारण और अन्य परिस्थितियों के कारण परिवार एक ऐसी इकाई प्रमाणित हुआ जोकि केवल आर्थिक तत्त्व पर आधारित नहीं थी, अपितु एक नैतिक संस्था थी। परिवार के सदस्यों में स्वाभाविक प्रेम, सहानुभूति और सहयोग की भावनाएं कुछ कम हो गईं। यह एक दुःख की बात है कि वर्तमान समय में, आर्थिक परिस्थितियां मनुष्य के जीवन पर पुनः आधिपत्य जमा रही हैं और वह परिवार, जो प्राचीनतम समय में मनुष्य की आर्थिक परिस्थिति से उत्पन्न हुआ था, आज आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही संकट में पड़ा हुआ है। हमारी आर्थिक सभ्यता पारिवारिक प्रेम को छिन्न-भिन्न कर रही है। आज विशेषकर यूरोप और अमरीका में, व्यक्तिवाद इस सीमा तक पहुंच चुका है कि विवाह-विच्छेद एक सामान्य घटना बन गया है। अमरीका में तो इस बात पर भी विवाह-विच्छेद हो सकता है, जबकि भूल से पति अपनी पत्नी के दांत साफ करने के ब्रुश को प्रयोग में ले ले। इस प्रकार की विचित्र घटनाएं और प्रेम की अपेक्षा सम्पत्ति को श्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति विवाह तथा परिवार को निरन्तर हानि पहुंचा रही हैं। अतः आर्थिक परिस्थिति से जन्म लेनेवाला परिवार, आज आर्थिक सभ्यता का ही शिकार हो रहा है।

यद्यपि आर्थिक परिस्थितियों ने आरम्भ में परिवार की प्रथा को प्रोत्साहन दिया, तथापि जैसाकि हमने ऊपर कहा है धीरे-धीरे मनुष्य ने प्रत्येक सभ्य देश में काम के सम्बन्ध को एक आन्तरिक और आध्यात्मिक सम्बन्ध स्वीकार किया है। इस प्रकार विवाह को कामवृत्ति का आध्यात्मिक सम्बन्ध माना गया है। नैतिक दृष्टि से निस्सन्देह विवाह की प्रथा मनुष्य में उपस्थित मूल्य की धारणा पर आधारित है। यही कारण है कि धीरे-धीरे मानव समाज में एकपत्नीविवाह की प्रथा ने स्थायी रूप धारण कर लिया है और इसी प्रथा को शुभ जीवन का आधार माना जाता है। हम यह कह सकते हैं कि सम्पत्ति की प्रथा की भांति, विवाह की प्रथा को स्थिर बनाने में भी 'सुरक्षा' तथा 'आत्मानुभूति' के दो मूल्यों ने योग दिया है। सर्वप्रथम हम यह कह सकते हैं कि कामवृत्ति

का मनुष्य के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यद्यपि प्रेम के द्वारा दूसरे व्यक्ति को अपने प्रति आकर्षित करने में मनुष्य की आत्मप्रकाशन की मूल प्रवृत्ति तृप्त होती है और वह अपने-आपको अपने प्रेम के विषय का स्वामी समझता है, तथापि प्रेम के द्वारा आत्मानुभूति तभी प्राप्त होती है, जब उसमें केवल अहंभाव ही न हो, अपितु बौद्धिक और आध्यात्मिक आदान-प्रदान भी हो। यह तो सत्य है कि विवाह के द्वारा पति-पत्नी सुरक्षा के मूल्य के कारण ही अपनी कामवृत्ति के सम्बन्ध को स्थायी बनाते हैं। यदि विवाह से पूर्व पति-पत्नी में कामवृत्ति के सम्बन्ध को स्थायी रखने का विचार न हो, तो ऐसे सम्बन्ध में प्रेम की भावना नहीं रह सकती। इस प्रकार सुरक्षा का मूल्य प्रेम के सम्बन्ध को घनिष्ठ अवश्य बनाता है, किन्तु आत्मानुभुति का मूल्य पति-पत्नी के सम्बन्ध को स्थायी बनाने में सुरक्षा की अपेक्षा अधिक योग देता है। यदि केवल शारीरिक तृप्ति ही आत्मानुभूति का आधार होती, तो पशुओं में भी प्रेम का स्थायी भाव उपस्थित होता। मनुष्य में विचारशीलता एवं ज्ञान ही उसकी कामवृत्ति को प्रेम के स्थायी भाव में परिवर्तित करने का मुख्य कारण है।

कामवृत्ति के द्वारा आत्मानुभूति की सम्भावना केवल प्रेम पर ही आधारित है और प्रेम एक सुखद घटना-मात्र नहीं है, अपितु ऐसा स्थायी भाव है, जो स्त्री और पुरुष के बौद्धिक आदान-प्रदान से उत्पन्न होता है। जो प्रेम अथवा लगाव केवल शारीरिक तृप्ति पर आधारित होता है, वह कदापि स्थायी नहीं हो सकता और उसपर आश्रित पति-पत्नी का सम्बन्ध परिवार के संगठन का कारण होने की अपेक्षा विच्छेद का कारण बन जाता है। एकपत्नीविवाह की प्रथा का सर्वत्र वांछनीय स्वीकार किया जाना यह प्रमाणित करता है कि विवाह का मूल्यांकन केवल आत्मानुभूति पर ही आधारित है। यही कारण है कि विवाह के पश्चात् सन्तान की उत्पत्ति पति-पत्नी के सम्बन्ध को और भी दृढ़ बना देती है। सन्तान की उत्पत्ति से परिवार विस्तृत होता है और पति-पत्नी के अधिकारों और कर्तव्यों में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग करके और परिवार के कल्याण को निजी कल्याण से श्रेष्ठ स्वीकार करके पति तथा पत्नी आत्मानुभूति को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार परिवार एक आदर्श सामाजिक इकाई बन जाता है। उसमें शिशु की शिक्षा-दीक्षा होती है एवं उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। शिशु परिवार में उस प्रेम और भक्तिभाव को ग्रहण करता है, जो आगे चलकर उसको समुदाय, राष्ट्र तथा मानव समाज का आदर्श सदस्य बनाने में सहायक होता है।

स्थायी एकपत्नीविवाह पर आधारित परिवार को इन्हीं कारणों से व्यक्ति तथा समाज के लिए एक आवश्यक संस्था स्वीकार किया जाता है। साम्यवाद के अनुसार, इस प्रकार के स्थायी एकपत्नीविवाह पर आधारित परिवार, न तो व्यक्ति के लिए और न समाज के लिए अनिवार्य है। रूस का साम्यवाद, मनुष्य को समुदाय का उपयोगी अंग बनाने के लिए, परिवार की प्रथा का अन्त करना आवश्यक मानता है। इस साम्यवाद के अनुसार, व्यक्ति पारिवारिक प्रशिक्षा के बिना ही समुदाय का अनन्य भक्त बन

सकता है। किन्तु यह धारणा तथ्यों के विपरीत है और मानव समाज के वर्तमान आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण तथा परम्पराओं के विरुद्ध है। परिवार का छिन्न-भिन्न करना वास्तव में व्यक्तित्व-सम्बन्धी मूल्यों की सर्वथा अवहेलना करना है। साम्य-वाद इस बात को भूल जाता है कि मनुष्य का स्वभाव यन्त्रवत् नहीं है, अपितु उद्देश्या-त्मक है। यही कारण है कि परिवार की प्रथा मनुष्य के स्वभाव के अनुसार है और इसका छिन्न-भिन्न होना मानवीय जीवन का छिन्न-भिन्न होना है। यही कारण है कि आर्थिक परिस्थितियों के विरोध के होते हुए भी मानव परिवार की प्रथा को बनाए रखने की निरन्तर चेष्टा कर रहा है।

परिवार को स्थायी बनाने के लिए ही मनुष्य ने कुछ ऐसे आदर्श नियम स्वीकार किए हैं, जिनका यहां पर उल्लेख करना आवश्यक है। ये नैतिक नियम निम्नलिखित हैं :

(१) कामवृत्ति-सम्बन्धी जीवन के नियम
(२) परिवार-सम्बन्धी जीवन के नियम

ये दोनों प्रकार के नियम वास्तव में अन्योन्याश्रित हैं। अरबन ने विशेषकर उन नियमों की व्याख्या की है।

कामवृत्यात्मक जीवन का प्रथम सर्वमान्य नियम यह है कि काम-सम्बन्धी मूल्यों को अनुभूत करना शुभ जीवन की अनिवार्य उपाधि है। जिस प्रकार कि आर्थिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति को आजीविका प्राप्त करने का अधिकार है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को उन सभी मूल्यों को प्राप्त करने का अधिकार है, जिनको एक शब्द में प्रेम कहा जा सकता है। यह नियम प्रत्येक समाज में स्वीकार किया जाता है और सामान्यतया काम-वृत्यात्मक जीवन को आत्मानुभूति का साधन माना जाता है। कोई भी सभ्य समाज व्यक्ति के स्वतन्त्र विवाह करने के अधिकार को अवांछनीय स्वीकार नहीं करता। यदि इस अधिकार का दमन किया जाए तो समाज की प्रगति और विकास रुक सकता है।

यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि स्वतन्त्र प्रेम के अधिकार के साथ-साथ प्रेम-सम्बन्धी कर्तव्य को भी स्वीकार किया जाना चाहिए। विवाह की स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी कामवृत्ति की तृप्ति के लिए अनेक विवाह करे अथवा अनेक व्यक्तियों से अवैध सम्बन्ध रखे। जब तक प्रेम के अधिकार के साथ-साथ एकपत्नीव्रत अथवा एकपतिव्रत के कर्तव्य का पालन नहीं किया जाता, तब तक परिवार में स्थायित्व नहीं हो सकता। इस अधिकार के सम्बन्ध में ही विवाह-विच्छेद अथवा तलाक की समस्या खड़ी होती है। इस अधिकार पर आवश्यकता से अधिक बल देनेवाले विचारकों की दृष्टि में, विवाहित जीवन के किसी भी स्तर पर पति-पत्नी की परस्पर-अनुमति से विवाह-विच्छेद वांछनीय स्वीकार किया जाता है। किन्तु विवाह-विच्छेद की यह धारणा एकपक्षीय है और पारिवारिक जीवन को अस्त-व्यस्त करने का मुख्य कारण है। ऐसी धारणा कामवृत्ति के अनुभूत करने के अधिकार पर ही बल देती है और उससे सम्बन्धित कर्तव्य की अवहेलना करती है।

काम-सम्बन्धी जीवन का दूसरा महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि कामवृत्त्यात्मक जीवन में वैयक्तिक मूल्यों को शारीरिक मूल्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ स्वीकार करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, कामवृत्ति के अनुभूत करने की स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं कि काम-वृत्त्यात्मक जीवन का उद्देश्य केवल शारीरिक तृप्ति ही हो। यदि मनुष्य को कामवृत्त्यात्मक स्वतन्त्रता देने का अर्थ केवल शारीरिक तृप्ति ही होता, तो कामुकता और प्रेम में भेद को स्वीकार न किया जाता। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति जानता है कि कामुकता का अर्थ केवल संवेगात्मक और शरीरात्मक तृप्ति है, जबकि प्रेम का अर्थ स्त्री और पुरुष का मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सम्बन्ध है। जब कामुकता और प्रेम के भेद की अवहेलना की जाती है, तभी कामवृत्त्यात्मक जीवन के इस नियम को भंग किया जाता है। यह सत्य है कि शारीरिक तृप्ति कामवृत्त्यात्मक जीवन का अनिवार्य अंग है, किन्तु जब इसे उत्कृष्ट मूल्यों से पृथक् कर दिया जाता है, तो यह तृप्ति निष्ठुरता और घृणा में परिवर्तित हो जाती है। यही कारण है कि इस नियम को नैतिकता में तथा विधान में, समान रूप से स्वीकार किया जाता है। बलात्कार को इसी कारण अनैतिक और अवैध माना गया है।

कामवृत्त्यात्मक जीवन का तीसरा नैतिक नियम यह है कि शारीरिक तृप्ति को सदा के लिए सन्तान की उत्पत्ति से पृथक् नहीं करना चाहिए। आधुनिक समय में, जबकि जनसंख्या के आधिक्य के कारण परिवार-नियोजन को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, इस नियम के विषय में मतभेद अवश्य उत्पन्न होता है। अतः इस नियम के प्रति अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हो सकती हैं। न ही केवल भारतीय दृष्टिकोण से, अपितु पश्चिमीय दृष्टिकोण से भी, केवल शारीरिक तृप्ति को विवाह का उद्देश्य न मानकर, सन्तान की उत्पत्ति को उसका लक्ष्य माना जाता है। सामाजिक दृष्टि से भी यदि विवाह का लक्ष्य सन्तान की उत्पत्ति न हो, तो मानव जाति की प्रगति कदापि नहीं हो सकती। भारतीय संस्कृति के अनुसार तो केवल आदर्श सन्तान को ही विवाह का एकमात्र उद्देश्य माना गया है। यदि सन्तान-निरोध को प्रोत्साहन दिया जाए, तो विवाह का उद्देश्य केवल शारीरिक तृप्ति ही हो जाता है, इसलिए अनेक विचारकों ने सन्तान-निरोधक उपायों को अनैतिक तथा प्रकृति के विरुद्ध घोषित किया है। बर्नर्ड शॉ जैसे प्रगतिशील लेखक ने भी सन्तान की उत्पत्ति को विवाह का परम उद्देश्य माना है और कृत्रिम सन्तान-निरोध को नैतिक स्वीकार नहीं किया। इसका अभिप्राय यह नहीं कि सन्तान की उत्पत्ति पर किसी प्रकार की रोक न लगाई जाए। पिछड़े हुए देशों में, जहां पर कि आवश्यकता से अधिक जनसंख्या के कारण, भूख और दीनता का आधिपत्य है, सन्तान-उत्पत्ति को ही विवाह का एकमात्र लक्ष्य मानना संगत नहीं हो सकता। परिवार-नियोजन का अर्थ यह भी नहीं है कि प्रत्येक दम्पती सन्तानहीन रहे। इसके विपरीत आदर्श परिवार-नियोजन में सीमित सन्तान की उत्पत्ति नितान्त आवश्यक है। वर्तमान आर्थिक परिस्थितियां कामवृत्त्यात्मक जीवन के तीसरे नियम को सीमाबद्ध करती हैं।

उपर्युक्त कामवृत्त्यात्मक जीवन के नियम वास्तव में परिवार से सम्बद्ध हैं, अतः परिवार को व्यवस्थित बनाने के लिए इन नियमों के साथ-साथ पति-पत्नी के अधिकारों और कर्तव्यों की संक्षिप्त व्याख्या करना भी आवश्यक है। पती-पत्नी के ये अधिकार और कर्तव्य ही वास्तव में परिवार के आदर्श एवं नियम हैं। परिवार के नियम, निस्सन्देह उपर्युक्त व्यक्तिगत कामवृत्त्यात्मक जीवन के नियमों की स्वीकृति हैं। किन्तु यह स्वीकृति पति-पत्नी के कामवृत्ति-सम्बन्धी अधिकारों तथा कर्तव्यों को जन्म देती है। दम्पती के कामवृत्ति-सम्बन्धी अधिकारों को दाम्पत्य अधिकार (Conjugal rights) कहा जाता है। ये दाम्पत्य अधिकार इस धारणा से उत्पन्न होते हैं कि कामवृत्ति सामाजिक माध्यम से और सामाजिक अनुमति से क्रियाशील है। ये दाम्पत्य अधिकार इसलिए उचित हैं कि इनके बिना परिवार का स्थायित्व नहीं हो सकता। दाम्पत्य कर्तव्यों को हम दाम्पत्य अधिकारों के प्रति आदर कह सकते हैं। दाम्पत्य अधिकारों का यह आदर यह प्रमाणित करता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मुख्य दाम्पत्य अधिकार निम्नलिखित हैं :

(१) अपने पति अथवा अपनी पत्नी से प्रेम प्राप्त करने का अधिकार अथवा कामवृत्ति की तृप्ति का अधिकार

(२) पत्नी तथा उसके शिशु का आजीविका प्राप्त करने का अधिकार

(३) व्यक्तित्व के आदर का अधिकार

ये तीनों प्रकार के अधिकार वास्तव में मूलप्रवृत्त्यात्मक जीवन-सम्बन्धी नियमों पर ही आधारित हैं। पहला अधिकार मूलप्रवृत्त्यात्मक जीवन-सम्बन्धी पहले नियम पर आधारित है। पत्नी तथा शिशुओं की जीविका का अधिकार उस नियम पर आधारित है, जिसके अनुसार सन्तान की उत्पत्ति को विवाह का उद्देश्य माना जाता है और व्यक्तित्व के आदर का अधिकार उस नियम पर आधारित है, जिसके अनुसार शारीरिक मूल्यों की अपेक्षा वैयक्तिक मूल्यों को श्रेष्ठ माना जाता है। इन अधिकारों की रक्षा के लिए प्रगतिशील देशों में विवाह-सम्बन्धी विधान निर्धारित किए गए हैं और इन अधिकारों की अवहेलना न ही केवल अनैतिक, अपितु अवैध मानी जाती है।

विवाह-विच्छेद की समस्या

विवाह-विच्छेद की समस्या एक सामाजिक और नैतिक समस्या है। जैसाकि हमने ऊपर कहा है, परिवार के स्थायित्व के लिए दाम्पत्य अधिकारों और कर्तव्यों का पालन करना नितान्त आवश्यक है। जब भी दम्पती के एक सदस्य के द्वारा दूसरे के अधिकारों का दमन किया जाता है एवं दाम्पत्य कर्तव्यों की अवहेलना की जाती है, तो न केवल अत्याचार सहन करनेवाले जीवनसाथी को मानसिक आघात पहुंचता है, अपितु पारिवारिक जीवन असह्य हो जाता है। क्योंकि विधान भी दाम्पत्य अधिकारों और कर्तव्यों की रक्षा करता है, इसलिए विधान के लिए भी यह समस्या खड़ी हो जाती

है कि कलह में प्रवृत्त, दुःखी जीवन व्यतीत करनेवाले, दम्पती का सहवास कहां तक संगत है। इसलिए विधान ने समाज की अनुमति से विवाह-विच्छेद (Divorce) की प्रथा स्थापित की है। इस प्रथा के अनुसार पति-पत्नी वैधानिक रूप से एक-दूसरे से पृथक् हो सकते हैं। किन्तु विवाह-विच्छेद का विधान विभिन्न राज्यों में विभिन्न है। कहीं पर तो ज़रा-ज़रा-सी बात पर और साधारण कलह पर, विवाह-विच्छेद उचित समझा जाता है और कहीं पर दाम्पत्य अधिकारों के क्रूर दमन के आधार पर ही विच्छेद संगत माना जाता है। यदि विवाह-विच्छेद की प्रथा सर्वमान्य हो सकती है, तो इसके आधारभूत नियम सर्वत्र समान होने चाहिए। जहां तक विवाह-विच्छेद के नैतिक महत्त्व का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते हैं कि इस समस्या के प्रति तीन मुख्य दृष्टिकोण प्रस्तुत किए जाते हैं जो निम्नलिखित हैं :

(१) रूढ़िवादी दृष्टिकोण (The conservative view)
(२) क्रान्तिकारी दृष्टिकोण (The radical view)
(३) उदार दृष्टिकोण (The liberal view)

पहले दो दृष्टिकोण एक-दूसरे के सर्वथा प्रतिकूल हैं। रूढ़िवादी दृष्टिकोण, जो-कि ईसाई धर्म की मान्यताओं पर आधारित है, विवाह के सम्बन्ध को एक पवित्र सम्बन्ध मानता है और इसलिए विवाह-विच्छेद को या तो पूर्णतया अनुचित मानता है, या केवल परस्त्रीगमन अथवा परपुरुषगमन के आधार पर ही उचित स्वीकार करता है। दूसरे शब्दों में, इस दृष्टिकोण के अनुसार विवाह-विच्छेद उस समय तक अनैतिक है, जब तक कि यह प्रमाणित न हो जाए कि पति अथवा पत्नी ने परस्त्रीगमन अथवा परपुरुष-गमन के द्वारा अपनी पवित्रता को भंग किया है। क्रान्तिकारी दृष्टिकोण के अनुसार पति तथा पत्नी अपनी अनुमति के अनुसार, जब चाहें विवाह-विच्छेद कर सकते हैं और ऐसा विवाह-विच्छेद उचित है। उदार दृष्टिकोण के अनुसार, केवल अनिवार्य परिस्थितियों में शुभ जीवन के लिए विवाह-विच्छेद को उचित समझा जाता है। इन तीनों दृष्टिकोणों की संक्षिप्त व्याख्या करना नितान्त आवश्यक है।

रूढ़िवादी दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण निस्सन्देह विवाह को एक शाश्वत पवित्र सम्बन्ध मानता है और विवाह-विच्छेद को न ही केवल नैतिक दृष्टि से, अपितु धार्मिक दृष्टि से भी सर्वथा असंगत घोषित करता है। कैथोलिक ईसाई धर्म के अनुसार, किसी भी आधार पर विवाह-विच्छेद को स्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु ईसाई धर्म की प्रोटैस्टेंट शाखा के अनुसार कामप्रवृत्यात्मक पवित्रता को भंग करने के आधार पर, विवाह-बन्धन को तोड़ा जाना उचित समझा जाता है। इन दोनों दृष्टिकोणों के अनुयायियों की यह धारणा है कि विवाह का सम्बन्ध पावन होने के नाते कदापि तोड़ा नहीं जा सकता और इसी कारण यह सम्बन्ध परिवार तथा सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य है।

किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि सम्बन्ध-विच्छेद का रूढ़िवादी दृष्टिकोण केवल-मात्र धार्मिक विश्वास पर आधारित है। उद्देश्यात्मक दृष्टिकोण को अपनानेवाले दार्शनिक भी विवाह-विच्छेद का घोर विरोध करते हैं। उनकी यह धारणा है कि एकपत्नीविवाह अथवा एकपतिविवाह पर आधारित स्थायी परिवार, कामवृत्त्यात्मक सम्बन्ध का आदर्श इसलिए माना जाता है, क्योंकि ऐसा परिवार ही दम्पती तथा शिशुओं की आत्मानुभूति का एकमात्र आधार है। इस प्रकार का स्थायी परिवार ही सामाजिक संगठन तथा सामाजिक कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है, इसलिए स्थायी परिवार की रक्षा को विधान के द्वारा बनाए रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्थायी परिवार ही शिशु की शिक्षा का एकमात्र आधार है। इन कारणों से रूढ़िवादी दृष्टिकोण विवाह-विच्छेद का घोर विरोध करता है।

यद्यपि यह दृष्टिकोण मनुष्य की धार्मिक भावना से प्रेरित और उसके नैतिक स्वभाव से पुष्ट है, तथापि इसका निष्पक्ष विश्लेषण हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि इस दृष्टिकोण को हर अवस्था में सफलतापूर्वक लागू नहीं किया जा सकता। यद्यपि सामान्यतया विवाहित जीवन दुःखद नहीं होता, तथापि कुछ व्यक्तिगत उदाहरण ऐसे अवश्य मिलते हैं, जिनमें कि विवाहित जीवन अत्यन्त दुःखद प्रमाणित होता है। रूढ़िवादी दृष्टिकोण के अनुयायी इस दुःख का कारण व्यक्तियों के निजी स्वभाव को मानते हैं और विवाह-प्रथा की अपेक्षा व्यक्तियों को ही दोषी ठहराते हैं। उनका कहना है कि विवाहित सुख हमारा जन्मसिद्ध अधिकार ही नहीं है, अपितु हमारे शुभ संकल्प और हमारे प्रयत्न पर निर्भर है। इसलिए विवाह-विच्छेद ही विवाहित दुःख का एकमात्र उपाय नहीं है। सहिष्णुता और त्याग की भावना को अपनाने से कलह और कष्ट को दूर किया जा सकता है।

रूढ़िवादी ये तो स्वीकार करते हैं कि विशेष परिस्थितियों के कारण कुछ विवाह-सम्बन्ध ऐसे होते हैं, जोकि असह्य प्रमाणित होते हैं और जिनमें न्यायालय के द्वारा पार्थक्य प्राप्त करना ही एकमात्र उपाय प्रमाणित होता है। उनका कहना है कि ऐसे विवाह-संबंध बहुत कम होते हैं। इस असह्यता और अत्याचार के नाम पर विवाह-विच्छेद की प्रथा का अधिकतर दुरुपयोग होता है और अन्य कारणों से प्रेरित होकर विवाह-विच्छेद प्राप्त करने की सम्भावना रहती है। यह भी सत्य है कि परिवार के एकत्व के नाम पर विवाह-विच्छेद का विरोध करनेवाले व्यक्ति अपने दोषों को ही छिपाते हैं और विवाहित जीवन में अपने जीवनसाथी को दुःखी करते हैं। किन्तु रूढ़िवादियों की धारणा है कि विवाह-विच्छेद के कारण जो अनैतिकता फैलती है, वह उपर्युक्त दुःख से अधिक होती है।

रूढ़िवादी दृष्टिकोण का सबसे प्रबल तर्क यह है कि माता-पिता के दोष के कारण विवाह-विच्छेद के द्वारा निर्दोष सन्तान पर अत्यन्त दुष्प्रभाव पड़ता है। विवाह का उद्देश्य पति-पत्नी की कामप्रवृत्त्यात्मक तृप्ति ही नहीं है, अपितु एक ऐसे आदर्श परिवार की स्थापना है, जिसमें सन्तान को एक आदर्श नागरिक बनने की और आत्मानुभूति

प्राप्त करने की शिक्षा मिलती है। पत्नी और शिशुओं का आजीविका प्राप्त करने का अधिकार विवाह-विच्छेद को असंगत प्रमाणित करता है। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए यह कहा जा सकता है कि विवाह-विच्छेद के पश्चात् भी पत्नी तथा शिशुओं की आजीविका का प्रबन्ध किया जा सकता है। किन्तु यह तर्क इस तथ्य की अवहेलना करता है कि सम्बन्ध-विच्छेद के पश्चात् जिन शिशुओं को माता-पिता का प्रेम प्राप्त नहीं होता, उनका व्यवहार असामान्य हो जाता है। ऐसे शिशु प्रायः बाल-अपराध के मानसिक रोग का शिकार हो जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि विवाह-विच्छेद की अनुपस्थिति में भी, परस्पर-कलह करनेवाले माता-पिता के शिशुओं के व्यक्तित्व का विकास असामान्य और दोषपूर्ण होगा। उसका कारण यह है कि ऐसे शिशु कलह से पीड़ित परिवार में असह्य मानसिक दुःख का अनुभव करेंगे। किन्तु यह तर्क भी विवाह-विच्छेद को संगत प्रमाणित नहीं करता। परस्पर-कलह करनेवाले माता-पिता के शिशु, परिवार के वातावरण में रहते हुए, परिवार के एकत्व का अनुभव अवश्य करते हैं। माता-पिता परस्पर-कलह करते हुए भी शिशुओं के हित की सदैव रक्षा करते हैं। उनका यह व्यवहार, शिशुओं के मानसिक सन्तुलन को बनाए रखने के लिए पर्याप्त होता है। शिशु माता-पिता के प्रेम का प्रतीक होता है और वह उनके सम्बन्ध की एक दृढ़ कड़ी प्रमाणित होता है। इसलिए जहां तक शिशुओं के कल्याण का सम्बन्ध है, विवाह-विच्छेद सर्वथा अवांछनीय सिद्ध होता है।

क्रान्तिकारी दृष्टिकोण

रूढ़िवादी दृष्टिकोण व्यक्ति की अपेक्षा परिवार को अधिक महत्त्व देता है, क्योंकि विवाह का उद्देश्य केवल व्यक्ति का सुख न होकर ऐसे परिवार में आत्मानुभूति की प्राप्ति है जो व्यक्ति के निजी हित से ऊपर उठ जाता है और उससे अधिक व्यापक होने के कारण श्रेष्ठ स्वीकार किया जाता है। इसके विपरीत क्रान्तिकारी दृष्टिकोण परिवार की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व देता है और कामवृत्त्यात्मक सम्बन्ध को केवल व्यक्तिगत व्यापार मानता है। इसलिए इस दृष्टिकोण के अनुसार, विवाह-विच्छेद, विशेषकर पति-पत्नी की अनुमति के द्वारा, केवल वांछनीय ही नहीं, अपितु एक आदर्श कर्म है। विवाह-विच्छेद की क्रान्तिकारी धारणा विशेषकर सोवियत रूस में सर्वप्रिय है और वहां के विवाह-सम्बन्धी विधान के अनुसार है। इससे पूर्व कि हम विवाह-विच्छेद के इस दृष्टिकोण का मूल्यांकन करें, वर्तमान रूस में प्रचलित विवाह-पद्धति पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। रूस में विवाह करना अत्यन्त सरल है। दो व्यक्ति जो परस्पर विवाह करना चाहते हैं अपनी उस इच्छा की घोषणा-मात्र करके, विवाह के रजिस्टर में अपना नाम लिखवा देते हैं और विवाहित जीवन में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार विवाह-विच्छेद भी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। पति-पत्नी कोई भी कारण बताकर, बिना विशेष विधि के विवाह-विच्छेद घोषित कर सकते

हैं। किन्तु जहां तक शिशुओं की देख-रेख और उनके पालन-पोषण का प्रश्न है, विधान भी यह उत्तरदायित्व माता तथा पिता दोनों को समान रूप सें देता है। सम्भवतया रूस जैसे राज्य में, जहां कि नागरिकों की शिक्षा-दीक्षा साम्यवादी राज्य के द्वारा दी जाती है, विवाह-विच्छेद की यह प्रथा सफल हो सकती है, किन्तु साम्यवाद के वातावरण से बाहर इस प्रकार की प्रथा कम से कम धार्मिक प्रवृत्तिवाले राष्ट्रों में मान्य नहीं हो सकती।

परस्पर-अनुमति के द्वारा विवाह-विच्छेद की प्रथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की अभिव्यक्ति है। यह दृष्टिकोण सामाजिक व्यवस्था की अवहेलना करता है और मनुष्य को पारस्परिक, सामाजिक तथा नैतिक बन्धनों से भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानता है। इस प्रकार के दृष्टिकोण को प्रकृतिवादी रसिकवाद (Naturalistic romanticism) कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विवाह भी एक प्रकार का सांस्कृतिक बन्धन है, जो मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणाओं के मार्ग में बाधक सिद्ध होता है। मनोविश्लेषण कुछ सीमा तक इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है। किन्तु विवाह-विच्छेद की समस्या का निष्पक्ष अवलोकन हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि अनुमति पर आधारित विवाह-विच्छेद को स्वीकार करने का परिणाम दाम्पत्य अधिकारों तथा कर्तव्यों की सर्वथा अवहेलना करना और पारिवारिक जीवन को छिन्न-भिन्न करना है। अधिकतर पश्चिमीय देशों में, विशेषकर अमरीका में, विवाह-विच्छेद के आधिक्य के कारण, पारिवारिक जीवन सर्वथा अस्तव्यस्त होता जा रहा है। तथाकथित प्रगत्यात्मक (Progressive) तथा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण मानवता, प्रेम तथा नैतिकता का अन्त करने पर तुला हुआ है।

क्रान्तिकारी दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए और उसे सर्वथा नैतिकताशून्य प्रमाणित करते हुए अरबन ने रूसी भाषा के एक नाटक 'रैड रस्ट' (Red Rust) की एक घटना का उल्लेख किया है, जिसको यहां बतलाना अनुचित न होगा। एक साम्यवादी युवती, जोकि एक साम्यवादी नेता से विवाहित है, पतिभक्ति के पूंजीवादी आदर्श को त्याग नहीं सकती; उसके फलस्वरूप, वह अपने पति के अत्याचार और विश्वासघात के कारण अत्यन्त दुःखित होती है। जब वह अपने इस शोक और दुःख को प्रकट करती है, तो एक अन्य सुसंस्कृत तथा अनुभवी युवती उसे उत्तर देती है, "उन्हें (पुरुषों को) हमारे प्रति विश्वासपात्र क्यों होना चाहिए? हम केवल स्त्री-पशु हैं।" इस प्रकार यह दृष्टिकोण निस्सन्देह मनुष्य को मानवता के स्तर से, दानवता के स्तर पर लाने की चेष्टा कर रहा है और इसलिए वह नैतिकता, सभ्यता और संस्कृति का घोर विरोध करता है। क्रान्तिकारी दृष्टि मनुष्य को स्वलक्ष्य न मानकर उसे साधन-मात्र स्वीकार करती है।

उदार दृष्टिकोण

विवाह-विच्छेद-सम्बन्धी उदार दृष्टिकोण न तो रूढ़िवादी दृष्टिकोण की भांति

इस प्रथा का घोर विरोध करता है और न क्रान्तिकारी दृष्टिकोण की भांति पति-पत्नी के पार्थक्य को साधारण घटना बनाने की चेष्टा करता है। यह दृष्टिकोण न तो व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता है और न व्यक्तिगत हितों की सर्वथा अवहेलना करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, स्त्री और पुरुष का मिलन एवं संयोग निस्सन्देह मानव जाति के अमरत्व का साधन है। अतः विवाहित जीवन का उद्देश्य परिवार का स्थायित्व है; इसलिए पति-पत्नी के संयोग का आधार पुरुष का स्वार्थ नहीं होना चाहिए, अपितु उसका आधार सामाजिक संकल्प होना चाहिए और विवाह के सम्बन्ध की सर्वथा रक्षा की जानी चाहिए। मानव जाति की सुरक्षा के लिए और उसके स्थायित्व के लिए रीति-रिवाज तथा विधान दोनों की सहायता लेना आवश्यक है।

जहां तक विवाह-विच्छेद की समस्या का सम्बन्ध है, उदार दृष्टिकोण इसका समाधान व्यावहारिक जीवन के अनुसार करता है। हमारा व्यावहारिक जीवन न तो हमें रूढ़िवादी सिद्धान्त को अपनाने के लिए बाध्य करता है और न विवाह-विच्छेद को आवश्यकता से अधिक सरल बनाने की आज्ञा देता है। अनुमति के द्वारा बिना किसी कारण के विवाह-विच्छेद की धारणा निस्सन्देह एक अमूर्त धारणा है, जो ठोस जीवन की अवहेलना करती है। इसी प्रकार विवाह-विच्छेद को सर्वथा अस्वीकार करने अथवा केवल परव्यक्तिगमन (Adultery) के आधार पर ही विवाह-विच्छेद को स्वीकार करने की धारणा भी व्यावहारिक जीवन के विपरीत है। उदार दृष्टिकोण के अनुसार, विवाह-विच्छेद की समस्या को सुलझाने का एकमात्र उपाय वास्तविक अनुभव है, जो हमें विवाह-सम्बन्धी नियमों को उदार बनाने की प्रेरणा देता है। उदार दृष्टिकोण इस प्रकार मानवीय जीवन को विकासशील मानता है। आर्थिक परिवर्तनों ने हमारे जीवन की परिस्थितियों को बदल दिया है और उन्होंने हमारे पारिवारिक जीवन पर गहन प्रभाव डाला है। वर्तमान समय में पुरुष तथा स्त्री दोनों आत्मचेतना का अनुभव कर रहे हैं और वे विवाहित जीवन से अधिक से अधिक लाभ उठाने के अधिकारी हैं। इस अवस्था में, विवाहित जीवन में दोनों पक्षों को त्याग की भावना का अनुसरण करना चाहिए और विवाह-विच्छेद करने से पूर्व अधिक से अधिक आत्मत्याग के द्वारा पार्थक्य को रोकने की चेष्टा करनी चाहिए। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि विवाह-विच्छेद विशेष परिस्थितियों में भी लागू न किया जाए। इस दृष्टिकोण के अनुसार यह तो स्वीकार किया जाता है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में पति-पत्नी के सम्बन्ध ऐसे असह्य हो जाते हैं कि उनके लिए विवाह-विच्छेद अनिवार्य हो जाता है। किन्तु यह भी सत्य है कि अधिकतर व्यक्ति विवाहित जीवन को सफल बनाने की पर्याप्त चेष्टा नहीं करते। अतः उदार दृष्टिकोण विवाहित जीवन के लिए वैधानिक स्वतन्त्रता की अधिक मांग करता है, इसके साथ ही साथ यह सिद्धान्त विवाह के आदर्शों की प्रशिक्षा को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता पर बल देता है और पारिवारिक स्थायित्व को मानव जाति के विकास के लिए नितान्त आवश्यक समझता है।

ऊपर दिए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि नैतिक दृष्टिकोण से विवाह-विच्छेद की समस्या एक ऐसी उलझन उत्पन्न करती है, जिसका समाधान केवल वाद-विवाद के द्वारा नहीं किया जा सकता। विवाह का सम्बन्ध व्यक्तियों का सम्बन्ध है और व्यक्तिगत स्वभाव कदापि यन्त्रवत् नहीं हो सकता। किसी भी देश तथा जाति का सांस्कृतिक वातावरण, उसकी दार्शनिक धारणाएं तथा परम्पराएं उस देश के निवासियों पर गहन प्रभाव डालती हैं और उनके व्यक्तित्व को विशेषता प्रदान करती हैं। यही कारण है कि विवाह-विच्छेद की प्रथा, जोकि पश्चिमीय देशों में वैधानिक आवश्यकता और सामाजिक मांग स्वीकार की जाती है, भारतीय संस्कृति के वातावरण में सर्वप्रिय नहीं हो सकी। सम्भवतया भारतीय संस्कृति में विवाह को एक पवित्र, जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध स्वीकार किए जाने के कारण इस देश के वासियों का पारिवारिक जीवन अधिक दृढ़ता से गठित है और इसीलिए विवाह-विच्छेद को वांछनीय नहीं माना जाता। किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि भारत में विवाह का अर्थ दो आत्माओं का ऐसा मिलन है, जो उन्हें मोक्ष की ओर ले जाता है।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार, दाम्पत्य जीवन न ही केवल मानवीय प्रेम पर आधारित है, अपितु वह जीवात्मा और ब्रह्म, भक्त और भगवान, शिव और शक्ति, राम और सीता, राधा और कृष्ण तथा लक्ष्मी और नारायण के एकत्व का प्रतीक है। व्यावहारिक दृष्टि से भी पति-पत्नी के प्रेम को एक विशेष प्रकार का प्रेम माना गया है, जिसे दाम्पत्य रति कहा जाता है। दाम्पत्य रति की व्याख्या करना इसलिए आवश्यक है कि इसके ज्ञान और इसके अनुसरण से पारिवारिक जीवन को दृढ़ता प्राप्त होती है और विवाह-विच्छेद की समस्या का स्वतः ही समाधान हो जाता है।

प्रेम निस्सन्देह एक मानसिक भाव है, जो मनुष्य के व्यवहार का एक अभिन्न और विशेष अंग है। यदि प्रेम को एक तरल मान लिया जाए और मन को उस तरल से पूर्ण पात्र मान लिया जाए, तो उस पात्र में उत्पन्न तरल की तरंगें प्रेम के विभिन्न प्रकारों को अभिव्यक्त करेंगी। जब वह तरंग नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित होती है, तो इस प्रकार का प्रेम श्रद्धा कहलाता है। उदाहरणस्वरूप, जब एक शिशु अपने पिता व माता से प्रेम करता है अथवा शिष्य गुरु से प्रेम करता है, तो वह प्रेम श्रद्धा कहलाता है। जब प्रेम-रूपी तरल में उत्पन्न तरंग ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होती है, अर्थात् जब बड़ा व्यक्ति छोटे के प्रति प्रेम करता है तो वह प्रेम वात्सल्य कहलाता है। पिता व माता का पुत्र के प्रति प्रेम अथवा गुरु का शिष्य के प्रति प्रेम वात्सल्य का उदाहरण है। जब मन-रूपी पात्र में तरंगों का प्रवाह समतल होता है, तो उससे उत्पन्न प्रेम स्नेह कहलाता है। समान स्तरवाले व्यक्तियों का परस्पर-प्रेम, जैसे एक मित्र का दूसरे मित्र के प्रति प्रेम स्नेह का उदाहरण है। दाम्पत्य रति को हम न केवल श्रद्धा, न केवल वात्सल्य और न ही केवल स्नेह कह सकते हैं, क्योंकि भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार तथा वैदिक निष्ठा के अनुसार दाम्पत्य रति इन तीनों का समन्वय है। पति-पत्नी के प्रेम में श्रद्धा, वात्सल्य

और स्नेह तीनों का समान रूप से उपस्थित होना और उचित समय पर प्रवाहित होना नितान्त आवश्यक है। पति के प्रति पत्नी की श्रद्धा और पत्नी के प्रति पति की श्रद्धा तो एक आदर्श परिवार के लिए सर्वत्र अनिवार्य मानी जाती है। जब पति-पत्नी दोनों में से एक व्यक्ति दुर्भाग्यवश रोगग्रस्त हो जाए, तो दूसरे के द्वारा उसकी परिचर्या वात्सल्य पर आधारित होती है। इसी प्रकार पति-पत्नी में स्नेह अर्थात् समानता पर आधारित प्रेम का होना भी सर्वत्र आवश्यक स्वीकार किया जाता है।

पति-पत्नी में जब तक दाम्पत्य रति उपस्थित रहती है, अर्थात् जब तक श्रद्धा, वात्सल्य और स्नेह का समान प्रभाव रहता है, वे एक-दूसरे के दाम्पत्य अधिकारों और कर्तव्यों को आदर और सम्मान देते हैं और उनमें परस्पर-कलह उत्पन्न नहीं होता। वर्तमान युग में पति-पत्नी के प्रेम के सम्बन्ध में नितान्त भ्रान्त धारणाएं प्रचलित हैं। जो लोग पत्नी से केवल श्रद्धा की आशा रखते हैं, वे उसके दाम्पत्य अधिकारों का दमन करते हैं और सम्भवतया स्त्री को पुरुष की अपेक्षा नीच मानते हैं। ऐसे व्यक्ति पुरुष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं और स्त्री को सम्पत्ति-मात्र समझते हैं। ऐसा दृष्टिकोण निस्सन्देह सर्वथा अनैतिक और अवांछनीय है। कुछ तथाकथित प्रगतिशील विचारक, स्त्री और पुरुषों की समानता पर आवश्यकता से अधिक बल देते हुए दाम्पत्य रति को केवल स्नेह स्वीकार करने की भूल करते हैं और इसलिए अनुमति के आधार पर अथवा उदारता को अपनाकर, विवाह-विच्छेद को एक अनिवार्य आपत्ति घोषित करते हैं। वास्तव में दाम्पत्य रति इतनी व्यापक है कि उसमें सहयोग, साहचर्य, सहानुभूति तथा स्वार्थत्याग की भावनाएं उपस्थित रहती हैं। अतः दाम्पत्य रति के ज्ञान और अनुसरण से विवाह-विच्छेद की समस्या का महत्त्व नहीं रहता। यही कारण है कि विवाहित स्त्री के लिए भारतीय धर्मशास्त्र में केवल नितान्त अनिवार्य परिस्थितियों में पुनर्विवाह की व्यवस्था अवश्य की गई है, किन्तु विवाह-विच्छेद को कोई स्थान नहीं दिया गया।

सत्रहवां ग्रध्याय

नैतिक प्रगति

(Moral Progress)

नैतिक प्रगति में विश्वास

पिछले ग्रध्यायों में हमने नैतिकता-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों ग्रौर समस्याग्रों का विवेचन किया है। इस विवेचन में हमारा दृष्टिकोण केवल व्याख्यात्मक ही नहीं, ग्रपितु ग्रालोचनात्मक भी रहा है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नैतिकता का विषय केवल सैद्धान्तिक नहीं है, किन्तु हमारे ठोस जीवन से सम्बन्ध रखने के कारण व्यावहारिक है। नैतिकता केवल पुस्तकों में उपलब्ध नहीं होती, ग्रपितु वह मनुष्य के जीवन में गतिमान ग्रौर विकासशील रहती है। ग्रंग्रेज़ी भाषा के विख्यात कवि वर्ड्सवर्थ ने कहा है, "हरे-भरे वन से प्राप्त प्रेरणा तुम्हें मनुष्य के प्रति तथा शुभ-ग्रशुभ ग्रौर ग्रनैतिकता के प्रति, सभी विद्वानों की ग्रपेक्षा ग्रधिक ज्ञान दे सकती है। विज्ञान तथा कला का ग्रध्ययन बहुत हो चुका, इनके कोरे पृष्ठों को बन्द कर दो; ग्रागे बढ़ो ग्रौर ग्रपने साथ वह हृदय रखो जो निरीक्षण करता है ग्रौर ग्रहण करता है।"[1]

इसका ग्रभिप्राय यह है कि जीवन का ठोस ग्रनुभव ही यथार्थ ज्ञान ग्रौर नैतिकता प्राप्त करने का एकमात्र साधन है, क्योंकि नैतिकता वास्तव में जड़ वस्तु नहीं है, ग्रपितु चेतन, क्रियात्मक, प्रगतिशील तथा सृजनात्मक प्रक्रिया है। यदि नैतिकता वास्तविक है, ग्रौर मानवीय जीवन का ग्राधार तथा उसकी प्रेरणा है, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि वह किसी उद्देश्य को लेकर युगों से क्रमिक प्रगति करती चली ग्राई है। हमारी नैतिकता की व्याख्या, हमें यह स्वीकार करने पर बाध्य करती है कि नैतिकता का मूल

---

१. "One impulse from the vernal wood
May teach you more of man,
Of moral evil and good
Than all the sages can.
Enough of science and of art;
Close up these barren leaves;
Come forth and bring with you a heart,
That watches and receives."

तत्त्व, एक ऐसी प्रगति है, जो न्यून स्तर से उच्च स्तर की ओर, कम शुभ से अधिक शुभ की ओर, अग्रसर हुई है और हो रही है।

यदि हम नैतिकता की प्रगत्यात्मक धारणा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालें, तो हमें यूनानी समय से ही इस धारणा के बीज उपलब्ध होंगे। अरस्तु ने, व्यक्ति के नैतिक जीवन को एक प्रगति एवं विकास स्वीकार किया है। मध्यकालीन दर्शन में दार्शनिक सिद्धान्तों पर ईसाई धर्म की विचारधारा का गहन प्रभाव था। ईसाई दृष्टिकोण के अनुसार, व्यक्ति तथा समाज दोनों को प्रगत्यात्मक माना जाता था और नैतिक जीवन को एक अनन्त प्रगति स्वीकार किया जाता था। किन्तु ईसाई दृष्टिकोण में मानव के पतन की धारणा तथा मनुष्य में उपस्थित मौलिक पाप की धारणा प्रगति को उस प्रकार विकासशील स्वीकार नहीं करती, जिस प्रकार कि आधुनिक दर्शन करता है। अतः हम यह नहीं कह सकते कि ईसाई दृष्टिकोण नैतिक प्रगति की धारणा का एकमात्र स्रोत है। आधुनिक युग में, और विशेषकर पिछली दो शताब्दियों में, विकासवाद के सिद्धान्तों ने जो प्रभाव दार्शनिक विचारों पर डाला है, उसके फलस्वरूप प्रगति के नियमों को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। विकासवाद के सिद्धान्त को सर्वप्रथम प्रतिपादित करने का श्रेय डार्विन को है, जिसने कि इस सिद्धान्त को जीवन की प्रगति पर लागू किया था। उसके अनुसार, जीवन एक ऐसा संघर्ष है, जिसमें कि प्राणी-मात्र की पूर्णता के लिए क्रमिक प्रगति हो रही है। इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए हर्बर्ट स्पेन्सर ने जीवन के प्रत्येक अंग को और विशेषकर मनुष्य के नैतिक स्वभाव को प्रगति के नियम के अन्तर्गत माना है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि नैतिकता की प्रगतिवादी धारण पूर्णतया वर्तमान धारणा है। यह धारणा इस विचार का विरोध करती है कि स्वर्णयुग अतीत में था और हमारे पूर्वजों की प्रज्ञा आधुनिक समय की मूर्खताओं तथा विषय-भोग आदि से मुक्त थी। जो लोग प्राचीन प्रज्ञा को पूर्ण और पवित्र मानते हैं, उनके दृष्टिकोण के अनुसार, वर्तमान युग अन्याय, अनैतिकता और पाप का युग है और विकास के विपरीत मानवीय जीवन में ह्रास हो रहा है। किन्तु यह निराशावादी दृष्टिकोण शत-प्रतिशत सत्य नहीं है। यह बात तो स्वीकार की जा सकती है कि जीवन के आर्थिक अंग पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण वर्तमान युग में मनुष्य सम्भवतया पहले कि अपेक्षा अधिक स्वार्थी और कपटी हो गए हैं। किन्तु इसके साथ ही साथ विज्ञान की प्रगति के कारण और विशाल प्रगति के रहस्यों की अनावृति के कारण हमारा दृष्टिकोण आज जितना व्यापक हो चुका है, उतना अतीत के किसी युग में नहीं था। हमारे कर्म एवं नैतिक व्यवहार आज के युग में अधिक व्यापक और अधिक तर्कात्मक नियमों पर आधारित हैं। यह तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति हुई है और सभ्यता का विकास हुआ है।

हम यह नहीं कह सकते कि इस विकास में हमने सदैव शुभ की ओर प्रगति की है। मनुष्य निस्सन्देह ज्ञान की दृष्टि से अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु मनुष्य

का ज्ञान एवं उसकी विचारशीलता जहां उसे नैतिक दृष्टि से उन्नति के मार्ग पर ले जाती है, वहां उसे अवनति की ओर भी ले जा सकती है। इसलिए कहा गया है, "जहां पर अज्ञान आनन्द का कारण है, वहां ज्ञानवान होना मूर्खता है।"[1] मनुष्य की ज्ञान-सम्बन्धी उत्कृष्टता उसके दुःख का कारण भी बनती है। पशु अज्ञान के कारण न तो पाप को समझ सकते हैं और न उससे प्रभावित हो सकते हैं। मनुष्य अपने ज्ञान के कारण ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि अवगुणों का शिकार होता है, जबकि अज्ञानी और विचारशून्य पशु आत्म-चेतन न होने के कारण इन अवगुणों से मुक्त रहता है। अतः हमारी सभ्यता की प्रगति में शुभ तथा अशुभ, सुख तथा दुःख, नैतिकता तथा अनैतिकता का समान रूप से विकास हुआ है। यह कहना भी सत्य नहीं है कि वर्तमान युग में सद्गुणों का नाम-मात्र नहीं है और केवल हमारे पूर्वज ही देवता कहलाने के अधिकारी थे। वर्तमान समय में भी आचार की जो उत्कृष्ट धारणाएं उपस्थित हैं, वे इस बात का प्रमाण हैं कि कुछ व्यक्तियों ने निरन्तर उन्हें अपने जीवन पर लागू किया है। प्रत्येक युग में प्रत्येक देश में उदात्त चरित्रवाले व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं। अतः नैतिक प्रगति की धारणा सर्वथा निराधार नहीं है।

प्रगतिवादी दृष्टिकोण पर आक्षेप करना इसलिए उचित नहीं है कि यह बात तर्कसंगत प्रतीत होती है कि हमारे विश्व में नैतिक आदर्श धीरे-धीरे अनुभूत किया जा रहा है। अरबन का कहना है कि हम नैतिक आदर्श को चाहे किसी भी रूप में लें, हमें निम्नलिखित दो तथ्यों में विश्वास रखना पड़ेगा :

सर्वप्रथम हमें एक विकासशील उद्देश्य की धारणा को स्वीकार करना पड़ेगा, चाहे वह उद्देश्य मानव के द्वारा स्पष्ट रूप से अनुभूत न भी हुआ हो। टेनीसन जैसे कवि ने भी इस दृष्टिकोण की पुष्टि की है और कहा है कि युगों के इतिहास में एक प्रगत्यात्मक उद्देश्य की उपस्थिति असन्दिग्ध है। जो व्यक्ति इस प्रकार के व्यापक उद्देश्य में विश्वास नहीं रखता, उसे मानवीय उद्देश्य के महत्त्व पर भी संशय करना पड़ता है।

दूसरे स्थान पर हमें मूल्य के शाश्वत एवं अविनाशी होने में विश्वास करना पड़ेगा। यदि विश्व का उद्देश्य प्रगत्यात्मक विकासशीलता है, तो यह स्पष्ट है कि उस उद्देश्य में एक शाश्वत तत्त्व है, जो परिवर्तन के होते हुए भी स्थायी रहता है। इन दो तथ्यों में विश्वास रखने का अर्थ नैतिकता की प्रगति में विश्वास रखना है।

नैतिक प्रगति के विशेष लक्षण

हमने उपर्युक्त विवेचन में यह बतलाने की चेष्टा की है कि नैतिक जगत् में प्रगति का स्वीकार किया जाना नितान्त आवश्यक है। इससे पूर्व कि हम ऐतिहासिक विश्लेषण के द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा करें कि मानव समाज में नैतिक प्रगति एक ध्रुव सत्य है, हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम नैतिक प्रगति के विशेष लक्षण

१. "Where ignorance is bliss, it is folly to be wise."

निर्धारित करें। प्रगति का शब्दार्थ किसी उद्देश्य एवं लक्ष्य की ओर निरन्तर परिवर्तन है। इस दृष्टि से प्रगति को विकास कहा जाता है और इसकी विपरीत प्रक्रिया को अवनति एवं प्रतिक्रिया व ह्रास कहा जाता है। प्रगति अनेक प्रकार की हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, सामाजिक प्रगति, राजनीतिक प्रगति, आर्थिक प्रगति आदि। यहां पर हमारा सम्बन्ध नैतिक प्रगति से है। यह तो सत्य है कि आर्थिक और राजनीतिक प्रगतियां, मानवीय प्रगतियां हैं, किन्तु ये नैतिक प्रगति से विभिन्न हैं। आर्थिक प्रगति का नैतिक प्रगति से सम्बन्ध अवश्य हो सकता है, क्योंकि नैतिक जीवन काफी सीमा तक आर्थिक जीवन पर निर्भर रहता है। किन्तु जहां आर्थिक प्रगति का अर्थ व्यक्ति और समाज की सम्पत्ति की वृद्धि है, वहां नैतिक प्रगति का अर्थ चरित्र का विकास और पूर्णता अथवा आत्मानुभूति के नैतिक आदर्श की ओर अग्रसर होना है।

इसी प्रकार राजनीतिक प्रगति का अर्थ आदर्श नागरिकता का विकास है। जब किसी राज्य के सभी नागरिक राज्य के शासन को सफल बनाने में प्रवृत्त हो जाते हैं और अपने राजनीतिक अधिकारों का पूर्ण उपयोग करते हैं और राज्य तथा शासन के विषय में सजग और चैतन्य रहते हैं, तो वे राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिशील कहलाते हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि जो लोग आर्थिक अथवा राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिशील हैं, वे नैतिक दृष्टि से भी प्रगतिशील हों। इसके विपरीत, जैसाकि हमने पहले कहा है, आर्थिक प्रगति अनेक बार अत्याचार और अनैतिकता को प्रोत्साहन देती है; और औद्योगिक उन्नति एवं यन्त्रों का आविष्कार आर्थिक प्रगति का चिह्न माना जाता है, किन्तु औद्योगिक प्रगति मनुष्य को स्वार्थी बना देती है। महात्मा गांधी ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "जब यन्त्र आ जाते हैं तो नैतिकता चली जाती है।" इसी प्रकार उन्होंने यह भी कहा है, "लोहे की मशीनों का युग मनुष्य के हृदय को भी लोहा बना देता है।" इसी प्रकार, जो देश अथवा राष्ट्र राजनीतिक दृष्टि से प्रगतिशील हो जाए, उसे हम नैतिक दृष्टि से उतना प्रगतिशील नहीं मान सकते। उदाहरणस्वरूप, साम्यवादी देश राजनीतिक दृष्टि से सबसे अधिक प्रगतिशील होते हैं, किन्तु हम यह जानते हैं कि ऐसे राज्यों में, व्यक्ति के मूल अधिकारों का दमन किया जाता है। प्रश्न यह उठता है कि नैतिक प्रगति के विशेष लक्षण क्या हैं। जनसाधारण की दृष्टि से सुख तथा चरित्र एवं आनन्द तथा सद्गुण, नैतिक प्रगति के मूल तत्त्व स्वीकार किए जाते हैं। कुछ सीमा तक यह सत्य है कि नैतिक प्रगति में सद्गुणों का विकसित होना और जीवन का सुखमय होना नितान्त आवश्यक है। किन्तु इन लक्षणों का गम्भीर विश्लेषण हमें इस परिणाम पर पहुंचाता है कि इन दो तत्त्वों के आधार पर यह प्रमाणित करना कठिन हो जाता है कि इतिहास के किस स्तर पर नैतिक प्रगति हुई है और किस स्तर पर अवनति।

वास्तव में नैतिक प्रगति के ये दो तत्त्व इतने अन्तरात्मक और व्यक्तिगत हैं कि इनको व्यापक बनाना बहुत कठिन हो जाता है। यह तो सत्य है कि हम किसी समाज को उस समय तक नैतिक नहीं कह सकते, जब तक कि उसके सदस्यों में दुःख और पीड़ा

है। किन्तु दुःख शारीरिक भी हो सकता है और मानसिक भी। मान लीजिए कि एक देश के वासी निर्धनता के कारण अच्छा भोजन प्राप्त नहीं कर सकते और इस प्रकार शारीरिक दृष्टि से सुखी नहीं हैं। एक अन्य देश के रहनेवाले आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हैं, पूंजीपति हैं और उन्हें उत्तम से उत्तम भोजन और विषय-भोग आदि की सुविधाएं प्राप्त हैं। किन्तु वे आर्थिक होड़ में प्रवृत्त होने के कारण एक क्षण के लिए भी सन्तुष्ट नहीं हैं और उन्हें मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं है। इन दोनों देशों में से हम किस देश के वासियों को सुखी कह सकते हैं। यह सत्य है कि वास्तविक सुख अन्तरात्मक सुख होता है, किन्तु जब तक मनुष्य शारीरिक पुष्टि और मानसिक तुष्टि, दोनों को प्राप्त न कर ले, तब तक उसे वास्तविक रूप में सुखी नहीं कहा जा सकता। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वास्तविक सुख आत्मानुभूति में एवं पूर्णता में उपलब्ध है। इसी प्रकार चरित्रनिर्माण एवं सद्गुणों का विकास भी, सापेक्ष होने के कारण आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। किन्तु सभी सद्गुणों का सामान्य लक्षण यही है कि वे व्यक्ति को आत्मानुभूति एवं पूर्णत्व प्राप्त करने में सहायक होते हैं। हमने यह देखा है कि आत्मानुभूति वास्तव में मूल्यों के क्रम में और उनके अनुसरण में उपलब्ध होती है। अतः हम नैतिक प्रगति को केवल जीवन के मूल्यों एवं सद्व्यवहार के नियमों द्वारा ही जांच सकते हैं।

नैतिक प्रगति की त्रिविध प्रेरणा

जीवन का नैतिक क्षेत्र तीन तत्त्वों का समन्वय माना जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं :

(१) आदर्शात्मक तत्त्व (Ideal aspect)

(२) सामाजिक व्यवस्थात्मक तत्त्व (Social aspect)

(३) व्यक्तिगत व्यवहार एवं अभ्यास का तत्त्व (Habitual aspect)

आदर्शात्मक तत्त्व का अर्थ सद्व्यवहार के वे सभी नियम हैं, जोकि हमारे जीवन के लिए आदर्श माने जाते हैं और जिनका अनुसरण करना नैतिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित माना जाता है।

सामाजिक व्यवस्थात्मक तत्त्व वे निश्चित सामाजिक संस्थाएं हैं, जिनका कि प्रत्येक व्यक्ति सदस्य होता है और जिनमें वह आत्मानुभूति प्राप्त करता है। हमने इन सामाजिक संस्थाओं की व्याख्या पहले ही की है। व्यक्तिगत व्यवहार एवं अभ्यास का तत्त्व नैतिक क्षेत्र का वह तत्त्व है, जिसमें कि व्यक्ति अनायास एक आदर्श व्यवहार का अनुकरण करता है और ऐसे आदर्श व्यवहार पर आधारित कर्मों का अनुसरण उसकी आदत बन जाता है। किसी भी देश में हर काल में ये तीनों नैतिक अंग समान रूप से विकसित नहीं होते। समय और परिस्थितियों के अनुसार कोई एक अथवा दो तत्त्व अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक या कम विकसित रूप में उपस्थित होते हैं। किसी भी देश के

वासियों का आदर्श सदैव उनकी नैतिक संस्थाओं और नैतिक आदतों के समान नहीं होता और न उनकी आदतें सदैव सामाजिक संस्थाओं से मेल खाती हैं। नैतिक तत्त्वों का यह परस्पर-विरोध, यह प्रमाणित करता है कि नैतिक क्षेत्र में पूर्णता नहीं है। यह पूर्णता का अभाव एवं नैतिक तत्त्वों का विरोधाभास नैतिक प्रगति का प्रेरक है।

जब कभी हमारे नैतिक जीवन की विषमताएं किसी सुधारक के द्वारा हमारे सामने उपस्थित की जाती हैं, उस समय नैतिक प्रगति की सम्भावना होती है। ऐसा सुधारक हमारे नैतिक विरोधाभास की ओर संकेत करता है और हमें यह बताता है कि हम कुछ विशेष परिस्थितियों में अपनी आदत के आधार पर एक प्रकार का कर्म करते हैं और कुछ विभिन्न परिस्थितियों में बिना किसी कारण के विभिन्न प्रकार का व्यवहार करते हैं, जबकि हमारा व्यवहार दोनों परिस्थितियों में समान होना चाहिए था। उदाहरण-स्वरूप, प्रायः मनुष्य कभी तो अपने शिशुओं से निर्दयता का व्यवहार करते हैं और कभी उन्हें आवश्यकता से अधिक लाड़-प्यार करते हैं। इसी प्रकार, विशेषकर पश्चिमीय देशों में, जहां कि मांसाहार को सर्वथा उचित माना जाता है, पशुओं को दुःखित देखकर व्यक्ति उतनी दया का अनुभव नहीं करते, जितना कि वे मनुष्यों को दुःखी देखकर अनुभव करते हैं। इस अवस्था में यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब साधारणतया मनुष्यों तथा पशुओं के दुःख में कोई भेद प्रतीत नहीं होता, तो हम क्यों बिना किसी कारण पशुओं के दुःख को तो सहन करते हैं, जबकि मानवीय दुःख को असह्य मानते हैं। इस प्रकार की नैतिक अभ्यास-सम्बन्धी विषमताएं नैतिक प्रगति को प्रेरित करती हैं।

नैतिक प्रगति को सामाजिक संस्थाओं में उपस्थित विषमताओं के कारण भी प्रेरणा प्राप्त होती है। इसलिए नैतिक सुधारक सामाजिक संस्थाओं की उन विषमताओं का विरोध करता है, जोकि उन संस्थाओं के आधारभूत सिद्धान्तों के विपरीत होती हैं। ऐसी विषमताएं हमें किसी भी देश के शासन में अथवा परिवार-सम्बन्धी व्यवस्था में अथवा सामाजिक व्यवस्था में उपलब्ध हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप, इंगलैंड की शासन-प्रणाली प्रजातन्त्रीय है, किन्तु उसमें राजा का भी स्थान है। इसी प्रकार अनेक प्रगतिशील देशों में स्त्रियों को वे सामाजिक तथा राजनीतिक सुविधाएं प्राप्त नहीं होतीं, जोकि पुरुषों को होती हैं। अमरीका जैसे प्रगतिशील देश में जन्म लेनेवाली 'रोटरी क्लब' नाम की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में स्त्रियों का सदस्य होना निषिद्ध है। हमारे नैतिक आदर्शों में भी कभी-कभी विरोधाभास उपस्थित होता है और वह नैतिक प्रगति को प्रेरित करता है। अनेक बार हम जिस आदर्श को जीवन का उच्चतम आदर्श मानते हैं, वह केवल सीमित क्षेत्र में ही लागू किया जाता है। प्राचीन काल में वीरता का अर्थ, केवल युद्ध में निर्भय होकर लड़ना माना जाता था और संयम का अर्थ केवल खाने-पीने पर नियन्त्रण रखना था। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठता है कि क्या विनाश की अवस्था में साहस की, और शक्तिशाली हो जाने की अवस्था में आत्मसंयम की आवश्यकता नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर यही है कि हम जिस आदर्श को अत्यन्त उत्कृष्ट

आदर्श मानते हैं, उसे जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू नहीं करते। यदि असत्य बोलना और छल करना अनैतिक है, तो व्यापार में इन दोनों अवगुणों को क्यों सहन किया जाता है ? जब किसी समाज में आदर्शों के पालन करने में इस प्रकार का विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है, उस समय नैतिक प्रगति को प्रेरणा प्राप्त होती है।

यदि हम पश्चिमीय जगत् के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो हम यह कह सकते हैं कि नैतिकता के उपर्युक्त तीनों अंगों में अवश्य प्रगति हुई है। प्राचीन तथा मध्यकालीन यूरोप में व्यक्तिगत नैतिक आदतों में विरोधाभास अवश्य था और कुछ नैतिक आदतों में इस समय भी विरोधाभास है। किन्तु ज्ञान के प्रसार के कारण तथा पूर्वीय संस्कृति के सम्पर्क के कारण पश्चिम में एक नई चेतना उत्पन्न हो गई है और जनसाधारण नैतिक जीवन के इस विरोधाभास को दूर करने की चेष्टा कर रहा है। समय था कि जब पश्चिमीय देशों में कोई व्यक्ति यह स्वप्न में भी अनुमान नहीं कर सकता था कि शाकाहार तथा पशुओं पर दया करना नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। किन्तु वर्तमान यूरोप और अमरीका में अनेक व्यक्ति शाकाहारी हैं और अनेक ऐसी संस्थाएं हैं, जिनका उद्देश्य पशुओं के साथ निर्दयता के व्यवहार की रोकथाम करना है। मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में अनुसन्धान के कारण, शिशु को एक प्रौढ़ व्यक्ति से भी अधिक सम्मान देना आवश्यक माना जाता है। पश्चिमीय देशों में माता-पिता तथा शिक्षकों का शिशुओं के प्रति व्यवहार परिवर्तित हो गया है। आज शिशु को भय व आतंक के वातावरण में शिक्षा देना सर्वत्र अनैतिक तथा अस्वाभाविक माना जाता है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत नैतिक आदतों की दृष्टि से मानव समाज में नैतिक प्रगति हुई है।

जहां तक सामाजिक संस्थाओं के क्षेत्र में प्रगति का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान युग में, अतीत की अपेक्षा निस्सन्देह एक अद्वितीय प्रगति हुई है। परिवार के क्षेत्र में हम यह कह सकते हैं कि वर्तमान समय के विवाह-सम्बन्धी नियम अधिक उदार हैं और पुरुष तथा स्त्री को समान अधिकार देते हैं। यह तो सम्भव है कि प्राचीन काल में असभ्य अवस्था में मनुष्य कामवृत्त्यात्मक जीवन में अधिक तीव्र सुखद भावना का अनुभव करता होगा, क्योंकि उस समय विवाहित जीवन के वे नियम उपस्थित नहीं थे, जोकि आज उपस्थित हैं। किन्तु जहां तक आत्मानुभूति का सम्बन्ध है, वर्तमान समय के विवाहित जीवन में व्यक्ति कामवृत्त्यात्मक जीवन को उत्कृष्ट आदर्श की प्राप्ति का साधन बना सकता है। पारिवारिक जीवन की इस नैतिक प्रगति का उल्लेख करते हुए अरबन ने लिखा है, "यदि हम आत्मानुभूति को नैतिक मूल्य की धारणा स्वीकार कर लें और उसमें निहित अर्थ को भी स्वीकार कर लें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि आदर्शों तथा नियमों पर आधारित स्थायी एकपत्नीविवाह-युक्त परिवार की सफलता निस्सन्देह प्रगति है।"[1] वर्तमान विवाह के नियमों पर आधारित परिवार को प्रगतिशील संस्था

१. "But if we grant the conception of moral value as self-realization, with all that it implies, the achievement of the permanent monogamous

मानने का एक कारण यह भी है कि आधुनिक विवाह-पद्धति में स्त्री तथा पुरुष को स्व-लक्ष्य माना जाता है। इस प्रकार इसमें व्यक्ति को कदापि साधन न मानकर स्वलक्ष्य स्वीकार किए जाने का वह उच्च आदर्श उपस्थित है, जो आत्मानुभूति के लिए नितान्त आवश्यक है। वर्तमान युग में व्यक्ति की सामाजिक आवश्यकताएं अधिक विकसित और सुसंस्कृत हो गई हैं, जिसके फलस्वरूप उनका बुद्धि द्वारा नियन्त्रण किया जा रहा है। इस बौद्धिक नियन्त्रण के कारण सामाजिक संस्थाओं का आधार अधिक आध्यात्मिक और आदर्शात्मक हो गया है।

वर्तमान युग में उद्योग की उन्नति के कारण विशाल नगरों का निर्माण हुआ है और इन नगरों में सामुदायिक जीवन छोटे-छोटे ग्रामों के सामुदायिक जीवन की अपेक्षा अधिक विशाल और व्यापक है। प्राचीन तथा मध्यकालीन सामुदायिक जीवन की समस्याएं विभिन्न थीं और उस समय विभिन्न समुदायों की स्थापना सीमित क्षेत्र पर आधारित थी। वर्तमान नगरों में जो सामाजिक संस्थाएं स्थापित होती हैं, वे जाति, धर्म, व्यवसाय आदि की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठी हुई होती हैं। इन संस्थाओं का उद्देश्य, प्रत्येक व्यक्ति का किसी सम्प्रदाय, धर्म तथा व्यवसाय के भेद के बिना उत्थान करना है। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य के सामुदायिक जीवन में विशेष प्रगति हुई है। प्रजातन्त्र के विकास से न ही केवल राष्ट्रीय जीवन का उत्थान हुआ है, अपितु आज विश्व के नागरिकों में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की प्रगति के कारण यह भावना उत्पन्न हो गई है कि मानव के राष्ट्रीय भेद अनावश्यक हैं और विश्व एक ही मानवीय परिवार है। मानवता तथा मानववाद की ये भावनाएं आज से एक सौ वर्ष पूर्व भी विश्व में उपस्थित नहीं थीं। चाहे अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के विकास का कारण युद्ध ही रहा हो, किन्तु यह एक ध्रुव सत्य है कि संयुक्तराष्ट्र संस्था तथा उसकी अनेक अन्य शाखाएं विश्वशान्ति स्थापित करने और मानवीय जीवन को सुखी और समृद्धिशाली बनाने का सतत प्रयास कर रही हैं। आज विश्व के प्रत्येक उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ की यही हार्दिक इच्छा है कि "जियो और जीने दो" के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाए और राजनीतिक विषमताओं, विभिन्न शासन-प्रणालियों तथा विभिन्न आर्थिक सिद्धान्तों की उपस्थिति में भी 'सह-अस्तित्व' द्वारा विश्वशान्ति को स्थायी रूप दिया जाए। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह नवीन चेतना निस्सन्देह यह प्रमाणित करती है कि वर्तमान समय में सामाजिक संस्थाओं में एक अद्वितीय नैतिक प्रगति हुई है।

इसी प्रकार, जहां तक सदाचारी मनुष्य के आदर्श का सम्बन्ध है, हम यह कह सकते हैं कि अतीत की अपेक्षा वर्तमान में, नैतिक आदर्श में भी प्रगति हुई है। यद्यपि सद्गुणों की धारणा यूनानी विचारकों के समय से ही प्रचलित है, तथापि सद्गुणों के आचरण में तथा उनके नैतिक महत्त्व की अन्तर्दृष्टि में वर्तमान समय में प्रगति अवश्य

family, with its norms and laws, must be looked upon as progress."
—Fundamentals of Ethics, by W. M. Urban, Page 430.

हुई है। आदर्शवादी दार्शनिकों ने, विशेषकर टी० एच० ग्रीन ने, वर्तमान तथा यूनानी समय की सद्गुण-सम्बन्धी धारणाओं की तुलना करते हुए यह प्रमाणित किया है कि साहस तथा संयम के दो आधारभूत सद्गुणों की वर्तमान धारणा, यूनानी धारणा से श्रेष्ठ है। उन सद्गुणों की वर्तमान धारणा के अनुसार इनके व्यावहारिक प्रयोग का क्षेत्र यूनानी समय के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और जिस नियम पर ये दोनों सद्गुण आधारित हैं, उसकी धारणा भी अधिक गम्भीर बनाई गई है। संयम के विषय में हमने पहले ही यह बताया है कि यूनानी समय में इस सद्गुण की सीमा केवल खाने-पीने के क्षेत्र तक सम्बन्धित थी। वर्तमान समय में इसी सद्गुण को जीवन के अन्य अंगों पर भी लागू किया जाता है। उदाहरणस्वरूप राजनीति के क्षेत्र में, यदि राजनीतिज्ञ विश्व की समस्याओं पर वाद-विवाद करते हुए अपनी वाणी और विचारों पर संयम न रखें, तो यह निश्चित है कि विश्व की शान्ति क्षणों में ही भंग हो जाए। खाने-पीने तथा काम वृत्यात्मक जीवन के सम्बन्ध में भी, जिस नियम के आधार पर संयम के सद्गुण को यूनानी समय में लागू किया जाता था, वह नियम वर्तमान समय में अधिक गहन अर्थों में लिया जाता है।

ग्रीन का कहना है कि वर्तमान समय में जिन विषयों का नैतिक दृष्टि से, संयम का अनुसरण करते हुए, त्याग किया जाता है, उनकी संख्या तथा उनका प्रसार यूनानी समय के त्यागने योग्य विषयों से अधिक है। इसलिए वर्तमान समय में, संयम का अनुसरण करनेवाले व्यक्ति को, जो त्याग करना पड़ता है, वह यूनानी समय के त्याग की अपेक्षा अधिक है। हमने सामाजिक संस्थाओं की व्याख्या करते समय यह बताया है कि वर्तमान नागरिक न ही केवल परिवार का, न ही केवल व्यवसाय-सम्बन्धी समुदाय का, न ही केवल राष्ट्र का, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का सदस्य है। यूनानी समय में, व्यक्ति अधिक से अधिक नागरिक राज्य का सदस्य था। इन विभिन्न परिस्थितियों से स्पष्ट होता है कि वर्तमान नागरिक के सद्गुणों को व्यवहार में लागू करने का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इन सद्गुणों का अनुसरण करने का उद्देश्य केवल व्यक्ति तथा किसी विशेष समाज की आत्मानुभूति नहीं है, अपितु विश्वव्यापी मानवता की अनुभूति है। आत्मानुभूति का अर्थ व्यक्तिगत हितों से लेकर राष्ट्रीय हितों तक के क्षेत्र से ऊपर उठ जाना और अपने व्यक्तित्व को विश्वव्यापी मानव समाज के व्यक्तित्व में समाविष्ट करना है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आदर्श की दृष्टि से भी विश्व के इतिहास में नैतिक प्रगति अवश्य हुई है।

नैतिक प्रगति : एक सम्भावना

नैतिक प्रगति का प्रमाण देते हुए हमने ऐतिहासिक विश्लेषण किया है और वर्तमान नैतिक जीवन की प्राचीन नैतिक जीवन से तुलना भी की है। यद्यपि इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नैतिक प्रगति एक तथ्य है, तथापि कुछ विचारक निराशावादी धारणा प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि नैतिक प्रगति को तथ्यों के आधार पर प्रमाणित

करना असत्य है। यदि सुख की प्राप्ति और चरित्र-निर्माण को नैतिक प्रगति का आधार मान लिया जाए, तो भी यह निश्चित नहीं है कि वर्तमान समय के मनुष्य प्राचीन समय के असभ्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सुखी हैं। सम्भवतया प्राचीन समय में, जंगलों में शिकार की खोज में प्रवृत्त, प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेता हुआ असभ्य मनुष्य, वर्तमान समय के, कार्यालय की चारदीवारी में कुर्सी पर बैठे हुए, कर्मचारी की अपेक्षा अधिक सुखी जीवन व्यतीत करता था। इसी प्रकार इतिहास का अध्ययन यह भी बताता है कि विभिन्न देशों के स्वर्णयुग में व्यक्तिगत नैतिकता उच्चतम शिखर पर थी। उदाहरणस्वरूप, भारत में गुप्तवंश के राज्य के समय चोरी का अपराध नहीं था। जब हम ऐसे समय की नैतिकता की वर्तमान अनैतिकता से तुलना करते हैं, तो हमें यह मानना पड़ता है कि नैतिक प्रगति शत-प्रतिशत तथ्य नहीं है।

ऐतिहासिक साक्षी को, कुछ नैतिक दार्शनिकों ने इन्हीं कारणों से, नैतिक प्रगति को तथ्य प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त नहीं माना है। इसके विपरीत इसे केवल सम्भावना ही स्वीकार किया है। वास्तव में नैतिक प्रगति का निष्पक्ष अध्ययन तथ्य भी है और सम्भावना भी। हर्बर्ट स्पेन्सर ने तो प्रगति के नियम को प्रतिपादित करते हुए, उसे न ही केवल अतीत की घटनाओं के प्रति निहित नियम माना है, अपितु यह भी स्वीकार किया है कि यह नियम मनुष्य के सम्पूर्ण भावी जीवन तथा सामाजिक और ऐतिहासिक प्रक्रिया का आधारभूत है। इस दृष्टि से प्रगति का नियम विकास के नियम की भांति शाश्वत नियम है। आलोचकों ने स्पेन्सर की इस धारणा का विरोध किया है और कहा है कि ऐतिहासिक साक्षी, न तो नैतिक प्रगति को अतीत की दृष्टि से एक तथ्य प्रमाणित करने में समर्थ है और न हम किसी भी विधि से प्रगति को भविष्य में प्रमाणित कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि मानव समाज भविष्य में नैतिक दृष्टि से प्रगति करेगा अथवा स्वार्थवश सर्वनाश को प्राप्त होगा। न ही केवल मानवीय व्यवहार के विषय में यह बात सत्य है, अपितु भौतिक जगत् में भी भविष्य के प्रति किसी प्रकार का निश्चित अनुमान लगाना अवैज्ञानिक और असंगत माना जाता है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि सूर्य कल उदय होगा कि नहीं।

इस प्रकार का निराशावाद निस्सन्देह एक मानसिक रोग ही समझा जाना चाहिए। नैतिक प्रगति केवल सम्भावना नहीं है। यदि तथ्य का अर्थ अतीत में प्रगति की प्रवृत्तियां हैं, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक साक्षी, नैतिक प्रगति को प्रमाणित करने में समर्थ है। यदि इसका अर्थ यह है कि तथ्य भविष्य के प्रति यथार्थ प्रमाणित हो, तो नैतिक प्रगति को एक सम्भावना भी स्वीकार किया जाना चाहिए। यद्यपि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि कल सूर्य उदय होगा कि नहीं, तथापि अतीत के अनुभव के आधार पर विज्ञान यह अनुमान लगाता है कि विश्व का अन्त एक ही दिन में नहीं होगा। इस प्रकार की अनिश्चितता के आधार पर हमें संशयवाद का शिकार नहीं होना चाहिए। हमें विश्वास और दृढ़ संकल्प के साथ नैतिक प्रगति की सम्भावना को तथ्य बनाने के

लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अतीत के कुछ सहस्र वर्षों में मनुष्य ने नैतिक प्रगति की है। विश्व का इतिहास समय की दृष्टि से इतना विपुल और उसके अस्तित्व की सम्भावना भविष्य की दृष्टि से इतनी विशाल है कि मानवीय इतिहास के कुछ सहस्र वर्ष विकास के इतिहास में कुछ महत्त्व नहीं रखते। वैज्ञानिकों के अनुमान के अनुसार, इस पृथ्वी पर जीव की उत्पत्ति एक करोड़ बीस लाख (१,२०,००,०००) वर्ष पूर्व हुई। इसी अनुमान के अनुसार, मनुष्य का जन्म लगभग दस लाख (१०,००,०००) वर्ष पूर्व हुआ और समस्त जीवन इस पृथ्वी पर १,२०,००,००, ००,००,००० वर्ष तक उपस्थित रहेगा। यदि जीवन के अस्तित्व के इस समय को १०० वर्ष के समान मान लिया जाए, तो हम कह सकते हैं कि इस पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति कुछ घंटे पूर्व हुई, मनुष्य का जन्म कुछ ही मिनट पूर्व हुआ। इस दृष्टि से मनुष्य की सभ्यता का विकास केवल कुछ क्षणों की बात है। इससे यह प्रमाणित होता है कि नैतिक विकास की सम्भावना जीवन के विकास के साथ-साथ अति विशाल है। इसलिए नैतिक प्रगति के प्रति हमें सन्देह की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए और अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए इसकी सम्भावना को तथ्य प्रमाणित करने की चेष्टा करनी चाहिए।

हमारे इस दृष्टिकोण को अधिक पुष्ट करने के लिए कार्ल मार्क्स के प्रगतिवादी विचार का उदाहरण देना यहां पर असंगत न होगा। मार्क्स के अनुसार मानवीय इतिहास दो नियमों पर आधारित है। पहला नियम आर्थिक नियतिवाद है। दूसरे नियम के अनुसार, सम्पत्ति का एक स्थान पर इतना अधिक केन्द्रित होना है कि पूंजीवाद तथा श्रम में संघर्ष के कारण अन्त में व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा समाप्त होकर, सामाजिक एवं साम्यवादी व्यवस्था स्थापित हो जाएगी। मार्क्स का यह सिद्धान्त उसकी दृष्टि से तथ्यात्मक है और यह विश्वास किया जाता है कि आर्थिक इतिहास का विकास इसी संघर्ष के अनुसार होगा। यद्यपि मार्क्स का अनुमान शत-प्रतिशत यथार्थ प्रमाणित नहीं हो रहा, तथापि साम्यवादी राष्ट्रों में इस तथ्यात्मक नियम को जीवन पर लागू करके मार्क्स की भविष्यवाणी को सत्य प्रमाणित करने की चेष्टा की जा रही है और वह चेष्टा सफल हो रही है। यदि मार्क्स का सिद्धान्त प्रयत्नों के द्वारा शत-प्रतिशत सत्य न होते हुए भी यथार्थ प्रमाणित किया जा सकता है, तो कोई कारण नहीं कि नैतिक क्षेत्र में मनुष्य प्रयत्नशील होकर नैतिक प्रगति को यथार्थ प्रमाणित न कर सके।

नैतिक प्रगति की उपर्युक्त व्याख्या का उद्देश्य सिद्धान्त तथा व्यवहार, आदर्श तथा जीवन के परस्पर-समन्वय को प्रमाणित करना है। आचार-विज्ञान गणितशास्त्र तथा तर्कशास्त्र की भांति केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है, अपितु वह पूर्णतया व्यावहारिक है। नैतिक व्यवहार नैतिक सिद्धान्त का आधार है, जबकि सैद्धान्तिक विज्ञानों में सिद्धांत को व्यावहारिक समस्याओं के सुलझाने का आधार बनाया जाता है। आचार-विज्ञान की यह विशेषता हमारे सामने एक आवश्यक समस्या उत्पन्न करती है। यदि आचार-विज्ञान केवल सैद्धान्तिक अध्ययन नहीं है, तो यह प्रश्न उठता है कि व्यक्तिगत नैतिक

असामंजस्य की अवस्था में, अर्थात् धर्म-संकट की अवस्था में आचार-विज्ञान हमें क्या सहायता दे सकता है। दूसरे शब्दों में, क्या आचार-विज्ञान नैतिक सिद्धान्तों की व्याख्या करके ही रह जाता है अथवा वह विशेष परिस्थितियों में नैतिक संघर्ष का अन्त करने का उपाय भी बतलाता है। नैतिक संघर्ष की अवस्था में दो नैतिक विकल्पों में से किसी एक को वांछनीय घोषित करने की क्रिया को 'विशेषकी' कहा जाता है।

विशेषकी

जब दो नैतिक नियम अथवा कर्तव्य किसी विशेष परिस्थिति में परस्पर-संघर्ष में आते हैं और व्यक्ति यह निश्चित नहीं कर सकता कि उन दोनों में से कौन-से नियम को अपनाए, तो इस विशेष अवस्था में निर्णय देने अथवा मार्गदर्शन के लिए जिस सिद्धांत की आवश्यकता होती है उसे 'विशेषकी' कहते हैं। विशेषकी की सरल परिभाषा देते हुए मैकन्ज़ी ने लिखा है, "विशेषकी का उद्देश्य नैतिक आदेशों का यथार्थ अर्थ बतलाने की चेष्टा करना तथा यह व्याख्या करना है कि संघर्ष के समय में, इन आदेशों में से किसको त्याग देना चाहिए।"[१] उदाहरणस्वरूप, जीवन का आदर करने के कर्तव्य एवं चोरी न करने के कर्तव्य में संघर्ष आ सकता है और यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या उस व्यक्ति के घातक शस्त्र को चुरा लेना नैतिक है जो किसी निर्दोष व्यक्ति की हत्या करने पर अथवा आत्महत्या करने पर तुला हुआ है। इस प्रकार की नैतिक समस्याओं को सुलझाना विशेषकी का नैतिक उद्देश्य है। वास्तव में विशेषकी आचार-विज्ञान से विभिन्न नहीं है।

आचार-विज्ञान और विशेषकी दोनों नैतिक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। हम यह कह सकते हैं कि इन दोनों का अन्तर इसीमें है कि विशेषकी नैतिक समस्याओं का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करती है, जबकि आचार-विज्ञान का दृष्टिकोण अधिक सामान्य होता है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि विशेषकी पूर्णतया व्यक्तिगत समस्याओं से सम्बन्ध रखती है। वे समस्याएं जिनका समाधान विशेषकी करती है, इस दृष्टि से व्यक्तिगत अथवा विशेष नहीं होतीं कि उनमें और सामान्य नैतिक समस्याओं में सीमा-रेखा खींची जा सके। विशेषकी इस दृष्टि से विशेष नहीं होती जैसे-कि मेरे मित्र का घर एक विशेष वस्तु है। यह तो सम्भव है कि विशेषकी अधिक विशेष एवं व्यक्तिगत होती है और आचार-विज्ञान अधिक सामान्य होता है। इसका अर्थ यह है कि इन दोनों का भेद केवल मात्रा का है न कि गुण का। नैतिक आचार-विज्ञान भी नैतिक आदर्श की व्याख्या के लिए सद्गुणों की सूची बनाता है। इस दृष्टि से आचार-विज्ञान विशेषकी से विभिन्न नहीं है। आचार-विज्ञान तथा विशेषकी दोनों उसी दृष्टि से सामान्य घटनाओं से सम्बन्धित हैं जिस दृष्टि से भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र

१. "Casuistry consists in the effort to interpret the precise meaning of the commandments, and to explain which is to give way when a conflict arises." —A Manual of Ethics, by J. S. Mackenzie, Page 310.

सामान्य विषयों से सम्बन्धित होते हैं। जिस प्रकार रसायनशास्त्र का उद्देश्य इस बात की खोज करना होता है कि आक्सीजन, चाहे वह किसी भी स्थान पर हो, किन तत्त्वों से बनता है और ऐसा करते समय रसायनशास्त्र आक्सीजन के किसी विशेष प्रकार को अधिक महत्त्व नहीं देता, इसी प्रकार विशेषकी का उद्देश्य सभी कर्मों के प्रति यह बताना है कि वे शुभ कैसे होते हैं, चाहे वे कर्म कहीं पर भी घटित होते हों। यही कारण है कि जी० ई० मोर ने आचार-विज्ञान तथा विशेषकी दोनों को भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र तथा शरीर-विज्ञान की भांति सामान्य माना है और उन्हें इतिहास तथा भूगोल जैसे विज्ञानों से पृथक् स्वीकार किया है। कुछ सीमा तक यह सत्य है कि विशेषकी की खोज अधिक सूक्ष्म तथा विस्तारपूर्वक होने के कारण आचार-विज्ञान की अपेक्षा भौतिकशास्त्र तथा रसायनशास्त्र के अधिक समीप है। विशेषकी अत्यन्त व्यापक नैतिक नियम से सन्तुष्ट न होकर विशेष नैतिक नियमों के सापेक्ष महत्त्व को बतलाने की चेष्टा करती है।

इस दृष्टि से विशेषकी आचार-विज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है और नैतिक आदर्श की प्राप्ति में योग देती है। आचार का कोई भी अध्ययन विशेषकी के बिना पूर्ण नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि अधिकतर नैतिक नियम सापेक्ष होने के कारण एक-दूसरे के संघर्ष में आते हैं और ऐसी अवस्था में यह निर्णय देना आवश्यक हो जाता है कि उनमें से किस नियम को किन विशेष परिस्थितियों मे स्वीकार न किया जाए। यही कारण है कि विशेषकी को, 'नियमों को भंग करने के लिए नियम बनाने की विधि' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि विशेषकी हमें वे निश्चित परिस्थितियां बतलाने की चेष्टा करती है, जिनके अन्तर्गत हम विशेष नैतिक आदेशों को भंग कर सकते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि आचार-विज्ञान कहां तक विशेष परिस्थितियों की व्याख्या कर सकता है, अर्थात् वह कहां तक विशेषकी को नैतिक अध्ययन का अंग बना सकता है। डाक्टर मोर का कहना है कि विशेषकी नैतिक अध्ययन का उद्देश्य है, किन्तु उसे आरम्भ में नहीं अपनाया जा सकता। किन्तु कुछ दार्शनिकों की दृष्टि में आचार-विज्ञान में विशेषकी को स्थान देने का अर्थ नैतिकता को कला में परिवर्तित करना है। हम यह पहले ही प्रमाणित कर चुके हैं कि आचार-विज्ञान को किसी भी अवस्था में कला नहीं माना जा सकता और न ही सदाचार की कोई कला हो सकती है। जिस प्रकार कि सौन्दर्यशास्त्र कवियों, चित्रकारों और संगीतज्ञों को यह नहीं बता सकता कि वे किस प्रकार अपनी कला में प्रवीण हों, उसी प्रकार आचार-विज्ञान यह नहीं बता सकता कि विशेष परिस्थितियों में प्रत्येक व्यक्ति किस प्रकार व्यवहार करे।

विशेषकी को अनावश्यक स्वीकार करते हुए मैकन्ज़ी ने लिखा है कि अपने जीवन के संचालन के लिए, व्यक्तिगत नियमों को निर्धारित करना आचार-विज्ञान का काम नहीं है, अपितु प्रत्येक व्यक्ति का निजी काम है। यह तो सत्य है कि मनुष्य अपनी परि-स्थितियों के अनुसार सोने, जागने, काम करने, भोजन करने तथा मनोरंजन आदि के

लिए अपने समय का विभाजन कर सकते हैं तथा इसके विषय में कुछ नियम निर्धारित कर सकते हैं। जीवन को इस प्रकार व्यवस्थित करना और इन नियमों का कांट जैसे दार्शनिकों की भांति दृढ़ता से पालन करना भी आवश्यक माना जा सकता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि आचार-विज्ञान जैसा सैद्धान्तिक अध्ययन, यह निश्चित करने की चेष्टा करे कि ऐसे नियम किन विशेष परिस्थितियों में शिथिल किए जा सकते हैं।[१]

यह तो सत्य है कि जीवन के संचालन में, प्रत्येक व्यक्ति को हर समय और हर व्यक्तिगत समस्या में, मार्गदर्शन के लिए परामर्श देना एक असम्भव बात है। कम से कम ऐसे परामर्श को नियमबद्ध नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति ऐसे प्रश्न करे कि क्या उसे विवाह करना चाहिए अथवा अकेला रहना चाहिए ? क्या उसे अध्यापक बनना चाहिए अथवा व्यापारी, आदि-आदि, तो इनका उत्तर किसी विज्ञान के आधार पर नहीं दिया जा सकता। ऐसी अवस्था में तो जो व्यक्ति प्रश्न करनेवाले व्यक्ति की परिस्थितियों को घनिष्ठता से जानता होगा, वही उचित परामर्श दे सकेगा। यदि विशेषकी का अर्थ ऐसे व्यक्तिगत प्रश्नों का उत्तर देना है, तो उसे कदापि आचार-विज्ञान का उद्देश्य नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त यदि विशेष परिस्थितियों में नैतिक नियम भंग करने को एक सामान्य नियम बना दिया जाए, तो व्यावहारिक दृष्टि से विशेषकी अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकेगी। यह तो सत्य है कि यदि कोई मित्र किसी भयानक रोग में ग्रस्त है और यदि उसके रोग के प्रति सत्य कहने से उसकी अवस्था और भी बिगड़ जाने की सम्भावना है, तो सत्य के प्रति आदर का जीवन के प्रति आदर से संघर्ष होता है और प्रायः लोग ऐसी अवस्था में सत्य न बोलने को नैतिक स्वीकार करते हैं। यदि ऐसा रोगी सत्य को जानने की चेष्टा करे, तो उसके अधिकतर मित्र सत्य को छिपाने में अथवा टाल-मटोल करने में संकोच नहीं करेंगे। उनका ऐसा व्यवहार विशेषकी के नियम के अनुसार है। इसके विपरीत यदि हर समय उस रोगी को धोखा दिया जाए और कदापि सत्य न बोला जाए, तो वह व्यक्ति निस्सन्देह जान जाएगा कि उसे ठगा जा रहा है और इस प्रकार विशेषकी पर आधारित सत्य को छिपाने की क्रिया अपने उद्देश्य को पूरा न कर सकेगी। सत्य को छिपाने की क्रिया को सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि ऐसा करते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है, और फिर यह एक प्रकार की कला है। दूसरे शब्दों में, विशेष परिस्थितियों में, दो नैतिक आदेशों के संघर्ष की अवस्था में, किसी एक को भंग करना व्यक्तिगत सामर्थ्य पर निर्भर करता है। इस प्रकार नियमों को भंग करने के लिए सामान्य नियम निर्धारित नहीं किए जा सकते और विशेषकी को आचार-विज्ञान की भांति एक सामान्य अध्ययन नहीं बनाया जा सकता।

आचार-विज्ञान को जब तक नैतिक उद्देश्य के सामान्य अध्ययन से सम्बन्धित माना जाएगा, तब तक यह संगत प्रतीत नहीं होता कि उसके विकास के लिए व्यक्तिगत और विशेष नैतिक समस्याओं की व्याख्या को आवश्यक समझा जाए। विशेष समस्याओं

१. Ibid., Page 313.

का समाधान करने के लिए, हमें मूल्यों का विस्तारपूर्वक अध्ययन तथा सामाजिक जीवन के सिद्धान्त का सामान्य ज्ञान सहायक हो सकता है। केवल इसी दृष्टि से आचार-विज्ञान विशेष परिस्थितियों में हमारी सहायता कर सकता है और इसी दृष्टि से ही विशेषकी को आचार-विज्ञान का उद्देश्य कहा जा सकता है। विशेषकी आंशिक रूप में नैतिक अध्ययन का उद्देश्य बन सकती है, किन्तु उसे एक पूर्ण वैज्ञानिक रूप में आचार-विज्ञान का लक्ष्य नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार यह कहना अनुचित है कि तर्क-शास्त्र का उद्देश्य सभी विज्ञानों का सम्पूर्ण व्यवस्थित अध्ययन है, उसी प्रकार यह कहना भी असंगत है कि आचार-विज्ञान का उद्देश्य सभी व्यक्तियों के धर्म-संकट में, उनकी विशेष परिस्थितियों के अनुसार परामर्श देना है। यद्यपि विशेषकी के सम्पूर्ण अध्ययन को आचार-विज्ञान का उद्देश्य नहीं माना जा सकता, तथापि उसका अध्ययन निस्सन्देह महत्त्व रखता है। आचार-विज्ञान की समस्याओं को, विशेषकी की समस्याओं से पृथक् नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि रैशडाल जैसे नैतिक विचारकों ने विशेषकी को आचार-विज्ञान में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि नैतिक विचारक आचार-विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों की अवहेलना करके, लोगों की विशेष परिस्थितियों का विश्लेषण करने में संलग्न हो जाए और उन्हें छोटी-छोटी व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने का परामर्श देता रहे। आचार-विज्ञान का ज्ञान ऐसा कार्य करने में सहायता अवश्य दे सकता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि विशेष नैतिक समस्याओं का सुलझाना-मात्र आचार-विज्ञान का उद्देश्य मान लिया जाए। प्रायः लोग विशेष समस्याओं का समाधान स्वयं ही कर लेते हैं। एक सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति अपने अनुभव के द्वारा अपनी विशेष नैतिक समस्याओं के सुलझाने का सामर्थ्य रखता है। यह तो सम्भव है कि उन विशेष परिस्थितियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, जिनमें कि विशेष अधिकारों तथा कर्तव्यों को भंग करना उचित होता है। किन्तु जनसाधारण प्रायः ऐसी परिस्थितियों से स्वयं ही परिचित होता है। इसलिए विशेषकी को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना केवल समय को नष्ट करना है।

विशेषकी के प्रति हमारा ऊपर दिया गया विवेचन नैतिक प्रगति के तथ्यों पर आधारित है। आधुनिक युग में विज्ञान की प्रगति के कारण जनसाधारण सजग और सतर्क हो गया है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति आज के युग में अपनी परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करने का सामर्थ्य रखता है और उसे जीवन के संचालन में विशेष परामर्श की आवश्यकता कम रहती है। किन्तु जहां पर गम्भीर नैतिक समस्याओं का सम्बन्ध है, हमें यह कहना पड़ेगा कि वर्तमान सामाजिक वातावरण मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। यदि जीवन का चरम लक्ष्य आत्मानुभूति एवं व्यक्ति की पूर्णता है, तो हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि इस मार्ग पर जनसाधारण को अग्रसर करने के लिए व्यक्ति के अन्तम् में निहित आध्यात्मिक शक्तियों को प्रेरित करना होगा। दूसरे शब्दों में, नैतिक प्रगति को तीव्र गति देने के

लिए और मानवीय जीवन के चरम लक्ष्य की ओर सम्पूर्ण मानव समाज को आगे बढ़ाने के लिए एक उद्बोधन की आवश्यकता है। मानव-मात्र में ऐसी आत्मचेतना तभी उत्पन्न की जा सकती है, जब पश्चिमीय तथा पूर्वीय दार्शनिक चिन्तन द्वारा, अनावृत सत्यों का समन्वय किया जाए और जब इन दोनों दर्शनों पर आधारित जीवन की दो विभिन्न शैलियों को एक-दूसरे का पूरक स्वीकार करके एक ऐसी समन्वित जीवन-शैली के विकास को प्रोत्साहन दिया जाए, जिसमें कि मानव समाज का सर्वांगीण विकास सम्भव हो सके।

* * *